# छायावाद और वैदिक-दर्शन

# छायावाद और वैदिक-दर्शन

लेखक
डा० प्रेमप्रकाश रस्तोगी
एम० ए०, (हिन्दी-संस्कृत) पी-एच० डी०
नेहरू कालिज, फरीदाबाद

आदर्श साहित्य प्रकाशन
दिल्ली-७

# समर्पण

गुरुवर श्रद्धेय हरिदास गंगाशरण 'शील' को जिनके चरण
कमलों में बैठकर शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त
हुआ, जिनके अमित स्नेह, मृदुल आशीर्वाद एवं
कुशल निर्देशन ने लड़खड़ाते पैरों और
डगमगाते जीवन को स्वस्थ दिशा
प्रदान की ।

# सम्मति

मैंने श्री प्रेमप्रकाश जी रस्तोगी एम० ए० का 'छायावाद वैदिक-दर्शन' शीर्षक पी-एच० डी० (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध देखा।

शोध का विषय सामान्य विषयों से कुछ भिन्न होने के कारण विशेष अध्ययन-साध्य है।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि शोधकर्त्ता ने गम्भीर अध्ययन के उपरान्त अपने विषय का तत्वतः विवेचन प्रस्तुत किया है।

विश्वास है भविष्य में वे और भी महत्त्वपूर्ण कृतियों से हिन्दी को समृद्ध करेंगे।

—महादेवी वर्मा

# भूमिका

हिन्दी के छायावादी काव्य का विवेचन-विश्लेषण प्रारम्भ में काव्य-शिल्प की कसौटी पर ही हुआ था। अप्रस्तुत विधान के अवयवों के साथ प्रतीक और बिम्ब-विधान की बारीकियों का विवरण संकलित करने में समीक्षकों ने जितना श्रम किया उतना छायावादी कविता के कथ्य के उद्घाटन में नहीं किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अभिव्यंजना कौशल के सम्बन्ध में ही चर्चा अधिक की और काव्य-वस्तु के विषय में सरसरी तौर से ही विचार व्यक्त किए। पण्डित शान्तिप्रिय द्विवेदी ने कथा और वस्तु के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए अद्वैतवाद के साथ छायावादी काव्य को जोड़ने का प्रयास किया था। अन्य आलोचक इस कविता के स्वरूप-विधान के संबंध में लिखकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते रहे। यद्यपि प्रारम्भिक सभी समीक्षक इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि छायावादी काव्य एक नूतन युग-व्यापी चेतना के उद्बोध का परिणाम होने से नवीन जीवनानुभूति से ओत-प्रोत था किन्तु उस चेतना के मूल में संनिविष्ट अध्यात्म-दर्शन का उद्घाटन न्यून मात्रा में ही हो सका।

छायावादी काव्य के प्रगीत तत्व का जैसा विशद व्यापक व्याख्यान छायावादी आलोचकों ने किया वैसा उसकी भाव-वस्तु और मूल संवेदना के आधारभूत आख्यान-काव्य का वे नहीं कर सके। कहने का तात्पर्य यह है कि छायावादी काव्य के मूल में अन्तर्निहित कथ्य के तात्विक विवेचन की आकाँक्षा बनी ही रही। काव्य-शिल्प के विश्लेषण में कथ्य के मूल तत्वों के सम्बन्ध में जितना कहा जा सकता था उससे आगे प्रायः समीक्षक नहीं गए और अध्यात्म तथा दर्शन की समृद्ध परम्परा के साथ छायावादी काव्य को संयुक्त करने का प्रयास अत्यल्प मात्रा में संभव हुआ। दो-तीन शोध-प्रबन्धों में इस कार्य की ओर विद्वानों का ध्यान अवश्य गया।

श्री प्रेम प्रकाश रस्तोगी ने 'आधुनिक हिन्दी के छायावादी काव्य पर वैदिक-दर्शन का प्रभाव' शीर्षक अपने शोध-प्रबन्ध में जो अब 'छायावाद और वैदिक-दर्शन' शीर्षक से प्रकाशित हो रहा है इस त्रुटि के परिहार का अच्छा प्रयास किया है। डा० रस्तोगी ने वैदिक शब्द के अन्तर्गत वेद, उपनिषद् तथा षड् आस्तिक दर्शनों का समावेश करते हुए छायावाद के चार प्रमुख कवियों की रचनाओं में इनके प्रभाव का सफल अनुसंधान किया है। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की विविध काव्य-कृतियों में आध्यात्मिक तत्वों की परख करते हुए यह स्पष्ट करने का लेखक का प्रयास रहा है कि इन कवियों ने ईश्वर, जीव, जगत् (सृष्टि) मोक्ष आदि के दार्शनिक चिन्तन को

अपने काव्य में किस प्रकार वर्णित किया है और किन भारतीय दर्शनों की पीठिका पर अपने वर्ण्य-विषय का पल्लवन किया है, यह अनुसन्धान इन चारों कवियों की अध्यात्म-चेतना का प्रामाणिक मूल्यांकन कहा जा सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि चारों कवि अपनी दार्शनिक विचारधारा में पूर्णतः भारतीय तत्त्व-चिन्तन का अनुसरण करते हैं और उपनिषद् तथा दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हैं। इनके काव्य का मुख्य आधार भले ही चतुर्वर्गफल-प्राप्ति न हो किन्तु ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि विषयों पर चिन्तन करने की इनकी अपनी नूतन प्रणाली है जो भारतीय दर्शनों के तत्त्व-चिन्तन में उपलब्ध होती है।

इस प्रबन्ध के प्रथम चार अध्याय वैदिक साहित्य तथा दर्शन को स्पष्ट करने के लिए लिखे गए हैं। एक प्रकार से ये चारों अध्याय विषय की कसौटी हैं जिनके आधार पर चारों छायावादी कवियों के काव्य की परख की गई है। वैदिक-दर्शन शब्द कुछ भ्रामक-सा प्रतीत होता है किन्तु लेखक ने उसे शोधप्रबन्ध के प्रारम्भिक अध्यायों में स्पष्ट कर दिया है ताकि पाठक यह समझ सके कि वैदिक शब्द तथा दर्शन शब्द का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है। दर्शन तथा अध्यात्म शब्द को कहीं पर्याय और कहीं भिन्नार्थक माना जाता है किन्तु दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक है कि अध्यात्म को उसके भीतर स्वतः समाया हुआ ही समझना चाहिए। धर्म, कर्म, साधना, उपासना, ये सब अध्यात्म के अंग हैं और इनका विवेचन ईश्वरीय चिन्तन के सम्बन्ध में प्रायः होता रहा है। अतः इस प्रबन्ध में वैदिक-दर्शन के अन्तर्गत इन सबको लेखक ने समेट लिया है। इतना ही नहीं भक्ति और योग आदि का विवेचन भी इसी के भीतर उपलब्ध होता है।

वैदिक शब्द को जोड़ने का एक कारण और भी प्रतीत होता है। कुछ कवियों ने यत्र-तत्र अपनी काव्य-कृतियों में वैदिक-ऋचाओं का भावानुवाद किया है। पन्त और महादेवी की कई रचनाओं में इस प्रकार के भावानुवाद लेखक ने अनुसन्धान द्वारा खोज निकाले हैं। अद्वैतवाद, रहस्यवाद, सर्वात्मवाद आदि का वर्णन तो प्रायः सभी कवियों में अनेक स्थलों पर मिलता है। डा० रस्तोगी ने इस प्रकार के सभी सन्दर्भों पर विचार-विमर्श किया है और उन्हें सप्रमाण अपने शोध-प्रबन्ध में सम्पुष्ट करके लिखा है।

डा० रस्तोगी के इस अनुसन्धान-कार्य से छायावादी काव्य के कथ्य—वस्तु-विषय—पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और यह प्रमाणित होता है कि यह काव्य केवल अपनी अभिव्यंजना कला के कारण ही समृद्ध नहीं वरन् इसका कथ्य भी अत्यन्त समृद्ध और परिपुष्ट है। इसका मूलाधार वैदिक-वाङ्मय है और विशेषतः भारतीय तत्त्व चिन्तन अर्थात् वैदिक दर्शन से यह अनुप्राणित है। मैं डा० रस्तोगी के इस सफल शोध-कार्य के लिए साधुवाद देता हूँ। मुझे आशा है कि वे अपने अध्ययन की इस दिशा में और आगे कार्य करते रहेंगे।

(डा०) विजयेन्द्र स्नातक

२४-५-७१ प्रोफ़ेसर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

# संकेत-सूची

| | |
|---|---|
| ऋग्वेद | ऋ० वे० |
| अथर्ववेद | अ० वे० |
| यजुर्वेद | य० वे० |
| केनोपनिषद् | के० उ० |
| प्रश्नोपनिषद् | प्र० उ० |
| कठोपनिषद् | क० उ० |
| मुण्डकोपनिषद् | मु० उ० |
| माण्डूक्योपनिषद् | मा० उ० |
| ऐतरेयोपनिषद् | ऐ० उ० |
| तैत्तिरीयोपनिषद् | तै० उ० |
| श्वेताश्वतरोपनि० | श्वे० उ० |
| छान्दोग्योपनिषद् | छा० उ० |
| बृहदारण्यकोपनिषद् | बृह० उ० |
| तन्त्रसार | तं० सा० |
| S. R. K. | S. Radha Krishnan |
| I.P. | Indian Philosophy |
| S. B. E. | Sacred Books of the East |

# विषय-सूची

| अध्याय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| प्राक्कथन | १७-१९ |
| प्रथम अध्याय : अध्ययन का उद्देश्य : वैदिक साहित्य का महत्त्व, अर्वाचीन साहित्य पर वैदिक साहित्य का प्रभाव, वैदिक साहित्य में दार्शनिकता, वैदिक-साहित्य की पीठिका पर आधुनिक सांस्कृतिक पुनर्जागरण, छायावादी कवियों पर वैदिक धारणाओं का प्रभाव। | २१-२८ |
| द्वितीय अध्याय : वैदिक-वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय : वैदिक-साहित्य का वर्गीकरण, प्रथम चरण—सूक्तकाल, द्वितीय चरण-ब्राह्मणारण्यकोपनिषदकाल, तृतीय चरण-सूक्तकाल, ऋग्वेद मंत्र-विभाजन, अष्टक-क्रम, मण्डल-क्रम, वंशमण्डल, ऋग्वेद का स्वरूप, ऋग्वेद के देवता—इन्द्र, अग्नि, सोम, वरुण, सूर्य उपस् आदि, दार्शनिक-सूक्त–हिरण्यगर्भ सूक्त, नासदीय सूक्त, यजुर्वेद-वाजसनेय संहिता-स्वरूप वर्णन, महत्त्व सामवेद-कौथुमीय संहिता स्वरूप वर्णन, अथर्ववेद—अथर्ववेद का नामकरण, शौनक शाखा का स्वरूप वर्णन, ब्रह्मण्यानि; उपनिषद—उपनिषदों का वेदसंहिताओं से सम्बन्ध, उपनिषदों का विभाजन, उपनिषद् का अर्थ, उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय—ईशावास्योपनिषद्, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य, बृहदारण्यकोपनिषद्, उपनिषदों के 'आत्मवाद' की आगम-ग्रन्थों में प्रतिष्ठा। | २९-५६ |
| तृतीय अध्याय : वैदिक दर्शन का स्वरूप : दर्शन का उपयोग और उसका अर्थ, पूर्वी एवं पश्चिमी दर्शन का अन्तर, वैदिक-दर्शन की श्रेष्ठता, वैदिक-दर्शन | ५७-१०६ |

का तात्पर्य और उसकी सीमाएँ, वैदिक-दर्शन का प्रारम्भिक रूप, वेद में परमसत्ता और उसका स्वरूप, एकेश्वरवाद, उपनिषदों में ब्रह्म तत्व और उसका दार्शनिक स्वरूप, ब्रह्म के दो स्वरूप—निर्गुण और सगुण-वाद, जीव, वेद में जीवात्मा का स्वरूप, उपनिषदों में जीवात्मा का स्वरूप, प्रकृति (भौतिक जगत्), वेद में प्रकृति तत्व, उपनिषदों में प्रकृति तत्व और उसका स्वरूप, त्रिगुणात्मिका, द्वैत में अद्वैत, अद्वैतवाद, आत्मा का स्वरूप, आत्मा एवं ब्रह्म की अभिन्नता (अद्वैत), ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध, वेद में माया का विचार, उपनिषदों में माया का विचार, शांकर-मायावाद (अध्यास एवं विवर्त), शैव-दर्शन में माया, जगत् की सद्रूपता, शक्ति-परिणामवाद, ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध, (१) अन्वच्छेद का सिद्धान्त (२) प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त, भूमा, ऋत एवं सत्य, रहस्यवाद, सामान्य परिचय, वेद में रहस्य-भावना, जिज्ञासा-वृत्ति, उपनिषदों में रहस्य-भावना, साध्य, रहस्यानुभूति के साधन, रहस्यानुभूति का स्वरूप, अनुभूति की अनिर्वचनीयता, तादात्म्य, परमव्योमन, सर्व-वाद, मोक्ष, मोक्षावस्था के सम्बन्ध में दो मत, मोक्ष के साधन, कर्म का स्वरूप, ज्ञान, भक्ति, कर्म, ज्ञान और भक्ति का तादात्म्य, मृत्यु और पुनर्जन्म, समत्व एवं विश्वबंधुत्व की भावना।

**चतुर्थ अध्याय : वैदिक वाङ्मय के अध्ययन की ओर अभिनव प्रवृत्ति : १०७-१४४**

भूमिका, पाश्चात्य विद्वानों की वैदिक साहित्य में रुचि, प्रशासकीय दृष्टि, शैक्षिक-दृष्टि, सांस्कृतिक-दृष्टि, विशिष्ट पाश्चात्य विद्वान और उनका वैदिक साहित्य पर कार्य—अनुवाद-कार्य, वैदिक ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करण, समीक्षात्मक साहित्य, आधुनिक भारतीय विद्वान् एवं उनका वैदिक साहित्य पर कार्य, स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा अन्य विद्वान्, वैदिक-साहित्य की पीठिका पर सांस्कृतिक पुनरुत्थान, ब्रह्मोसमाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, आर्य-समाज के त्रिविध कार्य, थियोसाफिकल सोसाइटी, शिक्षण संस्थाएँ, पत्र-पत्रि-काएँ, शोध-संस्थान एवं प्रचार संस्थाएँ। विशिष्ट

महापुरुषों का वैदिक-साहित्य पर कार्य(१)धार्मिक महापुरुष—रामकृष्ण'परमहंस', स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, (२) साहित्यिक महापुरुष—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, (३) राजनैतिक महापुरुष–बालगंगाधर तिलक। वैदिक-साहित्य के आधुनिक व्याख्याकार—डा० राधाकृष्णन्, श्री अरविन्द। हिन्दी में वैदिक साहित्य—प्रमुख-प्रमुख उपनिषदो पर कार्य, उपसहार।

पंचम अध्याय : **प्रसादजी के काव्य पर वैदिक-दर्शन का प्रभाव :** १४५-२२५

कवि प्रसाद और उनका वैदिक साहित्य से सम्पर्क, वैदिक एवं तान्त्रिक (प्रत्यभिज्ञा-दर्शन) दार्शनिक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन, प्रसादजी से पूर्व की साहित्यिक-पीठिका, प्रसाद जी की काव्य-रचनाओं का वर्गीकरण, प्रसादजी की प्रारम्भिक रचनाएँ—'चित्राधार'—ब्रह्म की सत्ता में विश्वास, ब्रह्म के दो रूप, रहस्य-भावना। 'काननकुसुम'—सर्वात्मवाद, रहस्य-भावना। 'प्रेमपथिक'—संक्षिप्त कथानक, प्रेम-साधना का स्वरूप। मध्य-युग की रचनाएँ–'झरना'–ब्रह्म का स्वरूप वर्णन, रहस्य-भावना। 'आँसू'–आँसू की लौकिक एवं अलौकिक वृत्ति। 'लहर'—रहस्यभावना। उत्तर-कालीन रचना—'कामायनी'— कामायनी का संक्षिप्त कथानक, कामायनी की कथास्तु के स्रोत, जलप्लावन की घटना की वैदिकता, मनु, श्रद्धा, इड़ा, आकुली-किलात पात्रों की वैदिकता और उनकी भावमूलक व्याख्या, कामायनी का रूपकत्व, प्रतीकात्मकता, वैदिक सप्त व्याहृतियाँ एवं औपनिषदिक पंचकोश। कामयानी की कथा का अप्रस्तुत पक्ष, मनु की मनोमयकोश से विज्ञान और आनन्दमय कोशों की ओर प्रगति। निर्गुण-सगुण विवेचन, कामायनी में कामभाव, जीव और जगत्-सम्बन्धी चितन, भूमा, द्वैत में अद्वैत, माया और उसका कामायनी में दार्शनिक स्वरूप,प्रसाद का नियतिवाद और वैदिक ऋत-तत्व, रहस्यवाद, जिज्ञासा, सत्य का स्वरूप, सत्य पर बाह्य सौंदर्य का आवरण, उसके अपवारण की इच्छा, आनन्द की स्थिति। आनन्दवाद और उसका वैदिक स्वरूप, साम्यावस्था, भाव, कर्म और ज्ञान के त्रिपुर का वैदिक आधार, भाव, कर्म तथा ज्ञान-

लोक का वर्णन, तीनों की साम्यवास्था से चरम आनन्द की अनुभूति। विश्वबन्धुत्व की भावना, उपसंहार।

षष्ठ अध्याय : निराला के काव्य पर वैदिक दर्शन का प्रभाव : २२७-२९८

निराला और उनका वैदिक साहित्य से सम्पर्क, दार्शनिकता के सम्बन्ध मे निराला की स्वोक्तियाँ, निराला का काव्य-साहित्य और उसका वर्गीकरण, प्रारम्भिक काव्य—'परिमल' और 'अनामिका', निर्गुण-सगुण विवेचन, ब्रह्म का सापेक्षरूप, ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन, जीव-जगत् (प्रकृति) का व्यावहारिक रूप, माया—रामकृष्ण 'परमहंस' एवं विवेकानन्द की 'माया' सम्बन्धी व्याख्याएँ, निराला के प्रारम्भिक काव्य में माया का स्वरूप, भूमा, अल्प एवं महान सुख में अंतर, रहस्यवाद, ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध, मोक्ष, मोक्ष के साधन—कर्म, उपासना एवं ज्ञान, प्रेमभाव, लोक-सेवा, कर्म का सिद्धान्त, मानवैक्य की अनुभूति। गीतिकाव्य की रहस्यात्मकता, ब्रह्म का स्वरूप वर्णन, जीवात्मा एवं जगत्, ब्रह्म का निवास: हृदय-गुहा में, द्वैत में अद्वैत, रहस्य-भावना, परमसत्ता में विश्वास, जिज्ञासा, मिलन की अनुभूति एवं तल्लीनता, अभिसार। उपनिषदों का अविद्या तत्व, ज्ञान के द्वारा अविद्या से मुक्ति। प्रबन्ध काव्य—'तुलसीदास' की संक्षिप्त कथा, तुलसीदास का रूपकत्व और उसका दार्शनिक मनोवैज्ञानिक आधार, चेतना का ऊर्ध्वीकरण। 'रामकी शक्ति पूजा'—यौगिक प्रक्रिया और उसकी वैदिकता। निराला का परवर्त्ती काव्य, भक्ति भावना, अद्वैतानुभूति, उपसंहार।

सप्तम अध्याय :—पन्त के काव्य पर वैदिक-दर्शन का प्रभाव : २९९-३७२

पंत और उनका वैदिक-दर्शन से सम्पर्क, काव्य साहित्य का विभाजन, प्रारम्भिक रचनाएँ—'वीणा'—परम सत्ता, ब्रह्म का स्वरूप, संसार का आध्यात्मिक स्वरूप, सर्ववाद, रहस्यभावना, जिज्ञासा, कामना से मुक्ति की प्रार्थना। 'पल्लव'—ब्रह्म और जगत् (प्रकृति) संबंधी दृष्टिकोण, जीवात्मा, सर्ववाद, रहस्य-भावना। 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना'—ब्रह्म का स्वरूप-वर्णन, जीवात्मा के अमरत्व की घोषणा, जगत् की शाश्वतता में विश्वास,

जगत् एवं जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण, रहस्य-भावना, मुक्ति-विचार, सुख-दुःख-विचार, मृत्यु और जन्मान्तरवाद, लोक-मंगल की भावना तथा मानवतावाद। 'युगान्त'—जीव और जगत्-सम्बन्धी चिन्तन, माया के दार्शनिक स्वरूप का वर्णन, अद्वैतवाद, भूमा, श्रद्धा-विश्वास, लोक-मंगल का भाव। मध्यकालीन रचनाएँ—'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या'—ब्रह्म तथा जगत्-सम्बन्धी चिन्तन, रहस्य-भावना, कर्म और जन्मान्तरवाद, मानवतावाद तथा लोक-मंगल की भावना, पंत का स्वर्ण-काव्य—सामान्य परिचय, श्री अरविन्द-दर्शन, वेद में दो समुद्रों का विचार, वैदिक देवताओं की आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या, जगत् की सद्रूपता, चेतना का अवरोहण, ऊर्ध्व चेतन, चेतन मन, प्राणसत्ता और पदार्थसत्ता (मैटर), श्री अरविन्द की 'अवरोहण' एवं 'आरोहण' की व्याख्या का औपनिषदिक आधार, ब्रह्म तत्व, माया। पंत की 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' रचनाएँ, ब्रह्म-तत्व का स्वरूप, आत्म-तत्व के अमरत्व की प्रतिष्ठा, आत्मा का मौलिक स्वरूप, जगत् में ईश्वर की सर्वव्यापकता, द्वैत में अद्वैत, रहस्यवाद, ब्रह्म-जिज्ञासा, रहस्यानुभूति की अवाङ्मनसगोचरता, स्पर्शानुभूति, अद्वैतानुभूति, कर्म और जन्मान्तरवाद, मुक्ति-चिंता, कर्म और ज्ञान का समन्वय, लोकमंगल एवं मानवता की भावना, वेदमंत्रों का भावानुवाद, पंतजी की अंतिम रचनाएँ—ब्रह्म और जीव सम्बन्धी चिंतन, अद्वैतभावना, चेतना के अवरोहण-आरोहण के रहस्य-परक चित्र, सिंहावलोकन।

**अष्टम अध्याय : महादेवी वर्मा के काव्य पर वैदिक-दर्शन का प्रभाव** ३७३-४२४

महादेवी और उनका वैदिक-साहित्य से सम्पर्क, 'नीहार'—ब्रह्म एवं जगत्-सम्बन्धी चिन्तन, सर्ववाद, अद्वैत-चिन्तन, रहस्य-भावना, रहस्य-वृत्ति की कतिपय विशेषताएँ, रहस्य-वृत्ति का आधार, औपनिषदिक तपवाद, जिज्ञासा-वृत्ति, मिलन और प्रतीक्षा, विरह-वेदना। 'रश्मि'—ब्रह्म-जीव-सम्बन्धी चिन्तन, जीव और ब्रह्म का अभेद सम्बन्ध, जगत्-सर्ववाद, रहस्य-भावना, स्पर्शानुभूति जीवन और मृत्यु, शाश्वतता,

'नीरजा'—ब्रह्म और जीवात्मा, अद्वैतभाव, सर्ववाद, रहस्यवृत्ति। 'सान्ध्य-गीत'—ब्रह्म-जीव वर्णन, रहस्य-भावना, साधना। 'दीपशिखा'—ब्रह्म तथा जीव-चिंतन, सर्वात्मवाद, रहस्य-भावना, अवाङ्मनस-गोचरता, निष्काम-साधना, मृत्यु और पुनर्जन्म, लोक-मंगल एवं परदुःखकातरता, उपसंहार।

नवम अध्याय : निष्कर्ष : ४२७-४४१

परिशिष्ट (क) वैदिक-संस्कृत साहित्य ४४३-४५४
(ख) अन्य संस्कृत साहित्य
(ग) संस्कृत-पौराणिक साहित्य
(घ) संस्कृत-तन्त्र साहित्य
(ङ) आंग्ल-भाषा आलोचनात्मक वैदिक-ग्रंथ
(च) हिन्दी भाषा—आलोचनात्मक वैदिक साहित्य
(छ) अनूदित-साहित्य
(ज) हिन्दी काव्य-साहित्य
(१) प्रसाद काव्य-साहित्य
(२) निराला काव्य-साहित्य
(३) पन्त काव्य-साहित्य
(४) महादेवी काव्य-साहित्य
(झ) आलोचनात्मक साहित्य
(ट) प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी से सम्बन्धित
(ठ) छायावादी कवियों का आलोचना साहित्य

# प्राक्कथन

वर्तमान-युग में साहित्य, कला एवं विज्ञान के क्षेत्र में मानव की अन्वेषणात्मक तथा अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति बड़ी प्रबल रही है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप जहाँ एक ओर वैज्ञानिक-क्षेत्र में हुई नई-नई खोजों ने मानस को विस्मय-विमुग्ध किया, वहाँ दूसरी ओर इस प्रवृत्ति ने हमारी प्रसुप्त चेतना को उद्‌बुद्ध कर हमें अपनी सांस्कृतिक थाती का पुनर्मूल्यांकन करने की प्रेरणा दी तथा हमें अपने प्राचीन सांस्कृतिक गौरव से परिचित कराया। यह इसी प्रवृत्ति का परिणाम है कि हम प्राचीन-काल के ऋषि-महर्षियों से लेकर आज तक के चिन्तकों एवं विचारकों, साहित्यिकों एवं कलाकारों की अप्रतिम-उपलब्धियों से सीधा परिचय प्राप्त कर सके हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी यह प्रवृत्ति कम प्रबल नहीं रही है। मध्ययुग से लेकर अब तक के अनेकों सन्तों, कवियों एवं साहित्यकारों पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के मूल्यांकन एवम् उनके विचार-जगत् के निर्माण की दृष्टि से अनेक समीक्षात्मक शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। इस दिशा में कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, केशव आदि विभिन्न हिन्दी कवियों के नाम सरलतापूर्वक लिए जा सकते हैं। ये सन्त एवं भक्त-कवि विचार एवं चिन्तन की दृष्टि से अपने अतीत से सम्बद्ध थे। इन पर वैदिक एवं पौराणिक मान्यताओं तथा धारणाओं का गहरा प्रभाव विद्यमान था। अतः इन कवियों के काव्य के दार्शनिक पक्ष को लेकर हिन्दी में पर्याप्त कार्य हुआ।

आधुनिक-युग के 'प्रसाद', 'निराला' आदि छायावादी कवि जो पुनर्जागरण काल की देन हैं, विचार एवं चिंतन की दृष्टि से अपने स्वर्णिम अतीत (अर्थात्-वैदिक-युग के वाङ्मय) से विशेषतया जुड़े रहे हैं। यह युग वास्तव में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था, अतः इन कवियों के मानस पर अपने प्राचीन साहित्य की दार्शनिक मान्यताओं एवं धारणाओं का युग के परिवेश में व्यापक प्रभाव पड़ा। इन कवियों के विचार-जगत् के निर्माण में वैदिक साहित्य में उल्लिखित चिन्तनाओं का किस सीमा तक हाथ रहा है। इस दिशा में हिन्दी में अभी तक कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ था। यह कार्य इसी अभाव की पूर्ति की दिशा में एक तुच्छ प्रयास है, जो दयानन्द कालिज कानपुर के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष गुरुदेव डा० मुन्शीराम शर्मा, एम० ए०, डी लिट् के सुझाव पर फरवरी सन् १९६३ में प्रारम्भ किया गया था। यह कहते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है कि यह प्रबन्ध उन्हीं के मार्ग-दर्शन के फलस्वरूप अब पूर्ण होकर विद्वद्-वर्ग के समक्ष प्रस्तुत है।

इस प्रबन्ध में ९ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश से सम्बद्ध है जिसमें वैदिक-साहित्य की श्रेष्ठता एवं महत्ता का उल्लेख करते हुए प्राचीन एवं अर्वाचीन-साहित्य पर उसके प्रभाव की दिशा की ओर संकेत किया गया है, तथा यह स्थापना भी की गई है कि छायावादी कवियों पर भी यह प्रभाव विद्यमान है। द्वितीय अध्याय में वैदिक साहित्य का वर्गीकृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसमें वेद एवं उपनिषदों पर तनिक विस्तार से चर्चा की गई है, क्योंकि ये ही ग्रंथ भारतीय सांस्कृतिक जीवन के विकास के प्रमुख स्रोत माने जाते रहे हैं। तृतीय अध्याय में वैदिक-दर्शन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है तथा परवर्ती दार्शनिक मतवाद से वैदिक-वाङ्मय में आए विचारों एवं सिद्धान्तों का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इस साहित्य में दर्शन का वैसा तर्कसम्मत एवं व्यवस्थित रूप देखने को नहीं मिलता जैसा परवर्ती षड्दर्शनों में उपलब्ध होता है। वेद एवं उपनिषद् मुख्यतया 'श्रुति' हैं जिनमें अनेक रहस्यात्मक अनुभूतियाँ एवं दार्शनिक विचारों का उल्लेख है जिन्हें वैदिक ऋषियों ने अपने प्रज्ञा-चक्षुओं से समय-समय पर समाधि-अवस्था में प्राप्त किया था। इसीलिए उस समस्त सामग्री को, जो इस प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में दी गई है, संग्रहीत करने के लिए अनेक वैदिक-संस्कृत ग्रन्थों तथा पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के तत्सम्बन्धी अनेक आलोचना-ग्रन्थों का मन्थन करना पड़ा जिनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है। इस सन्दर्भ में विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसंधान संस्थान, होशियारपुर (पंजाब) के संचालक श्रद्धेय विश्वबन्धु शास्त्री का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने मुझे वैदिक-दर्शन के प्रारम्भिक स्वरूप से सम्बन्धित आवश्यक जानकारी देने तथा तत्सम्बन्धी सामग्री जुटाने में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया।

इस प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में वैदिक-साहित्य की पीठिका पर आधुनिक युग में हुए सांस्कृतिक पुनर्जागरण से सम्बन्धित अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आगे पंचम से अष्टम तक चार अध्यायों में वैदिक वाङ्मय में वर्णित मान्यताओं एवं धारणाओं की सापेक्षता में क्रमशः प्रसाद, निराला, सुमित्रानन्दन पंत तथा महादेवी वर्मा के काव्य-साहित्य के विचार एवं चिन्तन-पक्ष का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो इस शोध-प्रबन्ध का मुख्य विषय है। अन्तिम अध्याय में निष्कर्ष-रूप में हमने उन सभी उपलब्धियों की ओर संकेत किया है जो वैदिक-वाङ्मय की दार्शनिक विचारधारा के प्रकाश में हमें अपने इन आलोच्य कवियों के काव्य-साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त हुई हैं। इस प्रबन्ध में यत्र-तत्र पुनरुक्तियाँ हो गई हैं जो विषय की एकरसता तथा एकरूपता के कारण स्वाभाविक थीं अतएव मर्षणीय भी हैं।

यहाँ मैं उन गुरुजनों तथा विद्वद्-वर्ग के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन के साथ अपनी बात समाप्त करता हूँ जिनसे मुझे शोध-प्रबन्ध को पूरा करने में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहायता मिली है। इस दृष्टि से सनातन धर्म कालिज, मुजफ्फरनगर के

हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा० विश्वनाथ मिश्र एम० ए०, डी-लिट् तथा संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष श्री कुन्दनलाल शर्मा, एम० ए० का मैं हृदय से आभार प्रदर्शन करता हूँ। इन दोनों महानुभावों ने विद्यालय के पुस्तकालय से महत्त्वपूर्ण पुस्तकें उपलब्ध कराने तथा शोध-प्रबन्ध की पाण्डुलिपि पढ़कर आवश्यक सुझाव देने में जो सक्रिय सहयोग प्रदान किया है वह अविस्मरणीय है। इनके सहयोग के अभाव में यह प्रबन्ध इस रूप में आ पाता यह सन्दिग्ध है। इसी सन्दर्भ में दिल्ली विश्वविद्यालय के रीडर डा० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०, पी-एच० डी० का भी हृदय से आभार प्रदर्शन करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर विषय-सम्बन्धी आवश्यक परामर्श देकर तथा अन्त में शोध-प्रबन्ध की पाडुलिपि देखकर तथा आवश्यक सुझाव देकर अनुगृहीत किया और इस प्रकार प्रकारान्तर से उन्होंने भी मेरा मार्ग-दर्शन किया।

इसी क्रम में केन्द्रीय पुरातत्व विभाग, दिल्ली, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, मारवाड़ी सार्वजनिक पुस्तकालय, दिल्ली, पब्लिक लायब्रेरी, दिल्ली तथा एस० डी० कालिज, मुजफ्फरनगर के पुस्तकालयाध्याक्षों का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे आवश्यक सामग्री जुटाने में निस्संकोच-भाव से पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है।

आदरणीय एवं परम श्रद्धेय गंगाशरण 'शील' अध्यक्ष, हिन्दी विभाग एस० एम० कालिज, चन्दौसी, तो मेरे विशेष श्रद्धा के आस्पद हैं। सन् १९५२ में इस महाविद्यालय में प्रवेश लेने के समय से ही उनकी मेरे ऊपर विशेष कृपा बनी रही है। उन्हीं के स्नेह की छत्रछाया में मैंने अपना लगभग सम्पूर्ण विद्यार्थी-जीवन पूर्ण किया है तथा यह संयोग की ही बात है कि यह शोध-प्रबन्ध भी उन्हीं के निर्देशन में पूर्ण हो रहा है। इस प्रकार उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करके सहज में ही अपना पिण्ड छुड़ा लूँ यह कैसे सम्भव हो सकता है। अतः उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन की औपचारिकता प्रदर्शित करने की धृष्टता मैं नहीं कर सकूँगा। यह जीवन उन्हीं का है और उन्हें ही अर्पित भी है। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

अन्त में मैं उन सभी विद्वानों के प्रति हृदय से आभार एवं कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ जिनके ग्रन्थों से मैं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से लाभान्वित हुआ हूँ। इस दिशा में मैं अपने सुहृद्वर श्री कान्तीप्रसाद टाइपिस्ट (शुक्ला कर्मशियल स्कूल, सुभाष बाजार, मेरठ) के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने बड़ी लग्न तथा परिश्रम से इस शोध-प्रबन्ध को अविकल रूप में टंकित करने का प्रयास किया है। अस्तु।

नेहरू कॉलिज, फरीदाबाद

दिसम्बर १९६६ प्रेमप्रकाश रस्तोगी

प्रथम अध्याय

# अध्ययन का उद्देश्य

वैदिक साहित्य ज्ञान-परम्परा में विश्व का आदि एवं प्राचीनतम साहित्य, आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, रहस्यात्मक एवं सामाजिक आदि अखिल विद्याओं का भण्डार तथा विश्व ज्ञान-विज्ञान की अनुपम थाती माना जाता है। वैदिक-साहित्य अपने अन्तर में विशेपतया दार्शनिक एवं रहस्यात्मक गाम्भीर्य को संजोये हुए है। सृष्टि के आदि-काल में भारतीय-ऋषियों ने ईश-निर्मित इस चराचर विश्व में जिस विभु की व्यापक सत्ता के दर्शन किए समस्त वैदिक वाङमय उन्हीं रहस्यात्मक दार्शनिक एवं पुनीत अनुभूतियों के अद्‌भुत उद्‌गीथ हैं। प्राचीन ऋपियों की अन्तरात्मा का सम्बन्ध समस्त प्रकृति में व्याप्त परम सत्ता से था। इसीलिए मन्त्र-द्रष्टा इन ऋपियों की वाणी में विचारों की उच्चता, अनुभूतियों की तीव्रता, सूक्ष्म एवं व्यापक दार्शनिक दृष्टिकोण की गंभीरता विद्यमान है। ऋपियों की इन वाणियों में मानव एवं प्रकृति की गुह्यतम अभिव्यक्ति हुई हैं जिनमें अत्यन्त ओजस्विता एवं तेजस्विता निहित है। इनमें मानव-हृदय को प्रभावित एवं स्पन्दित करने की महान् शक्ति है।

वैदिक साहित्य एवं दर्शन ने विभिन्न विद्याओं एवं ज्ञान-विज्ञान के प्रारम्भिक स्रोत होने के कारण अपनी प्रभविष्णुता से प्राचीन काल से परवर्ती विश्व-साहित्य को बहुत दूर तक प्रभावित किया है। यहाँ तक कि प्राचीन काल से अप्रतिहत गति से चली आ रही भारतीय आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति का विशाल एवं सुदृढ भवन भी वैदिक-साहित्य में निहित विभिन्न अनुभूत सत्यों, धारणाओं, मान्यताओं एवं ऋपियों द्वारा प्रतिपादित शाश्वत सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। इस साहित्य में निहित जीवन्त-शक्ति इतनी विराट् एवं प्रचण्ड है कि हमारी प्राचीन आर्य-संस्कृति अनेक विरोधी बवण्डरों के थपेड़ों से सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो सकी। हम विभिन्न सम-विपम परिस्थितियों में भी अपना अस्तित्व बनाए रख सके। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ पराधीनता के क्षणों में भी हमने सांस्कृतिक दृष्टि से अपना मस्तक गौरव से ऊँचा रखा है। यहाँ तक कि जो भी विदेशी जाति इस साहित्य की आध्यात्मिक मान्यताओं के सम्पर्क में आई वह भी इसके प्रभाव से प्रभावित हुए बिना न रह सकी, जब कि प्राचीन सिन्धु एवं मिश्र, रोमन एवं ग्रीक, सभ्यता एवं संस्कृति का अब इतिहास के पृष्ठों पर केवल नाम-मात्र ही पढ़ने को

मिलता है और यह भी सत्य है कि हम जब भी पतित हुए तो इस रिक्थ के प्रति अपनी उपेक्षा एवं अकर्मण्यता के कारण और जब भी हम उठे हैं तो इस साहित्य से प्रेरणा प्राप्त करके। स्पष्टतः यह धारा किसी-न-किसी रूप में अपना अस्तित्व बनाए रही।

हिन्दी-साहित्य के आदि काल से लेकर आधुनिक-काल के साहित्य पर वैदिक-साहित्य की विचारधारा का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही देखने को मिलता है। हिन्दी के 'भक्ति-काल' पर तो यह प्रभाव सर्वाधिक रूप में विद्यमान है। 'कबीर तथा उनके बाद की सन्त कवियों की परम्परा पर उपनिषदों की अद्वैतवादी विचार-धारा का गहन प्रभाव पड़ा है। वहाँ एक परम सत्ता के अस्तित्व में अखण्ड विश्वास प्रकट किया गया है, ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों की चर्चा हुई है, जीवात्मा के अमरत्व में विश्वास प्रकट किया गया है, ब्रह्म को कहीं अन्यत्र नहीं प्रत्युत हृदय-गुहा में प्रतिष्ठित कहा गया है। सन्त-साहित्य में ब्रह्म का साक्षात्कार ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भक्ति, प्रेम, ज्ञान, योग सभी साधना-भूमिकाओं को रुचि-भेद के अनुसार महत्त्व प्रदान किया गया है। सन्त-साहित्य की ये कतिपय प्रमुख विशिष्टताएँ हैं जो औपनिषदिक समस्या-त्मक अनुभूतियों तथा दार्शनिक मान्यताओं पर अवलम्बित हैं। निर्गुण सम्प्रदाय के प्रेमाश्रयी शाखा के प्रमुख कवि जायसी पर भी उपनिषदों की रहस्यात्मक अनुभूतियों का प्रभाव विद्यमान है। इसी प्रकार सगुणोपासक भक्त-कवि सूर एवं तुलसी के काव्य में भी यह प्रभाव प्रकारान्तर से विद्यमान है। तुलसी के काव्य में यह प्रभाव रामानुजाचार्य की औपनिषदिक व्याख्याओं द्वारा तथा सूर पर श्री वल्लभाचार्य की व्याख्याओं के माध्यम से आया है। इस प्रकार ढाई सौ वर्षों का यह सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से वैदिक-साहित्य में वर्णित आध्यात्मिक-दार्श-निक मान्यताओं पर आधारित है। भक्ति-काल से पूर्व के सिद्धों तथा नाथों के साहित्य पर भी यह प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। रीतिकालीन साहित्य की एक धारा (निर्गुण धारा) में अच्छनदास, सहजोबाई, दयाबाई, आदि कवियों की गणना होती है, उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन का स्पष्ट प्रभाव विद्यमान है।[1]

आधुनिक काल में पुनः इसी साहित्य की पीठिका पर सांस्कृतिक पुनर्जागरण की अलख जगाई गई। श्री रामकृष्णदेव, स्वामी रामतीर्थ तथा योगी अरविन्द तो इस युग के प्रमुख रहस्य-द्रष्टा हैं जिनकी वाणियों में पुनः प्राचीन वैदिक दर्शन एवं अनु-भूतियाँ मूर्त रूप ग्रहण कर सकी हैं। इन रहस्यद्रष्टाओं एवं स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द आदि महापुरुषों के सम्मिलित प्रयत्नों से वैदिक-साहित्य की पृष्ठभूमि पर सांस्कृतिक पुनर्निर्माण का जो महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ उससे हमारे आधुनिक युग के

---

१. पंजाबी लाल शर्मा 'पलाश' द्वारा आगरा विश्वविद्यालय को प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ—'रीतिकाल के निर्गुण कवि'।

हिन्दी के छायावादी कवि—प्रसाद, निराला, महादेवी, पन्त पर्याप्त प्रभावित हुए हैं तथा उनके काव्य-साहित्य में प्राचीन वैदिक मान्यताओं की प्रभूत मात्रा में प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। इन कवियों पर किस सीमा तक वैदिक-दार्शनिक मान्यताओं का प्रभाव पड़ा है इसका क्रमबद्ध अध्ययन ही प्रबन्ध का मुख्य विषय है।

प्रारम्भ में वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। वैदिक वाङ्मय वेद-संहिताओं से लेकर सूत्र-साहित्य तक फैला हुआ है। जिसके अन्तर्गत ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व ये चारों वेद-संहिताएँ, इन वेदों की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थ और इन्हीं के साथ जुड़े हुए आरण्यक तथा उपनिषद्-ग्रन्थों की गणना होती है। वेद-संहिताओं में विचारों की मौलिकता एवं सूक्ष्मता की दृष्टि से ऋग्वेद तथा अथर्ववेद प्रमुख हैं। ब्राह्मण-साहित्य वस्तुतः कर्मकाण्ड का साहित्य है जिसमें विभिन्न यज्ञों की विधियों पर अत्यधिक सूक्ष्मता से विचार किया गया है। दार्शनिकता की दृष्टि से इस साहित्य का महत्त्व नगण्य ही है। अतः इस सन्दर्भ में इन ग्रन्थों का केवल नामोल्लेख मात्र ही किया गया है। आरण्यक ग्रन्थों में ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा दार्शनिक स्वरूप अधिक मुखरित हुआ है तथा इन ग्रन्थों का सम्बन्ध उन लोगों से था जो यज्ञिय कर्मकाण्ड से विरत होकर अरण्य में आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे। इन्हीं ग्रन्थों के साथ वह साहित्य जुड़ा हुआ है जिसे विज्ञ समाज उपनिषद् के नाम से जानता है। यह उपनिषद्-साहित्य प्राचीन भारतीय ऋषियों की उन श्रेष्ठतम अनुभूतियों एवं धारणाओं के संकलित अंश हैं जिनका साक्षात्कार उन्हें चेतना की ऊर्ध्वावस्था में हुआ था। यह साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध तथा विस्तृत है, पर महत्त्व की दृष्टि से कुछ ही उपनिषद् मुख्य हैं जिनमें, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, मैत्रायणी तथा कौषीतकि उपनिषदें प्रमुख हैं। इनमें से आरम्भ की एकादश उपनिषदों पर आचार्य शंकर का भाष्य उपलब्ध होता है। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण इन्हें वेदान्त भी कहते हैं। वेद की शिक्षाएँ इन्हीं ग्रन्थों में जाकर पर्यवसित हुई हैं। वैदिक-साहित्य का अन्तिम अंश सूत्र-साहित्य है जिसमें नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से अनेक सूत्रों का संग्रह हुआ है। इनमें गृहस्थों के लिए उपयोगी विधि-विधानों का उल्लेख है। दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से इस विशाल साहित्य में वेद तथा उपनिषदों का ही महत्त्व अधिक है, अतः वैदिक वाङ्मय के संक्षिप्त परिचय के सन्दर्भ में इन्हीं ग्रन्थों पर तनिक विस्तार से विचार किया गया है।

वैदिक दर्शन से सम्बन्धित सामग्री जिन ग्रन्थों पर आधारित है उनमें वेद-संहिताएँ तथा उपनिषद्-ग्रन्थ प्रमुख हैं। उपनिषद्-ग्रन्थों में भी उन्हीं प्रमुख उपनिषदों को अध्ययन का विषय बनाया गया है जिन पर शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध होता है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनका दार्शनिक एवं आध्यात्मिक महत्त्व है। वैसे अनुभूति की दृष्टि से वे दर्शन की अपेक्षा 'रहस्य' की कोटि

में अधिक आते हैं। अथर्ववेद में परम सत्ता के सम्बन्ध में अनेक मनोहर एवं रमणीय जिज्ञासाएँ प्रकट की गई हैं जिनका रहस्य की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व है। ऋग्वेद में उस एक सत्ता के लिए 'विराट् पुरुष', 'हिरण्य-गर्भ', 'विश्वकर्मा' आदि कहा गया। धर्म के 'ईश्वर' की कल्पना इन संज्ञाओं के अधिक निकट है। उसके निरपेक्ष रूप का परिचय देने के लिए वहाँ 'एकं सत्' अथवा 'तदेकम्' कहा गया। वेद में सत्ता के सापेक्ष रूप की चर्चा विस्तार से हुई है। अथर्ववेद में उस विराट् सत्ता को जो हिरण्य-गर्भ से भी पूर्व था 'स्कम्प', 'उच्छिष्ट' तथा ज्येष्ठ ब्रह्म भी कहा गया है। वहाँ दशम काण्ड का सातवाँ सम्पूर्ण सूक्त 'स्कम्प' को लक्ष्य करके कहा गया है जिसका विपय ही अध्यात्म से सम्बन्धित है। इस विराट् सत्ता को वेद में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ का निर्माता कहा गया तथा इस विश्व से उस विराट् पुरुष का तादात्म्य भी स्थापित किया गया। इस प्रकार ऋग्वेद के 'पुरुपसूक्त' में ही सर्वप्रथम सर्वात्मवादी दर्शन स्पष्टतः प्रतिपादित हुआ है और यहीं अद्वैतवाद के अंकुर विद्यमान हैं जिसका पर्यव-सान हुआ औपनिषदिक अद्वैतवाद में। अथर्ववेद में सर्वप्रथम आत्मा को मर्त्यगृह में निवास करने वाली अमर और कल्याणमयी सत्ता कहा गया। आगे चलकर उप-निपदों में समष्टिगत ब्रह्म तथा व्यष्टिगत आत्मा का तादात्म्य भी स्थापित किया गया तथा स्पष्ट शब्दों में अद्वैत की प्रतिष्ठा हुई। व्यवहार दशा में ब्रह्म तथा आत्मा के मध्य प्रतिविम्बवाद तथा अवच्छिन्नवाद के सिद्धान्तों की ओर संकेत किया गया जिसका प्रतिपादन आचार्य शंकर ने ब्रह्म सूत्रों की व्याख्या में किया।

वेद में प्राकृतिक एवं नैतिक व्यवस्था के व्यवस्थापक ऋत तथा स्थिति के व्यवस्थापक सत्य आदि विषयों की चर्चा भी आई है। 'ऋत-तत्व' की परिणति उपनिपदों में कर्मवाद के रूप में जाकर हुई। वैदिक-दर्शन के अन्तर्गत अनेकार्थक 'माया' शब्द के ऊपर भी पर्याप्त विचार किया गया है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वैदिक शब्द 'माया' तथा शंकर के 'मायावाद' के सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक-दर्शन में जीवात्मा के स्वरूप पर भी पर्याप्त चिन्तन हुआ है। बद्ध दशा में उसे अनीश, भोक्ता तथा सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से ग्रस्त रहने वाला कहा गया है, यों अपने मौलिक रूप में वह अज, अमर, नित्य शाश्वत एवं पुरातन है। अहं का अज्ञान जो उसमें द्वैत-भाव उत्पन्न करता है उपनिपदों में उसे 'अविद्या' कहा गया है। इस अविद्या की ग्रन्थि का छिन्दन करना ही मानव-जीवन का परम साध्य है। प्रकृति (जगत्) के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए वेदों में उसे एक पृथक् तत्व के रूप में ग्रहण किया है, पर उपनिपदों में उसे ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका-शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। जहाँ तक जगत् के दार्शनिक स्वरूप का प्रश्न है उसे ब्रह्म की शक्ति से उत्पन्न कहा गया है। जगत् में आकर्षक भोगों का एक ऐसा जाल बिछा हुआ है कि मूढ़-जीवात्माएँ यदि एक बार इसमें आकर फँस जाएँ तो पुनः उनका इस जाल से निकल जाना कठिन ही हो जाता है। इसके जाल से मुक्त होने के लिए ईश्वर की कृपादृष्टि परमावश्यक है। उसकी कृपादृष्टि होते ही जीव समस्त द्वन्द्वों से, अविद्या-

जन्य ग्रन्थियों तथा कर्मफल से मुक्त हो जाता है। उपनिषदों में जीवात्मा की इस स्थिति को मोक्ष, त्रिगुणातीतावस्था अथवा द्वन्द्वातीतावस्था कहा गया है। वैदिक साहित्य में इन धारणाओं के अतिरिक्त कर्मवाद तथा जन्मान्तरवाद से सम्बन्धित मान्यताएँ भी वर्णित हुई हैं। इस प्रकार वैदिक-दर्शन जीवन-धारा की शाश्वतता में विश्वास रखने वाला आशावादी दर्शन है जो मानव को आस्तिकता, कर्मठता एवं निर्भीकता की उदात्त शिक्षाएँ प्रदान करता है। वैदिक-दर्शन क्योंकि व्यावहारिक जीवन की समस्याओं मे से उद्भूत एक विशिष्ट चिन्तन-प्रणाली है इसलिए उसका आचार-पक्ष अथवा साधना-पक्ष भी एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इस दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग आदि से सम्बन्धित सभी साधना-प्रणालियों को समान महत्त्व दिया गया है।

स्पष्ट है कि भारत का अतीत आध्यात्मिकता की दृष्टि से बड़ा ही स्वर्णिम एवं गौरवमय रहा है तथा इस पर अवलम्बित आर्य-संस्कृति एवं सभ्यता भी बड़ी ही भव्य परन्तु कालान्तर मे कालचक्र के प्रभाव से हम अपनी उस महान् सांस्कृतिक थाती में सुरक्षित मान्यताओं की मूल आत्मा से हटकर दूर जा पड़े। फलतः हमे इसके जो कुछ दुष्परिणाम भोगने पड़े हैं उनकी स्मृति अभी भी धुंधली नहीं पड़ी है।

इस दृष्टि से आधुनिक युग में पाश्चात्य विद्वानों का अपने उस प्राचीन वैदिक साहित्य से सम्पर्क भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण घटना समझी जाती है। ये विद्वान प्रशासकीय, शैक्षिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न दृष्टियों से प्रेरित होकर बड़ी लग्न एवं उत्साह से साहित्य के अध्ययन में जुट गये तथा यह इन विद्वानों के प्रयत्नों का ही फल था कि हमें अपने इस महान् प्राचीन साहित्य के गौरव एवं महत्त्व से निकट का पुनः परिचय प्राप्त हुआ जिस पर शताब्दियों से उपेक्षा की पर्तें चढ़ी हुई थीं। एतत् सम्बन्धी प्रयत्न उन्नीसवीं शती के आरम्भिक दशकों से ही प्रारंभ हो गये थे। इन लोगों के प्रयत्न भारतीय विद्वानों की भी मनोभूमि में प्रेरणा के अंकुर बनकर प्रस्फुटित हुए, फलतः हमें अपने अतीत को स्वयं अपने ही क्रम से टटोलने का अवसर मिला। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि स्वामी दयानन्द जैसे भारतीय विद्वान् स्वयं अपने तथा अपने गुरु की प्रेरणा से इस क्षेत्र में प्रवृत्त हुए थे।

यद्यपि यह सत्य है कि पाश्चात्य विद्वानों का वैदिक-साहित्य पर कार्य बहुत कुछ पक्षपातपूर्ण, मनमाना, काल्पनिक तथा एकांगी एवं स्थूल है तदपि उन्होंने वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार में जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया उसके मूल्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता। इधर भारत में भी वैदिक साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ है। इस साहित्य के अध्ययन का शुभ फल यह हुआ कि हमें अपने गौरवमय स्वर्णिम अतीत से परिचय मिला। हमें अपनी महान् प्राचीन सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परम्पराओं एवं उपलब्धियों का पुनः ज्ञान हुआ। फलतः हममें अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति शंकित एवं अस्थिर आस्था के स्थान पर दृढ निष्ठा एवं विश्वास के भाव जागृत हुए। बस इसी धरातल पर से आधुनिक भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्ति का बिगुल बज उठा। राजा राममोहन राय के पश्चात् स्वामी दयानन्द इस क्रान्ति

के ध्वजा-वाहक बने। भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में जो मृतवत् जड़ता तथा निष्क्रियता आच्छादित थी स्वामीजी के सिंह-सम-गर्जन ने उसे खण्डित किया, आत्म-हीनता के आवरण में लिपटी हुई जनता को इस बुरी तरह से झकझोरा कि समाज को शताब्दियों की निद्रा को त्याग कर जगने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा ही नहीं रहा। हमें अपनी सांस्कृतिक निद्रा से जगाने में थियोसाफिकल सोसाइटी तथा प्रार्थना समाज ने भी यथासंभव सहयोग दिया। इस दिशा में अनेक धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक महापुरुषों के योगदान को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। भारत के पुन-र्जागरण में जिन धार्मिक महापुरुषों का हाथ रहा है उनमें रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। राजनीतिक महापुरुषों की दृष्टि से श्री तिलक, तथा रानाडे महोदय का नाम लिया जा सकता है। श्री रवीन्द्र साहित्यिक विभूति थे जिन्होंने औपनिषदिक धारणाओं को भावना एवं कल्पना के सहयोग से सुन्दर काव्यात्मक परिवेश दिया था जो 'गीतांजलि' नामक गीत-संग्रह में संगृहीत है। वैदिक-साहित्य के प्रचार तथा प्रकारान्तर से भारत के सांस्कृतिक पुन-रुत्थान-कार्य में गुरुकुल कांगड़ी आदि शिक्षण-संस्थाओं, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा शोध-संस्थाओं का भी सक्रिय योग रहा है। वैदिक-साहित्य एवं दर्शन के आधुनिक व्याख्याकार श्री अरविन्द तथा डा० राधाकृष्णन का भी विशेष स्थान है जिनके कार्य की ओर संकेत किए बिना यह सांस्कृतिक पुनरुत्थान का वृत्त अपूर्ण ही रहता। इस प्रकार वैदिक-साहित्य की पीठिका पर आधुनिक भारत के सांस्कृतिक पुर्ननिर्माण का कार्य सम्पन्न हुआ जिसका पर्यवसान हुआ भारत की राजनीतिक परतन्त्रता से उन्मुक्ति में, जिसका अन्तिम नेतृत्व किया महात्मा गांधी ने।

युग के इन सांस्कृतिक प्रयत्नों का प्रभाव पड़ा हमारे साहित्यकारों पर। विभिन्न साहित्यकार विभिन्न माध्यमों से अपने अतीत की ओर झुके, अपने प्राचीन वैदिक-साहित्य में वर्णित धारणाओं एवं सिद्धान्तों से प्रभावित हुए जिसका प्रति-फलन हम उसके काव्य-साहित्य में देखते हैं। इन कवियों में आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी के चार कवि—जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त तथा महादेवी वर्मा—प्रमुख हैं। ये चारों ही कवि छायावादी-रहस्यावादी युग की विशिष्ट देन हैं। इस युग के कुछ अन्य कवियों के भी नाम आते हैं परन्तु महत्त्व की दृष्टि से ये चार कवि ही प्रमुख हैं, अतः इनके काव्य-साहित्य को ही अध्ययन का विषय बनाया गया है। इन कवियों पर वैदिक-दर्शन तथा साहित्य का प्रभाव प्रदर्शित करने के लिए पृथक्-पृथक् अध्याय दिया गया है तथा उनमें पूर्वापर साहि-त्यिक क्षेत्र में अवतरित होने के आधार पर निश्चित किया गया है।

प्रसादजी छायावादी कवियों में अग्रज थे। वे ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली द्विवेदी-युग तथा छायावादी-युग के सन्धि-स्थल पर खड़े हुए थे। इसलिए प्रारम्भिक काव्य ब्रजभाषा में लिखा गया। यद्यपि उस साहित्य का आरम्भ जिसे हिन्दी संसार छायावाद के नाम से जानता है उनके 'झरना' काव्य के प्रकाशन से आरम्भ होता है। परन्तु जिज्ञासा तथा रहस्य के अंकुर, जो उनके परवर्ती काव्य का प्रमुख विषय

थे उनके प्रारम्भिक काव्य में भी मिलते हैं। अतः क्रमबद्धता तथा तारतम्य बनाए रखने की दृष्टि से उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को भी संक्षेप में अध्ययन का विषय बनाया गया है। 'झरना', 'आंसू' तथा 'कामायनी' तो स्पष्टतः छायावादी काव्य है। अतः वैदिक-दर्शन की प्रमुख विशिष्टताओं की सापेक्षता में इन समस्त रचनाओं से सम्बन्धित अध्ययन, मध्य-युग की रचनाएँ तथा उत्तरवर्ती रचना इन उपशीर्षकों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है। 'कामायनी' जीवन की प्रौढता में लिखा गया उनका प्रौढतम ग्रन्थ है जिसमें वैदिक मनु, श्रद्धा तथा इडा के संक्षिप्त-से इतिवृत्त के साथ-साथ वैदिक-दार्शनिक धारणाओं को बड़ी ही दक्षता से गुम्फित कर दिया है। इस दृष्टि से कामायनी एक रूपक है जिसमें ऐतिहासिक कथा के साथ-साथ एक दार्शनिक-आध्यात्मक कथा भी ध्वनित होती है जिस पर इस प्रबन्ध में विस्तार से चर्चा की जायेगी। इस प्रबन्ध में वैदिक काम की सापेक्षता में कामायनी के काम-तत्व की योजना पर तथा वैदिक ऋत की सापेक्षता में उनके नियतिवाद पर प्रकाश डालेंगे। इसी प्रकार उनकी ब्रह्म-जीव और जगत्-सम्बन्धी मान्यताओं, भूमातत्व, माया आदि दार्शनिक विषयों पर अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

प्रसादजी की भाँति निराला भी छायावादी काव्य के प्रमुख कवि हैं। उनका व्यक्तित्व और काव्य दोनों ही औपनिषदिक-वेदान्त दर्शन से गठित हैं। जीवन के उषाकाल में ही उनका कलकत्ता के 'रामकृष्ण आश्रम' से प्रकाशित होने वाले 'समन्वय' नामक पत्र से परिचय प्राप्त हुआ तथा विवेकानन्द साहित्य भी उनकी धार्मिक प्रेरणा का स्रोत बना। इस प्रकार उनका 'परिमल' से लेकर 'गीत-गुंज' तक का सम्पूर्ण काव्य-साहित्य वैदिक-दर्शन से प्रभावित है। उनके सम्पूर्ण साहित्य को चार उप-शीर्षकों में विभाजित करके अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। प्रारम्भिक काव्य के अन्तर्गत—परिमल और 'अनामिका', गीतकाव्य के अन्तर्गत 'गीतिका' तथा प्रबन्ध। काव्य के अन्तर्गत 'तुलसीदास' तथा 'राम की शक्ति पूजा', इस रूप में विभक्त किया गया है। यहाँ तक का उनका काव्य-साहित्य छायावादी-काव्य के अन्तर्गत आता है, पर इस काव्य की आध्यात्मिक-दार्शनिक प्रवृत्तियाँ यहीं समाप्त नहीं हो जातीं प्रत्युत उनकी यह प्रवृत्ति परवर्ती काव्य में भी विद्यमान है। अतः संक्षेप में इस परवर्ती काव्य की दार्शनिकता पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

पूर्वोक्त दोनों कवियों की भाँति पन्तजी भी छायावादी युग के प्रमुख कवि हैं। उन्होंने अपनी काव्य-साधना सन् १९१८ में 'वीणा' के प्रकाशन से प्रारम्भ की थी, और तब से अब तक अनेक काव्य-संग्रह हिन्दी-साहित्य-जगत् को समर्पित कर चुके हैं। उनके काव्य-साहित्य का सम्पूर्ण आयाम लगभग पैंतालीस वर्षों तक विस्तृत है। इस सुदीर्घ काल में उन्होंने 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'गुंजन', 'ज्योत्स्ना', 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'युगान्तर', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा', 'अतिमा', 'वाणी' तथा 'कला और बूढ़ा चांद'—रचनाएँ हिन्दी साहित्य को भेंट की हैं। इनमें से 'युगान्त' तक की रचनाओं को हिन्दी के आलोचक छायावादी काव्य की

श्रेणी में 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' को, प्रगतिवादी साहित्य के अन्तर्गत, 'युगान्तर' से 'युगवाणी' तक की रचनाओं को 'स्वर्णकाव्य' के अन्तर्गत तथा 'कला और बूढ़ा चाँद' को प्रयोगवादी काव्य की श्रेणी में विभाजित करके अध्ययन का उपक्रम करते रहे हैं। यद्यपि यह सत्य है कि पन्तजी अपने युग की प्रचलित सभी धारणाओं एवं मान्यताओं से प्रभावित रहे हैं तथा उनके मानस पर युग के लगभग सभी चिन्तकों एवं महापुरुषों का प्रभाव पड़ा है तदपि उनकी रचनाओं में आध्यात्मिकता का एक ऐसा सूत्र विद्यमान है जो द्वैत में अद्वैत की भाँति उनके समस्त काव्य को एक-दूसरे से पृथक्करण की संभावना से बचाए रखता है, तथा एक अखण्ड रूप प्रदान किए रखता है। पन्तजी ने चाहे जितनी विभिन्न चिन्तन-भूमियों पर क्यों न संचरण किया हो, पर यह सत्य है कि आध्यात्मिकता का अंचल उनके हाथ से कभी नहीं खिसका। युगान्त तक की उनकी छायावादी रचनाओं में तो रहस्य-भावना तथा दार्शनिक प्रवृत्ति विद्यमान है ही, किन्तु प्रगतिवादी कही जाने वाली रचनाओं में भी ये प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। स्वर्णकाव्य तो पूर्णतया रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत आता ही है। पन्तजी के इस नूतन रहस्यवाद को आलोचकों ने चिन्तनात्मक अथवा 'कल्पनात्मक रहस्यवाद' से अभिहित किया है, और कुछ विद्वानों ने उसे 'नवचेतनावाद' नाम भी दिया है जिनमें स्वयं पन्तजी भी सम्मिलित हैं। पन्तजी के इस नूतन काव्य को चाहे जिस नाम से पुकारा जाये, पर उसकी आध्यात्मिकता में तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रयोगवादी कहलाए जाने वाले उनके 'कला और बूढ़ा चाँद' रचना के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। वहाँ शैलीगत भिन्नता अवश्य है परन्तु आध्यात्मिकता में कहीं अन्तर नहीं आता। 'ग्राम्या' के बाद का इधर का सम्पूर्ण काव्य श्री अरविन्द की वेद तथा उपनिषद्-सम्बन्धी व्याख्याओं से प्रभावित है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी का सम्पूर्ण काव्य आध्यात्मिक है जो विभिन्न स्रोतों से प्रभावित होकर आया है। अतः उनके सम्पूर्ण काव्य को ही वैदिक-दर्शन की सापेक्षता में अध्ययन का विषय बनाया जायेगा। 'ज्योत्स्ना' यद्यपि नाटिका है किन्तु उसका समस्त परिवेश काव्यात्मक है, उसके लगभग सभी प्रमुख पात्र प्रकृति से गृहीत हैं, अतः 'गुंजन' के साथ रखकर उसे भी अध्ययन का विषय बनायेंगे।

छायावादी काव्य की दृष्टि से महिला कवयित्रियों में महादेवी वर्मा का भी विशिष्ट स्थान है अतः पन्तजी के उपरान्त महादेवी जी के काव्य की दार्शनिकता को अध्ययन का विषय बनाया गया है। महादेवी जी की पाँच काव्य-रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। 'नीहार' उनकी प्रथम रचना है, तथा 'दीपशिखा' अन्तिम। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्यगीत' तथा 'दीपशिखा' में आये लगभग सभी गीत उनकी रहस्य-भावना से सम्पृक्त हैं। अतः उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ पूर्णतः छायावादी-रहस्यवादी काव्य के अन्तर्गत आती हैं। यहाँ हम उनकी प्रत्येक काव्य-रचना पर पृथक् से वैदिक-दर्शन की धारणाओं के प्रभाव को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करेंगे।

□□□

द्वितीय अध्याय

# वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय

पूर्व और पश्चिम के अनुसन्धाताओं द्वारा की गई खोजों से यह प्रमाणित हो चुका है कि विश्व-साहित्य के इतिहास में वैदिक-साहित्य अधिक प्राचीन साहित्य है और उसका ऋग्वेद तो मानव-मस्तिष्क के विकासात्मक इतिहास में प्राचीनतम अध्याय है।[1] अतः मानव-जीवन के अध्ययन के लिए और विशेषतया आर्य जाति के जीवन-सम्बन्धी ज्ञान का परिचय प्राप्त करने के लिए विश्व में वेद से बढ़कर अन्य कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता।[2] यह साहित्य वेद से लेकर सूत्र-काल तक फैला हुआ है, यहाँ संक्षेप में उसका ऐतिहासिक समीक्षण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

वैदिक साहित्य के अध्ययन की सुविधा से उसे तीन स्थूल भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) प्रथम चरण—सूक्त काल, (२) द्वितीय चरण—ब्राह्मण-आरण्यकोपनिषद् काल, (३) तृतीय चरण—सूत्र काल।

**प्रथम चरण—सूक्त-काल**—यह चरण वैदिक ऋचाओं और सूक्तों के दर्शन का युग है। इसके अन्तर्गत ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, ये चारों वैदिक संहिताएँ आ जाती हैं। इस दृष्टि से इसे संहिता-काल भी कहते हैं। इन चारों संहिताओं में ऋग्वेद ही सर्वाधिक मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण है। वही समस्त वैदिक-साहित्य में श्रेष्ठ है।[3]

**द्वितीय चरण—ब्राह्मण-आरण्यकोपनिषद् काल**—वैदिक युग का दूसरा चरण उन गद्यमयी रचनाओं से प्रारम्भ होता है जिनमें वैदिक यज्ञ-याग के विधि-विधानों और प्रयोग-विधियों पर सूक्ष्मता से विचार किया गया है। ये रचनाएँ ब्राह्मण-ग्रंथ कहलाती हैं। इन ब्राह्मण-ग्रंथों का मुख्य विषय है यज्ञिय-कर्मकाण्ड में वैदिक-सूक्तों और मंत्रों का साभिप्राय विनियोग। यज्ञों में प्रयुक्त मंत्रों की प्रयोग-विधि इतनी जटिल है कि सामान्य मानव की बुद्धि में उनका आना तो कठिन है ही, सुसंस्कृत

---

1. See Max Muller : What India can teach us. p. 98.
2. Ibid, P. 110.
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास : मैकडानल : अनुवादक चारुचन्द्र शास्त्री, पृ० २४।

बुद्धि भी इन विधियों की विविधता से चकरा जाती है, तभी मैक्समूलर ने इस सम्बन्ध में कहा था कि 'भारतीय साहित्य के विद्यार्थी के लिए ब्राह्मण-ग्रंथ चाहे जितने रुचिकर क्यों न प्रतीत हों, पर वे सामान्य पाठक के निकट अरुचिकर ही ठहरते हैं। उसके लिए तो इन ग्रंथों के दस पृष्ठ भी पढ़ने कठिन हो जायेंगे।'[1] पर इन ग्रंथों का दार्शनिक विचारों की दृष्टि से, जिनका पूर्ण विकास आरण्यक और उपनिषद्-ग्रंथों में हुआ है, यहाँ निर्माणावस्था में होने के कारण अधिक महत्त्व है।[2]

ब्राह्मण-ग्रंथों के साथ ही आरण्यक-ग्रंथ भी जुड़े हुए हैं, पर ये बाद की रचनाएँ हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों की अपेक्षा इनमें दार्शनिक स्वरूप अधिक मुखरित हुआ है। इन ग्रंथों का सम्बन्ध सामान्यतया उन लोगों से है जो कर्मकाण्ड से विरत होकर अरण्य में काल-क्षेप करते थे। ओल्डेनबर्ग के अनुसार "आरण्यक ग्रंथ वे हैं जिनका प्रतिपाद्य सूक्ष्म अध्यात्मवाद होने के कारण वे गुरु द्वारा वन के एकान्त वातावरण में ही अधिकारी शिष्य को दिए जा सकते थे। नगर का वातावरण आरण्यकों में प्रतिपादित गूढ विद्या की प्राप्ति के लिए योग्य नहीं समझा जाता था।[3] आरण्यकों के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज का भी यही मत है।[4]

इन आरण्यक ग्रंथों में विवेचित रहस्यमयी अनुभूतियों एवं पौरोहित दर्शन का विकास जिन ग्रंथों में हुआ, उन्हें विज्ञ संसार उपनिषदों के नाम से जानता है। ये उपनिषदें भारतीय दर्शन-शास्त्र के मानसरोवर और उद्गम-स्थल हैं जिनसे निःसृत होकर दार्शनिक ज्ञान की विभिन्न सरिताओं ने अपने पवित्र जलों से आर्यावर्त की इस पवित्र उर्वरा-भूमि पर पनपी सभ्यता एवं संस्कृति को सिंचित किया है। इन ग्रंथों में आमुष्मिक ज्ञान की अपूर्व निधि वितरित की है। और आज भी उपनिषदों के ऊर्जस्वी विचार और सिद्धान्त न केवल भारत-भूमि को ही प्रत्युत समस्त सभ्य संसार की जाति के लोगों को अपनी प्रभविष्णुता से प्रभावित और आह्लादित कर रहे हैं। सहज आध्यात्मिक अनुभूतियों और दार्शनिक सिद्धान्तों का जैसा उल्लेख इन ग्रंथों में उपलब्ध होता है वैसा विश्व के किसी अन्य जाति के साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। अतः वेद का ज्ञान-काण्ड और वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने से इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। इनमें वैदिक वाङ्मय के लगभग सभी प्रमुख विचार परिपक्व होकर छन-निथर कर ऊपर आ गये हैं जिनका भारत के धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में व्यापक प्रभाव पड़ा है। हमारा सम्पूर्ण सांस्कृतिक विकास ही वैदिक विचारों, विश्वासों और मान्यताओं पर आधारित है।

---

1. See Winternitz : A History of Indian Literature Pt. I, P. 187.
2. Ibid, p. 225.
३. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १६० से उद्धृत।
4. See Winternitz : A History of Indian Literature Pt. I, P. 233.

ये उपनिषदें कोई स्वतन्त्र और निरपेक्ष रचनाएँ नहीं हैं प्रत्युत आरण्यक और ब्राह्मण-ग्रंथों के ही अन्तिम अंश हैं, जो स्वयं वेद-संहिता के व्याख्यान भाग हैं। डा० राधाकृष्णन् ने स्पष्ट कहा है—"The Upnisads form the concluding Portions of the veda and are then forecalled the Vedanta, or the end of the veda, a denomination which suggests that they contain the essence of the vedic teachings."[1] स्वयं उपनिषदों में इन ग्रंथों के लिए वेदान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस मंत्र में 'वेदांते परमं गुह्य" (६,२२) तथा मुण्डक में 'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः' (२,३,६) इसके अतिरिक्त उपनिषदों में उन्हीं शिक्षाओं का प्रतिपादन हुआ है, उसी परम पद की प्राप्ति का वर्णन हुआ है जो सम्पूर्ण तप द्वारा लक्षित है तथा जिसका सम्पूर्ण वेद बार-बार कथन करते हैं।[2]

वेद-संहिता से लेकर उपनिषद् तक के सम्पूर्ण वाङ्मय की श्रुति अर्थात् स्वयं आविर्भूत ग्रंथ-राशि के रूप में गणना की जाती है। यह समस्त साहित्य तपःपूत ऋषियों अन्तःकरण में दिव्य प्रेरणा से स्फुरित हुआ है और श्रुति अर्थात् श्रवण-परम्परा के रूप में हजारों वर्षों से अब तक सुरक्षित रूप से चला आता रहा है, यह एक आश्चर्यजनक घटना है।

**तृतीय चरण—सूत्र काल**—इस चरण का साहित्य सूत्र-साहित्य के नाम से विख्यात है। इस सूत्र-साहित्य के अन्तर्गत श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र, प्रातिशाख्य एवं अनुक्रमणियों की गणना होती है। श्रौत-सूत्रों में बड़े-बड़े यज्ञों की प्रयोग-विधि का निर्देश है। गृहस्थ के द्वारा सम्पाद्य विधियों का विवरण गृह्य सूत्रों में उपलब्ध होता है, धर्म सूत्रों में सामाजिक एवं दण्ड-नीति एवं व्यवहार-नीति का प्रतिपादन मिलता है। वैदिक वाङ्मय में धार्मिक, दार्शनिक एवं रहस्यानुभूति की दृष्टि से वेद और उपनिषदों का ही महत्त्व अधिक है, अतः संक्षेप में इनके स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जाता है।

**वेद-संहिता**—सामान्य रूप से संहिता शब्द का अर्थ वेद मंत्रों एवं सूक्तों के समूह से है। महावैयाकरण पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'संहिता' पद-व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'परः सन्निकर्षः संहिता' (१,४,१०६) अर्थात् 'पदान्तात्पदादिभिः सन्दधाति यत्सा।' अर्थात् पदों के अन्त को अन्य पदों के साथ संधि-नियम से बाँधने का नाम संहिता है। दूसरे शब्दों में पदों की प्रकृति की असली स्थिति का नाम संहिता है।

---

1. Philosophy of the Upnisads, P. 13-14, also see Mystic Philosophy of the veda and the upnisad by M.P. Pandit, P. 115 & See Thirteen principal upnisad by R. E. Hume, P. 4.
२. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठ० २,१५।

बुद्धि भी इन विधियों की विविधता से चकरा जाती है, तभी मैक्समूलर ने इस सम्बन्ध में कहा था कि 'भारतीय साहित्य के विद्यार्थी के लिए ब्राह्मण-ग्रंथ चाहे जितने रुचिकर क्यों न प्रतीत हों, पर वे सामान्य पाठक के निकट अरुचिकर ही ठहरते हैं। उसके लिए तो इन ग्रंथों के दस पृष्ठ भी पढ़ने कठिन हो जायेंगे।'[1] पर इन ग्रंथों का दार्शनिक विचारों की दृष्टि से, जिनका पूर्ण विकास आरण्यक और उपनिषद्-ग्रंथों में हुआ है, यहाँ निर्माणावस्था में होने के कारण अधिक महत्त्व है।[2]

ब्राह्मण-ग्रंथों के साथ ही आरण्यक-ग्रंथ भी जुड़े हुए हैं, पर ये बाद की रचनाएँ हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों की अपेक्षा इनमें दार्शनिक स्वरूप अधिक मुखरित हुआ है। इन ग्रंथों का सम्बन्ध सामान्यतया उन लोगों से है जो कर्मकाण्ड से विरत होकर अरण्य में काल-क्षेप करते थे। ओल्डेनबर्ग के अनुसार "आरण्यक ग्रंथ वे हैं जिनका प्रतिपाद्य सूक्ष्म अध्यात्मवाद होने के कारण वे गुरु द्वारा वन के एकान्त वातावरण में ही अधिकारी शिष्य को दिए जा सकते थे। नगर का वातावरण आरण्यकों में प्रतिपादित गूढ विद्या की प्राप्ति के लिए योग्य नहीं समझा जाता था।[3] आरण्यकों के सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज का भी यही मत है।[4]

इन आरण्यक ग्रंथों में विवेचित रहस्यमयी अनुभूतियों एवं पौरोहित दर्शन का विकास जिन ग्रंथों में हुआ, उन्हें विज्ञ संसार उपनिषदों के नाम से जानता है। ये उपनिषदें भारतीय दर्शन-शास्त्र के मानसरोवर और उद्गम-स्थल हैं जिनसे निःसृत होकर दार्शनिक ज्ञान की विभिन्न सरिताओं ने अपने पवित्र जलों से आर्यावर्त की इस पवित्र उर्वरा-भूमि पर पनपी सभ्यता एवं संस्कृति को सिंचित किया है। इन ग्रंथों में आमुष्मिक ज्ञान की अपूर्व निधि वितरित की है। और आज भी उपनिषदों के ऊर्जस्वी विचार और सिद्धान्त न केवल भारत-भूमि को ही प्रत्युत समस्त सभ्य संसार की जाति के लोगों को अपनी प्रभविष्णुता से प्रभावित और आह्लादित कर रहे हैं। सहज आध्यात्मिक अनुभूतियों और दार्शनिक सिद्धान्तों का जैसा उल्लेख इन ग्रंथों में उपलब्ध होता है वैसा विश्व के किसी अन्य जाति के साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। अतः वेद का ज्ञान-काण्ड और वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने से इन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। इनमें वैदिक वाङ्मय के लगभग सभी प्रमुख विचार परिपक्व होकर छन-निथर कर ऊपर आ गये हैं जिनका भारत के धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में व्यापक प्रभाव पड़ा है। हमारा सम्पूर्ण सांस्कृतिक विकास ही वैदिक विचारों, विश्वासों और मान्यताओं पर आधारित है।

---

1. See Winternitz : A History of Indian Literature Pt. I, P. 187.
2. Ibid, p. 225.
३. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १९० से उद्धृत।
4. See Winternitz : A History of Indian Literature Pt. I, P. 233.

ये उपनिषदें कोई स्वतन्त्र और निरपेक्ष रचनाएँ नहीं हैं प्रत्युत आरण्यक और ब्राह्मण-ग्रंथों के ही अन्तिम अंश हैं, जो स्वयं वेद-संहिता के व्याख्यान भाग हैं। डा० राधाकृष्णन् ने स्पष्ट कहा है—"The Upnisads form the concluding Portions of the veda and are then forecalled the Vedanta, or the end of the veda, a denomination which suggests that they contain the essence of the vedic teachings."[1] स्वयं उपनिषदों में इन ग्रंथों के लिए वेदान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस मंत्र में 'वेदांते परमं गुह्य" (६,२२) तथा मुण्डक में 'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था:' (२,३,६) इसके अतिरिक्त उपनिषदों में उन्हीं शिक्षाओं का प्रतिपादन हुआ है, उसी परम पद की प्राप्ति का वर्णन हुआ है जो सम्पूर्ण तप द्वारा लक्षित है तथा जिसका सम्पूर्ण वेद बार-बार कथन करते हैं।[२]

वेद-संहिता से लेकर उपनिषद् तक के सम्पूर्ण वाङ्मय की श्रुति अर्थात् स्वयं आविर्भूत ग्रंथ-राशि के रूप में गणना की जाती है। यह समस्त साहित्य तपःपूत ऋषियों अन्तःकरण में दिव्य प्रेरणा से स्फुरित हुआ है और श्रुति अर्थात् श्रवण-परम्परा के रूप में हजारों वर्षों से अब तक सुरक्षित रूप से चला आता रहा है, यह एक आश्चर्यजनक घटना है।

**तृतीय चरण—सूत्र काल**—इस चरण का साहित्य सूत्र-साहित्य के नाम से विख्यात है। इस सूत्र-साहित्य के अन्तर्गत श्रौत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र, प्रातिशाख्य एवं अनुक्रमणियों की गणना होती है। श्रौत-सूत्रों में बड़े-बड़े यज्ञों की प्रयोग-विधि का निर्देश है। गृहस्थ के द्वारा सम्पाद्य विधियों का विवरण गृह्य सूत्रों में उपलब्ध होता है, धर्म सूत्रों में सामाजिक एवं दण्ड-नीति एवं व्यवहार-नीति का प्रतिपादन मिलता है। वैदिक वाङ्मय में धार्मिक, दार्शनिक एवं रहस्यानुभूति की दृष्टि से वेद और उपनिषदों का ही महत्त्व अधिक है, अतः संक्षेप में इनके स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जाता है।

**वेद-संहिता**—सामान्य रूप से संहिता शब्द का अर्थ वेद मंत्रों एवं सूक्तों के समूह से है। महावैयाकरण पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'संहिता' पद-व्युत्पति इस प्रकार की है—'परः सन्निकर्षः संहिता' (१,४,१०९) अर्थात् 'पदान्तान्पदादिभिः सन्दधाति यत्सा।' अर्थात् पदों के अन्त को अन्य पदों के साथ संधि-नियम से बाँधने का नाम संहिता है। दूसरे शब्दों में पदों की प्रकृति की असली स्थिति का नाम संहिता है।

---

1. Philosophy of the Upnisads, P. 13-14, also see Mystic Philosophy of the veda and the upnisad by M.P. Pandit, P. 115 & See Thirteen principal upnisad by R. E. Hume, P. 4.
२. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठ० २,१५।

वदन्ति'[1] कहकर वैदिक देवताओं के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डालता है कि इन्द्र वरुण आदि के रूप में विप्रों ने एक ही परमसत्ता का नाना प्रकार से गुणगान किया है अर्थात् वे एक ही शक्ति के बाह्य प्रतीक हैं। स्पष्ट ही यहाँ वेद, वैदिक-धर्म को 'बहु-देवतावादी' होने के स्थान पर एकेश्वरवादी प्रमाणित करता है। इस सम्बन्ध में वेद से एक नहीं अनेकों मंत्र प्रमाण-रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में ऋषि अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहता है कि—तू ही इन्द्र है, विष्णु है, ब्रह्मा है, ब्रह्मणस्पति है, वरुण है, मित्र, अर्यमा, रुद्र, पूषा, द्रविणोदा, सविता, देव और भग है। यहाँ अग्नि का विभिन्न देवताओं से तादात्म्य स्थापित करके प्रकारान्तर से इन देवताओं की एकता ही प्रमाणित की है।[2] इसी प्रकार सोम का स्तवन करते हुए भी वैदिक ऋषि वही कहता है जो अग्नि के विषय में कही गई है।[3] इन अवतरणों से यह तथ्य पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक देवता स्थूल रूप से, अथवा बाह्य दृष्टि से देखने पर भले ही पृथक् अस्तित्व लिए हुए प्रतीत हों, पर वस्तुतः वे मूलतः एक हैं तथा किसी महान् और अज्ञात शक्ति (परमसत्ता) के ही विभिन्न व्यक्त रूप हैं जो अपनी सत्ता के लिए उस पर आश्रित हैं। 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्'[4] यह ध्रुव पद जो निरन्तर बाईस मंत्रों में दोहराया गया है इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि वैदिक ऋषि प्रारम्भ से ही समस्त वैदिक देवताओं के पीछे विद्यमान किसी एक महान् गुह्य शक्ति से परिचित थे और विभिन्न देवताओं के गुण-संकीर्त्तन के माध्यम से उसी एक की महिमा का गायन करते थे। तदपि उनका एक स्थूल बाह्य रूप भी है यह बात भी सत्य है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों का बहुदेवतावादी दृष्टिकोण मूलतः एकेश्वरवाद का ही स्थूल बाह्य रूप है कोई आत्यन्तिक सत्य नहीं है। अतः यहाँ संक्षेप में ऋग्वैदिक देवताओं के स्थूल बहिरंग पर किंचित् प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

**ऋग्वेद के देवता**—यास्क ने 'देव' शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है—'देवो-दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्यु स्थानो भवतीति वा' यो देवः स देवता

---

१. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमंमातरिश्वानमाहुः। ऋ०वे० १,१६४,४६।

२. त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।
त्वं ब्रह्मा रयिविद्ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या। ऋ० वेद २,१,३।
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य सम्भुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः। ऋ०वे० २,१,४।
त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं शर्धोमारुतं पृक्ष ईशिषे।
त्वं वातैररुणैर्यासि शङ्गयस्त्वं पूषा विधतः पासिनुत्मना। ऋ० वे० २,१,६।

३. देखिये, ऋग्वेद १, ६२, २२, ६, ६६, ५०, ६, १०१, ७।

४. देखिये, ऋग्वेद ३, ५५, १ से २२वें मंत्र तक।

(निरुक्त ७, १५) अर्थात् 'देव' शब्द दा, दीप, द्युत् और दिवु इन धातुओं से निष्पन्न हुआ है। इसके अनुसार ज्ञान, प्रकाश, शांति, आनन्द तथा सुख देने वाली सभी वस्तुओं को देव नाम से कहा जा सकता है। यही कारण है कि यजु० १४, २० में ज्ञान और प्रकाश प्रदान करने वाली सभी वस्तुओं—यथा अग्निर्देवता, वातोदेवता सूर्योदेवता—' आदि को देव नाम से पुकारा गया है।

ऋग्वेद में तीन प्रकार के देवताओं का उल्लेख है—पृथ्वी स्थानीय, अन्तरिक्ष-स्थानीय और द्यु-स्थानीय। पृथ्वी स्थानीय देवताओं में अग्नि और सोम, अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं में इन्द्र और वरुण, तथा द्यु-स्थानीय देवताओं में सूर्य और विष्णु आदि प्रमुख हैं। इन देवताओं का मानवीकृत रूप में वर्णन मिलता है, उनमें मानव-शरीर जैसे अंगों की कल्पना की गई है। मैक्डानल के अनुसार 'उनके अंग वास्तव में आलंकारिक रूप में वर्णित हुए हैं। उनका बाह्य रूप स्पष्टतः कल्पित है।'[1] ये देव दानवों का संहार करते हैं अतः स्वभाव से उपकारक हैं। सभी देवता ऋत और सत्य, न्याय और धर्म के पक्षपाती हैं।

लोक में संख्या की दृष्टि से ३३ देवता प्रसिद्ध हैं जिनका वर्णन ऋग्वेद में हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे देवताओं का उल्लेख है। इन्द्र, अग्नि और सोम पर सबसे अधिक सूक्त हैं। इन्द्र पर लगभग २५० सूक्त, अग्नि पर २०० सूक्त, और सोम पर लगभग १०० सूक्त हैं। ऋग्वेद में कुछ ऐसे देवताओं का वर्णन है जिन पर कम से कम ३ सूक्त कहे गये हैं।

इन्द्र—भौतिक दृष्टि से इन्द्र अन्तरिक्ष का प्रधान देवता है। ऋग्वेद का चतुर्थांश से अधिक भाग उसकी ही स्तुति में निबद्ध है। उसे वृत्रहन (१, ३२, २), पृथ्वी और स्वर्ग में उत्पन्न होकर (७, २०, ५) सोमपान करने वाला कहा गया है (७,६८,२) वह प्राचीन युवा, शक्तिशाली, अमरविजेता, मेधाविन् कहा गया है। वह भयानक योद्धा, उदार मित्र तथा अपने उपासकों को समृद्धि प्रदान करने वाला है (७,३१,६)। यह वैदिक युग का सर्वाधिक लोकप्रिय एवं राष्ट्रीय देवता माना गया है। स्वामी दयानन्द 'इन्द्र' को परमैश्वर्य-स्वरूप परमात्मा का वाचक शब्द मानते हैं। निरुक्त १०,८ इस आधार की पुष्टि करता है। श्री अरविन्द मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक धरातल पद 'इन्द्र' को 'शुद्ध अस्तित्व की दिव्य मन के रूप में स्वतः अभिव्यक्त हुई शक्ति' मानते हैं।[2]

अग्नि—ऋग्वेद का दूसरा प्रमुख देवता अग्नि है। इसे सहसः सूनुः ऊर्जोनपात अर्थात् शक्ति का पुत्र कहा गया है। यह अंधकार को भगाता है, रात्रि के दैत्यों को भयभीत करता है (७,६,४), यह विश्पति, गृह का पुरोहित तथा कविक्रतुः है। अग्नि अजन्मा, विस्तृत पृथ्वी को धारण करने वाला, अपने सत्य के मंत्रों से द्युलोक को धारण करने वाला तथा विश्व-जीवन कहकर सम्बोधित किया गया है।

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६०।
२. देखिये, वेदरहस्य, भाग ३, पृष्ठ ४२ (अनुवादक श्री अभय देव, चरथवाल)।

(ऋ० १,६७,३) अग्नि-सम्बन्धी यह वर्णन लौकिक नहीं हो सकता, यह तो कोई दिव्य अग्नि है जो अजन्मा और पृथ्वी को धारण करने वाला है। आध्यात्मिक स्तर पर यह परमात्मा से भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि 'हिरण्यगर्भ' सूक्त में प्रजापति को ही द्यावा-पृथिवी का धारक कहा गया है—'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्।' (१०,१२१, १) अतः अग्नि के लौकिक रूप से भिन्न यहाँ परमेश्वर का ही वाचक प्रमाणित होता है। अग्नि का अन्य देवताओं से तादात्म्य का उल्लेख पीछे कर ही आये हैं। आध्यात्मिक स्तर पर यह द्रष्टा के संकल्प की सप्तजिह्व शक्ति है, यह मर्त्यता के अन्दर अमर्त्य अतिथि है, एक दिव्य कार्य-कर्त्ता है—'जो कुछ हम हवि प्रदान करते हैं उसे वह उच्चतर शक्तियों तक ले जाता है और बदले में उनकी शक्ति, प्रकाश और आनन्द हमारी मानवता के अन्दर ले आता है।'[1]

**सोम**—सोम के लौकिक स्वरूप के साथ-साथ उसका भी अलौकिक पक्ष है। एक याजक कहता है—'हमने सोमपान किया है हम अमर हो गये, हम दिव्य ज्योति में मिल गए और हमने देव का साक्षात्कार किया है।'[2] सोम-सम्बन्धी यह वर्णन जिसे पीकर अमरत्व प्राप्त किया जा सके किसी दिव्य सोम का ही संकेत देता है। श्री अरविन्द का कथन है कि—'सोम है आलंकारिक रूप में वर्णित किया हुआ दिव्य सुख, आनन्द तत्त्व जिसमें से वैदिक विचार के अनुसार मनुष्य की सत्ता हुई है, यह मानसिक जीवन निकला है, यह गुप्त आनन्द है जो सत्ता का आधार है—सत्ता का लगभग सारतत्त्व ही है।'[3] और वास्तव में वैदिक सोम से सम्बन्धित आनन्दवाद की स्थापना तैत्तिरीय उपनिषद् में जाकर स्पष्टरूप से वर्णित हुई है। वहाँ आनन्द के लिए दिव्य सुख का आकाश कहा गया है जो यदि न हो तो किसी का भी अस्तित्व न रहे—"कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्। एषह्येवानन्दयाति।"[4] स्वयं मैक्डानल महोदय सोमसूक्तों में रहस्यात्मक रूपक के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।[5]

**वरुण**—इन्द्र का सहयोगी और अन्तरिक्ष का देवता वरुण वेद में न्याय और व्यवस्था के देवता के रूप में चित्रित किया गया है। 'यह मानव-जाति के भाग्य का नियन्ता और भूत तथा भविष्यत् की सभी घटनाओं से परिचित है। नियम की अवहेलना करने वाले को दण्डित करता है, पापी मर्त्य उसकी दृष्टि से बच नहीं पाते।'[6]

---

१. वेदरहस्य, भाग ३, पृष्ठ ४२।
२. अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
—किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किं मु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य। ऋग्वेद ८,४८,३।
३. वेदरहस्य, भाग २, पृष्ठ २८।
४. तैत्तिरीय उ०, २-७।
५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८६।
६. ऋग्वेद ७,७५,३१।

वह मनुष्यों के सत्यासत्य दोनों को देखता है—'सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्' (७,४६,३)। साधक द्वारा उसे समर्पित प्रार्थनाएँ बड़ी ही मार्मिक हैं।[1] ऋत से वरुण का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण तथा एक सर्वव्यापक रूप में वर्णित किये जाने के कारण उसे परमेश्वर-रूप में चित्रित किया गया है।

सूर्य—सौर देवताओं में सर्वाधिक सत्ताशाली है। यह समस्त जगत् का आत्मा और अभिभावक है—"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।"[2] उसे उपस्पति भी कहा गया है। उसे जीवन का नियामक और विश्वसृज भी कहते हैं। 'सवितृ' का सम्बन्ध भी सौर-मण्डल के देवताओं से ही है। प्रसिद्ध 'गायत्री मंत्र' सवितृ को सम्बोधित करके ही कहा गया है। 'पूषन' में अन्तर्हित सूर्य की उस शक्ति की ओर संकेत है जो मुख्यतः पशुपालन-सम्बन्धी देवता के रूप में अभिव्यक्त होती है।[3] वह मार्ग का रक्षक तथा मर्त्यों का पथप्रदर्शक है। 'विष्णु' को 'त्रिविक्रम', 'उरुगाय' आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है। 'विष्णु' द्वारा लम्बे-लम्बे पग रख कर त्रिलोकी को द्रुतगति से नाप लेने का लाक्षणिक वर्णन आगे चलकर वामन की कथा एवं अवतारवाद का आधार बना। इसका सबसे ऊँचा पद-क्रम स्वर्ग है, उनके परम पद में अमृत का स्रोत है (१,१५४,५), उसके तीन पद अक्षीयमाण मधु से भरपूर हैं, यह तीनों लोकों का धारक है (१,१५४,३)। यहाँ विष्णु का भी वर्णन परमेश्वर रूप में ही किया गया है।

उषस्—ऋग्वेद के सभी देवताओं में सूर्योदय की पुरोगामिनी देवता 'उषस्' का वर्णन अत्यन्त मनोहारी है। अपने भौतिक स्थूल अर्थों में 'उषस्' सूर्योदय से पूर्व के मनोहर दृश्य को प्रस्तुत करता है, दूसरी ओर आध्यात्मिक धरातल पर सत्य के सूर्य के हमारी सत्ता में अवतरित होने से पूर्व दिव्य ज्ञान के प्रकाश के प्रतीक-रूप में वह प्रयुक्त हुई है।[4] उसे कहा गया है कि वह सुखमय सत्यों की प्रकाशवती नेत्री (१।९२।७)। अन्यत्र कहा है कि वह—'द्युतद्यामानं बृहतीम् ऋतेन ऋतावरीं स्वरावहन्तीम्' वह प्रकाशमय गति वाली है, ऋत में सर्वोच्च है, अपने साथ 'स्वः' को लाती है (५,८०,१)। इसी प्रकार का विचार अन्य मंत्रों में भी प्रकट किया गया है।[5] इसी कारण मैक्डानल उषस् को सम्बोधित सूक्तों के सौन्दर्य और भावमय चित्रण पर रीझ कर कहता है "कि उसकी कल्पना बहुत ही रमणीय है, उसके सौन्दर्य का इतना अतिशायी वर्णन है जैसा किसी अन्य साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक गीतियों में कहीं

---

१. देखिए, ऋग्वेद ७,८६,७,७६।

२. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। ऋग्वेद १,११५,१।

३. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६७।

४. वेदरहस्य, भाग ३, पृष्ठ ४३।

५. देखिए, ऋग्वेद ७, ५१, १, ७,७५,५, १,९२,१४, ७,७६,७।

उपलब्ध नहीं होता।"[1] इस प्रकार उषा, सूर्य, सवितृ, पूषन, मित्र आदि सौर-मण्डल के सभी देवता जहाँ स्थूल प्रकृति के मूर्त रूप हैं वहाँ दूसरी ओर श्री अरविन्द की मान्यता के अनुसार आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक धरातल पर मनुष्य के अन्तर के ज्ञान और प्रकाश की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक भी हैं।

ऋग्वेद में अश्विनी कुमारों, रुद्र, मरुत, वायु, पर्जन्य, आपोदेवता, बृहस्पति (ब्रह्मणस्पति) द्यावापृथिवी आदि देवताओं से सम्बन्धित सूक्त विद्यमान हैं। स्त्री-देवताओं में सरस्वती, भारती, इडा, श्रद्धा का भी उल्लेख आया है। सिन्धु और नदियों से सम्बन्धित सूक्त भी हैं जो स्पष्ट ही प्रतीकात्मकता को लिए हुए हैं। कतिपय सूक्तों में विश्वेदेव का वर्णन आया है। कुछ सूक्त ऋभुओं को लक्ष्य करके कहे गये हैं। कुछ में जलीय देवियों (अप्सरा) के उल्लेख भी हैं। ऋग्वेद में मनु का भी उल्लेख है जो मानव-जाति के महापुरुष थे। ऋषियों ने उन्हें पितामह कहकर सम्बोन्धित किया है और समग्र मानव यजमान कहे गये हैं। यहाँ वनस्पतियों (औषधि) की पूजा भी देव-रूप में वर्णित है (१०,९७)। यज्ञिय उपकरणों में भी देवत्व की कल्पना की गई है। एक सूक्त में युद्ध के विविध शस्त्रास्त्र (६,७५) वर्म, धनुः, ज्या, इषुधिः, सारथि, रश्मयः, रथ, अश्व आदि की पूजा है।

ऋग्वेद में एक ऐसे वर्ग का भी वर्णन है जिन्हें वृत्त, बल, शुष्ण, नमुचि, स्वर्ग, भानु, पणि आदि कहते हैं। दास और दस्युओं का भी उल्लेख है। पश्चिमी विद्वान् इनका सम्बन्ध द्रविड़ों की किसी जाति विशेष से जोड़ते हैं।[2] वृत्र जलों के आवरक कहे गए हैं और पणि गऊओं के अवरोधक। वेद में इनका वर्णन जिस रूप में मिलता है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे मनुष्य के अन्तर में प्रकाश और अंधकार के बीच घटित होने वाली आन्तरिक घटनाओं और संघर्षों के बाह्य प्रतीक हैं। वृत्र चेतना के दिव्य जलों और पणि प्रकाश की गऊओं (किरणों) को अपनी अंधकार की शक्तियों से रोके रखते हैं। इन्द्र और बृहस्पति इन जलों और गऊओं को मुक्त कराने में सहायता देते हैं।[3]

ऋग्वेद के कुछ सूक्त ऐसे हैं जिन्हें सम्वाद-सूक्त कहते हैं। इनमें इन्द्र-वरुण-सम्वाद (४,४२), वरुण-अग्नि-सम्वाद (१०,५१), इन्द्र-इन्द्राणी सम्वाद, (१०,८६), पुरुवा-उर्वशी-सम्वाद (१०,९५), यमयमी सम्वाद (१०,१०), सरमा-पणि-सम्वाद (१०,१३०), इनसे सम्बन्धित सूक्त मुख्य हैं। १०वें मण्डल के ५ सूक्तों में अन्त्येष्टि संस्कार का वर्णन है। १०,३४ सूक्त द्यूत-क्रीडा से सम्बद्ध है। लगभग ६८ सूक्तों में दान-स्तुतियों का वर्णन मिलता है। सूक्त (१०,११७) में दान की महिमा का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन हुआ है। जो दान न देकर स्वयं ही अपने स्वार्थ के लिए व्यय करता है वह पाप को खाता है 'केवलाघो भवति केवलादी (१०,११७,६)। यह संदेश

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६९।
२. वही, पृ० १०१।
३. वेदरहस्य, भाग १, पृष्ठ १४७।

त्यागमूलक वैदिक-संस्कृति का महामंत्र है ।

**दार्शनिक सूक्त**—ऋग्वेद में यद्यपि दार्शनिक विचार विकसित अवस्था में नहीं मिलते, फिर भी ऐसे विचारों का नितांत अभाव नहीं है । प्रथम और दशम मण्डल में ऐसे समूचे सूक्त मिलते हैं जिनमें ब्रह्म, सृष्टि और जगत् जैसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक विषयों पर रहस्यात्मक ढंग से विचार प्रकट किए गए हैं । ऐसे सूक्तों में 'विश्वकर्मा सूक्त (१०,८१,८२), पुरुष सूक्त (१०,१६०), हिरण्य गर्भ सूक्त (१०,१२१), नासदीय सुक्त (१०,१२६), वाक् सूक्त (वागम्भृणी १०,१२५), अघमर्षण सूक्त (१०,१६०) मुख्य हैं । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ५२ ऋचात्मक १६४वें सूक्त में भी दार्शनिक विचार गूढ रहस्यात्मक शैली में व्यक्त हुए हैं । इस सूक्त को अस्यवामीय सूक्त कहते हैं । ये सभी सूक्त दार्शनिक गम्भीरता, प्रतिभा अनुभूति तथा नवीन कल्पना के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं । पुरुष सूक्त में पुरुष की आध्यात्मिक कल्पना का भव्य वर्णन है । उसके सिर, नेत्र, पाद की इयत्ता नहीं है । वह विश्व को चारों ओर से घेर कर भी दस अंगुल बढ़कर है (१०,६०,१) । अकेला पुरुष ही समस्त संसार है जो प्राचीनकाल में उत्पन्न हुआ और भविष्य में उत्पन्न होने वाला है (१०,६०,२) । उनके एक चतुर्थांश मर्त्यलोक के प्राणी हैं और उसका तीन चतुर्थांश स्वर्गवासी अमरों का लोक है—पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि' (१०,६०,३) ।

पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से यह सूक्त 'सर्वेश्वरवाद' का प्रतिपादन करता है जो ऋग्वेदीय प्रौढ विचारधारा का द्योतक है । सृष्टि के उत्पादन में यज्ञ के व्यापक स्वरूप का परिचय इस सूक्त में मिलता है । इसी सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चतुर्वर्ण की उत्पत्ति, विराट् पुरुष के मुख, बाहु, उरु तथा पैरों से बताई गई है (१०।६०।१२) । अतः यह सूक्त वैदिक आर्यों को दार्शनिक, सामाजिक, आध्यात्मिक धारणाओं का परिचय होने से नितान्त महत्त्वपूर्ण है ।

विश्वकर्मा सूक्त में उस सामग्री के सम्बन्ध में पूछा गया है जिससे द्यावा-पृथिवी का निर्माण हुआ है । ऋषि पूछता है वह कौन-सा-वन है अथवा वह कौन-सी लकड़ी है जिससे ईश्वर ने द्यावा-पृथिवी को गढ़ डाला (१०,८१,४) । १०,८२ में यह दार्शनिक भाव और भी स्पष्टरूप से मुखरित हुआ है । उस परमेश्वर के सम्बन्ध में जिज्ञासा की गई है जो द्यु-लोक से परे है, जो इस पृथ्वी से भी परे है, जो देवताओं और असुरों से भी परे है । किस आदि गर्भ को जल तत्त्व ने धारण किया जिससे समस्त देवताओं ने अपने आप को एकत्र संगत पाया (१०,८२,५) और अगली ऋचा में उत्तर दिया गया कि 'जल ने सर्वप्रथम उसी विश्वकर्मा को गर्भ में धारण किया है···उसी अजन्मा के नाभि-मण्डल में एक अण्ड की स्थापना हुई और उसी में सकल भुवन अवस्थित हैं (१०,८२,६) ।[1]

---

१. परोदिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ।
तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभा वध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।ऋग्वेद १०,८२,५-६।

हिरण्यगर्भ सूक्त दार्शनिक विचारों की सम्पन्नता और रहस्यात्मक अनुभूति की दृष्टि से परम सुन्दर सूक्त कहा जा सकता है। इस सूक्त में उस परम देव का विचार आया है जो सम्पूर्ण भूतवर्ग से पूर्व उत्पन्न होकर सबका अधिपति हुआ, उसी ने इस पृथिवी और आकाश को धारण किया है। वह परमदेव हिरण्यगर्भ कहा गया है—

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।**
**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥ (१०,१२१,१)**

ऋग्वेद का नासदीय-सूक्त जो सृष्टिगीत है बहुत ही रमणीय है। इस सूक्त में जगत् से पूर्व की उस प्रारम्भिक स्थिति का वर्णन किया गया है जब कि दिन-रात आदि सृष्टि के अभिव्यंजक कोई भी चिह्न विद्यमान नहीं थे। उस समय केवल 'एक' ही बिना हवा के अपनी स्वाभाविक शक्ति से साँस ले रहा था (१०,१२६,१-२)। सबसे पहले काम-संकल्प-उत्पन्न हुआ, इसी काम की अभिव्यक्ति सृष्टि के नाना स्तरों में फलित हुई (१०,१२६,४)। इस सूक्त की छठी ऋचा में सृष्टि-सम्बन्धी अनेक मौलिक प्रश्न उठाए गए हैं जो आज भी उतने ही मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। अंतिम ऋचा में कहा है, 'यह सृष्टि जहाँ से उत्पन्न हुई है, अथवा इसका कोई आधार है या नहीं—यह सब कुछ वही जानता है जो परम व्योम में सर्वत्र व्याप्त है।'[1] मैक्डानल इस सूक्त के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए कहता है—'न केवल साहित्यिक गुणों की दृष्टि से ही यह महत्त्व का है वरन् इससे भी अधिक इसकी महत्ता उन प्रौढ विचारों के कारण है जिनका प्रतिपादन आज इतने प्राचीन युग में पाया जाता है।'[2] और ड्यूसन का कथन है—'अपनी उदात्त सरलता में, तथा दार्शनिक दृष्टि की उच्चता में, यह सूक्त सम्भवतः प्राचीन युग के दर्शन में अत्यन्त प्रशंसनीय अंश है।'[3] प्रातिभ अनुभूति के ऊपर अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा ही इस गंभीर मंत्र का गूढ रहस्य है। इस प्रकार ऋग्वेद के सृष्टि-सम्बन्धी ये समस्त सूक्त न केवल भारतीय दर्शन के ही अग्रदूत हैं वरन् पुराणों के भी, जिनके मुख्य लक्षणों में एक लक्षण सर्ग-वर्णन भी है।

ऋग्वेद के स्वरूप पर संक्षेप में इतना विचार कर लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ मानवजाति का आदि-ग्रन्थ होते हुए भी नाना प्रकार के महत्त्वपूर्ण विचारों, भावनाओं, गहन दार्शनिक तथ्यों, रहस्यात्मक अनुभूतियों एवं समाज के लिए उपयोगी नाना विषयों से सम्बद्ध है। साथ ही इसमें वर्णित समस्त देववर्ग के पीछे एक ही निरपेक्ष सत्ता विद्यमान है जिसे 'तदेकम्' कहकर अभिहित किया गया

---

१. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद। ऋग्वेद १०,१२६,७।

२. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १३३।

३. In its noble simplicity, *in the loftiness of its philosophical vision,* it is possibly the most admirable bit of philosophy of olden times. Q. F. Ghate's Lectures on Rigved, p. 161.

है और ये देव उसी की शक्ति की नाना अभिव्यक्तियाँ हैं। उसी एक का नाना नामों से संकीर्तन किया गया है। यह अनुभूति ऋषियों को बड़ी स्पष्ट थी और यही एकेश्वरवादी एवं सर्ववादी अनुभूति औपनिषदिक अद्वैतवाद में जाकर पर्यवसित हुई है, जिस पर वैदिक दर्शन के अध्याय में विस्तार से विचार प्रस्तुत करेंगे।

## यजुर्वेद

यजुर्वेद यज्ञिय कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है जो यज्ञ को दृष्टिकोण में रखकर संकलित किया गया है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि उसकी केवल ५-६ शाखाएँ ही उपलब्ध होती है, जिनमें कठ, तैत्तिरीय आदि का सम्बन्ध कृष्ण यजुः से तथा काण्व और माध्यन्दिन का शुक्ल यजुः से है। कृष्ण यजुः में वेद-मंत्रों के साथ व्याख्याएँ भी जुड़ी हैं और शुक्ल यजुर्वेद में दर्श पौर्णमासादि अनुष्ठानों के लिए केवल मंत्रों का ही संकलन है। पतंजलि मुनि के समय में यजुः की काठक और कालाप शाखाएँ सर्वत्र विदित थीं। यथा—'ग्रामे-ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते'[1] पर कालान्तर में तैत्तिरीय और वाजसनेय शाखाओं ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। तैत्तिरीयों का प्रदेश नर्मदा का दक्षिण-भाग था। इस शाखा के ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौत तथा गृह्य सूत्र मिलते हैं। आचार्य सायण इसी शाखा के थे। उपलब्ध संहिताओं में वाजसनेयशाखा की संहिता का प्रचार अधिक है। अतः संक्षेप में उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला जाता है।

**वाजसनेय संहिता**—इस संहिता में यज्ञों के लिए उपयोगी मंत्रों का ही संकलन है जिसमें ४० अध्याय हैं। मैक्डानल पूर्व के १८ अध्यायों को ही मौलिक संहिता मानते हैं। उनके अनुसार बाद के २२ अध्याय परवर्ती रचना हैं।[2] पहले दो अध्यायों में दर्श और पौर्णमास इष्टियों के मंत्र हैं। तीसरे में अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य यज्ञ के मंत्र हैं। चौथे से आठवें अध्याय तक सोम यज्ञ के मंत्र हैं। नवम तथा दशम अध्यायों में वाजपेय और राजसूय यज्ञों के लिए मंत्र संकलित हैं। ग्यारहवें से अठारहवें अध्यायों में 'अग्नि चयन' का वर्णन है। उन्नीसवें से इक्कीसवें तक 'सौत्रायणी' यज्ञ का विधान है। इसमें अश्विनीकुमार, इन्द्र और सरस्वती के लिए सोम और सुरा दोनों की आहुति दी जाती थी। २२वें से २५वें तक अश्वमेध के मंत्र हैं। किसी भी सम्राट् के लिए अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन गौरव की वस्तु माना जाता था।

अंतिम १५ अध्याय 'खिल' अर्थात् बाद के हैं। २६ से ३५वें तक के अध्यायों के विषय पूर्व-वर्णित यज्ञों से सम्बन्धित हैं। ३०वें अध्याय में उस पुरुष के लक्षण दिए गए हैं जो मेध्य होता था। ३१वें अध्याय में प्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' है जिसमें ऋग्वेद की अपेक्षा ६ मंत्र अधिक हैं। ३२वें अध्याय का विषय उपनिषदों जैसा है। यहाँ

---

१. महाभाष्य ४,३,१०१।

२. देखिये, मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६५।

प्रजापति का तादात्म्य पुरुष और ब्रह्म से स्थापित किया गया है। ३२वें और ३३वें अध्यायों में 'सर्वमेध' के मंत्र हैं। ३४वें अध्याय को 'शिव संकल्पोपनिषद्' भी कहते हैं। यह मन तथा उसकी वृत्तियों के स्वरूप को बताने में नितांत उपादेय है। मन चूंकि सभी मानवी क्रियाओं का प्रेरणा-केन्द्र है अतः उसके कल्याणकारी बनने की स्तुति की गई है—'तन्मेमनशिवसंकल्पमस्तु।' ३५वें अध्याय में अन्त्येष्टि के मंत्र हैं। ३६वें से ३९वें तक के अध्यायों में प्रवर्ग्य याग के मंत्र हैं। इस यज्ञ में लाल तपी हुई कड़ाही में दूध उबाल कर अश्विनी कुमारों को आहुति दी जाती है। यज्ञ-पात्रों को इस तरह रखा जाता है कि मनुष्य की आकृति बन जाय। यह अध्याय भी रहस्यमयी बातों से पूर्ण है। सारी बातें प्रतीकात्मक भाषा में कही गई हैं। ४०वाँ अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' है जो अपने प्रारम्भिक दो शब्दों के कारण अपना यह नाम धारण करता है। यह वेद का ज्ञान काण्ड है जिसमें निर्गुण-सगुण ब्रह्म, विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूति आदि का दार्शनिक विवेचन है। निष्काम-कर्म सम्पादन का विचार भी प्रथम बार इसी अध्याय में आया है।

महत्त्व—यजुर्वेद में मुख्यतया प्रार्थनाएँ एवं यज्ञ-सम्बन्धी मंत्र हैं। वे या तो ऋचाओं के रूप में हैं या गद्यों में हैं। गद्यमय भागों को यजुष् कहा गया है। इन्हीं यजुषों के कारण संभवतः इसका नाम यजुर्वेद पड़ा। यजुर्वेद और सामवेद में यज्ञानुष्ठान की प्रयोग-विधि के अनुरूप मंत्रों का संकलन होने के कारण पर्याप्त साम्य है। वाजसनेय संहिता का चतुर्थांश से कुछ अधिक भाग ऋग्वेद पर आधारित है। गद्यांशों की दृष्टि से यजुर्वेद मौलिक ग्रन्थ है।

कहीं-कहीं देवता का नाम स्तुति के लिए पर्याप्त समझा गया है। देवता का नाम और उसके साथ स्वाहा, स्वधा आदि का प्रयोग एक स्तुति का काम दे देता है। उन्हीं के उच्चार से अग्नि में आहुतियों का प्रक्षेप पर्याप्त समझा गया है। इस प्रकार के संक्षेप यजुर्वेद की अपनी विशेषता है।

इन मंत्रों में देवता के आवाहन की अधिक चर्चा नहीं है। याज्ञिक उपकरणों को देवत्व से विशिष्ट माना गया है। देवत्व का आरोपण 'अग्नि चयन' की सारी प्रक्रियाओं में मिलता है। यह आरोप सांकेतिक है। यह अर्थ सामान्य व्यक्ति के लिए बहुत करके अर्थहीन होते हैं, किन्तु इनमें वैज्ञानिक सत्य छिपे हुए हैं।

यजुर्वेद में नूतन धार्मिक मान्यताओं का भी विकास हुआ है। इस वेद में पूजा-विधान की प्रमुखता बढ़ चली थी जिसका ऋग्वेद में बहुत कम महत्त्व था। देवताओं की पूजा के प्राधान्य और यज्ञानुष्ठान के प्राधान्य में प्रातिलोम्य हो गया। ऋग्वेद में अर्चा के विषय देवता होते थे जिनके हाथ में मानव-जाति पर अनुग्रह करने की सामर्थ्य थी और यज्ञ-यागादि देवताओं का प्रसाद प्राप्त करने के साधन-मात्र थे, परन्तु यजुर्वेद में यज्ञ ही विचार एवं अनुष्ठान का केन्द्र हो चला और उसी के विधिवत् अनुष्ठान तथा प्रयोग की सूक्ष्मता सर्वोपरि मान्यता का विषय बन गई। यज्ञ की शक्ति इतनी बढ़ गई कि उस के द्वारा न केवल देवता ही प्रभावित होते थे, परन्तु

पुरोहित के संकल्प के अनुसार देवता अभीप्सित वर-प्रदान के लिए बाध्य समझे जाते थे। यज्ञ के द्वारा यों कहा जा सकता है—देवता तो ब्राह्मणों की मुट्ठी में थे। यज्ञिय अनुष्ठानों की महत्ता और शक्ति बढ़ जाने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि—देवताओं की शक्ति की अर्चा, उनके अनुग्रह की महत्ता तथा निज अपराध की चेतना सर्वथा लुप्त हो चली और हर प्रार्थना किसी यज्ञानुष्ठान की सहचारिणी हो, भौतिक अभ्युदय के एकमात्र लक्ष्य से अनुप्राणित हो गई थी।[1]

यज्ञिय विधि-विधान के बढ़ते हुए महत्त्व के साथ-साथ इस वेद के निर्माण-युग में जाति-व्यवस्था सुदृढ होती जा रही थी तथा ब्राह्मण-वर्ग का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था, क्योंकि वाजसनेयि-संहिता के परवर्ती अध्यायों में हमें वर्णसंकर-जनित अवान्तर जातियों का अस्तित्व भी प्रतीत होता है। अतः कहा जा सकता है कि भारतीयों का सामाजिक एवं धार्मिक स्वरूप इस युग में ऋग्वेद-सूक्तों में प्रतिबिम्बित-स्वरूप से तत्वतः भिन्न है।[2]

विन्टरनिट्ज के अनुसार इस संहिता का अध्ययन चाहे कितना भी कठिन एवं दुरूह और सारहीन समझा जाये, पर यह तो सत्य है कि भारतीयों के धर्म और धर्म-विज्ञान के लिए उसका महत्त्व सर्वोपरि है।[3]

## सामवेद

सहस्रवर्त्मा सामवेद की इस समय केवल तीन शाखों का उल्लेख मिलता है जिसमें कौथुमी शाखा की संहिता ही प्रचलित है।

साम का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। प्रथम ऋक् मंत्रों के ऊपर गाये जाने वाले गान के वाचक के रूप में। दूसरे स्वयं ऋक्-मंत्रों के लिए भी साम शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः साम-संहिता का संकलन उद्गाता नामक ऋत्विज के लिए किया गया है। उद्गाता देवता के स्तुतिपरक मंत्रों को आवश्यकतानुसार विविध स्वरों में गाता है। अतः साम का आधार ऋक् मंत्र हैं—'ऋचि अध्यूढं साम'।

**कौथुमीय संहिता**—इसके दो भाग हैं—पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। आर्चिक का अर्थ ऋक्-समूह है। पूर्वार्चिक में छः प्रपाठक हैं, प्रत्येक प्रपाठक में दो अर्ध, एक अर्ध, एकदशति—इस प्रकार सामवेद का विभाजन है। दशतियों में मंत्रों का संकलन छन्द तथा देवता की एकता पर निर्भर है। प्रथम प्रपाठक को आग्नेय काण्ड, द्वितीय से चतुर्थ को 'ऐन्द्र पर्व', पंचम अध्याय को ऋग्वेद के नवम मण्डल से उद्धृत किये गए सोमविषयक मंत्रों के कारण पवमान पर्व कहते हैं। षष्ठ प्रपाठक में देवताओं तथा छंदों की भिन्नता होने पर गान-विषयक एकता होने के कारण 'आरण्यक पर्व'

---

१. देखिये, मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६९।
२. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७०।
३. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग २, पृष्ठ १८७।

कहते हैं। प्रथम से पंचम प्रपाठक तक की ऋचाएँ, ग्राम-गान और षष्ठ प्रपाठक की ऋचाओं के अरण्य में गाये जाने के कारण अरण्य-गान कहते हैं। पूर्वार्चिक के मंत्रों की संख्या ६५० है।

उत्तरार्चिक में ६ प्रपाठक हैं और मंत्र-संख्या १२२५ है। इस प्रकार साम की कुल संख्या १८७५ है। साम की ऋचाएँ अधिकतर ऋक् से संकलित की गई हैं परन्तु कुछ ऋचाएँ नितांत भिन्न हैं जो शाकल्य संहिता में नहीं मिलतीं। साथ ही पूर्वार्चिक की २६७ ऋचाएँ उत्तरार्चिक में पुनरुल्लिखित की गई हैं। अतः ऋग्वेद की १५०४ ऋचाएँ ही सामवेद में उद्धृत हैं। ९९ ऋचाएँ एकदम नवीन हैं और इनमें ५ पुनरुक्त हैं। संभव है इनका संकलन ऋग्वेद की अन्य शाखा की संहिताओं से किया हो जो अब नहीं मिलतीं।

## अथर्ववेद

वेदों में अथर्ववेद का विशिष्ट स्थान है। जीवन को ऐहिक तथा आमुष्मिक, लौकिक तथा पारलौकिक दृष्टि से समृद्ध बनाने के लिए नाना अनुष्ठानों का विधान इस वेद में किया गया है। ब्रह्मा नामक ऋत्विज का इसी वेद से सम्बन्ध है। वह यज्ञ का अध्यक्ष होने के कारण तथा याज्ञिक नाना विधि-विधानों का निरीक्षक होने के कारण अन्य तीनों वेदों का भी ज्ञाता होता है।

'थर्व हिंसायां कौटिल्य च' के अनुसार अथर्वों का सम्बन्ध अहिंसा से है। अथर्व लोग हिंसक न होकर अग्निपूजक होते थे। विन्टरनिट्ज के अनुसार—'अथर्व वेद अथर्वों का वेद है अथवा यह जादू-टोना के ज्ञान से सम्बन्धित है अर्थात् अथर्वा और अंगिरसों का वेद। अथर्वों का अभिप्राय पवित्र भाव से जादू-टोना का प्रयोग करने वालों से है, जिनसे सुख का सम्पादन होता है। अंगिरसों का अभिप्राय तामस वा कृष्ण जादू-टोनों से है। इस प्रकार अथर्ववेद अथर्वों तथा अंगिरसों के वेद का संक्षिप्त रूप है।[1] इस के भृगु-अंगिरस और ब्रह्म वेद ये दो नाम और मिलते हैं।[2]

अथर्ववेद का संसार ऋग्वेद के संसार से नितांत भिन्न है। ऋग्वेद में एक ओर तो प्रकृति के शक्तिमय-स्वरूप का प्रतिनिधित्व करने वाले उदात्त देवताओं का वर्णन है, तो दूसरी ओर ऐसे राक्षसों का वर्णन है जो मानव को व्याधि, कष्ट और कठिनाइयों से पीड़ित करने वाले हैं। इससे भिन्न अथर्ववेद में जिसमें तंत्र-मंत्र और जादू-टोने से सम्बन्धित विचारों और कृत्यों का वर्णन है, वे लोक-विश्वास के रूप में आज भी अमरीका के रेड-इण्डियन्स में, अफरीका के नीग्रो लोगों में, मलय और मंगोल देश-वासियों में तथा यूरोप के ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित हैं।[3] मैक्डानल भी अथर्ववेद

---

१. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृष्ठ ११९-१२०
२. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७५।
३. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० १२८।

को मंत्रों-तंत्रों का एक प्रकीर्ण संग्रह मानते हैं जिसकी रचना शांति एवं अभ्युदय के साथ-साथ शाप एवं प्रतिघात के क्षम प्रयोगों की दृष्टि से हुई है।[1] इस सम्बन्ध में विन्टरनिट्ज का भी यही मत है। वे कहते हैं कि राक्षसों का शमन, मित्रों का प्रसादन और शत्रुओं का अभिशापन इस वेद का मुख्य विषय है।[2] और चाहे जो कुछ भी हो, पर अथर्ववेद का वास्तविक महत्त्व इस बात में हैं कि इसके द्वारा पौरोहित्य विश्वासों के अतिरिक्त जनसाधारण के प्राचीनतम विश्वासों का अनुसंधान करने में बड़ी सहायता मिली है।[3]

## अथर्ववेद शौनक शाखा :

**स्वरूप**—इस शाखा की संहिता में २० काण्ड, ७३१ सूक्त तथा ५९८७ मंत्रों का संग्रह है। इसके अनेक मंत्र ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डल से संग्रहीत हैं। २०वाँ काण्ड तो ऋग्वेद से ही संकलित है। पहले सात काण्डों में छोटे-छोटे सूक्त हैं। इस योजना में विषय की एकता का ध्यान भी रखा गया है। ८ से १२ काण्डों में बड़े-बड़े सूक्त हैं, किन्तु विषयों की विविधता है। १३वें से १८वें काण्ड तक पुनः विषयों की एकरूपता द्रष्टव्य है। १२वें काण्ड के आरम्भ में 'पृथ्वी सूक्त' है (६२ मंत्र) जिसमें अनेक राजनीतिक और भौगोलिक सिद्धान्तों की भव्य-भावना निहित है। १३वां काण्ड अध्यात्म-विषयक है। १४वाँ काण्ड विवाह-सूक्त है जो अधिकतर ऋग्वेद के दशम मंडल से उद्धृत है। १५वें काण्ड में व्रात्य नाम से परमात्मा की महिमा का वर्णन है। १६वाँ काण्ड दुःस्वप्न नामक मंत्रों का एक सुन्दर संग्रह है। १७वें काण्ड में ३० मंत्रों का ही एक सूक्त है जिसमें अभ्युदय की प्रार्थना की गई है, १८वाँ काण्ड अन्त्येष्टि एवं पितृबलि से सम्बन्ध रखता है। अन्तिम दो काण्ड खिलकांड के नाम से प्रसिद्ध हैं जो बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं।[4] १९वें काण्ड में भैषज्य, राष्ट्र-वृद्धि तथा अध्यात्म-विषयक मंत्र संकलित हैं। अन्तिम काण्ड में सोमयाग से सम्बन्धित मंत्र हैं जो प्रायः ऋक् से लिए गए हैं। अथर्ववेद में आयुर्वेद के सिद्धान्त एवं व्यवहार की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख मिलता है जिनका उल्लेख भैषज्यानि, आयुष्याणि, पौष्टिकानि, स्त्री-कर्माणि, राजकर्माणि, प्रायश्चित्तानि आदि विभिन्न उपशीर्षकों के अन्तर्गत विन्टरनिट्ज ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास भाग-१ में किया है।

**ब्रह्मण्यानि**—ये सूक्त इस वेद के अंतिम भाग हैं। चमत्कारों से भरे सूक्त-साहित्य में इन सूक्तों का समावेश विशेष महत्त्व रखता है। इन दार्शनिक सूक्तों को

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १७१।
२. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० १२५।
३. वही, पृ० १२९।
४. मैक्डानल : सं० सा० का इतिहास, पृ० १७३।

देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस युग में आध्यात्मिक ज्ञान चरम कोटि को प्राप्त हो सका। ईश्वर का सर्व-सृजक और रक्षक स्वरूप, ब्रह्म, तपस्, अहंस, प्राण मनस् आदि दार्शनिक विषयों की समीक्षा सामान्य लोगों के चिन्तन का विषय बन गई थी। उपनिषदों में ऋग्वेद के जिन विषयों का चरम विकास हुआ है उनका प्रतिबिम्ब अथर्ववेद के सूक्तों में निहित है। इन रहस्यमय सूक्तों में यत्र-तत्र बड़े सुन्दर और ऊँचे दार्शनिक विचार जगमगाते हैं। यथा १९,५३ में काल की मीमांसा, कि 'सब कुछ काल द्वारा ही उत्पन्न हुआ है।' वास्तव में यह एक रहस्यात्मक दार्शनिक विचार है। १३वें काण्ड में 'रोहित-सूक्त' में रोहित को सूर्यस्थ वीर्य का प्रतीक होने से जगत् की सृष्टि आदि समस्त व्यापारों का निर्वाहक माना है। सूर्य के घोड़े उसी रोहित के रथ पर चढ़कर ले जाते हैं, वही यज्ञ का जनयिता तथा विश्व का निर्माता कहा गया है। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रोहित ब्रह्म का ही प्रतीक है।

इसी प्रकार ११वें काण्ड के ७वें सूक्त में उच्छिष्ट नाम से 'परमात्मा' का वर्णन मिलता है। सब कुछ शेष कर देने के बाद जो कुछ रह जाता है वह 'उच्छिष्ट' है। यह स्पष्ट ही उपनिषदों के 'नेति-नेति' का ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन है। अन्यत्र उसे स्कम्भ (१०,७-८) कहकर स्मरण किया गया है। ४,११ में अनड्वान (वृषभ) को स्रष्टा और धर्त्ता कहा गया है। १०,१० में गऊ का बड़ा मार्मिक वर्णन मिलता है। उसे जगत के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में चित्रित किया गया है।[1]

जगत् के समस्त पदार्थों का आश्रयदाता होने के कारण तथा हिरण्यगर्भ से भी पहले होने के कारण वह परमतत्व 'स्कम्भ' की संज्ञा से मंडित है। वह तो ब्रह्म का भी कारण होने से अथर्ववेद में 'ज्येष्ठ ब्रह्म' के नाम से स्मरण किया गया है।[2] जिनमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश समाहित हैं। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, सभी देवता तथा वायु जिसमें अर्पित होकर रहते हैं, वही 'स्कम्भ' है।[3] अथर्ववेद १०,२ के आठ मंत्रों में मंत्र-द्रष्टा क्रमशः प्रश्न करता चलता है कि मनुष्य के विभिन्न अंगों का निर्माण किसने किया? मनुष्य में राग, विराग, भय, निद्रा आदि भाव कहाँ से आते हैं? अन्त में सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहता है कि वह 'ब्रह्म' ही यह सब कुछ हो गया जो कुछ विद्यमान है।[4] यह स्पष्ट ही ब्रह्म से जगत के अभिन्न होने का वर्णन है।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित विभिन्न दार्शनिक विचार जो चरम सीमा को प्राप्त हुए हैं उनका पूर्व रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है। इस दृष्टि से अथर्ववेद

---

१. अथर्ववेद १०,१०,२६।
२. देखिए, अथर्ववेद १०,८,१।
३. वही, १०,७,१२-१३।
४. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तराहिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचोहितम ॥ (१०,२,२४)

संहिता का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

अथर्ववेद में वरुण को सम्बोधित करके एक सूक्त आया है जिसमें परमात्मा की भव्यता का ऐसा भव्य वर्णन है जैसा वैदिक साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। यथा—

**उतेयं भूमिर्वरुणस्यराज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।**
**उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदकेनिलीनः॥** (४,१६,३)

अर्थात् यह भूवलय वरुण राजा का साम्राज्य है, उसका अधिकार दूर तक प्रसृत गगन-मण्डल तक फैला हुआ है। ये दो समुद्र वरुण की कुक्षियाँ हैं, तब भी वह इस जलबिन्दु में समाया हुआ है। आगे कहा है कि 'चाहे कोई व्योम-मण्डल का भेदन कर भाग ही जाये तो भी वह महाराज वरुण की निगाह से बच नहीं सकता। उसके चर वहाँ भी हैं जो आकाश से उतरते हुए, अपने सहस्र नयनों द्वारा सकल पृथिवीलोक का पर्यवेक्षण करते रहते हैं (४,१६,४)।'

द्यावा—पृथिवी के अन्तराल में स्थित समस्त भूत-जगत को राजा वरुण देखता रहता है, उसकी दृष्टि उससे भी परे पहुँचती है। मानव के प्रत्येक निमिष को वह गिनता रहता है और जुआरी जिस तरह अपने पासे रखते हैं उसी तरह वह अपनी प्रत्येक नीति को निर्धारित करता है (४,१६,५)। स्पष्ट है कि वह 'वरुण' के माध्यम से परमेश्वर के गौरव और महिमा का ही वर्णन है।

## उपनिषद्

उपनिषदें जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सामान्यतः ब्राह्मण भाग के ही अन्तर्गत आते हैं। ये आरण्यक ग्रन्थों की भाँति उस वाङ्मय से सम्बद्ध हैं जिन्हें हिन्दू धार्मिक 'श्रुति' अर्थात् स्वतः प्रकाशित साहित्य कहते हैं। ये उपनिषदें प्रारम्भिक दार्शनिक ग्रन्थ हैं जिनका स्थान विश्व के साहित्य में किसी भी जाति अथवा युग में मानव-मस्तिष्क द्वारा उत्पन्न अद्भुत अपूर्व कृतियों के रूप में हैं।[1] उपनिषदों में न तो वेद के विरुद्ध क्रांति है, और न ही वेद से उनका कोई पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। प्रत्युत वे तो गहन, शाश्वत सत्यों के ज्ञान का प्रतिनिधित्त्व करते हैं जिन्हें औपनिषदिक ऋषियों ने अपनी अन्तरात्मा में अनुभूत किया था। हाँ, यदि ब्राह्मण-ग्रन्थ

1. "At all events, the Upnishads, like the Aranyakas belong to wha Hindu theologians call 'Sruti' or revealed Literature which i supposed to be founded on the former...and earliest of thes philosophical tritise, will always, I believe, maintain a place i the Literature of the world among the most astonishing product ions of the human mind in any age and in any creation." M Muller : S. B. E. p. IXVII ed. 1879.

देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस युग में आध्यात्मिक ज्ञान चरम कोटि को प्राप्त हो सका। ईश्वर का सर्व-सृजक और रक्षक स्वरूप, ब्रह्म, तपस्, अहंस, प्राण मनस् आदि दार्शनिक विषयों की समीक्षा सामान्य लोगों के चिन्तन का विषय बन गई थी। उपनिषदों में ऋग्वेद के जिन विषयों का चरम विकास हुआ है उनका प्रतिबिम्ब अथर्ववेद के सूक्तों में निहित है। इन रहस्यमय सूक्तों में यत्र-तत्र बड़े सुन्दर और ऊँचे दार्शनिक विचार जगमगाते हैं। यथा १९,५३ में काल की मीमांसा, कि 'सब कुछ काल द्वारा ही उत्पन्न हुआ है।' वास्तव में यह एक रहस्यात्मक दार्शनिक विचार है। १३वें काण्ड में 'रोहित-सूक्त' में रोहित को सूर्यस्थ वीर्य का प्रतीक होने से जगत् की सृष्टि आदि समस्त व्यापारों का निर्वाहक माना है। सूर्य के घोड़े उसी रोहित के रथ पर चढ़कर ले जाते हैं, वही यज्ञ का जनयिता तथा विश्व का निर्माता कहा गया है। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रोहित ब्रह्म का ही प्रतीक है।

इसी प्रकार ११वें काण्ड के ७वें सूक्त में उच्छिष्ट नाम से 'परमात्मा' का वर्णन मिलता है। सब कुछ शेष कर देने के बाद जो कुछ रह जाता है वह 'उच्छिष्ट' है। यह स्पष्ट ही उपनिषदों के 'नेति-नेति' का ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन है। अन्यत्र उसे स्कम्भ (१०,७-८) कहकर स्मरण किया गया है। ४,११ में अनड्वान (वृषभ) को स्रष्टा और धर्त्ता कहा गया है। १०,१० में गऊ का बड़ा मार्मिक वर्णन मिलता है। उसे जगत के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में चित्रित किया गया है।[1]

जगत् के समस्त पदार्थों का आश्रयदाता होने के कारण तथा हिरण्यगर्भ से भी पहले होने के कारण वह परमतत्व 'स्कम्भ' की संज्ञा से मंडित है। वह तो ब्रह्म का भी कारण होने से अथर्ववेद में 'ज्येष्ठ ब्रह्म' के नाम से स्मरण किया गया है।[2] जिनमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश समाहित हैं। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, सभी देवता तथा वायु जिसमें अर्पित होकर रहते हैं, वही 'स्कम्भ' है।[3] अथर्ववेद १०,२ के आठ मंत्रों में मंत्र-द्रष्टा क्रमशः प्रश्न करता चलता है कि मनुष्य के विभिन्न अंगों का निर्माण किसने किया? मनुष्य में राग, विराग, भय, निद्रा आदि भाव कहाँ से आते हैं? अन्त में सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहता है कि वह 'ब्रह्म' ही यह सब कुछ हो गया जो कुछ विद्यमान है।[4] यह स्पष्ट ही ब्रह्म से जगत के अभिन्न होने का वर्णन है।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित विभिन्न दार्शनिक विचार जो चरम सीमा को प्राप्त हुए हैं उनका पूर्व रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है। इस दृष्टि से अथर्ववेद

---

१. अथर्ववेद १०,१०,२६।
२. देखिए, अथर्ववेद १०,८,१।
३. वही, १०,७,१२-१३।
४. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तराहिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचोहितम॥ (१०,२,२४)

संहिता का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

अथर्ववेद में वरुण को सम्बोधित करके एक सूक्त आया है जिसमें परमात्मा की भव्यता का ऐसा भव्य वर्णन है जैसा वैदिक साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। यथा—

उतेयं भूमिर्वरुणस्यराज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदकेनिलीनः॥ (४,१६,३)

अर्थात् यह भूवलय वरुण राजा का साम्राज्य है, उसका अधिकार दूर तक प्रसृत गगन-मण्डल तक फैला हुआ है। ये दो समुद्र वरुण की कुक्षियाँ हैं, तब भी वह इस जलबिन्दु में समाया हुआ है। आगे कहा है कि 'चाहे कोई व्योम-मण्डल का भेदन कर भाग ही जाये तो भी वह महाराज वरुण की निगाह से बच नहीं सकता। उसके चर वहाँ भी हैं जो आकाश से उतरते हुए, अपने सहस्र नयनों द्वारा सकल पृथिवीलोक का पर्यवेक्षण करते रहते हैं (४,१६,४)।'

द्यावा—पृथिवी के अन्तराल में स्थित समस्त भूत-जगत को राजा वरुण देखता रहता है, उसकी दृष्टि उससे भी परे पहुँचती है। मानव के प्रत्येक निमिष को वह गिनता रहता है और जुआरी जिस तरह अपने पासे रखते हैं उसी तरह वह अपनी प्रत्येक नीति को निर्धारित करता है (४,१६,५)। स्पष्ट है कि वह 'वरुण' के माध्यम से परमेश्वर के गौरव और महिमा का ही वर्णन है।

## उपनिषद्

उपनिषदें जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सामान्यतः ब्राह्मण भाग के ही अन्तर्गत आते हैं। ये आरण्यक ग्रन्थों की भाँति उस वाङ्मय से सम्बद्ध हैं जिन्हें हिन्दू धार्मिक 'श्रुति' अर्थात् स्वतः प्रकाशित साहित्य कहते हैं। ये उपनिषदें प्रारम्भिक दार्शनिक ग्रन्थ हैं जिनका स्थान विश्व के साहित्य में किसी भी जाति अथवा युग में मानव-मस्तिष्क द्वारा उत्पन्न अद्भुत अपूर्व कृतियों के रूप में हैं।[1] उपनिषदों में न तो वेद के विरुद्ध क्रांति है, और न ही वेद से उनका कोई पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्युत वे तो गहन, शाश्वत सत्यों के ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें औपनिषदिक ऋषियों ने अपनी अन्तरात्मा में अनुभूत किया था। हाँ, यदि ब्राह्मण-ग्रन्थ

---

1. "At all events, the Upnishads, like the Aranyakas belong to what Hindu theologians call 'Sruti' or revealed Literature which is supposed to be founded on the former...and earliest of these philosophical tritise, will always, I believe, maintain a place in the Literature of the world among the most astonishing productions of the human mind in any age and in any creation." M. Muller : S. B. E. p. IXVII ed. 1879.

देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस युग में आध्यात्मिक ज्ञान चरम कोटि को प्राप्त हो सका। ईश्वर का सर्व-सृजक और रक्षक स्वरूप, ब्रह्म, तपस्, अहंस, प्राण मनस् आदि दार्शनिक विषयों की समीक्षा सामान्य लोगों के चिन्तन का विषय बन गई थी। उपनिषदों में ऋग्वेद के जिन विषयों का चरम विकास हुआ है उनका प्रतिबिम्ब अथर्ववेद के सूक्तों में निहित है। इन रहस्यमय सूक्तों में यत्र-तत्र बड़े सुन्दर और ऊँचे दार्शनिक विचार जगमगाते हैं। यथा १९,५३ में काल की मीमांसा, कि 'सब कुछ काल द्वारा ही उत्पन्न हुआ है।' वास्तव में यह एक रहस्यात्मक दार्शनिक विचार है। १३वें काण्ड में 'रोहित-सूक्त' में रोहित को सूर्यस्थ वीर्य का प्रतीक होने से जगत् की सृष्टि आदि समस्त व्यापारों का निर्वाहक माना है। सूर्य के घोड़े उसी रोहित के रथ पर चढ़कर ले जाते हैं, वही यज्ञ का जनयिता तथा विश्व का निर्माता कहा गया है। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रोहित ब्रह्म का ही प्रतीक है।

इसी प्रकार ११वें काण्ड के ७वें सूक्त में उच्छिष्ट नाम से 'परमात्मा' का वर्णन मिलता है। सब कुछ शेष कर देने के बाद जो कुछ रह जाता है वह 'उच्छिष्ट' है। यह स्पष्ट ही उपनिषदों के 'नेति-नेति' का ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन है। अन्यत्र उसे स्कम्भ (१०,७-८) कहकर स्मरण किया गया है। ४,११ में अनड्वान (वृषभ) को स्रष्टा और धर्त्ता कहा गया है। १०,१० में गऊ का बड़ा मार्मिक वर्णन मिलता है। उसे जगत के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में चित्रित किया गया है।[1]

जगत् के समस्त पदार्थों का आश्रयदाता होने के कारण तथा हिरण्यगर्भ से भी पहले होने के कारण वह परमतत्व 'स्कम्भ' की संज्ञा से मंडित है। वह तो ब्रह्म का भी कारण होने से अथर्ववेद में 'ज्येष्ठ ब्रह्म' के नाम से स्मरण किया गया है।[2] जिनमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश समाहित हैं। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, सभी देवता तथा वायु जिसमें अर्पित होकर रहते हैं, वही 'स्कम्भ' है।[3] अथर्ववेद १०,२ के आठ मंत्रों में मंत्र-द्रष्टा क्रमशः प्रश्न करता चलता है कि मनुष्य के विभिन्न अंगों का निर्माण किसने किया? मनुष्य में राग, विराग, भय, निद्रा आदि भाव कहाँ से आते हैं? अन्त में सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहता है कि वह 'ब्रह्म' ही यह सब कुछ हो गया जो कुछ विद्यमान है।[4] यह स्पष्ट ही ब्रह्म से जगत के अभिन्न होने का वर्णन है।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित विभिन्न दार्शनिक विचार जो चरम सीमा को प्राप्त हुए हैं उनका पूर्व रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है। इस दृष्टि से अथर्ववेद

---

१. अथर्ववेद १०,१०,२६।
२. देखिए, अथर्ववेद १०,८,१।
३. वही, १०,७,१२-१३।
४. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तराहिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचोहितम॥ (१०,२,२४)

संहिता का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

अथर्ववेद में वरुण को सम्बोधित करके एक सूक्त आया है जिसमें परमात्मा की भव्यता का ऐसा भव्य वर्णन है जैसा वैदिक साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। यथा—

उतेयं भूमिर्वरुणस्यराज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदकेनिलीनः॥ (४,१६,३)

अर्थात् यह भूवलय वरुण राजा का साम्राज्य है, उसका अधिकार दूर तक प्रसृत गगन-मण्डल तक फैला हुआ है। ये दो समुद्र वरुण की कुक्षियाँ हैं, तब भी वह इस जलबिन्दु में समाया हुआ है। आगे कहा है कि 'चाहे कोई व्योम-मण्डल का भेदन कर भाग ही जाये तो भी वह महाराज वरुण की निगाह से बच नहीं सकता। उसके चर वहाँ भी हैं जो आकाश से उतरते हुए, अपने सहस्र नयनों द्वारा सकल पृथिवीलोक का पर्यवेक्षण करते रहते हैं (४,१६,४)।'

द्यावा—पृथिवी के अन्तराल में स्थित समस्त भूत-जगत को राजा वरुण देखता रहता है, उसकी दृष्टि उससे भी परे पहुँचती है। मानव के प्रत्येक निमिष को वह गिनता रहता है और जुआरी जिस तरह अपने पासे रखते हैं उसी तरह वह अपनी प्रत्येक नीति को निर्धारित करता है (४,१६,५)। स्पष्ट है कि वह 'वरुण' के माध्यम से परमेश्वर के गौरव और महिमा का ही वर्णन है।

## उपनिषद्

उपनिषदें जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, सामान्यतः ब्राह्मण भाग के ही अन्तर्गत आते हैं। ये आरण्यक ग्रन्थों की भाँति उस वाङ्मय से सम्बद्ध हैं जिन्हें हिन्दू धार्मिक 'श्रुति' अर्थात् स्वतः प्रकाशित साहित्य कहते हैं। ये उपनिषदें प्रारम्भिक दार्शनिक ग्रन्थ हैं जिनका स्थान विश्व के साहित्य में किसी भी जाति अथवा युग में मानव-मस्तिष्क द्वारा उत्पन्न अद्भुत अपूर्व कृतियों के रूप में हैं।[1] उपनिषदों में न तो वेद के विरुद्ध क्रांति है, और न ही वेद से उनका कोई पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्युत वे तो गहन, शाश्वत सत्यों के ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हें औपनिषदिक ऋषियों ने अपनी अन्तरात्मा में अनुभूत किया था। हाँ, यदि ब्राह्मण-ग्रन्थ

---

1. "At all events, the Upnishads, like the Aranyakas belong to what Hindu theologians call 'Sruti' or revealed Literature which is supposed to be founded on the former...and earliest of these philosophical tritise, will always, I believe, maintain a place in the Literature of the world among the most astonishing productions of the human mind in any age and in any creation." M. Muller : S. B. E. p. IXVII ed. 1879.

देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस युग में आध्यात्मिक ज्ञान चरम कोटि को प्राप्त हो सका। ईश्वर का सर्व-सृजक और रक्षक स्वरूप, ब्रह्म, तपस्, अहंस, प्राण मनस् आदि दार्शनिक विषयों की समीक्षा सामान्य लोगों के चिन्तन का विषय बन गई थी। उपनिषदों में ऋग्वेद के जिन विषयों का चरम विकास हुआ है उनका प्रतिबिम्ब अथर्ववेद के सूक्तों में निहित है। इन रहस्यमय सूक्तों में यत्र-तत्र बड़े सुन्दर और ऊँचे दार्शनिक विचार जगमगाते हैं। यथा १६,५३ में काल की मीमांसा, कि 'सब कुछ काल द्वारा ही उत्पन्न हुआ है।' वास्तव में यह एक रहस्यात्मक दार्शनिक विचार है। १३वें काण्ड में 'रोहित-सूक्त' में रोहित को सूर्यस्थ वीर्य का प्रतीक होने से जगत् की सृष्टि आदि समस्त व्यापारों का निर्वाहक माना है। सूर्य के घोड़े उसी रोहित के रथ पर चढ़कर ले जाते हैं, वही यज्ञ का जनयिता तथा विश्व का निर्माता कहा गया है। इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि रोहित ब्रह्म का ही प्रतीक है।

इसी प्रकार ११वें काण्ड के ७वें सूक्त में उच्छिष्ट नाम से 'परमात्मा' का वर्णन मिलता है। सब कुछ शेष कर देने के बाद जो कुछ रह जाता है वह 'उच्छिष्ट' है। यह स्पष्ट ही उपनिषदों के 'नेति-नेति' का ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन है। अन्यत्र उसे स्कम्भ (१०,७-८) कहकर स्मरण किया गया है। ४,११ में अनड्वान (वृषभ) को स्रष्टा और धर्त्ता कहा गया है। १०,१० में गऊ का बड़ा मार्मिक वर्णन मिलता है। उसे जगत के समस्त पदार्थों की जननी के रूप में चित्रित किया गया है।[1]

जगत् के समस्त पदार्थों का आश्रयदाता होने के कारण तथा हिरण्यगर्भ से भी पहले होने के कारण वह परमतत्व 'स्कम्भ' की संज्ञा से मंडित है। वह तो ब्रह्म का भी कारण होने से अथर्ववेद में 'ज्येष्ठ ब्रह्म' के नाम से स्मरण किया गया है।[2] जिनमें भूमि, अन्तरिक्ष तथा आकाश समाहित हैं। अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, सभी देवता तथा वायु जिसमें अर्पित होकर रहते हैं, वही 'स्कम्भ' है।[3] अथर्ववेद १०,२ के आठ मंत्रों में मंत्र-द्रष्टा क्रमशः प्रश्न करता चलता है कि मनुष्य के विभिन्न अंगों का निर्माण किसने किया? मनुष्य में राग, विराग, भय, निद्रा आदि भाव कहाँ से आते हैं? अन्त में सभी प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहता है कि वह 'ब्रह्म' ही यह सब कुछ हो गया जो कुछ विद्यमान है।[4] यह स्पष्ट ही ब्रह्म से जगत के अभिन्न होने का वर्णन है।

इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित विभिन्न दार्शनिक विचार जो चरम सीमा को प्राप्त हुए हैं उनका पूर्व रूप अथर्ववेद में सुरक्षित है। इस दृष्टि से अथर्ववेद

---

१. अथर्ववेद १०,१०,२६।
२. देखिए, अथर्ववेद १०,८,१।
३. वही, १०,७,१२-१३।
४. ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तराहिता।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचोहितम॥ (१०,२,२४)

(बम्बई) में यह संख्या २२३ मिलती है। वेबर महोदय १७० संख्या का उल्लेख करते हैं।[1] इनकी संख्या चाहे जितनी हो इनमें १३ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं और प्राचीन भी हैं—"ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीह, ऐतरेय च छान्दोग्यं वृहदारण्यकं दश।" इनके अतिरिक्त कौषीतकि, श्वेताश्वतर और मैत्रायिणी, ये १३ उपनिषदें वेदान्त कहलाती हैं। अन्य उपनिषदें तत्तद्देवता-विषयक होने से तान्त्रिक मानी जाती हैं। ये उपनिषदें वैष्णव, शाक्त, शैव तथा योग-विषयक हैं।

**विभाजन**—ड्यूसन के अनुसार उपनिषदों का कालानुसारी विभाजन इस प्रकार है—

(क) प्राचीन पद्योपनिषद्—जिनकी संख्या ६ है—(१) वृहदारण्यक, (२) छान्दोग्य, (३) तैत्तिरीय, (४) ऐतरेय (५) कौषीतकि और (६) केन।

(ख) प्राचीन पद्योपनिषदें—(७) कठ, (८) ईश, (९) श्वेताश्वतर, (१०) मुण्डक और (११) महानारायण।

(ग) पिछली गद्योपनिषदें—(१२) प्रश्न, (१३) मैत्रायिणी, (१४) माण्डूक्य

(घ) अथर्वण—तान्त्रिकि-योग, सांख्य, वेदान्त, शैव, वैष्णव, शाक्त।[2]

मैक्डानल और विन्टरनिट्ज का उपनिषद्-विभाजन भी ड्यूसन के विभाजन से बिल्कुल मेल खाता है।[3] डा० बेलवलकर तथा रानाडे और चिंतामणि विनायक वैद्य के विभाजन में थोड़ी भिन्नता है। उपनिषदों का वर्गीकरण चाहे जिस आधार पर किया जावे, पर इतना स्पष्ट है कि सभी प्राचीन उपनिषदें निश्चय ही ब्राह्मणों और आरण्यकों की समकालीन हैं तथा बुद्ध और पाणिनि के पूर्व की हैं। उपनिषदों के आरम्भिक विकास में ऐतरेय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और केन इन छः उपनिषदों के नाम सरलतापूर्वक लिये जा सकते है। इनमें वेदान्त का सिद्धान्त अपने शुद्ध रूप में प्रतिपादित हुआ है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदें भी बुद्ध-पूर्व की ही प्रतीत होती हैं।

**उपनिषदों का अर्थ**—यह शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण, गति और अवसादन। 'विशरणे नाशः अविद्यायाः नाशः', 'गतिर्विद्याप्राप्ति' तथा अवसादन-शिथिलता। अर्थात् जिनका अध्ययन करके अविद्या का नाश होता है, जिनके द्वारा विद्या (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति होती है तथा जिनके द्वारा 'पुनः पुनः जन्मनः' अर्थात् मृत्यु और जन्म के चक्र से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। ऐसी अवस्थाओं के प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् कहे जाते हैं।

---

१. उपनिषद् चिन्तन, पृ० २० से उद्धृत (देवदत्त शास्त्री)।

२. ड्यूसन : दी फिलासफी आफ दी उपनिषद्, पृ० २३ से २६ तक।

३. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २११-१२, विन्टरनिट्ज : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० २३६।

वेद की यज्ञिय परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं तो उपनिषद्-ग्रन्थ वेद की आत्मा का प्रकाशन।[1] प्रथम वेद का कर्मकाण्ड है तो अंतिम ज्ञानकाण्ड। वास्तव में उपनिषदों में वैदिक चिंतन, वैदिक स्वभाव एवं मौलिक विचारों की दृष्टि से क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं है प्रत्युत वैदिक धारणाओं का विकास, विस्तार और परिवर्तन है। वेद के प्रमुख विचार उपनिषदों में आकर परिपक्वता को प्राप्त होकर परवर्ती भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति की दृढ आधारशिला बन सके।

उपनिषदों में सर्वत्र ऐसी उक्तियाँ आई हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि स्वयं औपनिषदिक ऋषि वेदों की प्रामाणिकता को बराबर महत्त्व देते रहे हैं—मुण्डकोपनिषद् (३,२,१०) में कहा है—'एतद्ऋचाभ्युक्तम्', ऐतरेयोपनिषद् (२,५) में आया है 'तदुक्तं ऋषिणा।' इसी प्रकार बृह०उ० (२,५,१८) में कहा है—'तदेतद् ऋषिः पश्यन् अवोचत्।'

यदि अन्य दृष्टि से भी देखें तो लगभग सभी प्राचीन उपनिषदें अपनी-अपनी शाखा के आरण्यक ग्रन्थों के ही अध्याय हैं और ये आरण्यक स्वयं ब्राह्मणों के भाग हैं—यथा ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक के अन्तर्गत द्वितीय मण्डल के चार प्रपाठक 'ऐतरेय उपनिषद्' कहलाते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण से सम्बद्ध कौषीतकि आरण्यक है जिसमें १५ अध्याय हैं, बीच के ३ से ६ तक के अध्याय 'कौषीतकि उपनिषद्' कहलाते हैं। यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक के दस अंशों में से ७ से ९ तक के तीन अंश 'तैत्तिरीय उपनिषद्' के नाम से ख्यात हैं। उसका दसवाँ अंश 'महानारायण उपनिषद्' कहलाता है। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का अंतिम अंश आरण्यक है इसके अंतिम छः अध्याय प्रसिद्ध 'बृहदारण्यकोपनिषद्' नाम से संकलित हैं। इन्हें आरण्यकोपनिषद् भी कहते हैं।

सामवेद की ताण्ड्य शाखा के छान्दोग्य ब्राह्मण के आठ प्रपाठक 'छान्दोग्योपनिषद्' कहलाते हैं। 'केनोपनिषद्' जैमिनीय आरण्यक से सम्बद्ध है, कुछ उपनिषद् तो सीधे संहिताओं के भाग हैं। यथा—'ईशावास्योपनिषद्' वाजसनेयी संहिता से सीधा सम्बन्ध रखता है। यह इस संहिता का अंतिम ४० वाँ अध्याय है। 'मैत्रायिणोपनिषद' भी सीधे मैत्रायिणी संहिता से जुड़ा हुआ है। ये संहिताओं से सम्बद्ध होने के कारण 'संहितोपनिषद्' कहलाते हैं। 'संहितोपनिषद्' के अन्तर्गत ही चरक शाखा का 'कठोपनिषद्' और श्वेताश्वतरोपनिषद् की भी गणना होती है।[2]

प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्योपनिषदों का अथर्ववेद से सम्बन्ध है।

यों तो उपनिषद्-साहित्य पर्याप्त विस्तृत और समृद्ध है। इनकी संख्या में मतभेद है। मुक्तिकोपनिषद् में इनकी संख्या १०८ दी हुई है। अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित सूची में यह संख्या १७९ दी गई है। 'उपनिषद् वाक्य महाकोश'

---

1. Kapali Shastri, Lights on the Upnishads, p. 114.
2. See, S. C. Sen : Mystic Philosophy of the Upnishads, p. 12.

(बम्बई) में यह संख्या २२३ मिलती है। वेवर महोदय १७० संख्या का उल्लेख करते हैं।[1] इनकी संख्या चाहे जितनी हो इनमें १३ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं और प्राचीन भी हैं—"ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीह, ऐतरेय च छान्दोग्यं वृहदारण्यकं दश।" इनके अतिरिक्त कौषीतकि, श्वेताश्वतर और मैत्रायिणी, ये १३ उपनिषदें वेदान्त कहलाती हैं। अन्य उपनिषदें तत्तद्देवता-विषयक होने से तान्त्रिक मानी जाती हैं। ये उपनिषदें वैष्णव, शाक्त, शैव तथा योग-विषयक हैं।

**विभाजन**—ड्यूसन के अनुसार उपनिषदों का कालानुसारी विभाजन इस प्रकार है—

(क) प्राचीन पद्योपनिषद्—जिनकी संख्या ६ है—(१) वृहदारण्यक, (२) छान्दोग्य, (३) तैत्तिरीय, (४) ऐतरेय (५) कौषीतकि और (६) केन।

(ख) प्राचीन पद्योपनिषदें—(७) कठ, (८) ईश, (९) श्वेताश्वतर, (१०) मुण्डक और (११) महानारायण।

(ग) पिछली गद्योपनिषदें—(१२) प्रश्न, (१३) मैत्रायिणी, (१४) माण्डूक्य

(घ) अथर्वण—तान्त्रिकि-योग, सांख्य, वेदान्त, शैव, वैष्णव, शाक्त।[2]

मैक्डानल और विन्टरनिट्ज का उपनिषद्-विभाजन भी ड्यूसन के विभाजन से बिल्कुल मेल खाता है।[3] डा० वेलवलकर तथा रानाडे और चिंतामणि विनायक वैद्य के विभाजन में थोड़ी भिन्नता है। उपनिषदों का वर्गीकरण चाहे जिस आधार पर किया जावे, पर इतना स्पष्ट है कि सभी प्राचीन उपनिषदें निश्चय ही ब्राह्मणों और आरण्यकों की समकालीन हैं तथा बुद्ध और पाणिनि के पूर्व की हैं। उपनिषदों के आरम्भिक विकास में ऐतरेय, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकि और केन इन छः उपनिषदों के नाम सरलतापूर्वक लिये जा सकते हैं। इनमें वेदान्त का सिद्धान्त अपने शुद्ध रूप में प्रतिपादित हुआ है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदें भी बुद्ध-पूर्व की ही प्रतीत होती हैं।

**उपनिषदों का अर्थ**—यह शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं—विशरण, गति और अवसादन। 'विशरणे नाशः अविद्यायाः नाशः', 'गतिर्विद्याप्राप्ति' तथा अवसादन-शिथिलता। अर्थात् जिनका अध्ययन करके अविद्या का नाश होता है, जिनके द्वारा विद्या (ब्रह्मानन्द) की प्राप्ति होती है तथा जिनके द्वारा 'पुनः पुनः जन्मनः' अर्थात् मृत्यु और जन्म के चक्र से सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है। ऐसी अवस्थाओं के प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् कहे जाते हैं।

---

१. उपनिषद् चिन्तन, पृ० २० से उद्धृत (देवदत्त शास्त्री)।
२. ड्यूसन : दी फिलासफी आफ दी उपनिषद्, पृ० २३ से २६ तक।
३. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २११-१२, विन्टरनिट्ज : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिट्रेचर, भाग १, पृ० २३६।

डयूसन उपनिषदों के आन्तरिक अभिप्राय को प्रकट करने के लिए कई अर्थ देता है जिनमें रहस्यमयता का भाव सबके साथ जुड़ा हुआ है। उसका कथन है कि–"If the passages collected in my index to the upnishads, under the word Upnishads, are examined, it will be atonce evident that taken together they involve the meaning, "secret sign, secret name, secret import, secret word, secret formula, secret instruction."[१] अर्थात् 'उपनिषद' का सामान्य अर्थ गुह्यचिह्न, गुह्यनाम, गुह्यशब्द, रहस्यमय सिद्धान्त य गुह्यादेश है। रहस्यमयता अथवा गोपनीयता का भाव उपनिषदों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। उपनिषदों के साथ गुरु द्वारा योग्य एवं अधिकारी शिष्य के रहस्यमय विचारों की प्रेषणीयता का अभिप्राय निहित है। तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने हेतु शिष्य द्वारा गुरु के निकट बैठे जाने के लिए भी उपनिषद् का प्रयोग समीचीन है। और यह शब्द इस गुप्त सभा में दिये गए रहस्यमय-सिद्धान्त के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है। तै० उ० में आया है 'इत्युपनिषत्' २-९, श्वे० उ० ५-६ में 'तद्वेदगुह्योपनिषत्सु' वाक्यांश का प्रयोग हुआ है जिसमें उपनिषद् से पूर्व 'गुह्य' विशेषण विद्यमान है। जिसका अर्थ रहस्यमय के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। अतः 'उपनिषद्' का अर्थ 'रहस्यम्' ही उपयुक्त है। तै० उ० ३,१० में 'इत्युपनिषद्' 'ब्रह्म-विद्या' के पर्याय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी उपनिषद् १,११ में ही आया है—एष आदेशः। एष उपदेशः। एषावेदोपनिषद्। एतदनुशासनम्। इनका प्रयोग हुआ है जिन वाक्यांशों से एक ओर उपनिषदों का वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध भी द्योतित होता है और दूसरी ओर 'उपनिषद्' का स्पष्ट रहस्यात्मक अर्थ भी ध्वनित हो जाता है। केन० उ० में शिष्य गुरु के समीप जाकर प्रार्थना करता है–'उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता उपनिषद् ब्राह्मीं वावत उपनिषदमब्रूमेति।' (४,७) हे गुरुदेव ! 'मुझे उपनिषद् का उपदेश कीजिये' इस पर गुरु ने कहा 'हमने तुझे उपनिषद् बतला दिया, निश्चय ही हमने ब्रह्म-विषयक उपनिषद् बतला दिया'—में उपनिषद् शब्द की तीन बार आवृत्ति हुई है। इस श्रुति में 'ब्राह्मीम्, उपनिषद्' का प्रयोग निर्विवादेन 'ब्रह्म-विषयक रहस्यमयी विद्या' के अर्थ में हुआ जो गुरु के निकट जाकर ही प्राप्त होती थी।

प्रमुख उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि उनका प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म-विद्या अथवा आत्म-विद्या की प्राप्ति है।' ये ग्रन्थ जीवन के चिरन्तन सत्य की अपरोक्षानुभूति कराने वाले उच्च दार्शनिक रहस्यमय ग्रन्थ हैं, जिनमें ब्रह्म के स्वरूप, आत्मा के स्वरूप, आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य, और इस प्रकार आत्म-परमात्म तत्त्व की एकरूपता स्थापित करके विश्व के सभी पदार्थों के पीछे एक ही सत्ता के विद्यमान होने तथा आत्मानुभूति द्वारा अविद्या के पिंजरे में से निकल अभय और

---

१. Deussen, Philosophy of the Upnishads, p. 15.

निर्भयता की स्थिति प्राप्त करते हुए जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेने जैसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है।[1]

## उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय :

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि उपनिषद्-साहित्य में सर्वाधिक प्रमुख और प्रामाणिक १३ ही उपनिषदें हैं जिनमें केवल एकादश का संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार है।[2]

१. **ईशावास्योपनिषद्**—यह शुक्ल-यजुर्वेद संहिता का ४० वाँ अध्याय है। मंत्र भाग का अंश होने के कारण इसका उपनिषदों में विशेष महत्त्व है। यह उपनिषद् कलेवर की दृष्टि से लघुकाय है। केवल १८ मंत्र हैं। इस उपनिषद् में निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म की महत्ता एवं उसके स्वरूप का वर्णन बड़ी विशदता से हुआ है। इस उपनिषद् का प्रथम मंत्र ही भारत की त्यागमूलक संस्कृति का मूलाधार है। यहाँ कहा गया है कि संसार के सभी पदार्थ उससे आवासित हैं, अतः त्यागपूर्वक ही विषयों का उपभोग करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करने से मनुष्य को कर्म लिप्त नहीं होते। गीता में इसी मंत्र की आत्मा का विकास हुआ है। ६ठे, ७वें मंत्र में साम्यावस्था पर आधारित अद्वैतानुभूति का वर्णन है जिसका प्रभाव गीता के षष्ठ अध्याय के २९, ३०वें श्लोक में दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों के समान महत्त्व तथा समन्वय को स्वीकार किया गया है। संभूति-असंभूति का विचार भी यहाँ विद्यमान है।

२. **केनोपनिषद्**—इसके आरम्भिक पद 'केनेषितं पतति' के आधार पर इसका नामकरण हुआ है। तवलकार शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसका नाम 'तवलकारोपनिषद्' भी है। इसमें चार खण्ड हैं और मंत्र-संख्या ३४ है। प्रथम दो खण्ड पद्य में और अंतिम दो गद्य में हैं। प्रथम खण्ड में उपास्य सगुण ब्रह्म का अज्ञेय निर्गुण ब्रह्म से पार्थक्य व्यक्त करते हुए उसके स्वरूप को सांकेतिक ढंग से समझाने की चेष्टा की है। उस ब्रह्म के बारे में कहा है कि—उसे आँखें नहीं देख सकतीं, न वाणी, मन उस तक पहुँच सकता है, वह अज्ञेय है, हम नहीं समझ सकते कि तत्सम्बन्धी उपदेश हमें दे सकता है।[3] वह सभी इन्द्रियों का कारण है अतः सब से परे है। वह अनिर्वचनीय है। अन्तिम दो खण्डों में उमा हेमवती और इन्द्र का बड़ा ही रोचक आख्यान है जिसके द्वारा ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा देवताओं की अल्प शक्तिमत्ता पर प्रकाश डाला गया है।

---

१. ड्यूसन : फिलासफी ऑफ दी उपनिषद्ज़, पृ० ३९।

२. यहाँ जो विवरण दिया जा रहा है वह ड्यूसन के वर्गीकरण के आधार पर न दिया जाकर गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित उपनिषदांक में दिए क्रम के आधार पर ही दिया जा रहा है।

३. केन उपनिषद् १, १, ३

डयूसन उपनिषदों के आन्तरिक अभिप्राय को प्रकट करने के लिए कई अर्थ देता है जिनमें रहस्यमयता का भाव सबके साथ जुड़ा हुआ है। उसका कथन है कि— "If the passages collected in my index to the upnishads, under the word Upnishads, *are examined, it will be atonce evident that taken* together they involve the meaning, "secret sign, secret name, secret *import, secret word, secret* formula, secret *instruction*."[1] अर्थात् 'उपनिषद' का सामान्य अर्थ गुह्यचिह्न, गुह्यनाम, गुह्यशब्द, रहस्यमय सिद्धान्त या गुह्यादेश है। रहस्यमयता अथवा गोपनीयता का भाव उपनिषदों के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। उपनिषदों के साथ गुरु द्वारा योग्य एवं अधिकारी शिष्य को रहस्यमय विचारों की प्रेषणीयता का अभिप्राय निहित है। तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने हेतु शिष्य द्वारा गुरु के निकट बैठे जाने के लिए भी उपनिषद् का प्रयोग समीचीन है। और यह शब्द इस गुप्त सभा में दिये गए रहस्यमय-सिद्धान्त के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है। तै० उ० में आया है 'इत्युपनिषत्' २-९, श्वे० उ० ५-६ में 'तद्वेदगुह्योपनिषत्सु' वाक्यांश का प्रयोग हुआ है जिसमें उपनिषद् से पूर्व 'गुह्य' विशेषण विद्यमान है। जिसका अर्थ रहस्यमय के अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता। अतः 'उपनिषद्' का अर्थ 'रहस्यम्' ही उपयुक्त है। तै० उ० ३,१० में 'इत्युपनिषद्' 'ब्रह्म-विद्या' के पर्याय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसी उपनिषद् १,११ में ही आया है—एष आदेशः। एष उपदेशः। एषावेदापनिषद्। एतदनुशासनम्। इनका प्रयोग हुआ है जिन वाक्यांशों से एक ओर उपनिषदों का वेदों से घनिष्ठ सम्बन्ध भी द्योतित होता है और दूसरी ओर 'उपनिषद्' का स्पष्ट रहस्यात्मक अर्थ भी ध्वनित हो जाता है। केन० उ० में शिष्य गुरु के समीप जाकर प्रार्थना करता है— 'उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता उपनिषद् ब्राह्मीं वावत उपनिषदमब्रूमेति।' (४,७) हे गुरुदेव! 'मुझे उपनिषद् का उपदेश कीजिये' इस पर गुरु ने कहा 'हमने तुझे उपनिषद् बतला दिया, निश्चय ही हमने ब्रह्म-विषयक उपनिषद् बतला दिया'—में उपनिषद् शब्द की तीन वार आवृत्ति हुई है। इस श्रुति में 'ब्राह्मीम्, उपनिषद्' का प्रयोग निर्विवादेन 'ब्रह्म-विषयक रहस्यमयी विद्या' के अर्थ में हुआ जो गुरु के निकट जाकर ही प्राप्त होती थी।

प्रमुख उपनिषदों के अध्ययन से पता चलता है कि उनका प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म-विद्या अथवा आत्म-विद्या की प्राप्ति है।' ये ग्रन्थ जीवन के चिरन्तन सत्य की अपरोक्षानुभूति कराने वाले उच्च दार्शनिक रहस्यमय ग्रन्थ हैं, जिनमें ब्रह्म के स्वरूप, आत्मा के स्वरूप, आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य, और इस प्रकार आत्म-परमात्म तत्त्व की एकरूपता स्थापित करके विश्व के सभी पदार्थों के पीछे एक ही सत्ता के विद्यमान होने तथा आत्मानुभूति द्वारा अविद्या के पिंजरे में से निकल अभय और

---

१. Deussen, Philosophy of the Upnishads, p. 15.

निर्भयता की स्थिति प्राप्त करते हुए जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेने जैसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है।[1]

## उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय :

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि उपनिषद्-साहित्य में सर्वाधिक प्रमुख और प्रामाणिक १३ ही उपनिषदें हैं जिनमें केवल एकादश का संक्षेप में वर्णन निम्न प्रकार है।[2]

१. **ईशावास्योपनिषद्**—यह शुक्ल-यजुर्वेद संहिता का ४० वाँ अध्याय है। मंत्र भाग का अंश होने के कारण इसका उपनिषदों में विशेष महत्त्व है। यह उपनिषद् कलेवर की दृष्टि से लघुकाय है। केवल १८ मंत्र हैं। इस उपनिषद् में निर्गुण एवं सगुण ब्रह्म की महत्ता एवं उसके स्वरूप का वर्णन बड़ी विशदता से हुआ है। इस उपनिषद् का प्रथम मंत्र ही भारत की त्यागमूलक संस्कृति का मूलाधार है। यहाँ कहा गया है कि संसार के सभी पदार्थ उससे आवासित हैं, अतः त्यागपूर्वक ही विषयों का उपभोग करना चाहिये। इस प्रकार आचरण करने से मनुष्य को कर्म लिप्त नहीं होते। गीता में इसी मंत्र की आत्मा का विकास हुआ है। ६ठे, ७वें मंत्र में साम्यावस्था पर आधारित अद्वैतानुभूति का वर्णन है जिसका प्रभाव गीता के षष्ठ अध्याय के २९, ३०वें श्लोक में दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ज्ञान और कर्म दोनों के समान महत्त्व तथा समन्वय को स्वीकार किया गया है। संभूति-असंभूति का विचार भी यहाँ विद्यमान है।

२. **केनोपनिषद्**—इसके आरम्भिक पद 'केनेपितं पतति' के आधार पर इसका नामकरण हुआ है। तबलकार शाखा से सम्बद्ध होने के कारण इसका नाम 'तबलकारोपनिषद्' भी है। इसमें चार खण्ड हैं और मंत्र-संख्या ३४ है। प्रथम दो खण्ड पद्य में और अंतिम दो गद्य में हैं। प्रथम खण्ड में उपास्य सगुण ब्रह्म का अज्ञेय निर्गुण ब्रह्म से पार्थक्य व्यक्त करते हुए उसके स्वरूप को सांकेतिक ढंग से समझाने की चेष्टा की है। उस ब्रह्म के बारे में कहा है कि—उसे आँखें नहीं देख सकतीं, न वाणी, मन उस तक पहुँच सकता है, वह अज्ञेय है, हम नहीं समझ सकते कि तत्सम्बन्धी उपदेश हमें दे सकता है।[3] वह सभी इन्द्रियों का कारण है अतः सब से परे है। वह अनिर्वचनीय है। अन्तिम दो खण्डों में उमा हेमवती और इन्द्र का बड़ा ही रोचक आख्यान है जिसके द्वारा ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा देवताओं की अल्प शक्तिमत्ता पर प्रकाश डाला गया है।

---

१. ड्यूसन : फिलासफी ऑफ दी उपनिषद्ज़, पृ० ३९।
२. यहाँ जो विवरण दिया जा रहा है वह ड्यूसन के वर्गीकरण के आधार पर न दिया जाकर गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित उपनिषदांक में दिए क्रम के आधार पर ही दिया जा रहा है।
३. केन उपनिषद् १, १, ३

३. **कठोपनिषद्**—कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के इस उपनिषद् में दो अध्याय हैं और प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियाँ हैं, कुल ११९ मंत्र हैं। यम-नचिकेतस् का प्रसिद्ध आख्यान इसी उपनिषद् के आरम्भ में ही भौतिक-पदार्थों की असत्यता एवं क्षणभंगुरता-सम्बन्धी विचार आये हैं (कठ० १,२६)। आगे चल कर यमराज ने श्रेय और प्रेय दो मार्गों का उल्लेख करके भौतिक अभ्युदय (प्रेय) की अपेक्षा आध्यात्मिक निःश्रेयस (श्रेय) को श्रेष्ठ बताया है। विवेकी पुरुष इसी मार्ग का अवलम्बन लेते हैं। इसमें आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन विस्तार से हुआ है। आत्मा समस्त भूतों में व्याप्त होकर भी किस तरह निर्विकार रहता है इसका सुन्दर निदर्शन प्रकाश और वायु के दृष्टान्तों से प्रकट किया गया है। जिस तरह वायु सर्वत्र व्याप्त होकर प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध रहता है और जिस तरह सूर्य सर्वत्र व्याप्त हो इतर चक्षुओं के दोषों से मुक्त रहता है, उसी तरह आत्मा सर्वत्र ओत-प्रोत होने पर भी वाह्य दोषों से अस्पृष्ट हो सदा निर्विकार रहता है (५,९,११)। अंतिम वल्ली में योग को परम निःश्रेयस का साधन बताया है।

४. **प्रश्नोपनिषद्**—अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखीय ब्राह्मण-भाग में आए इस उपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि ने सुकेशा आदि छः ऋषियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दिया है, इसी से इसका नाम प्रश्नोपनिषद् पड़ गया। इसमें ६५ मंत्र हैं। सर्वप्रथम कबन्धी कात्यायन ने ऋषि से प्रजा की उत्पत्ति के मूल कारण को जानने के लिए प्रश्न किया। उत्तर में ऋषि ने कहा कि प्रजापति ने प्रारम्भ में 'रीय' और 'प्राण' को मिथुन रूप में उत्पन्न किया, तदनन्तर समस्त भूत-सृष्टि इसी मिथुन द्वारा हुई। द्वितीय प्रश्न में भार्गव ने ऋषि से तीन बातें पूछीं—(१) प्राणियों के शरीरों को धारण करने वाले देवताओं की संख्या, (२) इनको प्रकाशित करने वाले देवता तथा (३) इनमें कौन सर्वश्रेष्ठ देव है ? ऋषि ने उत्तर में कहा—'आकाश सब का आधार है, इसीसे आविर्भूत वायु आदि चार देवता शरीर के धारक हैं तथा दशेन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण-चतुष्टय—ये १४ देवता इसके प्रकाशक कहे गए हैं। इन सबमें प्राण सर्वश्रेष्ठ है। तृतीय प्रश्न में इसी प्राण के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर किये गये हैं। चतुर्थ प्रश्न में ऋषि ने बताया कि शरीर की समस्त क्रियाएँ जीवात्मा के द्वारा ही होती हैं और यह जीवात्मा अविनाशी ब्रह्म में प्रतिष्ठित है (४,९)। पंचम प्रश्न ओ३म् की महिमा से सम्बद्ध है और षष्ठ प्रश्न में षोडश कला सम्पन्न पुरुष के विषय में जिज्ञासा की गई है। ऋषि ने जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा कि 'जिस षोडशकला-सम्पन्न पुरुष के सम्बन्ध में प्रश्न कर रहे हो वह तो स्वयं इस शरीर के अन्दर विद्यमान है, उसे अन्यत्र खोजने की आवश्यकता ही नहीं।' (६,२)

५. **मुंडकोपनिषद्**--इसमें तीन मुण्डक और प्रत्येक में दो-दो खण्ड हैं। कुल ६४ मंत्र हैं। इस उपनिषद् में ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्म-विद्या का उपदेश देते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि यज्ञ, अनुष्ठान, इष्टापूर्त, कर्मकाण्ड की अपेक्षा ब्रह्म-ज्ञान श्रेष्ठ है। इस उपनिषद् का प्रतिपाद्य अद्वैत ब्रह्म की प्रतिष्ठापना करना है। सम्पूर्ण

सृष्टि का सृजक वही है और वही प्राणियों की हृदय-गुहा में विद्यमान कहा गया है। जो उसे जान लेता है वह अविद्या-जनित गांठ को खोल डालता है (२,१,१०)।

६. **माण्डूक्योपनिषद्**—यह स्वल्पकाय होते हुए भी विशालकाय है, इसमें केवल १२ वाक्य हैं। इन वाक्यों में चतुष्पाद आत्मा का मार्मिक एवं रहस्यमय विवेचन हुआ है। 'ओ३म्' की व्याख्या यहाँ मिलती है। ओंकार में तीन मात्राएँ हैं और चौथा अंश अमात्र होता है। चैतन्य की तदनुरूप चार अवस्थायें होती हैं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय। चतुर्थ दशा अव्यवहार्य एवं अनिर्वचनीय है। इन्हीं का आधिपत्य धारण करने वाली आत्मा चार प्रकार की है। जागृत में वैश्वानर, स्वप्न में तैजस्, सुषुप्ति में प्राज्ञ और तुरीय में शिव। 'शिव' चैतन्य आत्मा का विशुद्ध रूप है।

७. **तैत्तिरीयोपनिषद्**—इसमें शिक्षा, ब्रह्मानन्द और भृगु ये तीन वल्लियाँ हैं, कुल ३१ अनुवाक हैं। शिक्षा-वल्ली में अध्यात्म-सम्बन्धी विषयों के अतिरिक्त ब्रह्मचारी तथा सर्व-सामान्य के लिए अच्छा जीवन व्यतीत करने हेतु प्रतिदिन पालन करने योग्य सदाचार-सम्बन्धी उपयोगी शिक्षाओं का कथन है। यथा—सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायन्माप्रमदः (१,११)। ब्रह्मानन्द वल्ली में आनन्द की विभिन्न श्रेणियों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण वर्णन है। सभी प्रकार के लौकिक आनन्दों की अपेक्षा 'ब्रह्मानन्द' सर्वश्रेष्ठ कहा गया है जिसके स्वरूप और प्राप्ति के उपायों का वर्णन उपनिषदों में सर्वत्र विद्यमान है। भृगु-वल्ली में वरुण ने अपने पुत्र भृगु को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया है। पंच कोशों की कल्पना भी इसी उपनिषद में आई है।

८. **ऐतरेयोपनिषद्**—इस उपनिषद् में तीन अध्याय, प्रथम अध्याय में तीन खण्ड तथा द्वितीय और तृतीय अध्याय में एक-एक खण्ड है। कुल ३३ मंत्र हैं। इस उपनिषद् में सृष्टि-तत्व का मार्मिक विवेचन हुआ है। पुरुष के लिए शरीर की उपयोगिता, पुरुष सर्वदेवमय है इसका विचार, गुरु का स्थान, प्रज्ञान की महिमा, इस उपनिषद् के प्रमुख विषय हैं। जिन्हें उपनिषदों का आदर्शवाद कहा जा सकता है।

९. **श्वेताश्वतरोपनिषद्**—यह उपनिषद् विषय एवं परिमाण की दृष्टि से कठोपनिषद् जैसा ही प्रतीत होता है। इसमें छः अध्याय और ११३ मंत्र हैं। मुख्य प्रतिपाद्य की दृष्टि से यह उपनिषद् पूर्ण रूप से वेदान्त के अनुरूप है।[1] तथापि योग-शास्त्र के विकसित सिद्धान्तों के प्रतिपादन के कारण, परम सत्ता को सविता, ईशान और रुद्र रूप में व्यक्त करने के कारण, सांख्य दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख होने तथा अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होने के कारण[2] मैक्डानल इस उपनिषद् को अर्वाचीन ठहराने का प्रयत्न करते हैं। साथ ही इस रचना को किसी सम्प्रदाय विशेष से जोड़ने का भी प्रयत्न करते हैं। पर मैक्समूलर ने इस उपनिषद् की प्राचीनता को 'सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट उपनिषद्ज, भाग दो' में भली-भाँति सिद्ध कर दिया

---

१. मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१८
२. वही. पृष्ठ २१७-१८।

है। अतः यह उपनिषद् न तो किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध है और न वेदान्त-दर्शन अथवा सांख्य से बाद की रचना है।

यजुर्वेद में ऋग्वेद के 'रुद्र' के स्थान पर पर्याय रूप में 'शिव' 'ईशान', और 'महादेव' का नामोल्लेख मिलता है जिनसे 'शिव' की बढ़ती हुई महत्ता प्रमाणित होती है। शिव का उल्लेख यजुः १६वें अध्याय, और ईशान वा महादेव शब्दों का उल्लेख ३९वें अध्याय में हुआ है। अतः शिव, ईशान आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर इस उपनिषद् को अर्वाचीन नहीं कहा जा सकता। सांख्य दर्शन में जो प्रकृति-पुरुष आदि पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं वे कृष्ण यजुर्वेद के लगभग सभी उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। पर सांख्य प्रकृति-पुरुष की द्वैतता स्वीकार करता है जब कि इस उपनिषद् में प्रकृति पुरुष के अधीन कही गई है (१,३,) जो साँख्य के नितान्त विरुद्ध है। अतः उपनिषद् निश्चय ही सांख्य और वेदान्त के पूर्व की रचना है। कपिल[1] शब्द के प्रयोग से उसका सम्बन्ध सांख्य के सूत्रकार कपिल मुनि से भी नहीं लिया जा सकता, सम्पूर्ण प्रकरण के प्रकाश में यह शब्द हिरण्यगर्भ के लिए प्रयुक्त हुआ है जो सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुआ, जो कपिल वर्ण का था। अतः यह उपनिषद् किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक भावना से रहित है।

१०. **छान्दोग्योपनिषद्**—इसमें ८ अध्याय हैं जिनमें ६३३ मंत्र हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् को छोड़कर यह अन्य सभी उपनिषदों में सबसे बड़ा है। इस उपनिषद् के प्रथम दो अध्यायों में साम का रहस्यपूर्ण अर्थ प्रकाशित हुआ है। द्वितीय अध्याय के अन्त में धार्मिक जीवन की तीन अवस्थाओं—ब्रह्मचारी, गृहस्थ और यति तथा यति धर्म के अन्तिम स्वरूप—सन्यास का विवेचन है। तृतीय अध्याय में वैश्वानर ब्रह्म का प्रतिपादन है। आगे चलकर असीम ब्रह्म को पूर्ण एवं अविभक्त रूप में पुरुष के हृदय पुण्डरीक में निवास करते हुए बताया गया है तथा जीवात्मा-परमात्मा के मौलिक ऐक्य का सिद्धान्त प्रकट किया है। चतुर्थ अध्याय में देही मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म की प्राप्ति किस प्रकार कर सकता है इसका उपदेश है। पांचवें अध्याय में पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण उल्लिखित हैं। छठे अध्याय में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को सत् रूप परमात्मा से त्रिविध—आण्डज, जीवज, उद्भिज-जगत् की सृष्टि का वर्णन करते हैं। इसी अध्याय में विभिन्न दृष्टान्तों द्वारा महर्षि ने अपने पुत्र को आत्मा-परमात्मा की एकता का (तत्त्वमसि) का बड़े सुन्दर रूप में प्रतिपादन किया है। सप्तम अध्याय में ब्रह्म के उन रूपों का विवरण है जिनमें उनकी अर्चा की जा सकती है। वे रूप 'नामन' से लेकर 'भूमन' तक क्रमशः उत्तरोत्तर महत्त्व के हैं, ब्रह्म का यह अंतिम 'भूमन्' रूप ही सब कुछ है। अन्तिम अध्याय में सत्य-रूप आत्मा का वर्णन उसकी

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ५,२।

हृदय में उपस्थिति, आत्मा तथा ब्रह्मचर्य की महत्ता का रोचक वर्णन यहाँ किया गया है। इसी अध्याय में प्रजापति इन्द्र को जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के दृष्टान्त से आत्मा के स्वरूप का कथन करते हैं तथा यह भी बताते हैं कि उसके सच्चे स्वरूप का भान तृतीय सुषुप्ति अवस्था में ही होता है जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के बीच का अन्तर लुप्त हो जाता है।

वस्तुत: यह उपनिषद् प्राचीनता, विषय के प्रतिपादन और कलेवर की दृष्टि से बृहदारण्यकोपनिषद् के समान ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो सारा का सरा ही गद्य में लिखा मिलता है।

**११. बृहदारण्यकोपनिषद्**—यह उपनिषदों में सबसे बड़ा है तथा छान्दोग्य को छोड़कर सबसे अधिक महत्त्व का भी कहा जा सकता है। इसमें छ: अध्याय हैं और मंत्र-संख्या ४४३ है।

प्रथम अध्याय से अश्वमेध याग की रहस्यात्मकता का विवेचन करते हुए उसे विश्व-रूप कहा है तथा प्राण को आत्मा का प्रतीक कह कर आत्मा से जगत्सृष्टि का उल्लेख हुआ है तथा समस्त प्राणियों का आधार यही परमात्मा कहा गया जो प्रति शरीर जीवात्मा के रूप में दीख पड़ता है (१,४,१०)। द्वितीय अध्याय में आत्म-स्वरूप तथा आत्मा के दो रूपों—पुरुष और प्राण—के सम्बन्ध में विवरण है। इसी अध्याय में अजातशत्रु गार्ग्य को आत्मा का स्वरूप समझाते हैं (२,१,२०)। इसी अध्याय में ब्रह्म के दो रूपों का वर्णन करते हुए उसके निरपेक्ष स्वरूप को 'नेति-नेति' द्वारा निर्दिष्ट किया है। 'नेति-नेति' से बढ़कर और कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है (२,३,६)। तृतीय अध्याय के वक्ता याज्ञवल्क्य हैं। प्रथम ब्राह्मण से नवम ब्राह्मण तक एक विस्तृत विवाद है जिसमें महर्षि क्रमश: वादियों पर अपनी विजय प्रमाणित करते हैं। इस विवाद का सबसे रोचक निर्णय यह है कि ब्रह्म सिद्धान्त: यद्यपि अज्ञेय है तथापि उसका ज्ञान साध्य है (३,७,२३)। जो कोई भी इस अक्षर को जाने बिना इस लोक में मर जाता है, वह दीन है (३,८,१०)। चतुर्थ अध्याय में याज्ञवाल्क्य और जनक के बीच संवाद है जिसमें अन्य ऋषियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में दी हुई 'प्राण अथवा मन ही ब्रह्म है', जैसी छ: परिभाषाओं का खण्डन करते हैं। अन्त में महर्षि आत्म-निरूपण करते हुए कहते हैं कि वह 'अगोचर, अविनाशी, सर्वेश्वर तथा अचल' है। इसी अध्याय के तृतीय और चतुर्थ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य जीव की ६ दशाओं के विषय में विस्तार से प्रकाश डालते हैं। ये अवस्थाएँ हैं जागृत स्वप्न, सुषुप्ति, मृत्यु, पुनर्जन्म और मोक्ष। आचार्य मैक्डानल इस प्रकरण की विशिष्टता पर विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'भाव-सौन्दर्य, विचारों की उदात्तता-तर्कबल तथा सुन्दर निदर्शन के बाहुल्य के नाते यह संवाद न केवल उपनिषदों में ही वरन् अखिल भारतीय साहित्य में अप्रतिम है।'[*] अमुक्त जीवात्मा के मृत्यु के उपरान्त

* मैक्डानल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१६।

का वर्णन करते हुए ऋषि ने कहा है कि 'जिस प्रकार जोंक एक तृण के अन्त में पहुँचकर, दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़ कर, अपने को सकोड़ लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा शरीर को मार कर अविद्या को प्राप्त कराकर दूसरे आधार का आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेता है (४,४,३)। जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते। वह ब्रह्म में लीन हो जाता है, जिस प्रकार सर्प की केंचुली बाँबी के ऊपर मृत और सर्प द्वारा परित्याग की हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है और यह अशरीर, अमृत प्राण तो ब्रह्म है ही, तेज है ही (४,४,७)। पाँचवें अध्याय में गायत्री की उपासना है और छठे में प्राण की सर्वश्रेष्ठता का वर्णन है।

आत्मवाद के प्रतिष्ठापक इन उपनिषदों के आधार पर बादरायण ने सूत्रों का निर्माण किया। ये सूत्र ब्रह्मसूत्र कहलाए। इनमें उपनिषदों का सार-तत्व निहित है ७वीं शती में शंकराचार्य ने श्रुतियों से उद्धरण देते हुए इन ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या की तथा अद्वैत-वेदान्त दशन की स्थापना की। उन्होंने ब्रह्म, जीव और जगत् तथा जन्म, मृत्यु और मोक्ष आदि दार्शनिक तथ्यों का विवेचन तो उपनिषदों के आधार पर ही किया, परन्तु ब्रह्म और जगत् के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जिस 'माया-वाद' का प्रतिपादन किया वह उपनिषदों की भावनाओं से मेल नहीं खाता; क्योंकि उपनिषदों ने जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहीं भी नहीं कहा है।

इन्हीं सूत्रों के आधार पर वैष्णवाचार्य रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मत का प्रति-पादन किया। वल्लभाचार्य ने 'शुद्धाद्वैत' का प्रतिपादन किया, इसी प्रकार निम्बार्क ने द्वैताद्वैत का और मध्वाचार्य ने द्वैतवाद का। यह समस्त साहित्य उपनिषदों का उपजीव्य साहित्य है।

उपनिषदों के 'आत्मवाद' की प्रतिष्ठा शैवदर्शन, विशेषत: काश्मीरीय प्रत्य-भिज्ञा-दर्शन में हुई। इस दर्शन के प्रधान ग्रन्थ सिद्ध सोमनाथकृत 'शिवदृष्टि', उत्पल कृत 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा और उसकी वृत्ति', अभिनव गुप्तकृत 'प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी', 'प्रत्यभिज्ञा वृत्ति विमर्शिनी', 'तन्त्रालोक', 'तंत्रसार', 'शिवदृष्ट्यालोचन', 'परमार्थ-सार' प्रमुख हैं। इन ग्रंथों में अद्वैत-मूलक शैवमत के दार्शनिक सिद्धान्तों और उपासना-पद्धतियों का पूर्ण विवेचन हुआ। इसमें वर्णित मौलिक सिद्धान्त उपनिषदों के ही हैं अत: उपनिषदों और इन आगम ग्रंथों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

उपनिषदों में वर्णित सिद्धान्तों की आधुनिक युग के परिवेश में स्वामी श्री विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ द्वारा व्याख्या की गई।

श्री अरविन्द ने भी एक अन्य प्रकार से वेद तथा उपनिषदों के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। जो उसके 'दी सीक्रेट आफ वेदाज' तथा 'दी लाइफ डिवाइन' नामक ग्रंथ में वर्णित है।

□□□

तृतीय अध्याय

# वैदिक दर्शन का स्वरूप

## दर्शन का उपयोग और उसका अर्थ

वैदिक-दर्शन पर कुछ कहने से पूर्व 'दर्शन' क्या है इस पर थोड़ी-सी चर्चा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रत्येक व्यक्ति विवेक-प्रधान जीव होने कारण इस संसार-रूप कर्म-क्षेत्र में अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जीवन में पग-पग पर आने वाली परिस्थितियों से मुकाबला करते समय, विभिन्न समस्याओं को सुलझाते समय और नाना संघर्षों से सामना करने के अवसर पर किसी-न-किसी रूप में अपनी विचार-शक्ति का प्रयोग करता है, भले ही उसे इस बात का ध्यान हो अथवा न हो। ये विचार उसकी जीवन और जगत्-सम्बन्धी कतिपय आस्थाओं और कल्पनाओं पर आधारित होते हैं जो उसके समस्त कार्य-विधानों के पीछे प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से अनुस्यूत रहते हैं। इस प्रकार ये विचार उसका अपना दर्शन होते हैं। यही तथ्य व्यापक स्तर पर किसी जाति के जीवन पर भी घटित होता है। किसी भी जाति के क्रियाकलापों एवं अनुष्ठान-पद्धति के पीछे कतिपय मान्यताएँ और धारणाएँ हुआ करती हैं जो उसके जीवन को परिचालित और नियन्त्रित किए रखती हैं। ये धारणाएँ उस जाति को अपने जातीय तत्त्व-चिंतन और दर्शन से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि दर्शन अर्थात् कार्य करने की एक विशिष्ट विचार-प्रणाली व्यक्ति और जातीय जीवन के साथ प्राय: जुड़ी रहती है जिसे उस जाति के जीवन से अलग कर सकना संभव नहीं होता।

प्रश्न उठता है कि यह दर्शन क्या है ? 'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु से भाव अर्थ में ल्युट् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है जिसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'—अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए[1] वह दर्शन है। यहाँ यह पूछा

---

१. The term 'darshan' come from the word drs to see. This seeing may be either perceptual observation or conceptual knowledge or intutional experiences. It may be inspection of facts, logical enquiry or insight of soul. S. R. K: Ind. Phy. P. 43.

जा सकता है कि किसे देखा जाये?—के उत्तर में हम कह सकते हैं कि जिसे हमें देखना है वह है 'वस्तु का सत्यभूत मौलिक स्वरूप।' अर्थात् यह जगत् क्या है ? यह आत्यन्तिक सत्य है या सापेक्ष ? इसका कारण कौन है ? वह कैसा है ? उसका जगत् से क्या सम्बन्ध है ? जीवन क्या है ? हम कौन हैं ? यहाँ क्यों आए हैं ? हमारे कर्त्तव्य क्या हैं ? मृत्यु क्यों होती है ? जन्म क्यों होता है ? आदि आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका समुचित उत्तर देना दर्शन-शास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। श्रौत और परवर्ती भारतीय-दर्शनशास्त्रों ने इन मौलिक प्रश्नों पर अपनी-अपनी दृष्टि से प्रकाश डालने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। भारतेतर विवेकशील जातियों में भी इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन हुआ है। भारत में इन गम्भीर विषयों पर चिन्तन उस सुदूर अतीत काल में हुआ जिसका इतिहास केवल अनुमान पर ही आधारित है और जब कि भारतेतर समस्त विश्व-चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में अभी घुटनों के बल चलना भी नहीं सीखा था। प्राचीन यूरोप (ग्रीक देश) में तत्त्व-ज्ञान अथवा दर्शन के लिए 'फिलासफी' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है, विद्या का अनुराग, विद्या-प्रेम (फिलास=प्रेम, सोफिया=विद्या)[1] भारतीय 'दर्शन' और पाश्चात्य 'फिलासफी' इन दोनों के लक्ष्य में पर्याप्त अन्तर है। भारतीय दर्शन जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता (दुःख का आत्यन्तिक अभाव और शाश्वत सुख की अनुभूति) में से उत्पन्न हुआ है, और पाश्चात्य फिलासफी मानसिक व्यायाम की उपज है, कल्पना की उड़ान है। प्रारम्भ में, पश्चिम में, तत्त्व-चिन्तन, अध्ययन का स्वतन्त्र विषय ही नहीं था, वहाँ तो राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्र के साथ-साथ ही विचार-शास्त्र पर भी चिन्तन हुआ है, जिसका जीवन के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध भी नहीं था।

भारत में तत्त्व-विचार एक बहुत प्राचीन काल से स्वतन्त्र चिन्तन और मनन का विषय रहा है, इसका एक प्रमुख कारण भारत की वसुन्धरा का प्राकृतिक स्रोतों की दृष्टि से समृद्ध और सम्पन्न होना भी था। उदरपूर्ति के लिए यहाँ के निवासियों को पश्चिम की भाँति प्रकृति से अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ा था, फलतः उनके पास जीवन और जगत्-सम्बन्धी गम्भीर विषयों पर चिन्तन करने के लिए पर्याप्त अवकाश था, उसका भारतीय-ऋषियों ने पर्याप्त सदुपयोग किया। अपने तपःपूत अन्तःकरण में उन्होंने जगत और जीवन-सम्बन्धी, आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी जिन मौलिक सत्यों का साक्षात्कार किया वे आज भी दार्शनिक जगत् की उतनी ही महान् उपलब्धियाँ हैं जितनी कि प्राचीन काल में समझी जाती रही हैं।

प्राचीन यूनान (ई० पू० ३री और ४थी शती) में यद्यपि सुकरात, प्लेटो और अरस्तु जैसे महान् विचारक हुए हैं और उनके विचारों ने पश्चिम के दर्शन, साहित्य, कला और राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव भी डाला है तदपि भारतीय

१. बल्देव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ ६११।

ऋषियों की ऊर्ध्वगामिनी मेधा का स्पर्श भी वे नहीं कर सके। आध्यात्मिक समुद्र की अतल-स्पर्शी गहराइयों में डूब कर जो मुक्ता भारतीय ऋषि निकालकर ला सके वे अन्यों के हाथ आज तक भी नहीं लग पाये, यह एक ऐतिहासिक सत्य है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। भारत को इस क्षेत्र में जो श्रेय प्राप्त हुआ है वह आज भी अखण्डित है।

भारतीय श्रौत-दर्शन और पश्चिम की फ़िलासफी के स्वरूप और क्षेत्र में भी मौलिक अन्तर है। पश्चिम में फिलासफी तो विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधन-मात्र थी, पर भारत में वैदिक और अन्य भारतीय दर्शनों का यहाँ के धर्म और जीवन से प्राचीन काल से ही गहरा सम्बन्ध रहा है। भारत की जनता मूल रूप से धार्मिक है, धर्म ही उसके जीवन का प्राण रहा है, वह ही उसे सभी उत्थान और पतन की विषम-सम परिस्थितियों में प्रेरणा-प्रदान करता रहा है और भारतीय धर्म-दर्शन द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक मान्यताओं पर आधारित है। यहाँ का जैसा विचार रहा है वैसा ही आधार भी। कथनी और करनी में कभी कोई चौड़ी खाई यहाँ उत्पन्न नहीं हो सकी, यह भारतीय जीवन की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता रही है। अतः दर्शन और धर्म तथा धर्म और जीवन में जितना सामंजस्य भारत में देखने को मिलता है उतना किसी अन्य देश में देखने को नहीं मिलता।[१]

पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए डा० राधाकृष्णन ने अन्यत्र कहा है कि "पश्चिमी विश्व-विद्यालयों में दर्शन की जितनी प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनमें सर्वाधिक लोकप्रिय-प्रणाली है 'लोजिकल पाजिटिविज़्म'...इसमें सिद्धान्ततः मान लिया गया है कि अनुभव केवल ऐन्द्रिकता और बौद्धिकता पर आधारित है। इसके विपरीत उपनिषद् में कहा गया है कि मानव की आत्मा की सीमा जागरितावस्था के अनुभवों तक ही नहीं है, क्योंकि ये अनुभव इन्द्रिया-ग्राह्य तथ्यों तथा उनसे प्राप्त परिणामों पर निर्भर हैं। अनुभव अवर्णनीय भी होते हैं और शब्दों तथा विचारों द्वारा उन्हें दूसरों तक नहीं पहुँचाया जा सकता। मानव में ऐसी क्षमताएँ हैं जिनका पता उन्हें स्वयं नहीं है।"[२] स्पष्ट है कि पश्चिमी दर्शन अपने अनुभवों को ऐन्द्रिक और बौद्धिक सीमा तक ही सीमित रखने के कारण मानव

---

१. "In India religion is hardly a dogma, but a working hypothesis of human conduct, adopted to difficnlt stages of spiritual development and difficult condition of life" Havell (Q. F. P. 26 S. R. K. Indian Philosophy) It is intimate relation between the truths of philosophy and the daily life of people that make religion always alive and real. (S. R. K. Indian philosophy, p. 26).

२. पूर्व और पश्चिम, पृ० २४।

जा सकता है कि किसे देखा जाये?—के उत्तर में हम कह सकते हैं कि जिसे हमें देखना है वह है 'वस्तु का सत्यभूत मौलिक स्वरूप।' अर्थात् यह जगत् क्या है ? यह आत्यन्तिक सत्य है या सापेक्ष ? इसका कारण कौन है ? वह कैसा है ? उसका जगत् से क्या सम्बन्ध है ? जीवन क्या है ? हम कौन हैं ? यहाँ क्यों आए हैं ? हमारे कर्त्तव्य क्या हैं ? मृत्यु क्यों होती है ? जन्म क्यों होता है ? आदि आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनका समुचित उत्तर देना दर्शन-शास्त्र का प्रधान लक्ष्य है । श्रौत और परवर्ती भारतीय-दर्शनशास्त्रों ने इन मौलिक प्रश्नों पर अपनी-अपनी दृष्टि से प्रकाश डालने का स्तुत्य प्रयत्न किया है । भारतेतर विवेकशील जातियों में भी इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन हुआ है । भारत में इन गम्भीर विषयों पर चिन्तन उस सुदूर अतीत काल में हुआ जिसका इतिहास केवल अनुमान पर ही आधारित है और जब कि भारतेतर समस्त विश्व-चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में अभी घुटनों के वल चलना भी नहीं सीखा था। प्राचीन यूरोप (ग्रीक देश) में तत्त्व-ज्ञान अथवा दर्शन के लिए 'फिलासफी' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है, विद्या का अनुराग, विद्या-प्रेम (फिलास=प्रेम, सोफिया=विद्या)[१] भारतीय 'दर्शन' और पाश्चात्य 'फिलासफी' इन दोनों के लक्ष्य में पर्याप्त अन्तर है । भारतीय दर्शन जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता (दुःख का आत्यन्तिक अभाव और शाश्वत सुख की अनुभूति) में से उत्पन्न हुआ है, और पाश्चात्य फिलासफी मानसिक व्यायाम की उपज है, कल्पना की उड़ान है । प्रारम्भ में, पश्चिम में, तत्त्व-चिन्तन, अध्ययन का स्वतन्त्र विषय ही नहीं था, वहाँ तो राजनीति-शास्त्र और आचार-शास्त्र के साथ-साथ ही विचार-शास्त्र पर भी चिन्तन हुआ है, जिसका जीवन के साथ कोई घनिष्ठ सम्बन्ध भी नहीं था ।

भारत में तत्त्व-विचार एक बहुत प्राचीन काल से स्वतन्त्र चिन्तन और मनन का विषय रहा है, इसका एक प्रमुख कारण भारत की वसुन्धरा का प्राकृतिक स्रोतों की दृष्टि से समृद्ध और सम्पन्न होना भी था । उदरपूर्ति के लिए यहाँ के निवासियों को पश्चिम की भाँति प्रकृति से अधिक संघर्ष नहीं करना पड़ा था, फलतः उनके पास जीवन और जगत्-सम्बन्धी गम्भीर विषयों पर चिन्तन करने के लिए पर्याप्त अवकाश था, उसका भारतीय-ऋषियों ने पर्याप्त सदुपयोग किया । अपने तपःपूत अन्तःकरण में उन्होंने जगत और जीवन-सम्बन्धी, आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी जिन मौलिक सत्यों का साक्षात्कार किया वे आज भी दार्शनिक जगत् की उतनी ही महान् उपलब्धियाँ हैं जितनी कि प्राचीन काल में समझी जाती रही हैं ।

प्राचीन यूनान (ई० पू० ३री और ४थी शती) में यद्यपि सुकरात, प्लेटो और अरस्तु जैसे महान् विचारक हुए हैं और उनके विचारों ने पश्चिम के दर्शन, साहित्य, कला और राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव भी डाला है तदपि भारतीय

---

१. बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृष्ठ ६११ ।

ऋषियों की ऊर्ध्वगामिनी मेधा का स्पर्श भी वे नहीं कर सके। आध्यात्मिक समुद्र की अतल-स्पर्शी गहराइयों में डूब कर जो मुक्ता भारतीय ऋषि निकालकर ला सके वे अन्यों के हाथ आज तक भी नहीं लग पाये, यह एक ऐतिहासिक सत्य है जिसे भुलाया नहीं जा सकता। भारत को इस क्षेत्र में जो श्रेय प्राप्त हुआ है वह आज भी अखण्डित है।

भारतीय श्रौत-दर्शन और पश्चिम की फ़िलासफी के स्वरूप और क्षेत्र में भी मौलिक अन्तर है। पश्चिम में फिलासफी तो विद्वज्जनों के मनोविनोद का साधन-मात्र थी, पर भारत में वैदिक और अन्य भारतीय दर्शनों का यहाँ के धर्म और जीवन से प्राचीन काल से ही गहरा सम्बन्ध रहा है। भारत की जनता मूल रूप से धार्मिक है, धर्म ही उसके जीवन का प्राण रहा है, वह ही उसे सभी उत्थान और पतन की विषम-सम परिस्थितियों में प्रेरणा-प्रदान करता रहा है और भारतीय धर्म-दर्शन द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक मान्यताओं पर आधारित है। यहाँ का जैसा विचार रहा है वैसा ही आधार भी। कथनी और करनी में कभी कोई चौड़ी खाई यहाँ उत्पन्न नहीं हो सकी, यह भारतीय जीवन की एक महत्त्वपूर्ण विशिष्टता रही है। अतः दर्शन और धर्म तथा धर्म और जीवन में जितना सामंजस्य भारत में देखने को मिलता है उतना किसी अन्य देश में देखने को नहीं मिलता।[१]

पूर्व और पश्चिम की दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए डा० राधाकृष्णन ने अन्यत्र कहा है कि "पश्चिमी विश्व-विद्यालयों में दर्शन की जितनी प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनमें सर्वाधिक लोकप्रिय-प्रणाली है 'लोजिकल पाजिटिविज़्म' ...इसमें सिद्धान्ततः मान लिया गया है कि अनुभव केवल ऐन्द्रिकता और बौद्धिकता पर आधारित है। इसके विपरीत उपनिषद् में कहा गया है कि मानव की आत्मा की सीमा जागरितावस्था के अनुभवों तक ही नहीं है, क्योंकि ये अनुभव इन्द्रिया-ग्राह्य तथ्यों तथा उनसे प्राप्त परिणामों पर निर्भर हैं। अनुभव अवर्णनीय भी होते हैं और शब्दों तथा विचारों द्वारा उन्हें दूसरों तक नहीं पहुँचाया जा सकता। मानव में ऐसी क्षमताएँ हैं जिनका पता उन्हें स्वयं नहीं है।"[२] स्पष्ट है कि पश्चिमी दर्शन अपने अनुभवों को ऐन्द्रिक और बौद्धिक सीमा तक ही सीमित रखने के कारण मानव

---

१. "In India religion is hardly a dogma, but a working hypothesis of human conduct, adopted to difficnlt stages of spiritual development and difficult condition of life" Havell (Q. F. P. 26 S. R. K. Indian Philosophy) It is intimate relation between the truths of philosophy and the daily life of people that make religion always alive and real. (S. R. K. Indian philosophy, p. 26).

२. पूर्व और पश्चिम, पृ० २४।

के आन्तरिक मनोराज्य की गहनता को नापते समय काफी ऊपर रह गये, जबकि उपनिषदों में उसकी गहराई के अतल को स्पर्श करने का सफल प्रयत्न हुआ है। उपनिषदों में जिन सत्यों का प्रतिपादन किया गया है वे तर्क पर आधारित नहीं हैं प्रत्युत् अनुभवगम्य हैं। वहाँ स्पष्ट कहा गया है—'नैषा तर्केणमतिरापनीया'[1] आध्यात्मिक तथ्यों की उपलब्धि में तर्क बहुत कम सहयोग दे पाता है—'नायमात्मा-प्रवचनेन लभ्यः।' ये सत्य तो ब्रह्मचर्य और तपस्या द्वारा शुद्ध, सबल और पवित्र अन्तःकरण वाली आत्माओं में प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार भारत में प्रारम्भ से ही दर्शन के साथ आचरण का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया।

पश्चिम में आधुनिक युग के सर्वेश्वरवादी 'स्पिनोजः', विश्वातीतवादी 'काण्ट' और बुद्धिवादी 'हीगल' ने यद्यपि उन आध्यात्मिक सत्य के शृंगों को स्पर्श करने का प्रयत्न अवश्य किया है, (जिनका उपनिषदों के ऋषियों को निकट से परिचय प्राप्त था) पर तर्क के सहारे चलने के कारण वे भी दूर से उनकी ऊँचाइयों की झाँकी पाकर सहज में पीछे लौट आए हैं, वे उनका आमने-सामने खड़े होकर स्पष्ट साक्षात्कार नहीं कर सके। इस अन्तर को एक वाक्य में इस प्रकार कहा जा सकता है कि पश्चिम में मौलिक सत्य पर किंचित् तार्किक चिन्तन हुआ है और भारतीय ऋषियों ने उसकी प्रज्ञा द्वारा अपरोक्षानुभूति प्राप्त की है। इसीलिए वे आत्मवेत्ता एवं तत्त्व-द्रष्टा कहे जाते हैं।

इन ऋषियों के अनुभवों का आश्रय लेकर भारत में बाद में तर्क पर आश्रित व्यवस्थित आस्तिक दर्शन-शस्त्र का विकास हुआ। यदि बौद्ध और जैन जैसे अनात्मवादी दर्शनों को छोड़ दें तो इनकी संख्या छः है—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमाँसा और उत्तर मीमाँसा (वेदान्त)। इन दर्शनों में विभिन्न दृष्टि-कोणों से सत्य की परीक्षा हुई है, इनमें शांकर-वेदान्त सर्वोपरि है। यह 'मूल रूप' में औपनिषदिक मान्यताओं का ही व्यवस्थित उपोद्घात है। जिसका आदर्श वाक्य है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।' यदि उपनिषदों की भावनाओं के अनुसार इसमें संशोधन करना हो तो हम कहेंगे—'ब्रह्म सत्यं, जगदपि सत्यं जीवो ब्रह्मैव-नापरः। ब्रह्म पूर्ण सत्य है, जगत् भी सत्य है, अपने मौलिक रूप में जीव ब्रह्म ही है। यही उपनिषदों की चरम शिक्षा है। उपनिषद् जीव द्वारा ब्रह्म से तात्त्विक एकता की अनुभूति की प्राप्ति की शिक्षा देते हैं जिसे साध लेने से जीव को सच्चे सुख और आनन्द की उपलब्धि होती है। धर्म की भाषा में इस स्थिति को मोक्ष कहते हैं। यह कोई काल्पनिक विजृम्भण-मात्र नहीं है, अनुभूत सत्य है। इसे साधना होता है, इसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना पड़ता है। साधना की उच्चावस्था में ही यह सत्य उपलब्ध हो पाता है।

प्राचीन काल से लेकर अब तक के भारत के आध्यात्मिक इतिहास में ऐसे

---

१. कठोपनिषद् २, ६।

अनेकों महापुरुष हो गए हैं जिन्होंने इस लक्ष्य की प्राप्ति करके उपनिषदों के सत्यों की प्रामाणिकता को सत्य सिद्ध किया है। इस दिशा में आधुनिक युग के महापुरुष श्री रामकृष्ण परमहंस का नाम उद्धृत किया जा सकता है।

इस प्रकार भारत में दर्शन जीवन को व्यतीत करने की पद्धति-विशेष का निर्देश करते हैं। जीवन से पृथक् उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

प्रस्तुत वैदिक-दर्शन के प्रकरण में प्राचीन वैदिकों ने ब्रह्म, जीव और जगत् आदि से सम्बन्धित जिन सत्यों की उपलब्धि की थी उनकी संक्षेप में चर्चा की गई है, तथा उन सत्यों को अपने जीवन में किस प्रकार चरितार्थ किया जा सकता है उन उपायों—ज्ञान-कर्म-भक्ति आदि का भी उल्लेख किया गया है। जन्म-मृत्यु, जन्मान्तरवाद आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण बातें भी प्रसंगानुकूल आ गई हैं। ये वे विचार हैं, जिन्होंने भारतीय जीवन, साहित्य और कला के क्षेत्र में अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

## वैदिक-दर्शन का स्वरूप

**वैदिक-दर्शन का तात्पर्य और उसकी सीमाएँ**—जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है कि वेद और उपनिषद् भारतीय तत्व-ज्ञान के आदि ग्रन्थ हैं। भारत की समस्त दार्शनिक प्रवृत्तियों का विकास अपने-अपने मतानुसार इन्हीं ग्रन्थों से सामग्री ग्रहण करके हुआ है। ये आस्तिक ग्रन्थ हैं। जैसा प्रारम्भ में ही कह आये हैं कि सामान्यतः दर्शन का अर्थ है किन्हीं विशिष्ट धारणाओं एवं मान्यताओं का व्यवस्थित उपोद्घात अथवा तर्कपरक आलोचनात्मक परीक्षण।[1] परन्तु जहाँ तक वैदिक-वाङ्मय में दार्शनिकता का प्रश्न है उस सम्बन्ध में यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये ग्रन्थ परवर्ती षड्दर्शनों अथवा काण्ट व हीगल के ग्रन्थों की भाँति तर्क पर आधारित व्यवस्थित रूप लिए हुए नहीं हैं। ये ऋषियों की आन्तरिक अनुभूतियों पर आधारित रहस्य-भावना के ग्रन्थ हैं जिनमें वह सब सामग्री विद्यमान है जो दर्शन का विषय बन सकने की क्षमता रखती है। इन ग्रन्थों में ब्रह्म, जीव तथा जगत् जीवन और मृत्यु, कर्म और ज्ञान आदि से सम्बन्धित सभी सामग्री यत्र-तत्र बिखरे रूप में उपलब्ध होती है जो तर्क की अपेक्षा ऋषियों की आन्तरिक अनुभूति का विषय बन कर आई है। इस सम्बन्ध में महेन्द्रनाथ सरकार का यह कथन ठीक ही है—"The Upnisads do not really give us any logical system, but rather intutions and revelations received in the high flights of inspiration...They do more awaken spiritual inspiration than to encourage logical thinking. They are rich and definite in conclusions."[2] जो बात

---

१. Generally 'darshans mean critical exposition, logical surveys or systems. S.R.K. Indian Philosophy, p. 43.

२. M. N. Sarcar : Hindu Mysticism, p. 3.

उपनिषदों के सम्बन्ध में कही गयी है वही वेद पर भी घटित होती है। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्पृक्त है, अतः इस प्रकरण में हम संक्षेप में वैदिक वाङ्मय में अभिव्यक्त उन मान्यताओं एवं धारणाओं का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे जिनका सहज में ही दर्शन से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

वैदिक ऋषि इस चराचर सृष्टि के पीछे किसी अज्ञेय, अव्यक्त, असीम, सत्ता की विद्यमानता को स्वीकार करते हैं। इन ऋषियों ने उस सद्रूप परा-सत्ता का अनेक प्रकार से गुणानुवाद किया है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (१, १६४, ४६)', अनेक नामों से उसकी सत्ता के अस्तित्व में पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं। विश्वासी को ही उसकी उपलब्धि होती है (कठ० ६, १२)। और बुद्धि के धरातल पर भी यह बात समझ में आती है, क्योंकि इस विश्व को 'सृष्टि' कहते हैं। यह शब्द संस्कृत की 'सृज्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है बना हुआ, रचा हुआ। स्पष्ट है कि सृष्टि किसी की रचना है। इसकी विशालता, नियमबद्धता और एकरूपता भी इसके स्रष्टा के, रचयिता के, अस्तित्व की बात को प्रमाणित करते हैं।[1]

**वैदिक-दर्शन का प्रारम्भिक रूप**—वेद के दार्शनिक सूक्तों और उपनिषदों में सृष्टि के स्रष्टा के सम्बन्ध में अनेक मनोहर जिज्ञासाएँ की गई हैं। ऋग्वेद का ऋषि जिज्ञासा करता है कि यह इतनी विशाल सृष्टि कहाँ से आ गई ? किसने रच दी ?[2] वह केवल जिज्ञासामात्र करके ही नहीं रह जाता प्रत्युत स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए इसके अध्यक्ष की कल्पना भी करता है।[3] श्वे० उ० के प्रारम्भ में ही ऋषि ब्रह्म को जानने के लिए उत्सुक है जो जगत का मूल कारण है, जिससे हम सब लोग हुए हैं।[4] और वरुण ने अपने पुत्र भृगु को उसी ब्रह्म को जानने के लिए प्रेरित किया 'जिससे समस्त भूतमात्र उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें प्रवेश करते हैं।'[5] इस प्रकार वेद और उपनिषदों में समान रूप से सृष्टि के मूल कारण परम तत्व को जानने के लिए अनेक सुन्दर जिज्ञासाएँ की गई हैं। ऋषियों को उसके अस्तित्व में प्रारम्भ से ही अडिग आस्था थी, उनकी यह आस्था किंचिदपि खण्डित नहीं हुई। हाँ, उसके स्वरूप से परिचय प्राप्त करने के लिए वे विशेष रूप से उत्सुक रहे हैं।

वैदिक-दर्शन का प्रारम्भ ब्रह्म-सम्बन्धी इन्हीं जिज्ञासाओं से हाता है यद्यपि

---

१. प्रिंग्ले पैटीशन : दी आइडिया आफ गॉड, पृष्ठ १५।

२. को अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आवभूव ॥ ऋग्वेद १०, १२६, ६।

३. ऋग्वेद १०, १२६, ७।

४. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठाता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम् ॥ श्वे० उ० १, १।

५. तैत्तिरीय उपनिषद् ३, १।

वैदिक-दर्शन के प्रारम्भिक स्वरूप की झांकी वैदिक ऋषियों के 'बहुदेवतावादी दृष्टि-कोण' में उपलब्ध होती है जो उनके 'एकेश्वरवाद' का ही स्थूल बहिरंग है। पीछे ऋग्वेद के स्वरूप पर प्रकाश डालते समय यह बात हम प्रमाण-सहित स्पष्ट कर आये हैं कि वैदिक ऋषि यद्यपि अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के प्रति अपनी स्तुतियाँ एवं प्रार्थनाएँ समर्पित करते रहे हैं, उन्हें अपने सूक्तों का विषय बनाते रहे हैं, पर साथ ही उन्हें इस तथ्य की भी स्पष्ट अनुभूति थी कि इन समस्त देवताओं के पीछे एक परासत्ता है जिसके बल पर ये सभी देवता आश्रित हैं। तभी वे एक देवता का अन्य देवताओं के साथ तथा समस्त देवताओं का उस परा सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित करते रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि देवताओं का महत् असुरत्व एक ही है। इस प्रकार परासत्ता के प्रति वैदिक ऋषियों का दृष्टिकोण 'एकेश्वरवादी' ही है और यही वैदिक-धर्म एवं दर्शन का प्रारम्भिक रूप है।[1]

इस विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक-दर्शन आस्तिक दर्शन है। भारतीय दर्शन में सांख्य, बौद्ध, जैन, चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी परवर्ती दार्शनिक प्रवृत्तियाँ परमेश्वर के अस्तित्व और सृष्टि में उसके व्यापकत्व को स्वीकार करती हैं।

## वेद में परम सत्ता और उसका स्वरूप:

**एकेश्वरवाद**—वैदिक साहित्य पर विचार करते समय यह कह आये हैं कि वैदिक-ऋषि प्रारम्भ से ही एक चिन्मय तत्व की सत्ता में विश्वास करते थे। पर आधुनिक विद्वानों ने एकेश्वरवाद की इस धारणा के पीछे क्रमिक विकास के इतिहास की कल्पना की है—यथा प्राकृतिक बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद।[2] वैदिक श्रुतियों के सम्यक् परीक्षण से उनके इस कथन में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अकेले ऋग्वेद से ही ऐसी शतशः श्रुतियाँ उद्धृत की जा सकती हैं जो एक ही सत्ता के अस्तित्व का प्रतिपादन करती हैं।[3] उसी एक का अनेक प्रकार से कथन हुआ है। ऋषियों का इस विषय में कथन है कि—

**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु।'** (ऋ० १,१६४,४६)
**'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।'** (ऋ० १०,११४,५)
**'यो देवानां नाम ध एक एव।'** (ऋ० १०,८२,३)

अथर्ववेद के निम्न मंत्रों में भी उसकी अद्वितीयता को स्पष्टतः प्रतिपादित किया गया है। कहा गया है कि वह एक और केवल मात्र एक ही है—

**'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।'** (१३,४,१६)
**'न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।** (१३,४,१७)

× × ×

१. देखिये, इसी प्रबन्ध का पृष्ठ १८।
२. देखिये, वैदिक एज, पृष्ठ ३७८ (विद्या भवन, बम्बई)।
३. देखिये, हिरण्यगर्भसूक्त १०, १२१ और विश्वकर्मासूक्त १०, ८१-८२।

'स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्चन । (१३,४,१९)
तमिदं निगतं सहः स एष एक एक वृ देक एव । (१३,४,२०)
एक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः । (अथर्ववेद २,२,१)
एक एव नमस्यः सुशेव । (अथर्ववेद २,२,२)

वह एक होकर सबको व्यापने वाला सर्वव्यापक है। एक होकर वह प्राणी, अप्राणी सबको विशेष रूप से देखने वाला है। ऐसे एक को ही अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, प्रजापति आदि विभिन्न नामों से पुकारा गया है।[1] स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि एक परमेश्वर के विश्वासी थे। वेद में इस सत्ता के दो प्रकार के स्वरूपों का उल्लेख मिलता है—निरपेक्ष (निर्गुण) और सापेक्ष (सगुण)। निरपेक्ष रूप में वर्णन करते हुए उसे 'एकं सद्', 'तदेकम्' और 'एकं सन्तम्' आदि नपुंसकलिंग के लक्षणों द्वारा अभिहित किया गया। वेदों में उसके निरपेक्ष रूप का वर्णन कम ही मिलता है। सापेक्ष रूप में उसकी चर्चा करते समय उसे 'स' 'यः' आदि पुल्लिंग संज्ञाओं द्वारा लक्षित किया गया। वेद में उसके सापेक्ष रूप का वर्णन विस्तार से आया है। जगत् की सापेक्षता में उसे स्रष्टा, राजा आदि कहा गया।[2] और जीव की सापेक्षता में उसे पिता, जनिता, विधाता आदि रूप में वर्णित किया गया—'यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।' (ऋग्वेद १०,८२,३) उसमें दयालुता, महानता, उदारता आदि के अनेक उदात्त गुणों की कल्पना की गई। जीव और जगत् की रक्षा के भार को भी उसी पर छोड़ दिया गया। इस सगुण, सापेक्ष सत्ता के दार्शनिक स्वरूप की चर्चा वेदों में विस्तार के साथ हुई है। उसके सम्बन्ध में कहा गया कि वह कामना-शून्य, धीर, अमृत रूप अपने अस्तित्व से सत्तावान् और अपने आनन्द रूप से परितृप्त है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। ऐसे प्रभु को जानकर मानव मृत्यु से प्रभावित नहीं होता।[3] वह अनन्त आंखें, मुख और बांह वाला है, उसी ने द्यावा-पृथिवी को उत्पन्न किया है।[4] वह समस्त प्रजाओं का स्वामी है, उससे भिन्न इस संसार के पदार्थों में कोई भी व्याप्त नहीं है।[5] 'उच्छिष्ट' नाम से उसका स्मरण करते हुए कहा गया है कि यह नामरूप वाला जगत् उसी में रहता है, उसी में लोक-लोकान्तर रहते हैं, उसी में इन्द्रादि देवता और सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है।[6] इस सूक्त में परमात्मा को अनेक बार 'उच्छिष्ट' नाम से पुकारा

---

१. यजुर्वेद ३२-१।
२. ऋग्वेद १०,१२१,३।
३. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरंयुवानम॥ अ० वे० १०,८,४४।
४. ऋग्वेद १०,८२,३।
५. ऋग्वेद १०,१२१,६।
६. उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥ अथर्ववेद ११,७,१।

गया है जिसका अर्थ है जूठा या शेष बचा हुआ। अर्थात् सारे दृश्यमान संसार में जो बचा रहता है वही वास्तविक तत्व है, वही सब के अन्दर और बाहर है, सबको धारण करके भी अलिप्त है। यजुर्वेद में उसे विश्व का आत्मा कहा गया है तथा स्वात्मा से प्राप्त कर उसमें प्रवेश करने की बात कही गयी है—

**'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।**
**उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥'** (३२,११)

वही विभु प्रजाओं में ओत-प्रोत है—'सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।' (३२,८) अथर्ववेद के एक अन्य सूक्त में उस सगुण परमेश्वर को 'स्कम्भ' रूप में स्मरण किया है और कहा गया है कि वह सबका पूज्य है, महान् यज्ञ है, उसके आश्रय में सभी देवता इस प्रकार निवास करते हैं जैसे वृक्ष के स्कन्ध के सहारे चारों ओर शाखाएँ ठहरी रहती हैं।[1] 'पुरुष-सूक्त' में उस परमेश्वर के सर्वव्यपक सर्वतिशायी दोनों रूपों की चर्चा आई है। वह सर्व-व्यापक होकर भी दश अंगुल ऊपर ही रहता है।[2] यह भूत और भव्य, यह सम्पूर्ण दृश्यमान् जगत् पुरुष ही है।[3] उसीसे यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है। अतः यह सबका आदि कारण माना गया है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि वेद में सत्ता के सगुण रूप का सुन्दर और भव्य वर्णन हुआ है। उसे कहीं प्रजापति कहा है, कहीं उसका पुरुष, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, उच्छिष्ट, स्कम्भ और महद् यज्ञ आदि नामों से संकीर्त्तन हुआ है। अथर्ववेद में उसे 'ब्रह्मन्' भी कहा है।[4] आगे चल कर इसी आधार पर उपनिषदों में उस 'परमसत्ता' को द्योतित कराने के लिए सर्वत्र 'ब्रह्म' संज्ञा का ही प्रयोग हुआ है। इस 'ब्रह्म' शब्द का इतिहास भी बड़ा मनोरंजक है। आरम्भ में ब्रह्म का अभिप्राय प्रार्थना से था, बाद में वैदिक ऋचाओं के समूह के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा, तदनन्तर प्रार्थना और ज्ञान के भण्डार वैदिक संहिताओं के लिए व्यवहृत किया गया। वेद में प्रार्थना का स्वामी ब्रह्मणस्पति एक देवता भी है। और अंत में उपासना के विषय परम सत्ता परमेश्वर के लिए यह पद प्रयुक्त होने लगा जिसके दार्शनिक स्वरूप का पूर्ण विकास आगे चलकर वेद के अंतिम भाग उपनिषदों में हुआ।[5]

**उपनिषदों में ब्रह्म-तत्व और उस का दार्शनिक स्वरूप**—परमसत्ता से सम्वन्वित दार्शनिक स्वरूप का चिंतन वेदों में बीज-रूप में विद्यमान है यह हम ऊपर दिखा आए हैं। उपनिषदों में आकर परम तत्व-सम्बन्धी यह चिन्तन अत्यधिक सूक्ष्म,

---

१. अथर्ववेद १०,७,३८।
२. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्र पात्।
   स भूमि विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ ऋग्वेद १०,६०,१।
३. ऋग्वेद १०,६०,२।
४. अ० व०, १०,८,१।
   ए० सी० बोस : दी काल ऑफ दी वेदाज्, पृ० ५६।

व्यापक और गम्भीर स्तर पर हुआ है। उपनिषदों का मूल विषय ही ब्रह्म-विचार से सम्बन्धित है। साथ ही यह तथ्य विशेष महत्त्व का है कि यह वर्णन उन ऋषियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है जिन्होंने उसकी अपरोक्षानुभूति प्राप्त की थी। इसीलिए यह वर्णन अधिक विश्वसनीय और माननीय बन पड़ा है।

ब्रह्म की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वह 'हाथ-पैरों से रहित होते हुए भी समस्त वस्तुओं का ग्रहण करने वाला, वेगपूर्वक गमन करने वाला, बिना नेत्रों के सब कुछ देखने वाला, कानों के बिना सब सुछ सुनने वाला, जो कुछ जानने में आने वाली वस्तुएँ हैं उन सब को जानने वाला तथा महान् और आदि पुरुष कहा गया है।'[1] अन्यत्र उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से भी बड़ा कहा गया है।[2] वे चलते भी हैं और अचल भी हैं, वे अति दूर और अत्यधिक समीप भी हैं, वे जगत् में व्याप्त भी हैं और जगत् के बाहर भी हैं।[3] इस प्रकार उनमें एक ही काल में परस्पर-विरोधी-भाव, गुण तथा क्रिया का समावेश करके उसकी अद्‌भुतता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त इन परस्पर-विरोधी लक्षणों के वास्तविक अभिप्राय को न समझते हुए, खिन्न होकर कीथ महोदय ने कहा —'Contradictions in adjecto are the normal characteristic of the Upnisads.'[4] वस्तुतः इ परस्पर-विरोधी लक्षणों के प्रयोग से उपनिषदों के ऋषियों का प्रमुख अभिप्राय ब्रह की अद्‌भुतता और विलक्षणता का परिचय कराना है। ब्रह्म एक ऐसा तत्व है जिसक ठीक-ठीक शब्दों की पकड़ में नहीं लाया जा सकता, कोई भी परिभाषा अथवा लक्षण उसके वास्तविक स्वरूप का ठीक-ठीक द्योतन नहीं करा पाता। वह तत्व वाणी, मन, श्रोत्र और प्राणादि से नितान्त परे है, इनके द्वारा वह जानने में नहीं आता, प्रत्युत ये सब उसी की शक्ति से अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होते हैं।[5]

**ब्रह्म के दो स्वरूप—निर्गुण और सगुण**—उपनिषदों में ब्रह्म के दोनों स्वरूपों का उल्लेख हुआ है। ईश० उ० में उसके दोनों स्वरूपों—निरपेक्ष और सापेक्ष—पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। यथा—

---

१. *अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।*
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
(श्वे० उ० ३,१९)

२. श्वे० उ० ३,२०।

३. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ (यजु० ४०,५)

४. Religion & Philosophy of the Veda and the Upnisads, p. 594.

५. यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केन० १,४)

'सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपाप विद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यःसमाभ्यः ।[१]

इस मंत्र में वह परमतेजोमय, अकायम्, अव्रणम्, अस्नाविरम् (शिराओं से रहित) शुद्धम् और अपापविद्ध कहा गया है । ये सब ऐसे लक्षण हैं जो परम सत्ता के निरपेक्ष स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं, तथा कवि, सर्वद्रष्टा, स्वयम्भू, तथा प्रजाओं के लिए कर्मानुसार भोग-सामग्री की रचना करने वाला, ये लक्षण ऐसे हैं जो उसके सगुण, सापेक्ष स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं ।

वही एक ब्रह्म दृष्टि-भेद से सगुण-निर्गुण, सोपाधि-निरुपाधि, सापेक्ष-निरपेक्ष आदि कहा गया है । प्रश्न० उ० में स्पष्ट कहा है—'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार (५,२) । ब्रह्म के पर (निर्गुण) रूप को बृह० उ० में सत्यस्य सत्यं और अपर रूप को 'सत्यम्' कहा है ।[२] मु० उ० में 'पर' को 'पुरुष' और 'अपर' को 'अक्षरम्' कहा गया है ।[३] इसी प्रकार कठ० उ० में प्रथम को 'पुरुष' और 'अपर' को 'अव्यक्त' कहा है ।[४] छां० उ० में इन्हें 'आत्मन्'[५] और 'सत' तथा तै० उ० में 'आत्मन्' और 'असत्' रूप में कहा गया है ।[६]

इन दोनों में ब्रह्म का 'परम्' रूप अपने शुद्ध रूप में सर्वातिशायी तथा निर्विकार है और 'अपरम्' रूप समस्त सृष्टि का उपादान कारण है जिन्हें क्रमशः निर्गुण और सगुण कह सकते हैं । निर्गुण ब्रह्म के उस स्वरूप को कहते हैं जो जीव और जगत् की दृष्टि से नितांत निरपेक्ष हो, जिसे किसी भी गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता से लक्षित नहीं किया जा सकता हो । निर्गण ब्रह्म को श्रुतियों में नपुंसकलिंग के लक्षणों से निर्दिष्ट करते हुए उसे—अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम् अदीर्घम्, (बृह० उ० ३,६,६), अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवत, अनादि, अनन्त (कठ० १,३,१५), अद्रेश्यम्, अग्रह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुः, श्रोत्रम्, अपाणिपादम् (मु० १,१,६), आदि लक्षणों से लक्षित किया है । बृह० (३, ८,८) में भी इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ऋषि ने गार्गी को अक्षर ब्रह्म का उपदेश देते हुए निषेधात्मक पदों का प्रयोग किया है । इसी प्रकार केन० उ० (१,४,८) में अवाङ्-मनसगोचर ब्रह्म का बड़ा सजीव वर्णन हुआ है । वाणी के द्वारा उसके स्वरूप का ठीक-ठीक भावात्मक वर्णन न हो सकने के कारण उसका 'नेति-नेति' रूप में निर्वचन किया है । इस नेति से परे अन्य कुछ भी श्रेष्ठ आदेश नहीं है ।[७] इस सम्बन्ध में

१. ईशो० ८ ।
२. बृह० उ० २,३,६ ।
३. मु० २,१,२ ।
४. कठ० १,३,११ ।
५. छां० उ० ६,२ ।
६. तै० उ० २,७ ।
७. बृह० उ० २,३,६ ।

महेन्द्रनाथ सरकार ने ठीक ही कहा है—'Spirit-in-itself is transcendent, spirit *is immanent is reference to the order of the expression.*'[1] ब्रह्म अपने शुद्ध और निर्विशेष स्वरूप में सर्वातिशायी है, पर जगत् की अभिव्यक्ति की दृष्टि से वही सर्वव्यापक भी है। ऋषियों ने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का भावात्मक-परिचय देने का भी प्रयत्न किया है, अन्यथा उसकी आध्यात्मिक उपयोगिता ही समाप्त हो जाती और वह शून्य से भिन्न अन्य कुछ नहीं रह जाता। अतः उसके स्वरूप का परिचय देते हुए कहा गया—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' (तै० २,१) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३,६,२८)। इन सूत्रों के आधार पर ही उसके स्वरूप के सम्यक् बोध के लिए उसे 'सच्चिदानन्द' कहा गया—'*Brahman in its essential nature is Sat-*Chit Anand.'[2] वह सद् रूप है, चिद् (चैतन्य रूप) है और आनन्द रूप है।

**सगुण रूप**—ब्रह्म के सगुण रूप की चर्चा वेदों में विस्तार से हुई है जिस पर पीछे संकेत कर आये हैं। उपनिषदों में भी उसकी चर्चा कम नहीं हुई है। वस्तुतः ब्रह्म के सगुण स्वरूप का सम्बन्ध सृष्टि की सृजन-शक्ति से है। छा० उ० में 'तज्जलान्' इस छोटे से सूत्र द्वारा ही उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। तज्ज, तल्ल, तदन इन तीनों शब्दों का संक्षेप इस शब्द में किया गया है। यह जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन होता है (तल्ल), उसी के कारण स्थिति में प्राण धारण करता है (तदन)। अर्थात् इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण भूत परमतत्व को 'अपर' ब्रह्म कहते हैं। वह सबका अधिपति है, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी है, सर्वभूतान्तरात्मा है।[3] उस एकाकी ब्रह्म ने अपनी संकल्प-शक्ति से, तप द्वारा सब कुछ रच दिया और उन सब में वह स्वयं भी प्रविष्ट होकर मूर्त और अमूर्त, कथनीय और अकथनीय यह जो कुछ है वह वही हो गया।[4] यही बात ऐतरेय उ० में भी कही गई है। इसी प्रकार छा० उ० में भी सत् रूप ब्रह्म-जगत् की उत्पत्ति कही गई है।[5] और मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी से नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं तथा जीवित पुरुष के शरीर से केश और रोयें उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से यहाँ इस सृष्टि में सब कुछ उत्पन्न होता है।[6]

---

१. *Hindu Mysticism, p. 90.*
२. S. C. Sen : Mystic Phil. of the Upnishads, p. 206.
३. श्वे० ६,११।
४. सो कामयत। वहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तपत्वा इदंसर्वमसृजत-यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।··· सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तै० उ० २,६।
५. छां० उ० ६,२,३।
६. मु० उ० १,१,७,२,१,१।

इस प्रकार सभी उपनिषदें सगुण ब्रह्म को सृष्टि का एक स्वर से स्रष्टा बताते हैं। इसके अतिरिक्त वे समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी, अद्वितीय तथा सबको वश में रखने वाले कहे गये हैं। वह अपने एक ही रूप को अनेक प्रकार से बना लेते हैं—'एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा या करोति' (कठ० ५,१२)। वे नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन तथा सभी जीवों की कामना पूर्ण करने वाले हैं। (कठ० ५,१३) वे सब में रहते हुए भी सबसे से भिन्न हैं। (कठ० ५,११) इसी के भय से अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु आदि देवता अपना-अपना काम त्वरा-पूर्वक करते हैं (कठ० ६,३)। वही कर्मों का अधिष्ठाता, साक्षी और चेतन है (श्वे० ६,११)। इतने विवेचन से स्पष्ट है कि जगत की दृष्टि से वह उसका रचयिता भर्त्ता और संहर्त्ता, सबका स्वामी, शासक और नियन्ता, समस्त विश्व का आश्रय, और पाप-पुण्य का ज्ञाता है। यह उसका सगुण रूप है, निर्गुण रूप में वह निरपेक्ष और निरुपाधि है। ये दोनों रूप उसी के हैं।

**जीव (जीवात्मा)**—परम सत्ता के अस्तित्व और स्वरूप की भाँति जीवात्मा के अस्तित्व और स्वरूप पर भी अब तक पर्याप्त चिन्तन हुआ है। कुछ विद्वान तो जीवात्मा जैसे विषय पर विचार करके समय बर्बाद ही नहीं करना चाहते।[1] और कुछ तत्सम्बन्धी चिन्तन में बहुत ही निचले स्तर पर रह गए। कुछ ने शरीर को आत्मा माना, कुछ ने मन को, कुछ ने इन्द्रियों को और कुछ ने क्षणिक विज्ञान को आत्मा कहा।[2] पश्चिमी विद्वान डेकार्टे ने कहा—Cogito 'मैं सोचता हूँ', ergo 'इस लिए' sum 'मैं हूँ।' सभी क्रियाओं और अवस्थाओं के पीछे 'यह मैं' विद्यमान है, इसलिए उसका अस्तित्व है, इसमें कोई सन्देह नहीं।[3] पर यह 'मैं' क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने भिन्न प्रकार से दिया है। 'अहं' पर चिन्तन करते हुए डब्लू० जेम्स ने कहा कि यह वह वस्तु है जो ज्ञाता और विषयी है, सोचने वाला भी यही 'अहं' है। पर ज्ञाता के रूप में हम अपनी मीमांसा नहीं कर सकते, मीमांसा करते ही हम 'ज्ञाता' न रह कर 'ज्ञेय' हो जाते हैं। जो स्वयं ज्ञाता है वह ज्ञान का विषय कैसे बन सकता है।[4] यह ज्ञाता रूप में 'मैं' एक ऐसी वस्तु है जो सब परिवर्तनों के मध्य भी अपरिवर्तनीय रहती है। 'जीव', 'मैं' अथवा 'आत्मा' इसी स्थायी सत्ता के भिन्न नाम हैं।

इस 'अहं' अथवा आत्मा का स्वरूप क्या है इसका उत्तर मनोविज्ञान के पास नहीं

---

१. Thomas Carlyl's : Past & Present Bk. III, Ch-XI, Q.F. P. 14. जीवात्मा)
२. देखिए वेदान्तसूक्त १,१ पर शांकर भाष्य।
३. देखिए, गंगाप्रसाद : जीवात्मा, पृ०४०।
४. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन् अन्नन्यो अभि चाकशीति॥ (ऋ० वे० १,१६४,२०)

है उसका तो मुख्य विषय है मन और मन की विभिन्न वृत्तियों का अध्ययन और परीक्षण करना। हाँ, मनोविज्ञान शास्त्र इतना तो बताता है कि समस्त परिवर्तित विचार-धारा के पीछे कोई स्थायी कर्त्ता तो अवश्य है, पर उसके स्वरूप के विषय में मौन के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई उत्तर नहीं है। यह वस्तुतः अध्यात्म का विषय है। अतः इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें अपने ऋषियों की शरण में आना होगा।

### वेद में जीवात्मा का स्वरूप :

ऋग्वेद के एक मंत्र में--ब्रह्म, जीव और प्रकृति तीनों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। मंत्र में कहा गया है कि—'दो पक्षी(जीवात्मा और परमात्मा)मित्रता के साथ एक वृक्ष या शरीर में रहते हैं। इनमें एक (जीवात्मा) स्वादु पिप्पल का भक्षण करता है और दूसरा (परमात्मा) कुछ भी भक्षण नहीं करता, केवल द्रष्टा है।[1] यह मंत्र एक साथ कई बातों पर प्रकाश डालता है—

(अ) जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ हृदय-रूपी घोंसले में निवास करते हैं।

(ब) इनमें से जीवात्मा प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखों को आसक्ति एवं द्वेष-पूर्वक भोगता है।

(स) परमात्मा कर्म-फल से अनासक्त और द्रष्टामात्र है।

(द) जीवात्मा इस मन्त्र में परमात्मा की भाँति चेतन, समानगुण वाला, अनादि, अज और अविनाशी भी कहा गया है। यह हृदय-देश में विद्यमान है तथा कमरे में रखे हुए दीपक की भाँति यह अपनी चेतनता से शरीर के सारे कार्यों को प्रकाशित करता है। अथर्ववेद में कहा है—

> **अष्टा चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।**
> **तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गोज्योतिषावृतः।**
> **तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते।**
> **तस्मिन् यवक्षमात्मन्वत् तद वै ब्रह्मविदो विदुः॥** (१०,२,३१-३२)

आठ चक्रों और नव द्वारों वाली दिव्य काया में, प्रकाश स्वरूप कोश में वह स्वर्ग है जो ज्योतिस्वरूप परमात्मा से व्याप्त हो रहा है। उस चमकते हुए कोश में, जिसमें दो अरे लगे हुए हैं, जिसके तीन आधार हैं (सत, रज, तम), उसमें जो पूज्य प्रभु जीवात्मा से युक्त है, उसे ही ब्रह्म-वेत्ता लोग जानने

---

१. "The I or 'pure Ego' is a very much more *difficult subject of* enquiry than the me. It is that which at my given moment is conscious, where as the me is only one of the things which it is conscious of; in other words it is the thinker." W. James psy. p. 196.

की इच्छा किया करते हैं। इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि प्रभु जीवात्मा के अन्दर प्रकाश कर रहे हैं, यह आत्मा एक सुनहरी कोश में निवास करता है, यह कोश शरीर के एक भाग में है। एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि—मृत शरीर का जीवात्मा मरता नहीं प्रत्युत अपने कर्मों और संस्कारों द्वारा विचरता रहता है तथा शरीर के साथ उत्पन्न होता है—"जीवो मर्तस्य चरित स्वधाभिरमर्त्योमर्त्येता सयोनिः।"[1] यह मंत्र आत्मा की अमरता का सन्देश देता है—यही विचार उपनिषदों में जाकर पल्लवित हुआ है। 'देही आत्मा के लिए यह शरीर वस्त्र मात्र है जो मरने पर नष्ट हो जाता है, तथा यह आत्मा पुनः तेज से युक्त होकर नये शरीर को प्राप्त करता है।'[2] अथर्ववेद के ये मंत्र स्पष्ट ही जीवन की शाश्वतता का प्रतिपादन करते हैं तथा विश्वास दिलाते हैं कि हमारा जीवन इस शरीर के साथ समाप्त नहीं हो जाता।

**उपनिषदों में जीवात्मा का स्वरूप**—उपनिषदों में जीवात्मा के सम्बन्ध में उन्हीं विचारों पर गम्भीरता और सूक्ष्मता से विचार किया गया है जो वेद में वर्णित हो चुके हैं। वेदों में जीवात्मा को चेतन, कर्त्ता, भोक्ता, कर्मफलानुसार ऊर्ध्व-अधः योनियों को प्राप्त होने वाला तथा अमरण-धर्मा कहा गया है। उपनिषदों में उसे इन्हीं लक्षणों वाला तो कहा ही गया है, इसके अतिरिक्त ब्रह्म के साथ उसकी अभिन्नता और तादात्म्य की स्थापना भी की गई जो उपनिषदों की अपनी मौलिक उपलब्धि है। कठोपनिषद् में शरीर को रथ और जीवात्मा को शरीर-रूपी रथ का रथी कहा गया है; साथ ही शरीर, इन्द्रियाँ और मन से युक्त होकर विषयों का उपभोग करने के कारण भोक्ता कहलाता है 'आत्मेन्द्रिय मनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठ० १,३,४)। जगत् के रूप, रस, गंध आदि विषयों का भोक्ता बने रहने के कारण, प्रकृति के अधीन हो इसके मोह-जाल में फँसा रहता है। 'अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्'[3] शरीर में ही आसक्त यह जीवात्मा जब तक भोगों का उपभोग करने में रचा-पचा रहता है, तब तक असमर्थता और दीनता से मोहित हुआ नाना प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है।[4] एक अन्य मंत्र में उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट कहा है कि यह सत्, रज्, तम इन तीन गुणों से बद्ध हो फल की आकांक्षा से कर्म करने पर उस अपने किए हुए कर्म के फल का उपभोग भी करने वाला है। यह प्राणों का अधिपति और अपने कर्म से प्रेरित होकर नाना योनियों में विचरण करने वाला है।[5] वह अत्यन्त सूक्ष्म है, अंगुष्ठ परिणाम वाला है, सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप है, संकल्प एवं अहंकार से युक्त है, बुद्धि और अपने गुणों के कारण

---

१. ऋग्वेद १,१६४,३० और ३२।
२. अथर्ववेद १८,२,५७ और १८,३,५८।
३. श्वे० उ० १,८।
४. वही, ४,७।
५. गुणान्वयो यः फलकर्म कर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥ (श्वे० ५,७)

आरे की नोक से जैसे सूक्ष्म आकार वाला है।[1] वह अनन्त भाव से युक्त होने में समर्थ-है, किन्तु अपने अहंता, ममता आदि गुणों से संश्लिष्ट रहने के कारण ही एक-देशीय बना रहता है। वह अपने वास्तविक रूप में लैंगिक दोषों से मुक्त है, वह न स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक ही, जब जिस शरीर को ग्रहण करता है उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा बन जाता है।[2] स्पष्ट है कि जीवात्मा सर्वभेद शून्य है, सारी उपाधियों से रहित है।

यह ठीक है कि जीवात्मा शुभाशुभ कर्मों के कारण नाना कष्टों को सहता है फिर भी यह अजन्मा और नित्य है। श्रुति स्पष्टतः कहती है—

**न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥** (कठ० २,१८)

'यह न तो जन्मता है, न मरता ही है, यह न तो स्वयं किसी से हुआ है और न इससे ही कोई हुआ है, यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, सदा एक रस रहने वाला और पुरातन है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।'

जीवात्मा-सम्बन्धी ऋषियों की उपरोक्त धारणाओं से स्पष्ट है कि यह तत्त्व स्वयं अभौतिक तथा जड़ पदार्थों का प्रकाशक है। 'जिसे हम साधारण भाषा में जीवन या जिन्दगी कहते हैं···उसका आदि स्रोत एक ऐसी सत्ता है जिसका नाम जीव या जीवात्मा है।'[3] जीव की उपस्थिति के कारण ही शरीर में वे सब परिवर्तन होते रहते हैं जिनसे शरीर छोटी अवस्था से बड़ी अवस्था को प्राप्त होता है। ज्ञातृत्व, कर्त्तव्य और भोक्तृत्व से रहित यह जड़ शरीर जीवात्मा के संयोग से ही स्थूलता और अनेकरूपता को प्राप्त होता है अतः यह जड़ प्रकृति क्या है इसका ज्ञान भी अत्यावश्यक है।

**प्रकृति—भौतिक जगत्**—प्रकृति के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। चार्वाकों के मत में सूर्य की मरीचिका में दृश्यमान जो सूक्ष्म धूलि-कण हैं वे ही सकल भूत भौतिक जड़-वर्ग के कारण माने गये हैं। इस सम्बन्ध में बौद्धों के विचार चार्वाकों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। जैनों के मत में एक ही प्रकार का परमाणु (पुद्गल) जगत् का मूल कारण माना गया है। न्याय-वैशेषिक के मतानुसार भी यह जगत् परमाणुओं का कार्य है, पर चार्वाक, बौद्धों और जैनों के मत से भिन्न ईश्वर द्वारा नियमित है। सांख्य और योग में त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत् का मूल कारण है। सांख्य कारिका में कहा गया है कि यह 'प्रकृति नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, अलिंग, निरवयव, विवेकरहित, अचेतन और प्रसवधर्मिणी है।[4]

---

१. अंगुष्ठमात्रो रवि तुल्य रूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥ (श्वे० ५, ८)

२. वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (वही ५, ९)

३. जीवात्मा, पृष्ठ १४८।

४. सां० का० १०-११ (ईश्वर कृष्ण)।

यह जगत् अर्थात् भौतिक प्रपंच का मूल कारण मानी गई है।

वेद और उपनिषद् प्रकृति को जगत् की उत्पत्ति में अन्तिम सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते। प्रकृति स्वयं तो जड़ एवं निष्क्रिय है, बिना किसी चेतन अधिष्ठाता के वह स्वयं कुछ नहीं कर सकती। यह चेतन अधिष्ठाता ईश्वर ही है, जो प्रकृति पर भी शासन करता है।

**वेद में प्रकृति तत्त्व**—ऋग्वेद के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' नामक मंत्र में जिसका पीछे उल्लेख आ चुका है, दो पक्षियों के रूपक द्वारा ब्रह्म और जीव के परिगणन के साथ-साथ 'वृक्ष' का उल्लेख आया है। इस 'वृक्ष' पर ये दोनों सखाभाव से रहते हैं। स्पष्ट है कि 'वृक्ष' इन्हें आश्रय प्रदान करता है। यह वृक्ष वह सत्ता है जिसे प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त और माया आदि नामों से पुकारा है।[1] यजु० में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—प्रश्न किया गया है कि यह कौन-सा वन और कौन-सा वह वृक्ष है जिसमें से द्यावा, पृथिवी बनते हैं—'किं स्विद्वनं कउस वृक्षं आसयतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः' (१७, २०) यहाँ वृक्ष शब्द स्पष्टतः प्रकृति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, जिस मूल प्रकृति पर शासन करता हुआ प्रभु सब लोकों को धारण करता है। यहाँ यह प्रकृति तत्त्व स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं—प्रभु से शासित है। ऋग्वेद के एक अन्य मंत्र में इसे 'आभु' कहा गया है। प्रलयावस्था में 'तुच्छ' रूप से छिपा हुआ 'आभु' परमात्मा के ज्ञानमय तप से 'महतत्त्व' के रूप में एक उस अनन्त परमात्मा के सम्मुख प्रादुर्भूत हुआ।[2]। स्पष्ट है यहाँ यह यह 'आभु' नामक पदार्थ अव्यक्त उपादान कारण प्रकृति के रूप में कहा गया है। परम व्योम में स्थित अध्यक्ष इसके सम्बन्ध में पूर्ण रूप से जान सकता है।[3]

## उपनिषदों में प्रकृति-तत्त्व और उसका स्वरूप :

कठोपनिषद् में एक स्थल पर कहा गया है—'इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से उसका स्वामी जीवात्मा ऊँचा है और जीवात्मा से अव्यक्त शक्ति उत्तम है। परन्तु इस अव्यक्त शक्ति से भी व्यापक और

---

१. श्वे० ४, १०, कठ० ३, ११।

२. ऋग्वेद १०, १२९, ३।

३. 'ऋग्वेद के सृष्टि सूक्त' (१०,१२९) में सृष्टि-प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए जहाँ तृतीय मंत्र में 'आभु' और 'तुच्छ' का 'प्रकृति' अर्थ में ग्रहण हुआ है वहाँ अगले मंत्र में मन के बीज काम को सृष्टि का प्रथम व्यक्त रूप कहा गया—कामस्तदग्रेसमवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (१०,१२९,४)। वह समस्त सृष्टि इसी कामरूप बीज का विस्तार है। सृष्टि-रूप वह वृक्ष का समस्त विस्तार इसी काम-बीज की महिमा है, मानव-मन के अन्य विकार इसी की सन्तानें हैं। वैदिक ऋषियों ने यह तथ्य प्रारम्भ में ही जान लिया था।

आकार-रहित परम पुरुष श्रेष्ठ है ।[1] यदि इसी क्रम को उलट कर देखें तो परमात्मा 'अव्यक्त-शक्ति' का शासक सिद्ध होता है, यह 'अव्यक्त-शक्ति' प्रकृति ही है, इस प्रकृति से 'महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से बुद्धि, बुद्धि से मन और मन से इन्द्रियाँ क्रमशः निम्न श्रेणी की हैं ।' यहाँ प्रकृति पर परमेश्वर के शासन और उसकी अध्यक्षता में प्रकृति द्वारा सृष्टि-विकास का उल्लेख किया गया है । श्वे० उ० में प्रकृति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः' वह प्रकृति लाल, श्वेत तथा कृष्ण वर्ण की अर्थात् त्रिगुणमयी है ।

**त्रिगुणात्मिका**—त्रिगुणात्मिका से अभिप्राय सत, रज, और तम इन तीन गुणों से है । (सत्व गुण निर्मल और प्रकाशक होने से श्वेत, रजोगुण रागात्मक होने से लाल तथा तमोगुण अज्ञान रूप और आवरक होने से कृष्ण वर्ण माना गया है ।[2] यह प्रकृति अपने ही सदृश त्रिगुणात्मक बहुत से मूल समुदायों को रचने वाली है । सांख्य में प्रकृति के अन्तर्गत जिन २४ तत्त्वों की चर्चा हुई है उनके मूलाधार श्वे० उ० और कठ० उ० के ये ही मंत्र हैं । सांख्य के २४ अनात्म तत्त्व यथा अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार—तदनन्तर शब्दादि पंच तन्मात्राएँ, श्रवणादि दस इन्द्रियाँ, मन, एवं आकाशादि पंच महाभूत—प्रकृति के ही कार्य हैं । ये सब भौतिक होने के कारण जड़ हैं । परमात्मा में संकल्प द्वारा जब ईक्षण होता है तब ब्रह्म में प्रसुप्तावस्था में पड़ी इस प्रकृति की साध्यावस्था खण्डित होने लगती है, तदनन्तर इस नाना नाम-रूपात्मक जगत् के विस्तार का कार्य प्रारम्भ हो जाता है, तब इस परमात्मा से पंच महाभूतों में सबसे पहले आकाश तत्त्व फिर क्रमशः वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न होते हैं ।[3]

प्रकृति परमसत्ता या अन्तिम तत्व नहीं है इस तथ्य का खण्डन कई श्रुतियों में किया गया है । कहा है कि सृष्टि के आदि में एक परमात्मा ही था—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत ।'[4] इसी प्रकार कहा गया है कि 'सदैव सौम्येदमग्र आसीत ।'[5] हे सौम्य ! इस सृष्टि के प्रारम्भ में सतस्वरूप परमात्मा ही विद्यमान था । ऋग्वेद में भी यही कहा गया है 'आनीदवातं स्वध्यातदेकम् ।[6] सृष्टि से पूर्व वह एक ही बिना वायु के अपनी शक्ति से साँस ले रहा था ।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि सृष्टि का मूल कारण आत्मशक्ति से भिन्न प्रधान या परमाणु आदि किसी भी जड़ पदार्थ को नहीं मानते ।

**द्वैत में अद्वैत**—वैदिक ऋषियों ने अपने तपःपूत अन्तःकरण में दिव्यानुभूति

---

१. कठ० ३, १०-११ ।
२. उपनिषदांक, पृ० ३८४ से उद्धृत ।
३. तै० उ० २, १ ।
४. ऐ० उ० १,१ ।
५. छा० उ० ६,२,२ ।
६. ऋग्वेद १०, १२६,२ ।

द्वारा जगत् में व्याप्त और इसके मूल कारण जिस परम सत्ता का अनुसंधान किया उसे उन्होंने 'एकं सत्' और 'तदेकम्' कहा। उन्होंने कहा कि परम तत्व एक ही है, वही सृष्टि का मूल बीज होकर सब में व्याप्त है। उन्होंने इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया कि—'एक ही अग्नि अनेक प्रकार से प्रज्ज्वलित हो रही है, एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रहा है, एक ही ऊपा समस्त सृष्टि को प्रकाशित करती है, वही एक यह सब कुछ हो गया है।' 'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः। एकैवोपाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।(ऋ० ८,५८,२) इस मंत्र से स्पष्ट हो जाता है कि इस नाना नामरूपात्मक विश्व में वह एक सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। अनेक की, भिन्नता की द्वैत की सत्ता उस एक ही सत्ता पर ही आश्रित है, मणियों में सूत्र की भाँति वह सबमें समाया हुआ है। 'एको देवः सर्वभूतेष गूढः' (श्वे० ६,११) श्रुति से भी यही दार्शनिक तथ्य ध्वनित होता है। 'त्वं जातो भवति विश्वतो मुखः।'[1] विभिन्न रूपों में आप ही उत्पन्न हो रहे हैं—में भी यही तथ्य वर्णित है। इस प्रकार वह सब में और सब उसमें आश्रित हैं। यजुर्वेद में स्पष्ट कहा—

**'तस्मिन्निदं सं च विचैतिसर्वम्, सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।'[2]**

वह विभु विशेष रूप से सब में रहने वाला, वस्तु-वस्तु में ओतप्रोत है, उत्पत्ति या सर्ग की ओर चलते हुए भी और नाश-प्रलय की ओर आते हुए भी समस्त जगत् के अन्दर व्याप्त रहता है। डा० राधाकृष्णन ने भी इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि—"The multiplicity of the world is based on the one spirit."[3]

**अद्वैतवाद**—उपनिषदों में जहाँ एक ओर वेदों की शैली के अनुकरण पर परमसत्ता को बाह्य जगत् में खोजा गया वहाँ दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक आधार पर मनुष्य के अन्दर भी खोज प्रारम्भ हुई। उपनिषदों के ऋषियों ने सबसे अधिक प्रयत्न इस तथ्य को हृदयंगम कराने में किया है कि मनुष्य के अन्दर जो आत्म-संज्ञक चैतन्य है वह, और सृष्टि में परमात्म संज्ञक जो चित् तत्व है वह, दोनों दो भिन्न तत्व नहीं हैं। पारमार्थिक दृष्टि से ये दोनों एक ही हैं। 'बुद्धेरात्मा महान् परः' (कठ० ३,१०) में मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा आत्मा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। इसी आत्मा के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञातं इदं एवं विदितम्।[4] आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य है। अरी मैत्रेयी! निश्चय ही आत्मा का दर्शन, श्रवण और विज्ञान हो जाने पर इस सबका ज्ञान हो जाता है।

---

१. अथर्ववेद १०,८, २७।
२. यजुर्वेद ३२,८।
३. S. R. k. Philosphy of the Upnishads, p. 57।
४. बृह० उ० ४,५,६।

आकार-रहित परम पुरुष श्रेष्ठ है ।[1] यदि इसी क्रम को उलट कर देखें तो परमात्मा 'अव्यक्त-शक्ति' का शासक सिद्ध होता है, यह 'अव्यक्त-शक्ति' प्रकृति ही है, इस प्रकृति से 'महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से बुद्धि, बुद्धि से मन और मन से इन्द्रियाँ क्रमशः निम्न श्रेणी की हैं ।' यहाँ प्रकृति पर परमेश्वर के शासन और उसकी अध्यक्षता में प्रकृति द्वारा सृष्टि-विकास का उल्लेख किया गया है । श्वे० उ० में प्रकृति के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—'अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः' वह प्रकृति लाल, श्वेत तथा कृष्ण वर्ण की अर्थात् त्रिगुणमयी है ।

**त्रिगुणात्मिका**—त्रिगुणात्मिका से अभिप्राय सत, रज, और तम इन तीन गुणों से है । (सत्व गुण निर्मल और प्रकाशक होने से श्वेत, रजोगुण रागात्मक होने से लाल तथा तमोगुण अज्ञान रूप और आवरक होने से कृष्ण वर्ण माना गया है ।[2] यह प्रकृति अपने ही सदृश त्रिगुणात्मक बहुत से मूल समुदायों को रचने वाली है । सांख्य में प्रकृति के अन्तर्गत जिन २४ तत्त्वों की चर्चा हुई है उनके मूलाधार श्वे० उ० और कठ० उ० के ये ही मंत्र हैं । सांख्य के २४ अनात्म तत्त्व यथा अव्यक्त, महत्तत्व, अहंकार—तदनन्तर शब्दादि पंच तन्मात्राएँ, श्रवणादि दस इन्द्रियाँ, मन, एवं आकाशादि पंच महाभूत—प्रकृति के ही कार्य हैं । ये सब भौतिक होने के कारण जड़ हैं । परमात्मा में संकल्प द्वारा जब ईक्षण होता है तब ब्रह्म में प्रसुप्तावस्था में पड़ी इस प्रकृति की साध्यावस्था खण्डित होने लगती है, तदनन्तर इस नाना नाम-रूपात्मक जगत् के विस्तार का कार्य प्रारम्भ हो जाता है, तब इस परमात्मा से पंच महाभूतों में सबसे पहले आकाश तत्त्व फिर क्रमशः वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्व उत्पन्न होते हैं ।[3]

प्रकृति परमसत्ता या अन्तिम तत्व नहीं है इस तथ्य का खण्डन कई श्रुतियों में किया गया है । कहा है कि सृष्टि के आदि में एक परमात्मा ही था—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत ।'[4] इसी प्रकार कहा गया है कि 'सदैव सौम्येदमग्र आसीत ।'[5] हे सौम्य ! इस सृष्टि के प्रारम्भ में सतस्वरूप परमात्मा ही विद्यमान था । ऋग्वेद में भी यही कहा गया है 'आनीदवातं स्वध्यातदेकम् ।[6] सृष्टि से पूर्व वह एक ही बिना वायु के अपनी शक्ति से साँस ले रहा था ।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि सृष्टि का मूल कारण आत्मशक्ति से भिन्न प्रधान या परमाणु आदि किसी भी जड़ पदार्थ को नहीं मानते ।

**द्वैत में अद्वैत**—वैदिक ऋषियों ने अपने तपःपूत अन्तःकरण में दिव्यानुभूति

---

१. कठ० ३, १०-११ ।
२. उपनिषदांक, पृ० ३८४ से उद्धृत ।
३. तै० उ० २, १ ।
४. ऐ० उ० १,१ ।
५. छा० उ० ६,२,२ ।
६. ऋग्वेद १०, १२९,२ ।

द्वारा जगत् में व्याप्त और इसके मूल कारण जिस परम सत्ता का अनुसंधान किया उसे उन्होंने 'एकं सत्' और 'तदेकम्' कहा। उन्होंने कहा कि परम तत्व एक ही है, वही सृष्टि का मूल बीज होकर सब में व्याप्त है। उन्होंने इस तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया कि—'एक ही अग्नि अनेक प्रकार से प्रज्ज्वलित हो रही है, एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हो रहा है, एक ही ऊषा समस्त सृष्टि को प्रकाशित करती है, वही एक यह सब कुछ हो गया है।' 'एक एवाग्निर्वहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः। एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं वि बभूव सर्वम्।(ऋ० ८,५८,२) इस मंत्र से स्पष्ट हो जाता है कि इस नाना नामरूपात्मक विश्व में वह एक सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। अनेक की, भिन्नता की द्वैत की सत्ता उस एक ही सत्ता पर ही आश्रित है, मणियों में सूत्र की भाँति वह सबमें समाया हुआ है। 'एको देवः सर्व-भूतेष गूढः' (श्वे० ६,११) श्रुति से भी यही दार्शनिक तथ्य ध्वनित होता है। 'त्वं जातो भवति विश्वतो मुखः।'[1] विभिन्न रूपों में आप ही उत्पन्न हो रहे हैं—में भी यही तथ्य वर्णित है। इस प्रकार वह सब में और सब उसमें आश्रित हैं। यजुर्वेद में स्पष्ट कहा—

'तस्मिन्निदं सं च विचैतिसर्वम्, सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु।'[2]

वह विभु विशेष रूप से सब में रहने वाला, वस्तु-वस्तु में ओतप्रोत है, उत्पत्ति या सर्ग की ओर चलते हुए भी और नाश-प्रलय की ओर आते हुए भी समस्त जगत् के अन्दर व्याप्त रहता है। डा० राधाकृष्णन ने भी इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि—"The multiplicity of the world is based on the one spirit."[3]

**अद्वैतवाद**—उपनिषदों में जहाँ एक ओर वेदों की शैली के अनुकरण पर परमसत्ता को वाह्य जगत् में खोजा गया वहाँ दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक आधार पर मनुष्य के अन्दर भी खोज प्रारम्भ हुई। उपनिषदों के ऋषियों ने सबसे अधिक प्रयत्न इस तथ्य को हृदयंगम कराने में किया है कि मनुष्य के अन्दर जो आत्म-संज्ञक चैतन्य है वह, और सृष्टि में परमात्म संज्ञक जो चित् तत्व है वह, दोनों दो भिन्न तत्व नहीं हैं। पारमार्थिक दृष्टि से ये दोनों एक ही हैं। 'बुद्धेरात्मा महान् परः' (कठ० ३,१०) में मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा आत्मा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। इसी आत्मा के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञातं इदं एवं विदितम्।[4] आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान करने योग्य है। अरी मैत्रेयी! निश्चय ही आत्मा का दर्शन, श्रवण और विज्ञान हो जाने पर इस सबका ज्ञान हो जाता है।

---

१. अथर्ववेद १०,८, २७।
२. यजुर्वेद ३२,८।
३. S. R. k. Philosphy of the Upnishads, p. 57।
४. बृह० उ० ४,५,६।

**आत्मा का स्वरूप**—मा० उ० में मनुष्य का यह आत्मा चतुष्पाद कहा गया है, 'आत्मा चतुष्पादः' प्रथम पाद में यह जागृत अवस्था में जगत् की ओर उन्मुख होकर इन्द्रियों के सहयोग से स्थूल विषयों का उपभोग करता है, द्वितीय पाद स्वप्नावस्था में सूक्ष्मरूप में परिणत होकर स्थूल जगत में भोगे हुए विषयों को सूक्ष्म रूप से उपभोग करता है, तृतीय पाद सुषुप्ति की अवस्था में भोग की कामना न करते हुए, स्वप्न न देखते हुए, इन्द्रियों को विषयों से समेट कर परमात्मा से एकीभूत हो जाता है, उस समय यह एकमात्र आनन्द का ही भोक्ता होता है। इन तीनों दशाओं से भिन्न आत्मा की एक चौथी अवस्था है जिसे तुरीय कहते हैं, उस अवस्था में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उस समय एकमात्र आत्म सत्ता की प्रतीति ही रह जाती है, प्रपंच का सर्वथा अभाव हो जाता है, ऐसा सर्वथा शान्त कल्याणमय, अद्वितीय तत्व आत्मा का चतुर्थ पाद है। डा० राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है कि 'परम आत्मन् (Reality) विज्ञान से भिन्न है जिसे तुरीयावस्था में प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ सारे भेद-भाव से रहित होकर व्यक्ति केन्द्रीय सत्ता से युक्त हो जाता है।[1]

याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश देते हुए भी यही कहा था कि मनुष्य का आत्मा सुषुप्ति में ब्रह्म में लीन हो जाता है। उस समय यह मनुष्य पाप और पुण्य से असम्बद्ध होकर हृदय से सम्पूर्ण शोकों को पार कर जाता है।[2] इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि सुषुप्ति अवस्था में पुरुष का आत्मा आनन्दमय चैतन्य की अनुभूति करता है। यही तथ्य तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रकारान्तर से पंचकोशों—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—की कल्पना द्वारा स्पष्ट किया गया है। उपनिषदों में एक स्थल पर कहा है कि यह मानवात्मा धर्माधर्म से शून्य है तथा जराहीन, मृत्युहीन, शोक-रहित, भोजनेच्छारहित, पिपासा-शून्य, सत्यकाम और सत्य-संकल्प वाला है।[3] और यह आत्मा हृदय में रहता है 'स वा एष आत्मा हृदि।'[4]

**आत्मा और ब्रह्म की अभिन्नता (अद्वैत)**—प्राणी के हृदय में रहने वाला यह शुद्ध आत्म-तत्व और सृष्टि के पीछे विद्यमान चिन्मय ब्रह्म, ये दो भिन्न-भिन्न चेतन नहीं हैं। यह मनुष्य का आत्मा ही ब्रह्म है—'स वा अयमात्मा ब्रह्म।'[5] अन्यत्र

---

१. Reality is different from thought and can be reahed in the Turiya State of highest immidiacy, which transcends thought and its distinctions, where individual co-incides with the orient-ral Reality (Philosophy of Upnisads p. 41).

२. पुण्येनानन्वगतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वान्छोकान् हृदयस्य भवति, बृह० ४,३,२२।

३. छा० उ० ८,१,५।

४. वही, ८,३,३।

५. बृह० उ० ४,४,५।

भी शाण्डिल्य ऋषि ने स्पष्ट कहा है कि—"हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा, धान से, यव से···भी सूक्ष्म है तथा पृथ्वी आदि लोकों से भी बड़ा है, जो सर्वकर्मा सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरस, इस सबको सब ओर से व्याप्त करने वाला वाक्‌रहित, और सम्भ्रम-शून्य है वह मेरा आत्मा हृदय-कमल के मध्य स्थित है। यही ब्रह्म है।[1]

आरुणि ने श्वेतकेतु को आत्म-तत्व का उपदेश देते हुए कहा कि 'सत्' आत्मा ही सबका मूल है और वह तू है। वह निश्चय ही यहीं विद्यमान है। वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु 'वही तू है' "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यं स आत्मातत्त्वमसि श्वेतकेतो:।'[2]

इसी प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से सर्वान्तिर्यामी परमात्मा का आत्म-रूप से वर्णन करते हुए कहा—"जो समस्त भूतों में स्थिर रहने वाला, समस्त भूतों के भीतर है जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतों का नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। याज्ञवल्क्य अद्वैत की स्थिति का अनुभवपूर्ण वर्णन करते हुए कहते हैं—हे मैत्रयी ! जहाँ अविद्यावस्था में द्वैत-सा होता है, वही अन्य अन्य को सूँघता है, अन्य अन्य को देखता है, अन्य अन्य को सुनता है···किन्तु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया, वह किसके द्वारा किसे सूंघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने ? जिसके द्वारा सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? 'केन कं विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।'[3] जिस प्रकार प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, ठीक उसी प्रकार मनुष्य का 'स्व', विषयी, आत्मा शुद्ध चैतन्य है, जो कुछ हम जानते हैं उससे भिन्न है,[4] यह अंतिम सत्ता है और यही ब्रह्म है। 'नेह नानास्ति किंचन' एवं 'मृत्यो: स मृत्युं गच्छति य इह नानेवपश्यति।'[5] आदि श्रुतियाँ पूर्ण अद्वैत का समर्थन करती हैं। ब्रह्म आत्मा की एकता के दार्शनिक सिद्धान्त की प्रशंसा करते हुए ड्यूसन ने कहा था—

"It was here for the first times the original thinkers of the Upnisads to their immortal honour, found it when they recognised our atman, our inmost individual being as the Brahman the inmost

---

१. सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वमिदमभ्यात्तो वाक्यनादर एष म, आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमित: प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शण्डल्य शाण्डिल्य। छा० उ० ३, १४,४।

२. छा० उ० ६,१३,३।

३. बृह० उ० २,४,१४।

४. केनोपनिषद् १,४।

५. कठ० उ० ४,१०-११, बृह० ४,४,१९।

being of universal nature and of all her phenomena."[1]

## ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध :

वेद से लेकर उपनिषद्-काल तक समस्त वैदिक वाङ्मय में यह सृष्टि ब्रह्म से आविर्भूत कही गई है है। जिस पर सगुण-ब्रह्म विवेचन के प्रकरण में प्रकाश डाल आए हैं, पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में सृष्टि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। वैशेषिक और नैयायिक 'आरम्भवाद' को स्वीकार करते हैं, उनका मत है कि कारणभूत तन्तु समुदाय से पट-रूप कार्य भिन्न है। बौद्धमतानुयायी 'संघातवाद' को मानते हैं। उनके मतानुसार पट-रूप कार्य तन्तु आदि उपादान कारण से भिन्न नहीं है। शून्यवादी बौद्ध असत् से सत की उत्पत्ति मानते हैं। सांख्यदर्शन 'परिणामवाद' को स्वीकार करता है।

ब्रह्म और सृष्टि के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए दार्शनिक जगत् में एक और मत प्रचलित है जिसे 'विवर्तवाद—(अध्यासवाद) कहते हैं। इस मत के अनुसार परिणामस्वरूप कारण की ही एकमात्र सत्ता है। कार्यों के रूप में परिवर्तित दिखाई देने वाले पदार्थ केवल मानसिक आरोप हैं—अध्यास अर्थात् *मिथ्या* हैं। उस सिद्धान्त के अनुसार यह जगत् ब्रह्म का अतात्त्विक रूपान्तर है। आचार्य शंकर ने वेदान्त-सूत्र पर शारीरिक भाष्य में अध्यास-निरूपण के प्रसंग में दो उदाहरणों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—यथा, 'शुक्तिकाहि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः स द्वितीय वदिति।'[2] अर्थात् जिस प्रकार शुक्तिका रजत के रूप में भासित होती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस प्रपंच के आकार में भासित होता है, जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा दो प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में जीव-ईश्वरादि अनेक प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं।

कारणभूत ब्रह्म से अतात्त्विक परिवर्तन द्वारा यह जगत्-रूप कार्य अस्तित्व में कैसे आ गया इसके लिए शंकर ने 'माया' के सिद्धान्त का आश्रय लिया। शंकर के 'मायावाद' पर कुछ कहने से पूर्व उस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में प्रकाश डालना अपेक्षित है।

**वेद में माया का विचार**—ऋग्वेद में 'माया' शब्द का प्रयोग विभिन्न कारक विभिक्तयों में कम-से-कम १०२ बार आता है। कतिपय मंत्रों में माया शब्द का प्रयोग राक्षसों की आसुरी शक्ति को बताने के लिए हुआ है जिसके उपयोग से धूर्तता और दुष्टता-युक्त कार्य सम्पन्न किया करते थे। इधर विभिन्न देवता भी इस शक्ति से सम्पन्न कहे गए हैं। अग्नि इस शक्ति से सम्पन्न होकर मायावी राक्षसों को पराभूत करता है।[3] इसी प्रकार इन्द्र माया-शक्ति से सम्पन्न होकर नमुचि और

---

१. Deussen : Philosophy of the Upnishads, p. 40.
२. ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य, पृ० ४७-४८ (ढुण्ढिराज शास्त्री, सं० १९८६)।
३. ऋ० वे० ५,२,९।

शुष्ण जैसे मायावी राक्षसों को पराजित करते हैं—'निवर्हयो नमुचि नाम मायिनम्'[1] 'येन शुष्णं मायिनमायसो'[2] इस प्रकार असुरों के सम्बन्ध में माया शब्द मायाविन अर्थात् धूर्तता, शठता और दुष्टता से युक्त शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

देवताओं के सम्बन्ध में 'माया' शब्द एक विशिष्ट गुण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सायण ऋग्वेद ४,३०,२१ और ५,३०,६ में प्रयुक्त माया शब्द का शक्ति अर्थ लगाता है, यथा—'इन्द्रो मायया स्वकीयया शक्त्या' तथा 'इन्द्रः परमैश्वर्य-युक्तः मायाभिः स्वकीयाभिः शक्तिभिः अहिं वृत्रं सक्षत् अभ्यभवत्।'' अन्यत्र उसने माया के 'कपट' (मायिनं कपटवन्तम्[3]) और 'प्रज्ञान' अर्थ भी किए हैं। ये सभी अर्थ रहस्यमय शक्ति को द्योतित करते हैं। माया के अर्थ के सम्बन्ध में जेगोड़ा का यह कथन उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि 'प्रथम चरण' में 'माया' देवों और दैत्यों से सम्बन्धित एक ऐसी शक्ति का द्योतन कराती है जो भ्रम, रूप-परिवर्तन और कपट आदि का अर्थ लिए हुए है।[4] इन्द्र के सम्बन्ध में ऋषि का कथन है कि वह 'माया शक्ति के द्वारा पर्वतों को रोक देता है। पृथिवी और आकाश को स्थिर करता है।'[5] (सायण इसका अर्थ प्रज्ञोपाय लगाता है) इस प्रकार यहाँ माया के आश्चर्यजनक और रहस्यमय कार्यों का वर्णन हुआ है। एक अन्य स्थल पर कहा है कि इन्द्र माया के प्रभाव से अपने शरीर को नाना रूपों में बदल लेता है 'रूपं रूपं मघवाबोभवीति मायाः कृण्वान सतन्वं परिस्वाम्'[6] 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[7] यहाँ माया शब्द एक विशिष्ट शक्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[8] जिसके प्रभाव से इन्द्र अनेक रूप धारण करता है। एक अन्य मंत्र में इन्द्र के युद्धों को 'माया' कहा है—'मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः'[9] यहाँ माया शब्द 'भ्रम' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो आगे चलकर शांकर-वेदांत में दार्शनिकवाद रूप में स्वीकृत हुआ है।

इस प्रकार ऋग्वेद में लगभग सभी प्रमुख देवता और राक्षस इस अद्भुत क्रियात्मक माया-शक्ति से युक्त कहे गये हैं जिसका क्षेत्र—केवल उन स्थलों को

---

१. ऋग्वेद, १,५३,७।
२. वही, १,५६,३।
३. वही, ५,३०,६।
४. फोर स्टडीज़ इन दी लैंग्वेज ऑफ वेद, पृ० १२२।
५. ऋग्वेद २,१७,५।
६. वही, ३,५३,८।
७. वही, ६,४७,१८।
८. सायण इसका अर्थ 'अनेकरूपगृहणसामर्थ्योपेतः' करता है जो 'विशिष्ट शक्ति' के अर्थ को ही प्रतिपादित करता है।
९. ऋग्वेद १०,५४,२।

being of universal nature and of all her phenomena."[1]

## ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध :

वेद से लेकर उपनिषद्-काल तक समस्त वैदिक वाङ्मय में यह सृष्टि ब्रह्म से आविर्भूत कही गई है है। जिस पर सगुण-ब्रह्म विवेचन के प्रकरण में प्रकाश डाल आए हैं, पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में सृष्टि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। वैशेषिक और नैयायिक 'आरम्भवाद' को स्वीकार करते हैं, उनका मत है कि कारणभूत तन्तु समुदाय से पट-रूप कार्य भिन्न है। बौद्धमतानुयायी 'संघातवाद' को मानते हैं। उनके मतानुसार पट-रूप कार्य तन्तु आदि उपादान कारण से भिन्न नहीं है। शून्यवादी बौद्ध असत् से सत की उत्पत्ति मानते हैं। सांख्यदर्शन' 'परिणामवाद' को स्वीकार करता है।

ब्रह्म और सृष्टि के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए दार्शनिक जगत् में एक और मत प्रचलित है जिसे 'विवर्तवाद—(अध्यासवाद) कहते हैं। इस मत के अनुसार परिणामस्वरूप कारण की ही एकमात्र सत्ता है। कार्यों के रूप में परिवर्तित दिखाई देने वाले पदार्थ केवल मानसिक आरोप हैं—अध्यास अर्थात् मिथ्या हैं। उस सिद्धान्त के अनुसार यह जगत् ब्रह्म का अतात्त्विक रूपान्तर है। आचार्य शंकर ने वेदान्त-सूत्र पर शारीरिक भाष्य में अध्यास-निरूपण के प्रसंग में दो उदाहरणों द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—यथा, 'शुक्तिकाहि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः स द्वितीय वदिति।'[2] अर्थात् जिस प्रकार शुक्तिका रजत के रूप में भासित होती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस प्रपंच के आकार में भासित होता है, जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा दो प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म में जीव-ईश्वरादि अनेक प्रकार के भेद प्रतीत होते हैं।

कारणभूत ब्रह्म से अतात्त्विक परिवर्तन द्वारा यह जगत्-रूप कार्य अस्तित्व में कैसे आ गया इसके लिए शंकर ने 'माया' के सिद्धान्त का आश्रय लिया। शंकर के 'मायावाद' पर कुछ कहने से पूर्व उस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में प्रकाश डालना अपेक्षित है।

**वेद में माया का विचार**—ऋग्वेद में 'माया' शब्द का प्रयोग विभिन्न कारक विभिक्तयों में कम-से-कम १०२ बार आता है। कतिपय मंत्रों में माया शब्द का प्रयोग राक्षसों की आसुरी शक्ति को बताने के लिए हुआ है जिसके उपयोग से धूर्तता और दुष्टता-युक्त कार्य सम्पन्न किया करते थे। इधर विभिन्न देवता भी इस शक्ति से सम्पन्न कहे गए हैं। अग्नि इस शक्ति से सम्पन्न होकर मायावी राक्षसों को पराभूत करता है।[3] इसी प्रकार इन्द्र माया-शक्ति से सम्पन्न होकर नमुचि और

---

१. Deussen : Philosophy of the Upnishads, p. 40.
२. ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य, पृ० ४७-४८ (ढुण्ढिराज शास्त्री, सं० १९८६)।
३. ऋ० वे० ५,२,९।

ने 'मायावाद' का भवन खड़ा किया।[1] शंकर को 'मायावाद' के प्रतिपादन के लिए सामग्री चाहे उपनिषदों से मिली हो, चाहे प्रच्छन्न बौद्ध गौड़पाद की माण्डूक्य-कारिकाओं की व्याख्या से। इतना सत्य है कि उपनिषदों में जगत् को भ्रम, मिथ्या अथवा ब्रह्म का विवर्त कहीं भी नहीं कहा गया है। यद्यपि उपनिषदों में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध का कहीं भी स्पष्ट रूप से कथन नहीं हुआ, पर इतना अवश्य कहा है कि जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, वह इसमें व्याप्त है और अपनी सत्ता के लिए उसी ब्रह्म पर आश्रित है, जागतिक विकारों से वह स्वयं विकृत नहीं होता, वह निरपेक्ष है, पर संसार भी सापेक्षिक-सत्य वाली सत्ता है, क्योंकि वही एक संसार की अनेकरूपता को एक सूत्र में बाँधे हुए है।[2] संसार को 'पुरुष-मय' तथा 'ब्रह्म-मय' मानने वाले ऋषियों ने उसे 'विवर्त' अथवा अध्यास कहकर कभी नहीं उड़ाया। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। हाँ, इसे 'अविद्या' (निचला सत्य) कहकर इससे ऊपर उठने (विद्या के क्षेत्र में विचरण करने) के लिए अवश्य कहा गया है।

**शांकर-मायावाद**—शंकर माया को सदसत् से विलक्षण होने के कारण 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। उनके अनुसार 'सत्' वह है जो किसी भी दशा में किसी भी वस्तु द्वारा बाधित न हो। तथा 'असत्' किसी अन्य वस्तु द्वारा बाधित हो जाने वाली पूर्व वस्तु को कहते हैं। शंकर कहते हैं कि इस संसार का ज्ञान ब्रह्म का ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है इसलिए उसे 'सत्' नहीं कहा जा सकता, साथ ही उस ज्ञान के उदय से पूर्व तक उसकी प्रतीति भी बनी रहती है इसलिए उसे 'असत्' भी नहीं कह सकते हैं। अतः यह संसार सदसत् विलक्षण होने से 'माया' है अर्थात् अनिर्वचनीय है।[3] शंकर 'माया' की दो शक्तियों—आवरण और विक्षेप—का उल्लेख करते हैं। प्रथम के द्वारा अधिष्ठान का सच्चा स्वरूप आवृत्त कर लिया जाता है और दूसरी के द्वारा उस ब्रह्म में आकाशादि-प्रपंच निर्मित हो जाते हैं। इस प्रकार माया इन दोनों शक्तियों के बल पर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति करती है?[4]

---

१. कन्सट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, पृ० २२८।

२. दे०, राधाकृष्णन : फिलासफी आफ दी उपनिषद्ज, पृ० ५९-६०।

३. सन्नाप्यसन्ना प्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नास्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभ्यात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा॥
(वि० चू० श्लोक १११)

४. शक्ति द्वयं हि मायायाविक्षेपवृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥
अन्तर्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥ (दृग्दृश्यविवेक श्लोक १३,१५)
बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ७५८ से उद्धृत।

छोड़कर जहाँ माया के कारण दिन और रात होते हुए कहे गए हैं और जहाँ कारण से सूर्य चन्द्रमा का अनुसरण करता हुआ कहा गया है[1]—व्यक्तिगत तक ही सीमित रहा है।[2]

**उपनिषदों में माया का विचार**—उपनिषदों में वेद की भाँति माया का प्रयोग बहुलता से नहीं हुआ है। ऐसे बहुत थोड़े स्थल हैं जहाँ यह शब्द आ है। एक स्थल पर तो इसका वही अर्थ है जिस प्रारम्भिक अर्थ में वह वेद में प्र हुआ है। प्र० उ० में कहा है—'तेषामसौ विरजो ब्रह्म लोको न येषु जिह्ममनृ माया चेति।[2अ] अर्थात् वे ही लोग सर्वथा शुद्ध और विकाररहित ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं जिनमें न तो कुटिलता है, न झूठ (जिह्मम्) और न माया ही। 'माया' अपने सीमित अर्थ 'कपट' के लिए प्रयुक्त हुआ है। श्वे० उ० में इस श का अर्थ विस्तार से हुआ है। वहाँ यह दो व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ। एक स्‍ पर तो माया और प्रकृति का तादात्म्य स्थापित किया गया है तथा प्रकृति अधिपति परमेश्वर को 'मायिन्' कहा है—'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं महेश्वरम्।[3] स्पष्ट है कि यहाँ 'माया' उस शक्ति-रूपा प्रकृति के अर्थ में प्रयु हुआ है जिसे ऋषियों ने ध्यान-योग के द्वारा जाना था जो त्रिगुणात्मिका है अ परमेश्वर से अभिन्न है जिसके द्वारा वह इस सृष्टि की रचना करता है।[4] इ उपनिषद् में एक अन्य स्थल पर 'माया' शब्द 'अविद्या' के पर्याय रूप में प्रयु हुआ है, जहाँ कहा गया है कि उस परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से, उसी तन्मय हो जाने से विश्व माया की निवृत्ति हो जाती है।[5] यहाँ विश्व माया क निवृत्ति से अभिप्राय उस अविद्या-रूपी गाँठ से है जिसके खुल जाने पर जीवात्म मुक्त हो जाता है, और सांसारिकता से (त्रिगुणात्मिका प्रकृति से) ऊपर उठ क असीम आनन्द का अनुभव करता है।

रानाडे महोदय ने अनेक स्थलों की परीक्षा करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उपनिषदों में वह सब सामग्री विद्यमान है जिसके आधार पर 'शंकर

१. ऋग्वेद १०,८५,१८।
२. देखिये, पी० डी० देवानन्द : दी कन्सेप्ट आफ माया, पृ० २३।
२अ. प्र० उ० १,१६।
३. श्वे० उ० ४,१०।
४. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
य: कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक:॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् १,३)
५. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर: क्षरात्मानावीशते देव एक:।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति:॥
(श्वे० १,११)

ने 'मायावाद' का भवन खड़ा किया।[1] शंकर को 'मायावाद' के प्रतिपादन के लिए सामग्री चाहे उपनिषदों से मिली हो, चाहे प्रच्छन्न बौद्ध गौड़पाद की माण्डूक्य-कारिकाओं की व्याख्या से। इतना सत्य है कि उपनिषदों में जगत् को भ्रम, मिथ्या अथवा ब्रह्म का विवर्त कहीं भी नहीं कहा गया है। यद्यपि उपनिषदों में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध का कहीं भी स्पष्ट रूप से कथन नहीं हुआ, पर इतना अवश्य कहा है कि जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है, वह इसमें व्याप्त है और अपनी सत्ता के लिए उसी ब्रह्म पर आश्रित है, जागतिक विकारों से वह स्वयं विकृत नहीं होता, वह निरपेक्ष है, पर संसार भी सापेक्षिक-सत्य वाली सत्ता है, क्योंकि वही एक संसार की अनेकरूपता को एक सूत्र में बाँधे हुए है।[2] संसार को 'पुरुष-मय' तथा 'ब्रह्म-मय' मानने वाले ऋषियों ने उसे 'विवर्त' अथवा अध्यास कहकर कभी नहीं उड़ाया। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। हाँ, इसे 'अविद्या' (निचला सत्य) कहकर इससे ऊपर उठने (विद्या के क्षेत्र में विचरण करने) के लिए अवश्य कहा गया है।

**शांकर-मायावाद**—शंकर माया को सदसत् से विलक्षण होने के कारण 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। उनके अनुसार 'सत्' वह है जो किसी भी दशा में किसी भी वस्तु द्वारा बाधित न हो। तथा 'असत्' किसी अन्य वस्तु द्वारा बाधित हो जाने वाली पूर्व वस्तु को कहते हैं। शंकर कहते हैं कि इस संसार का ज्ञान ब्रह्म का ज्ञान होने पर बाधित हो जाता है इसलिए उसे 'सत्' नहीं कहा जा सकता, साथ ही उस ज्ञान के उदय से पूर्व तक उसकी प्रतीति भी बनी रहती है इसलिए उसे 'असत्' भी नहीं कह सकते हैं। अतः यह संसार सदसत् विलक्षण होने से 'माया' है अर्थात् अनिर्वचनीय है।[3] शंकर 'माया' की दो शक्तियों—आवरण और विक्षेप—का उल्लेख करते हैं। प्रथम के द्वारा अधिष्ठान का सच्चा स्वरूप आवृत्त कर लिया जाता है और दूसरी के द्वारा उस ब्रह्म में आकाशादि-प्रपंच निर्मित हो जाते हैं। इस प्रकार माया इन दोनों शक्तियों के बल पर ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति करती है?[4]

---

१. कन्सट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, पृ० २२८।

२. दे०, राधाकृष्णन : फिलासफी आफ दी उपनिषद्ज, पृ० ५९-६०।

३. सन्नाप्यसन्ना प्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नास्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभ्यात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा॥
(वि० चू० श्लोक १११)

४. शक्ति द्वयं हि मायायाविक्षेपवृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत्॥
अन्तर्दृश्ययोर्भेदं वहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥ (दृग्दृश्यविवेक श्लोक १३,१५)
वलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ७५८ से उद्धृत।

शकर जगत् को माया के द्वारा उत्पन्न ब्रह्म का विवर्त मानते हैं और उसे काल्पनिक अथवा मानसिक आरोप कहते हैं।[1] शंकर की माया ब्रह्म की नित्य शक्ति न होकर उसकी इच्छा पर आधारित शक्ति है। रामानुज शंकर के 'मायावाद' को स्वीकार नहीं करते। वे जगत् को सत्य तथा ब्रह्म की माया-शक्ति को, ईश्वर की अभिन्न शक्ति मानते हैं। यही 'माया' रामानुज के मत में ब्रह्म में परिणाम उत्पन्न करती है। उपनिषदें ब्रह्म के परिणामी होने की बात का भी उसी प्रकार समर्थन नहीं करतीं जिस प्रकार उसके विवर्त का।

शैव-दर्शन में माया को ब्रह्ममयी, नित्या और सत्य-स्वरूपा मानकर ब्रह्म और माया की एकरसता स्थापित की है। कहा गया है कि जो माया है वही ब्रह्म है। वही अपना आवरक है, वही उन्मीलक है। शक्ति सत्य है सुतरां जीव और जगत भी सत्य हैं—मिथ्या नहीं है, इसीलिए सभी वस्तुएँ शिवमय हैं। अतः यह वैचित्र्य एक का ही विलास है, भेद-अभेद का ही आत्म प्रकाश है, शक्ति-रूप किरण शशि, शिव-रूप सूर्य का ही स्फुरण मात्र है, अन्य कुछ भी नहीं है।[2] माया-सम्बन्धी यह विचार उपनिषदों के अधिक अनुकूल हैं। आधुनिक युग में विवेकानन्द और अरविन्द ने भी माया के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, पर शंकर की पद्धति पर नहीं उपनिषदों की पद्धति पर, जिस पर आगे प्रसंगानुकूल प्रकाश डालेंगे।

जगत के प्रति उपनिषदों के दृष्टि को स्पष्ट करते हुए श्री चक्रवर्ती ने कहा है—"The Stage of duality is also real, though it is not permanent. The ultimate stage is the stage of one ness, the being and the end of all things and it has accordingly been called, the 'reality of reality' the intermediate stage being no less real, so long as it lasts...... According of the view no reiterated in the Upnisad nothing is or can no unreal, because every thing has its root in the Brahman, the ultimate Reality."[3] अद्वैत की स्थिति परम सत्य होते हुए भी द्वैत की स्थिति सत्य है, उपनिषदों के अनुसार कोई भी वस्तु अपने आश्रय के लिए ब्रह्म पर आधारित होने के कारण असत्य और काल्पनिक नहीं हो सकती। 'सैषा ब्रह्मणोऽति सृष्टिः'[4] यह सृष्टि ब्रह्म की रचना है अतः सत्य है। डा० राधाकृष्णन ने भी जगत् के सम्बन्व में इसी मत को प्रकट किया है। वे कहते हैं—

---

१. एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्या प्रत्ययरूपः कर्तृत्व भोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षः। ब्रह्मसूत्र : शांकर-भाष्य, उपोद्घात, पृ० ६३।

२. पं० गोपीनाथ : भारतीय साधना और संस्कृति, पृ० ६।

३. S. C. Chrkravarty : The Philosophy of the Upnisads, p. 184.

४. बृह० उ० १, ४, ६।

"There is hardly any suggestion in the Upnisads that the entire universe of change is a baseless fabric of fancy, a mere phenomenal show or a world of shadows......The Upnisads do not teach that the life is a mere night mare and the world a barren nothing... The world is God's revelation of Himself."[1] उपनिषदों में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता जो यह द्योतित करे कि घटनाओं का यह संसार कल्पना का एक निराधार सूत्र है, अभाव अथवा आभास और छाया-मात्र है। उपनिषद यह शिक्षा कि नहीं देते जीवन केवल छाया मात्र (हौआ) (night mare) है और विश्व कुछ नहीं है। प्रत्युत वे इसे ब्रह्म की स्वयं की अभिव्यक्ति बताते हैं।

**शक्ति परिणामवाद**—माया की सापेक्षता में ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध में इतना विवेचन कर लेने पर भी यह तथ्य स्पष्ट नहीं हुआ कि जगत् का ब्रह्म के साथ क्या सम्बन्ध है। विवर्त और परिणामवाद तो उपनिषदों की शिक्षाओं के अनुकूल बैठते नहीं। इस विषय पर एक अन्य दृष्टि से भी प्रकाश डाला जा सकता है।

श्वे० उ० में सृष्टि के कारणों के प्रसंग में 'दैवात्मशक्ति' का उल्लेख आया।[2] यह शक्ति अपने गुणों—सत रज तम—से ढकी हुई कही गई है। यह परमेश्वर की स्वरूपभूत औचित्य शक्ति है। प्रभु के ईक्षण पर[3] यह शक्ति ही नाना रूप धारण करके इस विशाल विश्व के रूप में प्रसरित हो जाता है। उपनिषदों में ब्रह्म और उसकी शक्ति के बीच के सम्बन्ध को स्वाभाविक कहा है। श्रुति में स्पष्ट कहा है—'परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'[4] ब्रह्म की यही शक्ति नाना नामरूपात्मक विश्वप्रपंच के रूप में रूपान्तरित हो जाती है। प्रलयावस्था में बीज-रूप में (अव्यक्त) परिवर्तित हो जाती है और ब्रह्म की प्रसुप्त शक्ति के रूप में निहित रहती है। इसी कारण इसे कभी सत् (व्यक्तावस्था) और कभी असत् (अव्यक्तावस्था) कहा गया। प्रलयान्त में यह पुनः ब्रह्म के ईक्षण पर सक्रिय होकर विश्वरूप में अपने को रूपान्तरित कर लेती है। इस प्रकार यह सृष्टि देवात्म-शक्ति का रूपान्तरण मात्र है दिव्य मूल तत्व का नहीं।[5]

शक्ति का रूपान्तर ब्रह्म के मूल स्वरूप को प्रभावित नहीं करता। क्योंकि मूल स्वरूप शक्ति का निवास स्थान है जो परिवर्तित शक्ति को आश्रय देता है वह स्वयं शक्ति के परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता। अतः ब्रह्म तो अपने मूल रूप

---

१. Radha Krishnan : The Philosophy of the Upnisads, p. 62.
२. श्वे० उ० १,३।
३. ऐ० उ० १,१।
४. श्वे० उ० ६,८।
५. देखिये, एस० सी० सेन : मिस्टिक फिलासफी आफ दी उपनिषद्ज, पृ० २४५-४६।

में शुद्ध पूर्ण और स्वतन्त्र है और उसकी शक्ति उसके आश्रय में रहकर सृष्टि का सृजन करती है।

इस सिद्धान्त को 'शक्ति-परिणामवाद' कहा जा सकता है जो 'विवर्त' और 'परिणामवाद' के दोषों से मुक्त होकर विश्व को उसका वास्तविक मूल्य प्रदान करता है।

**ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध**—पीछे अद्वैत के प्रसंग में ब्रह्म और जीव के शुद्ध चेतन के मध्य अभिन्नता के सिद्धान्त का उल्लेख कर आए हैं। तात्त्विक दृष्टि से ये दोनों एक ही हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन उपनिषदों का चरम लक्ष्य है, सभी उपनिषदों में परमात्मैक्य की उच्चस्वर से घोषणा की गई है। जीव द्वारा इसी अपने शुद्ध चैतन्य की उपलब्धि को चरम पुरुषार्थ कहा गया है। जब जीव अपने पुरुषार्थ में सफल हो जाता है : ब्रह्म को जान लेता है तो स्वयं भी ब्रह्म रूप हो जाता है—'ब्रह्मैवसन ब्रह्माप्येति।'[1] पर प्रश्न उठता है कि सांसारिक दशा में दोनों का क्या सम्बन्ध है।

वेद में दार्शनिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। वेद में ऐसी उपमाएँ अवश्य आई हैं जिनसे इन दोनों के मध्य भावात्मक दृष्टि से प्रकाश पड़ता है। वैदिक ऋषि ने उस परमप्रभु के साथ माता-पिता, बन्धु, सखा, आदि के अनेक सम्बन्ध स्थापित किए हैं।[2] और एक मंत्र में कहा है—'त्वमस्माकं तव स्मसि'[3] तू हमारा है हम तेरे हैं। यह सम्बन्ध की पराकाष्ठा है। इस प्रकार वेद में ब्रह्म-जीव के परस्पर के सम्बन्ध का वर्णन भावना के धरातल पर हुआ है। उपनिषदों में दार्शनिक दृष्टि से प्रकाश डाला है। इन ग्रंथों में व्यावहारिक दृष्टि से इनका द्वैत स्वीकार करते हुए भी अन्ततोगत्वा अद्वैत का ही प्रतिपादन हुआ है।

उपनिषदों में आई कुछ श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म और जीव में शाश्वत द्वैत की कल्पना की गई है। मध्वाचार्य द्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। रामानुज ने ब्रह्म तथा जीव और प्रकृति के मध्य अंगांगी अथवा अंशांशी सम्बन्ध की कल्पना की। इस सम्बन्ध का आधार भी उपनिषदिक श्रुतियाँ ही हैं। श्रुतियों में कहा गया है कि अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ ब्रह्म में उसी प्रकार समर्पित होकर आश्रित है जिस प्रकार रथ की नाभि और नेमि में रथ के अरे।[4] अन्यत्र कहा गया है—'अग्नि से स्फुलिंग की भाँति सभी उसी से निकले हैं।[5] इन श्रुतियों के आधार पर रामानुज का कथन है कि चिंगारियाँ

---

१. बृह० उ० ४,४,६।

२. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। (ऋ० वे० १,१,९)
 तमित सखित्व ई महे तं राये तं सुवीर्ये। (१,१०,६)
 त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। (८,९८,११)

३. वही, ८,९२,३।

४. बृह० उ० २,५,१५।

५. वही, २,१ २०।

जिस प्रकार अग्नि का अंश हैं उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। इन स्थलों के आधार पर वे जीव-ब्रह्म के बीच अंशांशी भाव की कल्पना करते हैं, यह ठीक है। पर जब वे अभेद श्रुतियों का भी यही अर्थ लगाते हैं कि—ब्रह्म व्यापक है, जब व्याप्य है अथवा विशेषण-विशेष्य, नियामक नियम्य, आधार-आधेय का सम्बन्ध स्थापित करते हैं[1], तभी वे उपनिषदों की भावनाओं से दूर हट जाते हैं। उनका सिद्धान्त 'विशिष्टि-योरैक्यम्' इस स्थापना के अनुसार विशिष्टाद्वैत कहलाता है। उपनिषदों में विशिष्टाद्वैत की प्रतिपादिका श्रुतियाँ हैं, पर अभेद की श्रुतियाँ भी हैं जिनकी रामानुज ने उपेक्षा की है। अथवा श्रुतियों का अर्थ अपने मतानुसार तोड़-मरोड़कर आग्रहपूर्वक किया है।

शंकर ने 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कहकर जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन तो उचित ही किया है। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से उपनिषद् दोनों में स्पष्ट भेद का उल्लेख करते हैं, पर पारमार्थिक दृष्टि से दोनों के नितान्त अभेद की स्थापना भी करते हैं।

व्यावहारिक स्तर पर जीव और ब्रह्म के बीच सम्बन्ध बताने के लिए दो सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं—(१) अन्वच्छेद का सिद्धान्त और (२) प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त।

बादरायण ने ब्रह्म-सूत्रों में अंशो नाना व्यपदेशात् मन्त्रवर्णाच्च' (२,३,४२-४४) कहकर जीव को ब्रह्म का अविभाज्य अंश माना है। इस कथन से स्पष्ट ही ब्रह्म में स्वगत-भेद का दोष आता है जो उपनिषदों की शिक्षा के प्रतिकूल है। अतः शंकर ने बादरायण के दृष्टिकोण को उपनिषदों की भावना के अनुसार अभिव्यक्त किया 'कि जिस प्रकार किसी घट' के अन्दर का आकाश अपने मूल रूप में विश्वाकाश (मठाकाश) से भिन्न अन्य कुछ नहीं है उसी प्रकार मनुष्य की जीवात्मा, विश्वात्मा से भिन्न अन्य कुछ नहीं है। उसे अन्वच्छेद का सिद्धान्त कहा गया है।

**प्रतिबिम्बवाद का सिद्धान्त**—ब्रह्म सूत्र में जीव को ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब कहा है।[2] जिस प्रकार एक ही सूर्य स्वच्छ पानी के अनेकों तालाबों पर चमक कर अनेकों प्रतिबिम्बों को जन्म देता है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनेकों बुद्धि-केन्द्रों पर प्रतिबिम्बित होकर अनेकों विभिन्न ब्रह्म-मूर्तियों (Brahman-images) या जीवों का निर्माण करता है और जिस प्रकार सूर्य अन्य प्रतिबिम्बित आकृतियाँ बाह्य कारणों से कंपित होने पर भी सूर्य को प्रभावित नहीं करतीं उसी प्रकार सांसारिक सुख-दुःखों से प्रभावित होने पर भी जीव अपने सुख-दुःखों से ब्रह्म को प्रभावित नहीं करता। कठ० ३,१-६,५ में इस सम्बन्ध को 'छायातप' इस दृष्टान्त से व्यक्त किया है। प्र० उ० ३,३ में कहा है कि प्राण अथवा जीवित व्यक्तिगत आत्मा

---

१. देखिए, श्रीभाष्य, पृ० ८०।

२. ब्रह्मसूत्र : आभाषा एव च। २,३,५०

विश्वात्मा से उत्पन्न हुआ है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शरीर से उत्पन्न छाया- 'आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छाया।'

इस आभास के सिद्धान्त की दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—(१) छाया को अवास्तिक आकृति मानकर, जो अपने मूल स्रोत से पृथक होते हुए भी उसी पर आश्रित रहती है। (२) अथवा प्रतिबिम्ब को वास्तविक स्वीकार करते हुए तथा यह मानते हुए कि प्रतिबिम्बित पदार्थ माध्यम में वास्तविक रूप से प्रविष्ट होता है जो अपने मूल स्रोत से अभिन्न है, पर मूल स्रोत को प्रभावित या विकृत नहीं करता।

उपनिषद् दूसरे दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं। इसके अनुसार जीव वास्तविक होने के साथ-साथ ब्रह्म से एकत्व भी स्थापित करता है। यह दृष्टिकोण भी अन्वच्छेद के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। उपनिषदों के अनुसार तो एक ही 'सत्' है वही ब्रह्माण्ड का आत्मा है, वही मनुष्य और मनुष्येतर पदार्थों का भी आत्मा है। वही जब शंकर के अनुसार शुद्धसत्व माया में प्रतिबिम्बित होता है तो ईश्वर और जब पिण्ड के विज्ञानमय कोष में प्रतिविम्वित होता है तो जीव इस संज्ञा से अभिहित किया जाता है।[1] शुद्ध जल की भाँति शुद्ध 'स्व' चाहे वह मनुष्य का हो अथवा ईश्वर, हिरण्यगर्भ या परब्रह्म का हो सदैव सच्चिदानन्द ही रहेगा। अतः जीव की उपाधियाँ अथवा पात्र (शरीर) की भौतिक आकृति अस्थायी बाधा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जब तक ये अस्तित्व में है तब ही तक वे जीवात्मा और घटाकाश के रूप में अपने मूल स्रोत से भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु वे न तो मूल स्रोत में कोई वास्तविक भेद की विभाजक रेखा ही खींच सकते हैं और न वे मूल रूप को परिवर्तित ही कर सकते हैं। कठ० ५,९-१० में कहा गया है—

**अग्निर्यथैको भुवनंप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो वहिश्च॥**

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके समान रूप वाला हो रहा है वैसे ही समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपों में उन्हीं के जैसा रूप वाला रहा है। यही भाव वायु के उदाहरण से भी वर्णित हुआ है।

उपनिपदों के अनुसार दिव्य चैतन्य अभिव्यक्ति के स्तर पर दो रूपों में दृष्टिगोचर होता है। समाविष्ट की दृष्टि से संश्लेषणात्मक रूप में दृष्टिगोचर होता है और विशिष्ट इकाई के माध्यम से विश्लेषणात्मक रूप से। प्रथम से हिरण्यगर्भ या विश्वात्मा की उत्पत्ति होती है जो विश्व का धारक है और दूसरे से जीवों की अनेकरूपता की जो शरीर का धारक है, पर चैतन्य अपने मूल रूप में एक ही है।

**भूमा**—संसार के सभी प्राणियों की क्रियाओं अथवा चेष्टाओं के पीछे निहित

---

१. देखिए, एस० सी० सेन : मिस्टिक फिलासफी आफ दी उपनिपद्ज, पृ० ३२-३३।

प्रेरणा-सूत्र का अनुसंधान करें तो हमें यही विदित होगा कि उन सबका लक्ष्य जीवन में अधिक-से-अधिक सुख या आनन्द पाना होता है। सभी यह चाहते हैं कि उन्हें उनके जीवन में सर्वाधिक सुख की उपलब्धि हो। वे उसी दृष्टि से अपने-अपने स्वभाव, रुचि और अवस्था के अनुसार लौकिक विषयों के भोगों तथा तत्सम्बन्धी सामग्री अर्जित करने में जुट जाते हैं। उनके सुख का आनन्द का केन्द्र कभी इस वस्तु से खिसक कर उस वस्तु पर और कभी उससे हटकर किसी अन्य वस्तु पर जा कर टिक जाता है। कभी कमनीय-कामिनी का कान्त कलेवर उसके आकर्षण का केन्द्र बनता है, और कभी स्वर्ग के पारिजात शिशु की प्राप्ति में उसे प्रसन्नता होती है, कभी विश्व के धन-वैभव के अर्जन में उसकी लिप्सा बढ़ती है तो कभी यशो-लिप्सा के लिए लालायित रहता है। हमारे जीवन में यही सब कुछ घटित होता है, यह अनुभूत सत्य है। पर प्रश्न उठता है क्या ये सब वस्तुएँ उसे स्थायी सुख प्रदान करती हैं? क्या इन्हें पाकर अन्य कुछ पाने की जीवन में अभिलाषा नहीं बनी रहती? यद्यपि सामान्य प्राणी इन्हीं की प्राप्ति में सुख का अनुभव करते हैं, पर लोकानुभव बताता है कि लौकिक पदार्थों से प्राप्त सुख क्षणिक और नाशवान है। इन्द्रियों के सम्पर्क से विषयों द्वारा उपलब्ध सुख शक्ति को क्षीण कर पतन की ओर ले जाने वाला होता है, इसी सत्य को पहचान कर तत्व-जिज्ञासु नचिकेता ने यम द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले दुर्लभ लौकिक विषयों को अस्वीकार कर दिया और कहा कि—'ये समस्त भोग तो क्षणभंगुर हैं तथा उनसे प्राप्त होने वाला सुख सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को क्षीण करने वाला होता है।' वस्तुतः इन्द्रियों के भोगों से सच्चा सुख तथा स्थायी आनन्द प्राप्त हो नहीं सकता।[1]

वेद और उपनिषद् दोनों उस दिशा की ओर संकेत करते हैं जो शाश्वत सुख की प्रतिपादिका है। ऋग्वेद का कथन है कि सच्चा सुख आत्म-ज्ञान से होता है—

**यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।**
**तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशोद्यः पितरं न वेद॥** (१,१६४,२२)

जीवन-वृक्ष के स्वादु फलों को वह प्राप्त नहीं कर सकता जो जीवन के नियामक प्रभु को नहीं जानता और उपनिषद् कहते हैं कि सच्चा सुख तो भूमा है। भूमा का अर्थ है महानता की, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति। आत्मा महान् और निरतिशय है, उसी की प्राप्ति से महान् और निरतशय सुख प्राप्त होता है—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं।'[2] भूमा के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए छा० उ० में कहा—'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, और सुनता है, और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है वही अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य है।[3] यह भूमा विज्ञाता

१. कठोपनिषद् १,२३-२६।
२. छा० ७,२३,१।
३. वही, ७,२४,१।

द्रष्टा, आत्मा और महान् है। यह आत्मा ही भूमा है, यही सर्वत्र है। इस 'भूमन्' की इस 'आत्मन्' की अनुभूति प्राप्त करने वाला आत्मरति, आत्मक्रीड़ा, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है, वह स्वराट् है, उसे फिर कुछ अपेक्षित नहीं रहता। इस 'भूमन्' की अनुभूति ही सच्चा सुख है, सच्चा आनन्द है, इसे प्राप्त करके अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जा सकता।

**ऋत-तत्व**—ऋग्वेद में 'ऋत' की बड़ी मनोहर कल्पना हुई है। ५०० से अधिक बार यह शब्द अकेले ऋग्वेद में ही प्रयुक्त हुआ है। यह एक दार्शनिक तत्व है जिसका अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। ऋग्वेद का कथन है कि सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम 'ऋत' ही उत्पन्न हुआ 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।'[1] यह एक ऐसा तत्व है जिसके द्वारा विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा और नियमबद्धता की संस्थापना होती है। विषमता के स्थान पर समता और अशान्ति के स्थान पर शान्ति भी इसी के द्वारा दृष्टिगोचर होती है। यह 'ऋत' तत्व वेद में ब्रह्म के समकक्ष स्थान प्राप्त किए हुए है। सभी देवता इससे उत्पन्न, इसी के स्वरूप तथा इसी तत्व के कारण वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋतरूप कहे गए हैं (६,१०८,८)।

यह शब्द 'ऋ गतौ' इस धातु से 'क्त' प्रत्यय लगाकर भाव या कर्म वाच्य में 'ऋत' बनता है जिसके अभिप्राय को वी० एम० आप्टे ने इस प्रकार प्रकट किया—(Some thing) gone over (correctly) or better 'the correct order of going.'

अर्थात् 'गमन का ठीक मार्ग।[2] अपने मौलिक अर्थ में 'ऋत' वह सम्यक् मार्ग है जिससे देवतागण बिना किसी त्रुटि के गमन करते हैं। वेद में द्यौ की पुत्री ऊषा ऋत के मार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण करती हुई कही गई है। वह जानती हुई की भाँति अपना पथ नहीं भूलती।[3] एक अन्य मंत्र में कहा है कि द्वादशाक्षरों के साथ 'ऋत' का चक्र द्यौ में घूमता रहता है जिसमें ७२० पुत्र स्थित रहते हैं। यह निश्चय ही रात्रि-चक्र है जिसमें गृहों की गति (१२ मास अरे) ३६० दिन और रात युगक्त ७२० ऋत के चक्र रूप में संकेतित किए गए हैं।[4] इसी अर्थ को द्योतित कराने के लिए ऋ० वे० में अनेक मंत्र आए हैं।

'ऋत तत्व' नैतिक और सामाजिक स्तरों पर व्यवस्था और संगठन के अर्थ को भी द्योतित करता है। नैतिक-नियमों के अधिष्ठाता वरुण के साथ 'ऋत' का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह नैतिक-नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देता है।

---

१. ऋ० वे० १०, १९०,१।
२. V. M. Apte : Rta in the Rigved Anuals of the Bhandarkar Res. Inst. Vol. XXIII-1942.
३. ऋग्वेद १, १२४, ३।
४. वही, १,१६४,११।

इस प्रकार इस दण्ड की व्यवस्था से समाज में शांति स्थापित होती है। यही नियम व्यष्टि के स्तर पर व्यक्ति के जीवन में भी क्रियान्वित होता है। व्यक्ति के जीवन में कर्म एक ऐसा तत्व है जो उसके भावी जीवन के लिए व्यवस्था प्रदान करता है अतः ऋत का सम्बन्ध 'कर्मवाद' 'नियतिवाद' से भी है।[1] यही ऋत का सिद्धांत मीमांसा में 'अपूर्व' के रूप में अंगीकार किया है। और न्याय-वैशेषिक में 'अदृष्ट' की कल्पना का भी मूलाधार 'ऋत' की यही वैदिक कल्पना है तथा उपनिषदों के कर्म-वाद के पीछे भी मूलाधार 'ऋत' स्पष्टतः कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2]

'ऋत्' की भाँति 'सत्य' भी अभीद्ध तप से उत्पन्न हुआ कहा गया है। 'ऋत' यदि गति का सत्य है तो 'सत्य' सत्ता का, स्थिति का सत्य है। सत्य और ऋत ये दोनों तत्व ही प्राकृतिक एवं नैतिक सभी स्तरों पर सृष्टि की सत्ता और उसमें व्यवस्था बनाये रखते हैं।

**रहस्यवाद**—श्री अरविन्द के अनुसार 'प्रायः सब जगह ही एक ऐसा रहस्यात्मकता का युग रहा है जिसमें कि गंभीरतर ज्ञान और आत्म-ज्ञान रखने वाले लोगों ने आत्म-साधना द्वारा प्रकृति के समस्त पदार्थों के पीछे एक ऐसी सत्ता को पहचाना था जो स्वयं उनके अपने अन्तर में भी विद्यमान थी। भारत में इस रहस्य को जानने वाले, ऋषि कहलाये। इस अन्तरतर सत्ता को जान लेना एक महती आध्यात्मिक आवश्यकता समझी जाने लगी, अतः भारत के ऋषि-वर्ग ने आत्म-साधना द्वारा उस तत्व को ढूंढ कर प्रतीकों की भाषा में व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। इस आत्म-सम्बन्धी ज्ञान को गुरु द्वारा शिष्य तक पहुंचाये जाने के लिए प्रतीकों का पर्दा इसलिए रखा जाना आवश्यक समझा गया कि उनमें निहित तथ्य केवल दीक्षितों द्वारा ही समझे जा सकें तथा अन्यों को या तो अविदित रहे या उन द्वारा वे एक ऐसे अर्थ में समझे जायें जो बाह्य और ऊपरी हों, ताकि वे उनसे उत्पन्न शक्ति का दुरुपयोग न कर सकें। सब जगह के रहस्यवाद का सारांश यही था।[3] इस प्रकार वैदिक-ऋषि रहस्यवादी कवि थे जिनके वचनों में अद्भुत रहस्य छिपा होता था जो प्रतीकात्मक शैली में वर्णित होने के कारण दीक्षितों को ही समझ में आते थे। अतः श्री अरविन्द के अनुसार सारा वैदिक काव्य रहस्य-काव्य है। वैदिक-रहस्यवाद पर कुछ कहने से पूर्व आधुनिक विद्वान. की रहस्यवाद के सम्बन्ध में क्या धारणा है यह जान लेना आवश्यक है।

**सामान्य परिचय**—रहस्य शब्द का मूल 'रहस्' पर आधारित है जो स्वयं 'रह्-त्यागे' के अनुसार 'त्याग करना' अर्थ रहने वाली धातु 'रह् से असुन्' प्रत्यय लगाकर बना कहा जा सकता है। इस प्रकार इसका अर्थ साधारणतः 'विविक्त'

---

१. देखिये, S.C. Sen : Mystic Philosophy of the Upnishads, p. 284.
२. कठोपनिषद् ५,२।
. देखिये, वेदरहस्य, भाग ३, पृष्ठ १४-१६।

'विजन' 'गुह्य' और एकांत होता है। अतः इसके द्वारा 'रहस्यमयता' का, गोपनीयता का बोध होना स्वाभाविक ही है। गीता में आये हुए 'योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः' (६, १०) में 'रहसि' शब्द इसी भाव का परिचायक है। इसी प्रकार ऋग्वेद २, २९, १ में दीख पड़ने वाले 'रहसूरिवागः' के 'रहस्' शब्द का प्रयोग भी लगभग इसी भाव को सूचित करता प्रतीत होता है। 'मेदिनी कोश' में 'रहस्' की व्याख्या करते हुए कहा है—'रहस्तत्वे रमे गुह्ये'। गीता में भी इसके लिए 'गुह्याद्-गुह्यतरम्' (४, ३६) सर्वगुह्यम् परमगुह्यं तथा वेद में 'निण्या वचांसि' (ऋग्वेद ४, ३, १६) ऐसे शब्दों का प्रयोग हुआ हैं जो उसकी गंभीरता को ध्वनित करता है। इस प्रकार रहस्यवाद से एक ऐसे सिद्धान्त का संकेत मिलता है जो गोपनीय हो, गंभीर हो, रहस्यमय हो अर्थात् जो सामान्य श्रेणी के मनुष्यों की पहुँच से परे की वस्तु है।

रहस्य-भावना कम-से-कम दो बातों पर आधारित है—प्रथम किसी परोक्ष सत्ता के अस्तित्व में विश्वास, दूसरे उसके साथ बुद्धि अथवा हृदय के धरातल पर तादात्म्य एकरस अथवा समरसता की अनूभूति करना। दूसरे शब्दों में उस परम सत्ता के प्रति प्रेम की अनुभूति होने तथा अपने प्रेम पात्र को आत्मसात कर लेने की अपेक्षा उसके प्रति अपने को पूर्णतः समर्पित कर देने की मनोभावना अधिक काम करती है।

वैदिक वाङ्मय में उस परमसत्ता के प्रति रहस्य साधक का प्रेम-भाव कम पर बुद्धि के धरातल पर आत्मसमर्पण अधिक है। वेद के ऋषि उस परम सत्ता के अस्तित्व के विषय में पूर्ण आश्वस्त थे। यह हम पहले ही कह आए हैं अतः वहाँ तत्सम्वन्धी जिज्ञासाएँ पर्याप्त मात्रा में हुई हैं। उसकी स्तुति, उससे विनय और प्रार्थनाएँ की गयी हैं, उसके प्रति आत्मसमर्पण, भक्ति-भावना, विह्वलता और कातरता आदि के भाव भी प्रकट किए गये हैं। उस सत्ता से आत्मा की अपरोक्षानुभूति के संकेत भी वेद में मिलते हैं। यजुर्वेद का ऋषि उस परम पुरुष की दिव्यानुभूति का वर्णन करते हुए कहता है—

> वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णः तमसः परस्तात्।
> तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ (३२,१८)

'वेदाहम्' ऋषि का यह कथन उसकी परमसत्ता की अपरोक्षानुभूति की स्वीकारोक्ति है। 'आदित्य वर्णः तमसः परस्तात्' कहकर उसके ज्योतिर्मय स्वरूप का परिचय भी दिया गया है, और यह भी कहा गया है कि उसे जाने विना अमरत्व-प्राप्ति का, मोक्ष का, अन्य कोई उपाय नहीं है। यजुर्वेद उसकी प्राप्ति के उपाय की ओर भी संकेत करते हुए कहता है—"श्रद्धया सत्यम् आप्यते।' (१९, ३०) वह आत्म-समर्पण आध्यात्मिक जीवन अर्थात् श्रद्धा द्वारा उपलब्ध हो सकता है।

वेद में उस अव्यक्त चेतन से विह्वल होकर वैयक्तिक तादात्म्य स्थापित करने की इच्छा व्यक्त करते हुए कहा कि—"मैं और मेरे देव दोनों जब नाव पर चढ़कर

उसे समुद्र के वीच में ले गये तब जल के ऊपर शोभा प्राप्त करते हुए झूले में झूले।"[1] एक अन्य मंत्र में उससे पूर्व के अविच्छिन्न सख्य-भाव की पुनः-प्राप्ति एवं दर्शनों के लिए वैष्णव भक्तों की भाँति विह्वलता प्रकट की गई है।[2] एक अन्य ऋचा में रहस्यवादी वैदिक कवि पूछता है कि—"कब मैं अपने इस शरीर से उनकी स्तुति करूँगा, उससे साक्षात् सम्वाद करूँगा और जब मैं उस वरण योग्य के हृदय के भीतर एक हो सकूँगा।"[3] उस सत्ता से तादात्म्य एवं दर्शनों की कितनी प्रबल आकांक्षा इन ऋचाओं में व्यक्त हुई यह द्रष्टव्य है।

अथर्ववेद में भी अनेकों रहस्यमयी उक्तियाँ आई है। एक मंत्र में कहा है—"वह परम सत्ता हमारे इतने निकट है कि हम उससे क्षणभर भी दूर नहीं हो पाते, पर विचित्रता यही है कि उसके इतने समीप होते हुए भी उसका देख पाना दुष्कर है, यह सारा विश्व उस सृजनशील की अनुपम कविता है।" ऐसा वह प्रभु अमर और निर्जर है—

**"अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति।**
**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥"[4]**

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वेद में रहस्य-वृत्ति पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। जिज्ञासा रहस्य-वृत्ति का प्रथम चरण है—ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इस समस्त सृष्टि से सृजक, धारक एवं संहारक के विषयक में बड़ी ही मनोहर जिज्ञासाएँ की गई हैं। ऋग्वेद के 'हिरण्य-गर्भ' सूक्त का ध्रुव पद 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' वैदिक ऋषियों की इसी जिज्ञासा-वृत्ति का उद्घाटन करता है। अथर्ववेद में तो कई ऐसे सूक्त हैं जिनमें सृष्टि के कारण-रूप परम सत्ता के सम्बन्ध में अति सुन्दर जिज्ञासाएँ व्यक्त की गई हैं। इस दृष्टि से अथर्ववेद में अनेकों मन्त्र उपलब्ध होते हैं, परन्तु दशम-मण्डल का सप्तम सूक्त विशेष द्रष्टव्य है जहाँ ऋषि ने बार-बार पूछा है कि—'स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः' उस आश्रय को बताओ वह कौन सा पदार्थ है? ऋग्वेद में रहस्यवाद के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डालते हुए एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि 'भारत की पवित्र भूमि पर रहस्यवाद के जिन स्वरूपों को हम पनपता हुआ देखते हैं उसका मूल स्रोत ऋग्वेद में विद्यमान है।[5]

**उपनिषदों में रहस्य-भावना**—वेद का रहस्यवाद उपनिषदों में आकर अपनी

---

१. ऋग्वेद ७,८८,३।
२. वही, ७,८८,५।
३. वही, ७,८६,२।
४. अथर्ववेद १०,८,३२।
५. "The Rig Ved is historically speaking the source of all later mysticism that thrived on Indian soil." (Mysticism in R.V. by T.G. Mainker)

काष्ठा को प्राप्त हुआ है। उपनिषद् वास्तव में किसी तर्क-प्रणाली के आधार पर किसी व्यवस्थित दार्शनिक सिद्धांत अथवा मतवाद की स्थापना नहीं करते प्रत्युत वे तो उपनिषदों के ऋषियों की अन्तःप्रेरणा की उच्चावस्था में समय-समय पर अधिगत हुई रहस्यानुभूतियों के प्रकाशन-मात्र हैं, और यही कारण है कि तर्कना-शक्ति की अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणा को अधिक उत्साहित करते हैं, वे बुद्धि की अपेक्षा अन्तर्मन को अधिक प्रभावित करते हैं। और यही कारण है कि उनमें किसी दार्शनिक मतवाद के उपोद्घात एवं विकास की-सी नियमबद्धता एकसूत्रता एवं व्यवस्था नहीं दिखाई देती।[१] एस० एन० दास गुप्ता ने औपनिषदिक ऋषियों की अनुभूतियों को रहस्यात्मक कहा है जो नवीन प्रकाश की किरणों में चमक के साथ अन्तरात्मा से विकरित होती है।[२]

**साध्य**—उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य एक ऐसी सत्ता के स्वरूप का उद्घाटन कर उसकी प्राप्ति के उपाय बताना है जो विश्व-व्याप्त होते हुए भी विश्वातीत है। इसी परम सत्ता के तात्त्विक स्वरूप की उपलब्धि कर लेना ही मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ है। केन० २,१३ में इसी दृष्टि से कहा है—'इह चदेव दीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः।' यदि उसे इस जीवन में जान लिया तो जीवन सफल हो गया अन्यथा महान् नाश है। कठ० भी इसी तथ्य का समर्थन करता है।[3] इस प्रकार विश्वात्मक सत्ता की अनुभूति ही रहस्य-साधना का साध्य है। इसीलिए वैदिक-युग में ब्रह्म और आत्मा-सम्बन्धी अनेक मनोहर-जिज्ञासाएँ की गई हैं। उस आत्मा के सम्बन्ध में जानने की इच्छा प्रकट की गई है जिससे मनुष्य देखता और सूँघता है—कतरः स आत्मा, येन व पश्यति, येन व शृणोति, येन वा गन्धानां जिघ्रति···।[४] इसी प्रकार की जिज्ञासाएं केन० और श्वे० उ० के आरम्भिक मंत्रों में आई हैं।

**रहस्यानुभूति के साधन**—रहस्यानुभूति एक प्रकार से 'योग' अथवा 'यूनियन है जिसके विषय में यह कहा गया है कि यह वस्तुतः उस मिलन व संयोग का ही

---

१. The Upnisads do not really give us any logical system, but rather intutions and revelations received in the high flights of inspiration...They do more awaken spirit and inspiration than to encourage logical thinking. They are rich and definite in conclusions. (M. N. Sarcar : Hindu Mysticism. p. 3)

२. "They (Upnisads) are mystical experiences of soul gushing forth from within us; they sparkle with the beams of a new light they quench our thirst, born at their very sight." (S.N. Das Gupta : Hindu Mysticim, page 29)

३. कठ० २,४,१।

४. ऐ० उ० ३,१।

नाम है जो किसी साधक एवं उसके साध्य के बीच घटित हो। इस उद्देश्य के लिए तीन प्रकार की साधनाएँ प्रचलित हैं। कायिक, मानसिक वा व्यावहारिक प्रथम के अन्तर्गत, हठयोग, मंत्र-योग, शब्द-योग प्रणवयोग आदि की प्रक्रियाएँ आती हैं। चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा कैवल्य की प्राप्ति इसका मुख्य लक्ष्य है। व्यावहारिकयोग के अन्तर्गत—ज्ञानयोग कर्मयोग, भक्ति और प्रेमयोग आदि की गणना होती है। अंडरहिल ने रहस्य-मार्ग की पांच विभिन्न क्रमिक दशाओं—परिवर्तन (conversion), आत्मज्ञान (self-knowledge), उद्भासन (Illumination), आत्म-समर्पण (surrender) और संयोग (Union) का वर्णन किया है।[1] और इसी प्रकार सूफियों के रहस्यमार्ग में भी सात मुकामात का वर्णन किया है।[2]

उपनिषदों में यद्यपि सूफी या अन्य मतों में उल्लिखित सोपानों की भाँति क्रमिक सोपानों का स्पष्टतः उल्लेख नहीं मिलता तो भी साधन-रूप में आत्मिक गुणों यथा आभ्यन्तरिक दृष्टि,[3] दुराचारण से निवृत्ति[4] सत्य और संयम का जीवन,[5] शक्ति का अर्जन[6] आदि—के संचय करने का उल्लेख बार-बार आया है जिनको प्राप्त किए बिना वैसी अनुभूति होनी कठिन है। इसके अतिरिक्त कर्म और ज्ञान का समन्वय (ईश० ६) और ओ३म् के ध्यान द्वारा भी आत्मानुभूति प्राप्त हो सकती है। (देखिए कठ० १,२ ५,७ छा० उा० २,२३,३, मु० उ० २,२,३-४)।

**रहस्यानुभूति का स्वरूप**—उपनिषदों में ब्रह्मानुभूति के यत्र-तत्र अनेक संकेत भी मिलते हैं। श्वे० में तत्सम्बन्धी अनुभूति का विभिन्न प्रकाश और आकृति के रूप में वर्णन आया है।[7] इसी प्रकार बृह० उ० में अनेक रूपों में उसकी अनुभूति का परिचय दिया है।[8] छा० उ० रथ के घोष और बैल के डकारने जैसी ध्वनि के रूप में उसका वर्णन आया है।[9]

**अनुभूति की अनिर्वचनीयता**—ब्रह्म-सम्बन्धी अनुभूति इतनी विचित्र है कि उसको ठीक-ठीक शब्दों में प्रकट कर देना असम्भव ही है। वह गूंगे के गुड़ जैसी गूढ और अनिर्वचनीय होती है। इसी दृष्टि से उपनिषदों ने कहा है—न वहाँ नेत्र जा पाते हैं, न वाणी, न मन—'न तत्र चक्षु र्गच्छति नो वाग्गच्छति न मनो।[10]

---

१. Mysticism by Underhill, p. 170.
२. देखिए, परशुराम चतुर्वेदी : रहस्यवाद, पृ० ४८-४९।
३. कठ० ४,१; श्वे० ३,१८।
४. वही, २,२४।
५. मु० उ० ३,१,५।
६. मु० ३,२,४।
७. श्वे० उ० २,११।
८. बृह० उ० २,३,६।
९. छा० उ० ३,१३,८।
. केन० उ० १,३।

काष्ठा को प्राप्त हुआ है। उपनिषद् वास्तव में किसी तर्क-प्रणाली के आधार पर किसी व्यवस्थित दार्शनिक सिद्धांत अथवा मतवाद की स्थापना नहीं करते प्रत्युत वे तो उपनिषदों के ऋषियों की अन्त:प्रेरणा की उच्चावस्था में समय-समय पर अधिगत हुई रहस्यानुभूतियों के प्रकाशन-मात्र हैं, और यही कारण है कि तर्कना-शक्ति की अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणा को अधिक उत्साहित करते हैं, वे बुद्धि की अपेक्षा अन्तर्मन को अधिक प्रभावित करते हैं। और यही कारण है कि उनमें किसी दार्शनिक मतवाद के उपोद्घात एवं विकास की-सी नियमवद्धता एकसूत्रता एवं व्यवस्था नहीं दिखाई देती।[1] एस० एन० दास गुप्ता ने औपनिषदिक ऋषियों की अनुभूतियों को रहस्यात्मक कहा है जो नवीन प्रकाश की किरणों में चमक के साथ अन्तरात्मा से विकरित होती है।[2]

**साध्य**—उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य एक ऐसी सत्ता के स्वरूप का उद्घाटन कर उसकी प्राप्ति के उपाय वताना है जो विश्व-व्याप्त होते हुए भी विश्वातीत है। इसी परम सत्ता के तात्विक स्वरूप की उपलब्धि कर लेना ही मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ है। केन० २,१३ में इसी दृष्टि से कहा है—'इह चदेव दीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टि:।' यदि उसे इस जीवन में जान लिया तो जीवन सफल हो गया अन्यथा महान् नाश है। कठ० भी इसी तथ्य का समर्थन करता है।[3] इस प्रकार विश्वात्मक सत्ता की अनुभूति ही रहस्य-साधना का साध्य है। इसीलिए वैदिक-युग में ब्रह्म और आत्मा-सम्बन्धी अनेक मनोहर-जिज्ञासाएँ की गई हैं। उस आत्मा के सम्बन्ध में जानने की इच्छा प्रकट की गई है जिससे मनुष्य देखता और सूँघता है—कतर: स आत्मा, येन व पश्यति, येन व शृणोति, येन वा गन्धानां जिघ्रति···।[4] इसी प्रकार की जिज्ञासाएं केन० और श्वे० उ० के आरम्भिक मंत्रों में आई हैं।

**रहस्यानुभूति के साधन**—रहस्यानुभूति एक प्रकार से 'योग' अथवा 'यूनियन' है जिसके विषय में यह कहा गया है कि यह वस्तुत: उस मिलन व संयोग का ही

---

१. The Upnisads do not really give us any logical system, but rather intutions and revelations received in the bigh flights of inspiration...They do more awaken spirit and inspiration than to encourage logical thinking. They are rich and definite in conclusions. (M. N. Sarcar : Hindu Mysticism. p. 3)

२. "They (Upnisads) are mystical experiences of soul gushing forth from within us; they sparkle with the beams of a new light they quench our thirst, born at their very sight." (S.N. Das Gupta : Hindu Mysticim, page 29)

३. कठ० २,४,१।

४. ऐ० उ० ३,१।

**परमव्योमन**—वेद और उपनिषद् में वैदिक ऋषियों की रहस्य-भावना के अन्तर्गत एक ऐसे लोक का वर्णन भी आया है जो दिव्य, विचित्र और रहस्यमय है। ऋषि उस दिव्य, अभय, ज्योति-धाम की ओर ले चलने के लिये प्रभु से प्रार्थना करता है।[1] इस ज्योतिर्धाम को 'पुरुष-सूक्त' में 'अमृत' कहा गया है।[2] वहाँ प्रभु के तीन अविनाशी पद विद्यमान रहते हैं। 'विष्णु-सूक्त' में इसे 'मधु का उत्स' कहा गया है। वेद में अन्यत्र इसी का 'तृतीय धाम' कहकर परिचय दिया है।[3] और लिखा है कि इस धाम में देव अमृत का उपभोग करते हैं। अन्यत्र यही लोक 'स्वः' "बृहत् द्यौ" 'परम धाम' और 'परम व्योम' के रूप में अभिहित किया गया है।[4]

इस रहस्यमय लोक के सम्बन्ध में वेदों में विस्तार से प्रकाश भी डाला गया है। ऋषि प्रार्थना करते हुए कहता है। हे पवमान ! जिस लोक में सुख ही सुख है, जहाँ अजस्र ज्योति है, उस अमृत, अक्षित लोक में भी मुझे पहुँचा दो "यत्र-ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् माधेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते।[5] इसी सूक्त में ऋषि कहता हैं—'जहाँ तीनों दुखों से सहित और तीनों प्रकाशों से प्रकाशित अवस्था है, जहाँ संकल्प के अनुकूल विचरण है, जहाँ ज्योष्मिान लोक है, जहाँ काम और निकामों की पूर्णता है, जहाँ सूर्य का लोक है, जहाँ आत्म-स्वरूप में अवस्थिति एवं तृप्ति है, जहाँ आनन्द, मोद्, मुद और प्रमुद है और जहाँ काम की भी कामनाएँ अवशिष्ट नहीं, वहीं मुझे अमृत बनाकर रख दो।[6] एक अन्य मंत्र में ऋषि कहता है कि जहाँ निरन्तर प्रकाश वना रहता है, जहाँ आनन्द ही आनन्द है, जहाँ मरण-रहित, क्षयरहित अवस्था है जहाँ अखण्ड निर्भयता और कल्याण है। मुझे भी हे इन्द उसी लोक में ले चलो ![7] यह वह लोक है जिसमें समस्त देवता और सभी वेद स्थित कहे गए हैं।[8]

वेद में आए दिव्य लोक-सम्बन्धी इस वर्णन के आधार पर ही परवर्ती भक्ति और रहस्यवादी साहित्य में इस लोक को विभिन्न नामों से पुकारा है। वैष्णवों ने इसे 'वैकुण्ठ', वृन्दावन' 'गोलोक', 'साकेत', आदि नाम दिये। नाथ-पंथी और शैव इसे 'कैलाश' तथा 'मानसरोवर' कहने लगे। बौद्धों के यहाँ यह परमव्योम 'शून्य' और 'निर्वाण' की अवस्था में परिगणित हो गया। वैदिक परमव्योम को ही कबीर 'गगन'

१. न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीन मादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम ॥(ऋ० २,२७,११)
२. ऋग्वेद १०,९० ३।
३. यजु० ३२,१०।
४. ऋग्वेद १०,१२९,७।
५. ऋग्वेद ९,११३,७।
६. वही, ९,११३, ८,११।
७. वही, ६,४७,८।
८. वही, १,१६४,३९।

उसे वाणी मन-सहित अप्राप्त करके लौट आती है।[1] कठ० उ० ५,१२ में भी यही विवशता प्रकट की गई है। इसीलिए वैदिक कवियों ने उसके लिए अनेक विरोधी लक्षणों का प्रयोग किया है।

**तादात्म्य**—उसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसे जानकर स्वयं भी ब्रह्म-रूप हो जाया करता है—'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'[2] ध्यान योग द्वारा उसे प्राप्त करके धीर पुरुष हर्ष एवं शोक दोनों से सर्वथा मुक्त होकर सर्वथा शांति की दशा में आ जाता है। (कठ० १,२,१२) और उसे प्राप्त कर लेने पर सब कुछ ब्रह्ममय प्रतीत होने लगता है (मुंडकोपदिषद् २,२, ११)। ईश० उ० में इसीलिए उसे तादात्म्य की प्राप्ति की आकांक्षा से साधक द्वारा बेचैनी और आर्त-भाव की अवस्था में अभिव्यक्त की गई सुन्दर मनुहार की झाँकी मिलती है। साधक पूषन् से उस चमकदार बाह्य आवरण को हटाने के लिए प्रार्थना करता है जिसने सत्य के मुख को ढक लिया है। यह उस अतिशय कल्याणमय दिव्य स्वरूप में दर्शनों के लिए विह्वलता प्रकट करता है जो दिव्य स्वरूप स्वयं उसके अन्तरतर में अन्तर्हित है।[3] साधक द्वारा ब्रह्म से तादात्म्य की आकांक्षा प्रकट करने के लिए व्यक्त विह्वलता का यह सभी उपनिषदों में व्यक्त सुन्दरतम उदाहरण है।

प्राचीन भारतीय आर्यों की ऐसी मनोवृत्ति के कारण इस देश के लोगों को स्वभावतः रहस्यवादी कहा गया है। Amary De Reid Court ने अपनी एक पुस्तक The soul of India में भारतीय आर्यों की धार्मिक मनोवृत्ति को रहस्यवादी कहा है। इस सम्बन्भ में विन्टरनिट्ज का कथन है—'उपनिषदों के रहस्यवादी सिद्धान्तों की धारा फारस के सूफीमत की ओर प्रवाहित हुई होगी, वह नव अफलातूनियों तथा आलेगजाँड्रिया के ईसाइयों की 'ब्रह्म-विद्या' और 'लोगसवाद' द्वारा होती 'ईसाई' रहस्यवादी एखार्ट और टनलर तक पहुँची होगी और फिर उन्नीसवीं शताब्दी के महान् जर्मन रहस्यवादी शोपेनहार की दार्शनिक विचारधारा में परिणत हुई होगी।[4] विन्टरनिट्ज के इस कथन में सत्य का अंश पर्याप्त मात्रा में विद्यमान दृष्टिगोचर होता है।

---

१. तै० उ० ४,१।

२. मु० उ० ३,२,९।

३. ईश० उ० १५-१६।

४. From the mystical doctrines of Upnisads one current of the thought may be traced to the Persian Sufism, to the mystic theosophical logos doctrine of the Neo-Platonics and the Alexandrian Christian down to the teaching of the Christian mystics Ekhart & Tanler, and finally to the philosophy of the great German mystic of the nineteenth century, Schopenhaur."
(A History of Indian Literature, Vol. I, P. 266).

**परमव्योमन**—वेद और उपनिषद् में वैदिक ऋषियों की रहस्य-भावना के अन्तर्गत एक ऐसे लोक का वर्णन भी आया है जो दिव्य, विचित्र और रहस्यमय है। ऋषि उस दिव्य, अभय, ज्योति-धाम की ओर ले चलने के लिये प्रभु से प्रार्थना करता है।[1] इस ज्योतिर्धाम को 'पुरुष-सूक्त' में 'अमृत' कहा गया है।[2] वहाँ प्रभु के तीन अविनाशी पद विद्यमान रहते हैं। 'विष्णु-सूक्त' में इसे 'मधु का उत्स' कहा गया है। वेद में अन्यत्र इसी का 'तृतीय धाम' कहकर परिचय दिया है।[3] और लिखा है कि इस धाम में देव अमृत का उपभोग करते हैं। अन्यत्र यही लोक 'स्व:' "बृहत् द्यौ" 'परम धाम' और 'परम व्योम' के रूप में अभिहित किया गया है।[4]

इस रहस्यमय लोक के सम्बन्ध में वेदों में विस्तार से प्रकाश भी डाला गया है। ऋषि प्रार्थना करते हुए कहता है। हे पवमान ! जिस लोक में सुख ही सुख है, जहाँ अजस्र ज्योति है, उस अमृत, अक्षित लोक में भी मुझे पहुँचा दो "यत्र-ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् माधेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते।[5] इसी सूक्त में ऋषि कहता हैं—'जहाँ तीनों दुखों से सहित और तीनों प्रकाशों से प्रकाशित अवस्था है, जहाँ संकल्प के अनुकूल विवरण है, जहाँ ज्योष्मिान लोक है, जहाँ काम और निकामों की पूर्णता है, जहाँ सूर्य का लोक है, जहाँ आत्म-स्वरूप में अवस्थिति एवं तृप्ति है, जहाँ आनन्द, मोद्, मुद और प्रमुद है और जहाँ काम की भी कामनाएँ अवशिष्ट नहीं, वहीं मुझे अमृत बनाकर रख दो।[6] एक अन्य मंत्र में ऋषि कहता है कि जहाँ निरन्तर प्रकाश बना रहता है, जहाँ आनन्द ही आनन्द है, जहाँ मरण-रहित, क्षयरहित अवस्था है जहाँ अखण्ड निर्भयता और कल्याण हैं। मुझे भी हे इन्द उसी लोक में ले चलो![7] यह वह लोक है जिसमें समस्त देवता और सभी वेद स्थित कहे गए हैं।[8]

वेद में आए दिव्य लोक-सम्बन्धी इस वर्णन के आधार पर ही परवर्ती भक्ति और रहस्यवादी साहित्य में इस लोक को विभिन्न नामों से पुकारा है। वैष्णवों ने इसे 'वैकुण्ठ', वृन्दावन' 'गोलोक', 'साकेत', आदि नाम दिये। नाथ-पंथी और शैव इसे 'कैलाश' तथा 'मानसरोवर' कहने लगे। बौद्धों के यहाँ यह परमव्योम 'शून्य' और 'निर्वाण' की अवस्था में परिगणित हो गया। वैदिक परमव्योम को ही कबीर 'गगन'

---

१. न दक्षिणा विचिकिते न सख्या न प्राचीन मादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम ॥ (ऋ० २,२७,११)
२. ऋग्वेद १०,९० ३।
३. यजु० ३२,१०।
४. ऋग्वेद १०,१२९,७।
५. ऋग्वेद ९,११३,७।
६. वही, ९,११३, ८,११।
७. वही, ६,४७,८।
८. वही, १,१६४,३९।

आदि नामों से पुकारते हैं।

**सर्ववाद**—वेद और उपनिषदों को दार्शनिक चिन्तन, सर्ववादी, चिंतन कहा जाता है। पर यह वैदिक सर्ववादी दृष्टिकोण से भिन्न है, जिसके अनुसार ईश्वर स्वयं को विश्व में रूपान्तरित करके विश्व का निर्माण करता है और इस प्रकार वह अपने सर्वातिशायी रूप को खो बैठता है। ऐसे सर्ववादी दृष्टिकोण में ईश्वर और विश्व पर्यायवाची संज्ञाएँ हो जाती हैं।[1] यदि सर्ववाद की यही परिभाषा है जिसका ऊपर उल्लेख आया है तो वेद और उपनिषदें सर्ववादी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वेद और उपनिषदों में ऐसे अनेक मंत्र आए हैं जो यह घोषित करते हैं कि विश्व की सृजन-प्रक्रिया के साथ-साथ ईश्वर का सर्वातिशायी स्वरूप जो उसका तात्विक रूप है समाप्त नहीं हो जाता। वैदिक श्रुतियाँ जहाँ यह कहती हैं कि 'इस परमेश्वर से समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इसी से अमुक रूपों वाली नदियाँ प्रवाहित होती हैं तथा इसी से सम्पूर्ण औषियाँ और रस उत्पन्न हुए हैं और वह सबमें व्याप्त है।[2] जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि में से उसी के समान रूप वाली हजारों चिंगारियाँ नाना प्रकार से प्रकट होती हैं उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं।[3] और भूत तथा भव्य यह सब कुछ पुरुष ही है।[4] वहाँ इन्हीं श्रुतियों में यह भी कहा कहा गया है कि यह सम्पूर्ण भूत उसका एक पाद है, उसके तीन पाद तो अविनाशी दिव्य लोक में विद्यमान है—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि।[5] ब्रह्म की सर्वातिशयता के विषय में यही भाव छा० उ० और बृह० उ० की श्रुतियों में भी आया है।[6] उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं कि यह विश्व ईश्वर में आश्रित है, पर वे यह कहीं नही कहतीं कि विश्व ईश्वर है। वह अपनी रचना विश्व से कहीं अधिक महान है—'एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।'[7] ईश्वर हमारे जीवन की मौलिक वास्तविकता है जिसके बिना हम जीवित नहीं रह सकते, यदि यह कथन सर्ववाद के भाव को व्यक्त करता है तो वैदिक-चिन्तन सर्ववादी भी कहा जा सकता है, क्योंकि 'सत्' रूप ब्रह्म ही वह तत्व है जिसके आश्रय से ये समस्तभूत मात्र अपनी सत्ता से सत्तावन् हो रहे हैं। वह सबका मूलाधार है। सब उसी की सत्ता से टिके हुए हैं। बृ० उ० ५,१,१ श्रुति वैदिक-सर्ववाद पर अच्छा प्रकाश डालती है। श्रुति में कहा गया है कि 'वह परब्रह्म परमेश्वर परिपूर्ण है, यह जगत् भी पूर्ण है,

---

१. देखिए, ड्यूसन : फिलासफी आफ दी उपनिषद्ज, पृ० १६०।
२. मु० उ० २,१,६।
३. वही, २,१,१।
४. ऋग्वेद १०,६०,२।
५. वही, १०,६०,३।
६. देखिए, छा० उ० ३,१२,६; बृ० उ० ५,१४।
७. ऋग्वेद १०, ६०,३।

क्योंकि उस पूर्ण (ब्रह्म) से यह पूर्ण (जगत्) उत्पन्न हुआ है, पूर्ण से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बच रहता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्ण मादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

यह मंत्र ब्रह्म के सर्वव्यापक और सर्वातिशायी दोनों स्वरूपों पर अच्छा प्रकाश डालता है, ब्रह्म अपनी सर्वव्यापकता के कारण विश्व के कण-कण में विद्यमान है और साथ ही वह परे भी है। वैदिक-सर्ववाद इस दृष्टि से अन्य सभी धर्मों के सर्ववादी दृष्टिकोणों से भिन्न है।

**मोक्ष**—हम पिछले अध्याय में उल्लेख कर आए हैं कि मनुष्य अपने जीवन में अधिकाधिक सुख की आकांक्षा करता है तथा यह भी स्पष्ट कर आए हैं कि लौकिक विषयों की उपलब्धि में उसे आत्यन्तिक सुख की अनुभूति नहीं होती। शाश्वत सुख मिलता है भूमा की प्राप्ति में, जिसे प्रकारान्तर से आत्म-साक्षात्कार कह सकते हैं अथवा 'ब्रह्मात्मैक्यानुभूति' की अवस्था भी कह सकते हैं। इस अवस्था में पहुँच कर जीवात्मा सत्, रज, तम से उत्पन्न सांसारिक मोह, आसक्ति, वासना, कामना आदि से मुक्त होकर अपने वास्तविक आनन्द रूप को अधिगत कर लेता है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के शासन से मुक्त हो जाने के कारण जीव की इस अवस्था को 'त्रिगुणातीतावस्था' भी कहते हैं। तथा धर्म की भाषा में यह स्थिति 'मुक्ति', 'मोक्ष' या 'निर्वाण' कहलाती है। भारत के सभी दर्शन-शास्त्र वेद, एवं उपनिषद् मानव के लिए इसी स्थिति की प्राप्ति के हेतु शिक्षा तथा प्रेरणा देते हैं तथा उस तक पहुँचने के लिए नाना उपायों का उल्लेख भी करते हैं। अथर्व वेद का कथन है—

'एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्
यदगं स तमुत्खि देत्रैवाद्य नश्वःस्यान्नरात्रीनाहः स्यान्नव्युच्छेत् कदाचन।
(ऋग्वेद ११,४,२१)

(यह हंस (चेतना-तत्व) एक पैर जल से (संसार से) ऊपर उठा कर भी दूसरा जल में स्थिर रखता है। यदि वह उस चरण को भी उठा ले (मोक्ष रूप से पूर्णतः असंग हो जावे) तो न आज रहे, न कल रहे, न रात्रि हो, न दिन हो, न कभी उषा-काल हो सके।)

यहाँ स्पष्ट है—मोक्ष की स्थिति की ओर संकेत किया गया है। सभी दर्शन इसी स्थिति की प्राप्ति का प्रतिपादन करते हैं, पर मोक्ष का स्वरूप क्या है इस विषय में एकमत नहीं हैं। चार्वाक मृत्यु को ही मोक्ष मानते हैं। शून्यवादी बौद्ध-आत्मा का सर्वथा उच्छेद ही 'मोक्ष' मानते हैं। जैनों के अनुसार 'कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः' संपूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। रामानुज के मत में भगवत्स्वरूप का यथार्थ अनुभव ही मोक्ष है। पतंजली के मत में 'चिति' शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थान ही 'कैवल्य'

(मोक्ष) है तथा वेदान्त के मत में मूल अविद्या[1] (अज्ञान) की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप का अधिगम, अर्थात् साक्षात्कार या प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है। डा० राधाकृष्णन ने औपनिषदिक मोक्ष के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कहा है—'सभी प्रकार की ऐन्द्रियिक व्यक्तिगत संकीर्णताओं और सीमाओं के बन्धन से मुक्ति ही 'मोक्ष' है। यह आत्म-विकास और आत्म-स्वातन्त्र्य का परिणाम है। सभी में एक जीवन-तत्व की अनुभूति करना ही पूर्ण शिवमय जीवन है।'[2] फिर यह बंध क्या है? बुभुक्षा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु, तृष्णा, भय, सुख और दुःखादि जितने शरीर और मन के धर्म हैं वे सभी बंधमूलक हैं—शरीर और शरीर के धर्मों में ही अहं का आरोपण तथा तज्जन्य सुखदुःखानुभूति और कामना आदि ही बंधन, अज्ञान और अविद्या हैं। इन सबका अतिक्रमण करने के उपरान्त ही जीवात्मा अमरतत्व को प्राप्त करता है।[3] इस अवस्था में पहुँचे हुए ज्ञानी के लिए सभी प्राणी उसके अपने आत्मा जैसे दृष्टिगोचर होने लगते हैं। सर्वत्र एकत्व का दर्शन करने वाले उसके लिए शोक और मोह नहीं रह जाता, सब कुछ आत्मा ही आत्मा हो जाता है।[4]

**मोक्षावस्था के सम्बन्ध में दो मत**—उपनिषदों में मोक्ष के सम्बन्ध में प्रकाश डालने वाली ऐसी श्रुतियों का उल्लेख आया है जिनके आधार पर विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं—

(१) मोक्षावस्था में मनुष्य का आत्मा ब्रह्म की समानता को प्राप्त कर लेता है, तथा

(२) उस अवस्था में वह ब्रह्म से एकरूपता प्राप्त करता है, स्वयं ब्रह्म बन जाता है। पहले मत की प्रतिपादिका निम्न श्रुति है—

**तदा विद्वान्पुण्य पापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैतिः।** (मु० उ० ३,१,३) इस अवस्था में जीवात्मा अपना पृथक् अस्तित्व भी रखता प्रतीत होता है। दूसरे मत की प्रतिपादिका निम्न श्रुतियाँ हैं—

(क) तादृगेव भवति (कठ ४,१५),

(ख) सर्व एकी भवन्ति (मु० ३,२,७),

(ग) सर्वमेवाविशन्ति (मु० ३,२,५),

(घ) शरवत्तन्मयोभवेत (मु० उ० २,२,४)

---

१. अविद्या का लक्षण देते हुए पतंजलि ऋषि ने योगदर्शन साधन पाद ५ में कहा है—अनित्या शुचि दुःखानात्मसु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिरविद्या।' अर्थात्—अनित्य, अपवित्र, दुख, अनात्मा में नित्य पवित्र, सुख और आत्मा की प्रतीति अविद्या है।

२. फिलासफी आफ दी उपनिषद्ज, पृ० ८५।

३. कठोपनिषद् ६,१४, बृ० उ० ४,४,७, मुण्डकोपनिषद् २,२,८।

४. ईश० ७।

इनके अतिरिक्त मुण्डक और प्रश्न में ऐसी श्रुतियां भी आई हैं जो समुद्र के जल में नदियों के मिल जाने की भाँति आत्मा की ब्रह्म से एकरूपता का प्रतिपादन बड़े स्पष्ट शब्दों में करती हैं।[१]

एक प्रकार से इन श्रुतियों में कुछ विरोध दिखाई दे सकता है। पर वस्तुतः बात वैसी नहीं है। आत्म-साक्षात्कार एक ऐसी रहस्यात्मक अनुभूति है जिसे प्राप्त करने के लिए साधक को अनेक सोपानों में होकर गुजरना पड़ता है। आत्म-परमात्मैक्यानुभूति तो इस यात्रा का अन्तिम पड़ाव है जहाँ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी का सर्वथा अभाव हो जाता है, अतः इस से पूर्व की अनुभूतियां केवल बीच के पड़ाव हैं। इन में साधना के क्रमिक विकास का स्वरूप निहित है।[२] अन्तिम अवस्था में सब कुछ ब्रह्ममय ही दृष्टिगोचर होने लगता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' (छा० ३,-१४,१) यही अद्वैतावस्था है, इसे ही मोक्ष कहते हैं, आत्म-साक्षात्कार कहते हैं। यही ब्रह्म-दर्शन है, इससे परे कुछ नहीं, इससे भिन्न कुछ नहीं है। इसी अवस्था पर प्रकाश डालते हुए महेन्द्रनाथ सरकार ने कहा है—'कि मोक्ष आत्मा की वह अवस्था है जिस में सम्पूर्ण सापेक्षता का नितान्त लोप हो जाता है, पूर्ण स्वातन्त्र्य की उपलब्धि हो जाती है।'[3]

सभी भारतीय विचारक उस बात से सहमत हैं कि—'मोक्ष' जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्ति का नाम है। ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त करने का अर्थ भी उससे लिया जाता है। इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है—उपनिषदें कहती हैं—तरतिशोकमात्मवित् (छा० ७,१,३), तमेवं ज्ञात्वा मृत्यु पाशाश्छिनत्ति (श्वे० ४,१५), ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः (श्वे० २,१५) तमेव विदित्वातिमृत्युमेति (श्वे० ३,८)।

**मोक्ष के साधन**—मोक्ष की प्रतिपादिका श्रुतियों में कहा है—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः' (कठ० ६,१४); जब हृदयाश्रित सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तथा 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे० २,१५) जब परम देव

---

१. मु० उ० ३,२,८, प्र० उ० ६,५।

२. Ranadey : Constructive Survey of Upnisadic Philosophy, p. 276.

३. "Moksa is the state of being which is beyond all real or ideal creative projections and represents being in its independence of creative reality. Moksa implies release from the sense of relativity in all its forms, ethical, spiritual, or creative, It is therefore indicated by the negative term of release from bondage, but it is the presentation of the Absolute in its uniqueness, in its Independence of all kinds of relativity.'

(Hindu Mysticism, Page 325).

को जान लेता है, तब सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। कामना का नाश एवं परमतत्त्व का स्वरूपतः ज्ञान—ये दो बातें ऐसी हैं जिनको साध लेने पर अंतिम लक्ष्य सध जाता है। कामना का नाश और ज्ञान की प्राप्ति बिना चित्त की शुद्धि के असंभव हैं। चित्त की शुद्धि के लिए वेद और उपनिषदों में निष्काम कर्म, प्रभु की उपासना और तत्त्व का ज्ञान ये तीन उपाय विशेष रूप से वर्णित हुए हैं। ये तीनों ही उपाय सम्मिलित रूप से मानव में मुमुक्षा को जाग्रत कर देते हैं जिनके अवलम्बन से अन्त में लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अतः प्रथम चित्त-शुद्धि के साधन-रूप कर्म के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विचार प्रस्तुत करते हैं।

**कर्म के स्वरूप**—जीवन और जगत् दोनों के मूल में काम ही विद्यमान है ऐसा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि'[1] ऐतरेय उ० १,१,१, तथा ३,१ में इसे ईक्षण और तै० उ० के पृष्ठ अनुवाक में (ब्रह्मानन्द-वल्ली) 'सोऽकामयत' कह कर इसे काम का ही नाम दिया गया है। बृह०उ० में याज्ञ-वल्क्य का कथन है—'यह पुरुष काममय ही है, वह जैसी कामना वाला होता है वैसा ही संकल्प करता है और तदनुरूप कर्म में प्रवृत्त होकर वैसा ही फल भी पाता है।'[2] स्पष्ट है प्रत्येक कर्म के पीछे कर्त्ता का ज्ञान, इच्छा और संकल्प ये तीन बातें निहित रहती हैं। इन तीनों के संयोग से ही कोई कर्म सम्पन्न होता है। प्रत्येक कार्य अपने पीछे चित्त पर एक छाप, एक संस्कार छोड़ जाता है। कालान्तर में चित्त पर पड़ी संस्कार-समष्टि को ही दार्शनिक भाषा में 'कर्म' की संज्ञा दी गई है।[3]

उपनिषदें कहती हैं कि मनुष्य का आत्मा पँच कोशों से आवृत है।[4] ये पाँच कोश तीन शरीरों का—स्थूल, सूक्ष्म, कारण—निर्माण करते हैं। तथा हमारे जीवन का प्रत्येक विचार, संकल्प और कार्य इन तीनों शरीरों पर अपरिहार्य रूप से अपना प्रभाव छोड़ता है। इसीलिए श्रुतियों में कहा है—'साधुकारी साधुर्भवति पाप-कारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'[5]—अर्थात् व्यक्ति अच्छे कार्यों से अच्छा और बुरे कार्यों से बुरा जाता है। तथा जिसका जैसा कर्म उसको वैसी ही यौनि प्राप्त होती है। इस प्रकार कर्म और उसके फल में घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्म का फल अवश्यंभावी है, जब तक कर्मफल का भोग शेष है तब तक मुक्ति असंभव है, क्योंकि उपनिषद् में कहा है कि 'कर्तनाश' किए हुए का नाश नहीं होता। साथ ही मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि बिना कर्म किये वह रह नहीं सकता।[6] त्रिगुणात्मिका प्रकृति उसे कर्म में नियोजित किये रखेगी। तब

---

१. ऋ० वे० १०,१२६,४।
२. बृह० उ० ४,४,५।
३. एस० सी० सेन : मिस्टिक फिलासफी आफ दी उपनिषद्ज, पृ० २८६।
४. तै० उ० ३,१०।
५. बृह० उ० ४,४,५, श्वे० ५,७ पृ०, ३,७, कठ०, ५,७।
६. देखिए, गीता : ३,४ ५।

फिर निष्कर्मता का कैसे सम्पादन हो ? चित्त की शुद्धि कैसे हो ? यजु० ४०, १ मे इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—'तेन त्यक्तेन भुंजीथा।' अर्थात् त्याग-भाव से ही कर्त्तव्य-पालन के लिए विषयों का उपभोग करो। इस प्रकार से कर्म का सम्पादन करने पर कर्म के फल जीवात्मा को नहीं बाँधते। मुक्ति का इससे भिन्न अन्य कोई उपाय नहीं है।[1] श्रुति का स्पष्ट कथन है कि मनुष्य कर्म करे, पर निष्काम भाव से, फल में आसक्ति को त्याग कर। गीता भी वेद के कर्म-सम्बन्धी इस विचार का समर्थन करती है।[2] इस प्रकार निष्काम कर्म के सम्पादन से एक ओर चित्त की शुद्धि होती है और दूसरी ओर सकामता न रहने से फल नहीं बनता, जिससे भावी जन्म-मरण के चक्र पर कुठाराघात होता चलता है। यह नैष्कर्म्य ही चित्त की शुद्धि और मोक्ष का सम्पादक है।

ज्ञान—शास्त्रों का कथन है—'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' ज्ञान के विना मुक्ति नहीं। 'ज्ञान' 'ज्ञ' धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय लग कर बना है जिसका अर्थ है 'जान लेना।' प्रश्न उठता है किसे जान लेना ? इसके उत्तर में उपनिषदें कहती हैं—'वह तत्त्व जिसे जानकर अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है।'[3] उपनिषदों का कथन हैं कि मनुष्य का आत्मा अविनाशी है, अपने मूल रूप में शुद्ध चित् 'मात्र' है, आनन्दमय है और यही ब्रह्म है। दोनों की एकता के ज्ञान का उदय का ही मानव को पूर्णता की ओर ले जाता है: इस अद्वैत-ज्ञान की उपलब्धि होते ही उसमें, अग्नि में ईंधन की भाँति सारे कर्म भस्म हो जाते हैं।[4] सचमुच इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाला निस्संदेह कुछ नहीं है।[5] छा० उ० में कहा है कि ब्रह्म को जानने वाले के कर्म उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि में सींक डालने से उसके समस्त तन्तु नष्ट हो जाते है—"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवंहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।"[6] अन्यत्र कहा है कि जिसे जानने वाले को पाप-कर्म का उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता जैसे कमल पत्र से जल का सम्बन्ध नहीं होता।[7] बृह० उ० में कहा है कि ज्ञानावस्था में मनुष्य का

---

१. यजु० ४०,२।

२. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन (गी०, २,४७)।

× ×

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गी० ५,१०)।

३. छा० उ० ६,१,३।

४. गीता ४,३६।

५. वही, ४,३६।

६. छा० उ०, ५,२४,३।

७. गीता ५,१०।

आत्मा पुण्य और पाप दोनों से असम्बद्ध रहता है—'पुण्येनानन्वागतं पापेनान्वागतम्'[1] उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य की हृदय-ग्रन्थि, उसके सभी संशय और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।[2] उस ब्रह्म को जानने वाला नाम-रूप से विमुक्त होकर उस परम पुरुष को ही प्राप्त कर लेता है।[3] ज्ञान से ही अमृत की प्राप्ति होती है—'विद्यया विन्दते अमृतम्।'[4]

इस प्रकार उपनिषदों में ज्ञान के महत्त्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। वस्तुतः उपनिषदें हैं भी वेद का ज्ञान काण्ड, अतः उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है सद्ज्ञान का प्रतिपादन करना।

**भक्ति (उपासना)**—चित्त की शुद्धि, हृदय की पवित्रता और मन के ऊर्ध्वगमन के लिए जहाँ वैदिक वाङ्मय में कर्म के अनुष्ठान और ज्ञान के सम्पादन की महत्ता का वर्णन है वहाँ उनके साथ-साथ भक्ति (उपासना) को भी आवश्यक अंग माना है। वेद में कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों को अमरता के हेतु उपाय-रूप में श्रेष्ठता का वर्णन है, तदपि उनमें कर्म और उपासना, इन दो की ही महत्ता अधिक है। यजु० शुद्ध कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। साम शुद्ध उपासना का वेद है और ऋग्वेद ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों का समन्वय करता हुआ 'ज्ञान' का ग्रन्थ है। अथर्ववेद विविध विषयक है। उपनिषदें वेद का ज्ञान काण्ड हैं, किन्तु कर्म और उपासना का उनमें भी नितांत अभाव नहीं है। स्तुति, प्रार्थना, निवेदन, व्याकुलता, तन्मयता, शरणागति, समर्पण ये सभी भक्ति के विशिष्ट अंग हैं। बृह० उ० में जब ऋषि असत् से सत्, तमस् से ज्योति तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलने के लिए निवेदन करता है तब यहाँ उसका प्रार्थना-भाव ही प्रमुख है।[5] यजु० के अंतिम अध्याय में जब ऋषि सत्य के दर्शन के लिए पूषन्, यम आदि दिव्य शक्तियों से चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाली तेजयुक्त किरणों के समूह को हटा लेने के लिए विह्वल होकर निवेदन करता है, तो उसकी इस मनुहार में भक्ति-भावना की प्रार्थना की सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है।[6]

वेद में कहा है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु० १६,३०) श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। श्रद्धा भक्ति की पूर्व स्थिति है जो भक्त के लिए आवश्यक है। अतः वेद के पूरे सूक्त ऋग्वेद (१०१, ×५१) में श्रद्धा का बड़ा ही भावमय वर्णन हुआ

---

१. ब्र० उ० ४,३२२।
२. मु० उ० २,२,८।
३. मु० उ० ३,२,८।
४. केन उ० २,४।
५. ब्र० उ० १,३,२८।
६. यजु० ४०,१५-१६।

है। श्रद्धा कहते हैं उस अटल विश्वास को जो पूरे अनुसंधान के पश्चात् किसी सत्य तत्त्व पर किया जाता है।

वेद में भक्ति-तत्त्व का सुन्दर निरूपण हुआ है। वैदिक ऋषि की आत्मा अपने प्रभु से मिलने के लिए, उसके परम पवित्र दर्शनों के लिए कितनी व्याकुल है, आतुर है। उसका परमात्मा से पार्थक्य कितना असहनीय हो रहा है, उस दशा का चित्रण ऋ० वे० के सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ द्वारा वरुण को समर्पित सूक्तों में देखने को मिलता है।[1]

ऋग्वेद में अपने इष्टदेव के प्रति ऋषि के हृदय का तन्मय भाव भी देखने को मिलता है। साधक भक्ति-तत्त्व में अपने-आपको इतना लीन कर देता है कि उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं होती। उठते-बैठते, सोते-जागते, सदैव उसी के ध्यान में मग्न रहता है—

**न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत कामं पुरुहूतशिश्रिय।**
**राजेव दस्मनिषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तुते।** ऋ०वे० १०,४३,२

(हे पुरुहूत! अब तुम्हें छोड़कर मेरा मन अन्यत्र कहीं नहीं जाना चाहता। मेरी समस्त कामनाएँ तुम्हारे ही अन्दर आश्रित हो गई हैं। अब तुम राजा की भाँति मेरे हृदयासन पर बैठ और सोमपान करो।)

एक अन्य मंत्र में कहा है—

**'महे चन त्वाम द्रिवः परा शुल्काय देयाम।**
**नसहस्राय नायुताय वज्रिवो न शतायशतामघ॥** (ऋ० वे० ८,१,५)

(वज्री इन्द्र, तुम्हें महामूल्य में भी नहीं बेच सकता। वज्रहस्त, हजार और दस हजार में भी तुम्हें नहीं बेच सकता। असीम धन के लिए भी नहीं बेच सकता।) वस्तुतः वह प्रभु तो अमूल्य है उसका विश्व मूल्य नहीं आँक सकता।

वैदिक-ऋषियों की उपासनापरक इन भावभरी अभिव्यक्तियों में हमें एक अपूर्व सहृदयता, सजीवता, मधुरता, तन्मयता और विह्वलता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हृदय को निश्चय ही पवित्र और परिमार्जित करती हैं। वेदाम्बुधि इस प्रकार की दिव्य और सरस अभिव्यक्ति-रत्नों से भरा पड़ा है। भक्ति-भाव चित्त को द्रवित कर उसकी कलुषता और मालिन्य को झाड़-पोंछकर निर्मल बना देने का बड़ा ही प्रभावशाली उपाय है।

उपनिषदों में इन तीनों उपायों के अतिरिक्त मोक्ष के हेतु योग की भी चर्चा हुई है।

**कर्म, ज्ञान और भक्ति का तादात्म्य**—वैदिक-वाङ्मय में अमृतत्व की प्राप्ति के हेतु इन तीनों साधनों का उपाय रूप में निर्देश किया गया है। ये तीनों एक-दूसरे के विकास और विस्तार के लिए आवश्यक हैं। शंकर मोक्ष के लिए ज्ञान को ही सर्वो-

---

१. ऋग्वेद ७,८६,५, ७,६२,३, ८,४४,२३.।

आत्मा पुण्य और पाप दोनों से असम्बद्ध रहता है—'पुण्येनानन्वागतं पापेनान्वागतम्'[1] उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य की हृदय-ग्रन्थि, उसके सभी संशय और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।[2] उस ब्रह्म को जानने वाला नाम-रूप से विमुक्त होकर उस परम पुरुष को ही प्राप्त कर लेता है।[3] ज्ञान से ही अमृत की प्राप्ति होती है—'विद्यया विन्दते अमृतम्।'[4]

इस प्रकार उपनिषदों में ज्ञान के महत्त्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। वस्तुतः उपनिषदें हैं भी वेद का ज्ञान काण्ड, अतः उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है सद्ज्ञान का प्रतिपादन करना।

**भक्ति (उपासना)**—चित्त की शुद्धि, हृदय की पवित्रता और मन के ऊर्ध्वगमन के लिए जहाँ वैदिक वाङ्मय में कर्म के अनुष्ठान और ज्ञान के सम्पादन की महत्ता का वर्णन है वहाँ उनके साथ-साथ भक्ति (उपासना) को भी आवश्यक अंग माना है। वेद में कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों को अमरता के हेतु उपाय-रूप में श्रेष्ठता का वर्णन है, तदपि उनमें कर्म और उपासना, इन दो की ही महत्ता अधिक है। यजु० शुद्ध कर्मकाण्ड का ग्रन्थ है। साम शुद्ध उपासना का वेद है और ऋग्वेद ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों का समन्वय करता हुआ 'ज्ञान' का ग्रन्थ है। अथर्ववेद विविध विषयक है। उपनिषदें वेद का ज्ञान काण्ड हैं, किन्तु कर्म और उपासना का उनमें भी नितांत अभाव नहीं है। स्तुति, प्रार्थना, निवेदन, व्याकुलता, तन्मयता, शरणागति, समर्पण ये सभी भक्ति के विशिष्ट अंग हैं। बृह० उ० में जब ऋषि असत् से सत्, तमस् से ज्योति तथा मृत्यु से अमरता की ओर ले चलने के लिए निवेदन करता है तब यहाँ उसका प्रार्थना-भाव ही प्रमुख है।[5] यजु० के अंतिम अध्याय में जब ऋषि सत्य के दर्शन के लिए पूषन्, यम आदि दिव्य शक्तियों से चकाचौंध उत्पन्न कर देने वाली तेजयुक्त किरणों के समूह को हटा लेने के लिए विह्वल होकर निवेदन करता है, तो उसकी इस मनुहार में भक्ति-भावना की प्रार्थना की सुन्दर झाँकी देखने को मिलती है।[6]

वेद में कहा है—'श्रद्धया सत्यमाप्यते' (यजु० १९,३०) श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। श्रद्धा भक्ति की पूर्व स्थिति है जो भक्त के लिए आवश्यक है। अतः वेद के पूरे सूक्त ऋग्वेद (१०१, ×५१) में श्रद्धा का बड़ा ही भावमय वर्णन हुआ

---

१. ब्र० उ० ४,३२२।
२. मु० उ० २,२,८।
३. मु० उ० ३,२,८।
४. केन उ० २,४।
५. ब्र० उ० १,३,२८।
६. यजु० ४०,१५-१६।

है। श्रद्धा कहते हैं उस अटल विश्वास को जो पूरे अनुसंधान के पश्चात् किसी सत्य तत्त्व पर किया जाता है।

वेद में भक्ति-तत्त्व का सुन्दर निरूपण हुआ है। वैदिक ऋषि की आत्मा अपने प्रभु से मिलने के लिए, उसके परम पवित्र दर्शनों के लिए कितनी व्याकुल है, आतुर है। उसका परमात्मा से पार्थक्य कितना असहनीय हो रहा है, उस दशा का चित्रण ऋ० वे० के सप्तम मण्डल के ऋषि वसिष्ठ द्वारा वरुण को समर्पित सूक्तों में देखने को मिलता है।[1]

ऋग्वेद में अपने इष्टदेव के प्रति ऋषि के हृदय का तन्मय भाव भी देखने को मिलता है। साधक भक्ति-तत्त्व में अपने-आपको इतना लीन कर देता है कि उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं होती। उठते-बैठते, सोते-जागते, सदैव उसी के ध्यान में मग्न रहता है—

**न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत कामं पुरुहूतशिश्रिय।**

**राजेव दस्मनिषदोऽधि बर्हिषि अस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तुते।** ऋ०वे० १०,४३,२

(हे पुरुहूत ! अब तुम्हें छोड़कर मेरा मन अन्यत्र कहीं नहीं जाना चाहता। मेरी समस्त कामनाएँ तुम्हारे ही अन्दर आश्रित हो गई हैं। अब तुम राजा की भाँति मेरे हृदयासन पर बैठ और सोमपान करो।)

एक अन्य मंत्र में कहा है—

**'महे चन त्वाम द्रिवः परा शुल्काय देयाम।**

**नसहस्राय नायुताय वज्रिवो न शतायशतामघ॥** (ऋ० वे० ८,१,५)

(वज्री इन्द्र, तुम्हें महामूल्य में भी नहीं बेच सकता। वज्रहस्त, हजार और दस हजार में भी तुम्हें नहीं बेच सकता। असीम धन के लिए भी नहीं बेच सकता।) वस्तुतः वह प्रभु तो अमूल्य है उसका विश्व मूल्य नहीं आँक सकता।

वैदिक-ऋषियों की उपासनापरक इन भावभरी अभिव्यक्तियों में हमें एक अपूर्व सहृदयता, सजीवता, मधुरता, तन्मयता और विह्वलता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हृदय को निश्चय ही पवित्र और परिमार्जित करती हैं। वेदाम्बुधि इस प्रकार की दिव्य और सरस अभिव्यक्ति-रत्नों से भरा पड़ा है। भक्ति-भाव चित्त को द्रवित कर उसकी कलुषता और मालिन्य को झाड़-पोंछकर निर्मल बना देने का बड़ा ही प्रभावशाली उपाय है।

उपनिषदों में इन तीनों उपायों के अतिरिक्त मोक्ष के हेतु योग की भी चर्चा हुई है।

**कर्म, ज्ञान और भक्ति का तादात्म्य**—वैदिक-वाङ्मय में अमृतत्त्व की प्राप्ति के हेतु इन तीनों साधनों का उपाय रूप में निर्देश किया गया है। ये तीनों एक-दूसरे के विकास और विस्तार के लिए आवश्यक हैं। शंकर-मोक्ष के लिए ज्ञान को ही सर्वो-

---

१ ऋग्वेद ७,८६,५, ७,६२,३, ८,४४,२३।

परि स्थान देते है, वैष्णव लोग भक्ति को, और कर्मकाण्डी कर्म को। पर वास्तव में पृथक्-पृथक् रूप में ये तीनों ही उपाय एकांगी हैं। यजुः में कहा है—'तस्मै त्वा युनक्ति कर्मणे वां वेशायवाम।' अर्थात् भक्ति करने, शुभ कर्म करने और ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही जन्म मिला है। परन्तु भक्ति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कर्म ठीक न हो। जब तक यह ज्ञान नहीं कि शुभ कर्म कौन-सा, और अशुभ कौन-सा है ? तब तक शुभ कर्म करने की सामर्थ्य ही नहीं आ सकेगी, अतः चित्त-शुद्धि के लिए कर्म की, ज्ञान की, भक्ति की सभी की एक साथ ही नितान्त आवश्यकता है। पहले प्रत्येक कार्य का सम्यक् ज्ञान हो, फिर उस ज्ञान को क्रिया में लाया जावे तब कहीं साधक की हृदय-तंत्री भक्ति से निनादित हो सकेगी।

कर्म और ज्ञान का रहस्य वास्तव में बड़ा ही दुर्गम है और कठिन है। अतः कर्म के रहस्य से अपरिचित, मिथ्या ज्ञान के अभिमान से युक्त मनुष्य कर्म को ब्रह्म-ज्ञान में बाधक समझ लेते हैं—फलतः आवश्यक शास्त्र समर्थित कर्मों को भी त्याग बैठते हैं। इस प्रकार के त्याग से उन्हें त्याग का यथार्थ फल कर्म-बन्धन से छुटकारा नहीं मिलता।[1] यही स्थिति ज्ञानी की भी है। अतः वेद और उपनिषदें कर्म और ज्ञान के रहस्य को साथ-साथ समझ कर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करने का उपदेश देते हैं।[2]

उपनिषदों में ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ कर्म की अवहेलना नहीं की गई है, पर वह कर्म अनासक्त भावना से किया जाना चाहिये। के० उ० ४,८ में ब्रह्म-ज्ञान के लिए तप और दम की व्यवस्था की है—'तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्।' तै० उ० में उच्च जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के लिए शुभ कर्मों को करने की आज्ञा है—'धर्मान्न न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम्।' (१,११)। बृ० उ० दम, दान और दया के आचरण का उपदेश देते हैं (५,२,३)।

इस प्रकार कर्म के साथ-साथ ज्ञान और ज्ञान के साथ-साथ कर्म तथा ज्ञान और कर्म की भाव में, भक्ति में परिणति आवश्यक है।

**मृत्यु और पुनर्जन्म**—मृत्यु और पुनर्जन्म का सिद्धांत एक दार्शनिक सिद्धांत है जो वैदिक चिन्तकों की भारतीय दार्शनिक जगत् को एक महान देन है। आत्मा अमरणधर्मा है, यह प्रमुख वैदिक विचार है।[3] छा० उ० में कहा है कि 'जीवापेतं वावकिलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।'[4] जीव नहीं मरता, जब यह शरीर से निकल जाता है तो यह शरीर मर जाता है। यही बात बृह० उ० और कठ० उ० में कही गयी है।[5]

---

१. गीता १८,८।
२. यजु: ४०,१०-११।
३. ऋग्वेद ४,२,१।
४. छा० उ० ६,११,२।
५. बृह० उ० ४,५,१४, कठ० उ० २,१८।

उपनिषदों का दूसरा मौलिक विचार है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा और परमात्मा तत्त्व में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। याज्ञवल्क्य जनक को उपदेश देते हुए कहते हैं—'आत्मा को ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्म को जानने वाला मैं अमृत ही हूँ।'[१] यह आत्मा, यह ब्रह्म, यह सत ही सब भौतिक पदार्थों का मूलाधार है। जीवन का लक्ष्य है आत्मा के मूल स्वरूप में अवस्थान। पर यह स्थिति जीवन में यों ही विना प्रयास और उपाय के स्वयमेव नहीं आ पाती। इसके लिए तपस्या और साधना करनी पड़ती है। जब तक हम उस स्थिति को उपलब्ध नहीं कर लेते तब तक एक योनि से दूसरी योनि में आना-जाना बना ही रहता है। वद्धात्मा मृत्यु और जन्म के नियमाधीन है। यह आत्मा बद्ध किससे होता है ? उपनिषद् उत्तर देते हैं कि अपने कर्मों से। जब तक हम अपने कर्म से चिपके हुए हैं, तब तक इस संसार से भी चिपके हैं। जिस क्षण हम अपनी तुच्छता त्याग देते हैं और ज्योंही एकत्व का अनुभव करते लगते हैं, तब फिर आत्मा का इस संसार में पुनरावर्तन नहीं होता।[२]

सांसारिक पदार्थों में हम निरन्तर मृत्यु और जन्म की पुनरावृत्ति के दर्शन करते हैं। वस्तु के नाश में नव जीवन के बीज छिपे हुए हैं यह बात विज्ञान भी प्रमाणित करता है। अतः मृत्यु से मनुष्य का आत्मा नष्ट नहीं होता। मृत्यु तो केवल एक अन्य जीवन का द्वार है तथा आगामी जीवन का अच्छा-बुरापन उसके कर्मों के अच्छे-बुरे पन पर निर्भर करता है। शुभ आचरण वाले शुभ योनियों को प्राप्त करते हैं और अशुभ आचरण वाले अशुभ योनियों को प्राप्त होते हैं।[3] यही तथ्य बृह० उ० में भी व्यक्त किया गया है।[४]

मृत्यु अथवा योनि-परिवर्तन के सम्बन्ध में उपनिषदों का दृष्टिकोण निराशावादी नहीं है। उपनिषदों का कथन है—'कि जैसे एक सुनार सोने के टुकड़े को लेकर उससे अच्छी और नए रूप वाली वस्तु, अँगूठी आदि बना लेता है उसी प्रकार यह जीव वर्तमान जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़ कर उसकी जगह नया और अधिक सुखप्रद शरीर बना लेता है—"तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्या विद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा……।"[५] यही भाव गीता में भी व्यक्त किया गया है।[६]

इस प्रकार उपनिषदों के विचारक भौतिकवादियों की भाँति मृत्यु के समय

---

१. बृ० उ० ४,४,१७।
२. 'न आवर्त्तन्ते', छा० उ० ४,१५,५।
३. छा० उ० ५,१०,७।
४. दे०, बृह० उ० ३,२,१३।
५. बृह० उ० ४,४,४।
६. गीता २,२२।

आत्मा के नष्ट हो जाने के दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। वे तो जीवन-प्रवाह के नैरन्तर्य की धारणा को दृढता से स्वीकार करते हैं। तथा इस मान्यता में भी विश्वास रखते हैं कि शारीरिक मृत्यु के बाद भी कोई ऐसा तत्त्व है जो अवशिष्ट रह जाता है।[1] जो कर्मानुसार एक शरीर से दूसरे शरीर में तब तक आता-जाता रहता है जब तक अमरत्व प्राप्त न कर ले। इसे जन्मान्तरवाद का सिद्धांत कहते हैं।[2]

**समत्व एवं विश्वबन्धुत्व की भावना**—ऋग्वेद में मरुतों को सम्बोधित एक मंत्र में ऋषि श्यावाश्व ने कहा है—'ये मरुद्गण एक साथ ही उत्पन्न हुए हैं तथा परस्पर ज्येष्ठ और कनिष्ठ भाव से वर्जित हैं। ये परस्पर भ्रातृभाव से सौभाग्य के लिए वर्द्धमान होते हैं—'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय' (५,६०,५)। इस मंत्र में स्पष्ट ही ऋषि ने ऊँच-नीच और छोटे-बड़े के भेद-भाव से सर्वथा रहित समत्व के भाव का प्रतिपादन किया है। एक अन्य मंत्र में कहा है कि हे प्रभु, 'मुझे ऐसा दृढ बना दे कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं स्वयं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता रहूँ।'[3] वेद में उपलब्ध ये ऐसे मंत्र हैं जो समाज में परस्पर-मैत्रीपूर्ण व्यवहार, स्नेह, समत्व एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना का पोषण करते हैं, जो लोकमंगल और समाज-कल्याण की भावना के विधायक हैं।

उपनिषदों का अद्वैतवाद (आत्मवाद) भी प्रकारान्तर से व्यावहारिक धरातल पर समत्व और लोक-सेवा का समर्थन करता है। वैदिक समत्व-भावना की एक और विशिष्टता है कि यह केवल मानव-मात्र तक ही सीमित नहीं है उसकी परिधि में तो समस्त प्राणी आते हैं। वैदिक आत्मवादी सर्व भूतों के हित में रत रहने वाला श्रेष्ठ पुरुष होता है।[4] उसकी साधना ही समत्व की साधना है। वह समस्त प्राणियों में अपनी जैसी अविनाशी आत्मा के ही दर्शन करता है, तब वह किससे घृणा करे, किससे द्वेष करे, किससे ईर्ष्या करे।[5] उसके तो सब अपने हैं। सब के हित में ही अपने हित के दर्शन करता है, सब का सुख उसका अपना सुख होता है। यह है वह कल्पना जो समस्त प्राणी मात्र में समता और विश्व-बन्धुत्व के सिद्धांत को जन्म देती है, जो एक आदर्श सामाजिकता के स्वरूप का पोषण करती है। आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द ने आत्मवाद पर आधारित इसी सेवा-वाद का प्रचार किया था।

---

१. राधाकृष्णन, : फिलासफ़ी आफ दी उपनिषद्ज, पृ० १३० ।
२. ऋ० १०,१७७ ।
३. यजु० ३६,१८ ।
४. गीता ५,२५ ।
५. ईश० ६,७ ।

चतुर्थ अध्याय

# वैदिक वाङ्मय के अध्ययन की ओर अभिनव प्रवृत्ति

## भूमिका

भारत का पिछले लगभग डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास संक्रान्ति एवं पुनर्जागरण का इतिहास है। इस काल मे राजनीतिक और सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में प्रचलित धारणाओं एवं मान्यताओं में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए और प्राचीन जर्जर मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों की स्थापना हुई। भारत के राजनीतिक-क्षितिज पर से मुगल शासन के नक्षत्र के अस्त होने के उपरान्त ब्रिटिश-सत्ता के चन्द्र का उदय कुछ ऐसी ही घटना थी जिसके परिणामस्वरूप दो ऐसी संस्कृतियों के परस्पर निकट आने का सुयोग उपस्थित हुआ जिनके जीवन के प्रति दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर था। भारत की जीवन के प्रति दृष्टि यदि आरंभ से ही आध्यात्मिक रही थी तो पश्चिम की भौतिक। भारतीय यदि शान्त एवं सरल जीवन में विश्वास रखते थे तो पश्चिमी जगत के लोगों के जीवन का मूल-मंत्र था कर्मठता, साहसिकता तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण। एक नवीन दृष्टि से सम्पन्न पाश्चात्य विद्वान जब अनेक कारणों से भारत से आध्यात्मिक साहित्य, विशेषकर वैदिक-साहित्य के सम्पर्क में आए तो उन्हें भारत की अनेक महान आध्यात्मिक एवं दार्शनिक उपलब्धियों से परिचय प्राप्त हुआ। इस साहित्य की प्रभविष्णुता एवं महानता से प्रभावित होकर इन लोगों ने अन्धकार में पड़े वैदिक-साहित्य का अन्वेषण, सम्पादन तथा प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ किया। अनेक विदेशी विद्वानों ने तो अपना सम्पूर्ण जीवन ही वैदिक साहित्य के पुनरुद्धार की साधना में समर्पित कर दिया। इन विद्वानों के कष्टसाध्य-कार्य से भारतीय विद्वानों को भी प्रेरणा प्राप्त हुई, फलतः वैदिक साहित्य के दार्शनिक, आध्यात्मिक, रहस्यात्मक, धार्मिक आदि विभिन्न पक्षों पर विस्तार से प्रकाश डालने के प्रयत्न हुए। इन्हीं प्रयत्नों में भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के बीज भी विद्यमान थे। ब्रह्मो समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, थियोसाफिकल सोसाइटी आदि सामाजिक एवं सांस्कृतिक [संस्था]एँ तथा अनेक शिक्षण-संस्थाएँ, शोध-संस्थान इसी पुनर्जागरणकाल की देन

है। ये वे संस्थाएँ हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राचीन वैदिक साहित्य पर अवलम्बित आर्य-संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने तथा जीर्ण-शीर्ण सामाजिक रूढियों एवं परम्पराओं को परिमार्जित कर समाज में व्याप्त जड़ता और निष्क्रियता, अविद्या और मूढता के कोहरे को विदीर्ण कर सत्य के उज्ज्वल तथा प्रकाशमान सूर्य को प्रकाश में लाने का भगीरथ प्रयत्न किया। श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ आदि धार्मिक महापुरुष, तिलक और रानाडे जैसे राजनीतिक महापुरुष तथा कवीन्द्ररवीन्द्रवत साहित्यिक प्रतिभाएँ भी इस जागरण-युग की महान उपलब्धियाँ हैं जिन्होंने वैदिक-वाङ्मय एवं दर्शन की विभिन्न धारणाओं को अपने जीवन और साहित्य में चरितार्थ कर उनकी युगयुगान्तर से चली आ रही सत्यता को प्रमाणित करके आर्य साहित्य एवं संस्कृति को गौरवान्वित किया है। स्वामी विवेकानन्द, डा० राधाकृष्णन तथा योगी अरविन्द ने वैदिक-दर्शन की आधुनिक युग के परिवेश में नवीन व्याख्याएँ भी प्रस्तुत कीं जिसका युग की मनीषा पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इस युग में राष्ट्र भाषा हिन्दी में वैदिक-साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ जो इस युग की महत्त्वपूर्ण घटना है। इस कार्य में सामान्य जनता भी अपने महान साहित्य के सीधे सम्पर्क में आ सकी, जिसकी नींव पर भारतीय सांस्कृतिक जीवन का भवन टिका हुआ है। हम इस अध्याय में वैदिक-साहित्य की सापेक्षता में भारत में हुए पिछले डेढ़ सौ वर्षों के सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं नवजागरण का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

## पाश्चात्य विद्वानों की वैदिक साहित्य में रुचि

पाश्चात्य विद्वानों की वैदिक-साहित्य के अध्ययन की ओर अभिनव प्रवृत्ति भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह वह माध्यम है जिस के द्वारा पश्चिम, पूर्व के निकट आया और प्रथम बार पश्चिमी विद्वानों को भारतीय ऋषियों की मेधा से सीधा परिचय प्राप्त हुआ। इस साहित्य के प्रति इन लोगों की रुचि तीन विशिष्ट कारणों से बढ़ी और वे तीन दृष्टियाँ थीं—प्रशासकीय, शैक्षिक और सांस्कृतिक।

**प्रशासकीय दृष्टि**—मुगल-साम्राज्य के पतन के उपरान्त भारत पर जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी, तदनन्तर ब्रिटिश-सत्ता का प्रभुत्व स्थापित हो गया तब भारत की समृद्धि को देखकर उनमें यह भावना जागी कि भारतीयों पर इस प्रकार से शासन किया जाए कि उनमें अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति की कल्पना भी न जगे। अतः उन्होंने हमें हमारी ही मान्यताओं व विश्वासों, नैतिक नियमों एवं धार्मिक भावनाओं से शासित करने की योजना बनाई। हमारी दर्शन, धर्म और संस्कृति-सम्बन्धी जो मान्यताएँ एवं धारणाएँ थीं वे लौकिक एवं वैदिक संस्कृत भाषा में निहित थीं। अतः इस दृष्टि से उनका संस्कृत वाङ्मय की ओर झुकना स्वाभाविक ही था। स्वयं मैक्डानल ने स्वीकार करते हुए कहा है कि—"संस्कृत के अध्ययन के लिए

हमें भारतीय प्रान्तों के शासन की व्यावहारिक आवश्यकताओं ने आदि में प्रेरणा दी। उन दिनों भारत में (बंगाल में) वारेन हेस्टिंग्ज (१७७३ में) प्रधान राज्यपाल थे, और उन्होंने यथासम्भव हिन्दुओं पर उन्हीं के धर्मशास्त्र और रूढियों के अनुसार प्रशासन करने की महत्ता समझ कतिपय ब्राह्मणों को भारत के प्रमुख धर्म-शास्त्र के आधार पर एक निबन्ध रचने का आदेश दिया। इस 'विवादार्णवसेतु' ग्रंथ की प्रस्तावना में—प्राचीन भारतीय भाषा एवं साहित्य के सम्बन्ध में भी प्रामाणिक वर्णन है।[1]

**शैक्षिक दृष्टि**—इस दृष्टि से सर विलियम जोन्स के प्रयत्न स्तुत्य हैं। उन्होंने सन् १७८४ में कलकत्ता में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना करके उसके माध्यम से पश्चिम में संस्कृत के अध्ययन के प्रति रुचि जागृत की। उन्होंने स्वयं महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' एवं 'ऋतुसंहार', 'मनुस्मृति' पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद कर उन्हें प्रकाशित कराया। तत्पश्चात श्लेग्ल तथा फ्रान्ज़ बाप आदि पाश्चात्य भाषाविदों ने तुलनात्मक पद्धति पर संसार की ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, जर्मन आदि विभिन्न भाषाओं का अध्ययन कर कई समीक्षात्मक ग्रंथ प्रस्तुत किए। यहीं से लौकिक संस्कृत साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ वैदिक साहित्य के अध्ययन की भी नींव पड़ी। इस दिशा में फ्रांस, जर्मन और इंग्लैंड के विद्वानों ने जो कार्य किया है उसे किसी भी स्थिति में विस्मृत नहीं किया जा सकता।

सन् १८३८ में एफरोजेन द्वारा सम्पादित ऋग्वेद के प्रथम अष्टक के प्रकाशन के उपरान्त वैदिक-विज्ञान के संस्थापक रुडॉल्फ रॉथ ने सन् १८४६ में अपनी पुस्तक 'वैदिक-साहित्य एवं इतिहास' प्रकाशित कराई। रॉथ और भोटलिंक का ७ खण्डों में प्रकाशित 'सेंट पीट्र्सबर्ग संस्कृत जर्मन-महाकोष' एक महान प्रयत्न था। इसी प्रकार फ्रेंच भाषाविद् बर्नोफ़ और उनके एक जर्मन शिष्य मैक्समूलर ने वैदिक-साहित्य के क्षेत्र में जो शोध और सम्पादन का कार्य किया उसने भी एक अमिट लीक छोड़ी है।

**सांस्कृतिक दृष्टि**—सांस्कृतिक दृष्टि से मैक्समूलर और उनके सहयोगियों का कार्य विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। उन्होंने वैदिक साहित्य का अध्ययन भी सांस्कृतिक दृष्टि से ही प्रभावित होकर किया और उन्होंने इसी दृष्टि से प्रभावित होकर इस साहित्य के प्रचार और अध्ययन के लिए पाश्चात्यों को प्रेरित भी किया। उन्होंने भारत भूमि को 'धरा पर स्वर्ग' कहकर सम्मानित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा कि—"समस्त विश्व में यदि कोई प्रकृति द्वारा समृद्ध, समर्थ और सुंदर देश है, यदि कोई 'धरा पर स्वर्ग है' तो वह भारत है, और यदि मैं अपने से प्रश्न करूँ कि यहाँ योरूप में जहाँ हम लोगों के विचार पूर्णतः ग्रीक, रोमन, सेमेटिक एवं यहूदियों के विचारों से परिपुष्ट हैं, इनके अतिरिक्त क्या कोई ऐसा भी साहित्य है

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास (अनुवादक चारुदत्त शास्त्री), पृ० २।

जो हमारे आन्तरिक-जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक व्यापक, अधिक विश्वात्मक और मानवीय बना सकता है, जो हमारे इस जीवन को ही नहीं प्रत्युत भावी शाश्वत जीवन को भी रूपान्तरित कर दे सकता है—तो मैं पुनः भारत की ओर संकेत करूंगा।[१] यह विशुद्ध सांस्कृतिक दृष्टि है जिससे प्रेरित होकर मैक्समूलर ने वैदिक-वाङ्मय के अध्ययन में रुचि ली वस्तुतः भारत ऐसे को साहित्य के सृजन का श्रेय प्राप्त है जो ब्राह्य भौतिक समृद्धि के साथ-साथ आन्तरिक जीवन की समृद्धि का भी साधक है और यह भी सत्य है कि यह वैदिक-साहित्य जो भारतीय-संस्कृति की श्रेष्ठतम उपलब्धि है, मानव-मतिष्क के विकास के इतिहास में प्राचीनतम एवं श्रेष्ठतम अध्याय है। इसकी प्राचीनता एवं उपयोगिता की तुलना में न तो ग्रीक-साहित्य ही टिक पाता है, न रोमन ही।[२] इसीलिए मैक्समूलर ने वेद और तत्सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता पर पर्याप्त बल दिया।[३] डा० रसेलवैलेस ने वेद पर टिप्पणी करते हुए कहा—"इनमें हम अत्यधिक उन्नत एवं प्रगतिशील—धार्मिक विचारों की मुख्य शिक्षाओं को पाते हैं।···हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिस मन ने उन उच्च विचारों को ग्रहण किया और तदनुरूप उत्तम भाषा में प्रकट किया जो वेदों में सर्वत्र पाए जाते हैं, हमारे उच्चतम धार्मिक शिक्षकों और मिल्टन, शेक्सपीयर तथा टेनीसन जैसे कवियों से किसी अवस्था में भी कम न थे।"[४] नोबुल पुरस्कार-विजेता मैटर्लिक तो वेदों में निहित अन्तर्ज्ञान को देखकर विस्मयान्वित होकर कह उठा कि—'केवल सूक्ष्मदर्शी की अन्तर्दृष्टि है जो वेद में मेरे सूक्ष्म ज्ञान को प्रकट कर सकती है।'[५] आश्चर्य यह है कि हमारे प्राचीनकाल (प्रागैतिहासिक) के पूर्वजों ने जिनके विषय में यह कल्पना की जाती है कि वे घोर अज्ञान की भयंकर अवस्था में थे, कहाँ से वह असाधरण अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लिया जिसको हम फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं।[६] प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् थोरियों ने वेद के विषय में उद्गार प्रकट करते हुए कहा कि—'मैंने वेदों के उद्धरण पढ़े हैं वे मुझ पर एक उच्च और पवित्र ज्योति-पुंज के प्रकाश की तरह पड़ते हैं जो एक उत्कृष्ट मार्ग का वर्णन करता है। वेदों के उपदेश सरल···और सार्वभौम हैं। तथा उनमें ईश्वर-विषयक युक्तियुक्त[७]

१. देखिए, इंडिया ह्वाट केन टीच अस ? पृ० ६।
२. वही, पृ० ६८।
३. वही, पृ० १०१।
४. Social Environment and Moral Progress, p. 11-14.
५. The Great Secret by Maeter Linck. p. 9.
६. वही, पृ० ४४।
७. What extracts from the vedas I have read fall on me like the light of a higher and purer Iuminary which describes a loftier courses through a purer stratum-free from particulars, simple, universal, the vedas contain a sensible account of God.
(Q.F. Mother America by Swami Onkar, p. 9)

विचार दिए गए हैं। पश्चिमी विद्वानों ने वेदों के सांस्कृतिक मूल्यों का उद्घाटन करते हुए जो विचार प्रकट किए हैं उससे कहीं अधिक मार्मिक विचार उपनिषद् साहित्य के प्रति प्रकट किए गए हैं। स्वयं मैक्समूलर ने ही कहा है कि—'उपनिषद् आरण्यक ग्रन्थों की भाँति उस वाङ्मय से सम्बद्ध हैं जिन्हें हिन्दू 'श्रुति' अथवा 'स्वतः प्रकाशित साहित्य' कहते हैं। ये उपनिषद् प्रारम्भिक दार्शनिक ग्रंथ हैं जिनका स्थान विश्व के साहित्य में किसी भी जाति अथवा युग में मानव-मस्तिष्क द्वारा उत्पन्न अद्भुत अपूर्व कृतियों के रूप में है।[१] उन्नीसवीं शती का प्रसिद्ध जर्मन शोपेन-हार तो उपनिषदों के लेटिन अनुवाद को पढ़कर झूम उठा था। मानसिक आनन्दा-तिरेक की स्थिति में उपनिषदों के सम्बन्ध में जो शब्द उसके मुख से निकले वास्तव में वे शब्द स्वर्णाक्षरों में अंकित किए जाने योग्य हैं।[२]

इस विवरण से स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानों ने विशुद्ध सांस्कृतिक दृष्टि से भी वैदिक साहित्य का अध्ययन किया एवं तत्सम्बन्धी विशिष्टताएँ उद्घाटित करने का यथासम्भव प्रयत्न किया है।

## विशिष्ट पाश्चात्य विद्वान् और उनका कार्य

**अनुवाद-कार्य**—पश्चिमी विद्वानों द्वारा पश्चिम और भारत में सम्पूर्ण वैदिक साहित्य पर पर्याप्त कार्य किया गया है। इस कार्य में चारों वेद-संहिताओं, विभिन्न शाखाओं के ब्राह्मण-आरण्यक ग्रंथों एवं उपनिषदों के सम्पादन, अनुवाद समीक्षात्मक-निबन्ध और प्रकाशन का कार्य सम्मिलित है। सर्वप्रथम एच० एच० विल्सन ने (सन् १८५०-७) ऋक्-संहिता के चार अष्टकों का (तीन खण्डों में) अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। बाद में सन् १८६६ से १८८८ तक शेष अष्टकों का भी अनुवाद-कार्य सम्पन्न किया गया। विल्सन का यह अनुवाद सायणाचार्य के यज्ञ-परक भाष्य पर आधारित है। इसी प्रकार ग्रिफिथ महोदय ने सन् १८९७ में ऋग्वेद

---

१. At all events the Upnisads like the Aranyakas belong to what Hindutheologians call 'Sruti' or 'revealed literature' which is supposed to be founded on the former,...and earliest of these philosophical treatise will always, I believe, maintain a place in the literature of the world among the most astonishing productions of the human mind in any age and in any creation. (Sacred Books of the East. Upnisads by M. Muller. p. IXVII.).

२. In the whole world there has been no literature so elevating as the Upnisads. They have been the solace of my life, they will be the solace of my death. M. Muller's : What India can teach us ?

का, १८९८ में अथर्ववेद का और १९०७ में सामवेद का अंग्रेजी में पद्यबद्ध अनुवाद किया। एच० ग्रासमान महोदय ने ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्यबद्ध अनुवाद किया जो दो जिल्दों में सन् १८७६ में प्रकाशित हुआ। ग्रासमान का यह अनुवाद भारतीय टीकाकारों की प्रचलित परम्परा की उपेक्षा करके रॉथ महोदय की भाषा-वैज्ञानिक पद्धति पर स्वतन्त्र ऊहा से किया गया है, फलतः वैदिक मंत्रों के अनेक असंगत और अनुचित अर्थ लगाए गए हैं। एच० ओल्डेनबर्ग ने ऋग्वेद की जो विवेचनापूर्ण व्याख्या की उससे लेखक की अगाध विशुद्धता का परिचय मिलता है, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का अंग्रेजी अनुवाद प्रो० कीथ ने और शुक्ल यजुर्वेद का अंग्रेजी में पद्यबद्ध अनुवाद ग्रिफिथ महोदय ने किया। अथर्ववेद का अनुवाद डब्ल्यू० एच० ह्विटनी का है। जिसका संशोधन करके सन् १९०५ में सी० आर० लैन मैन ने प्रकाशित कराया।

ब्राह्मण ग्रंथों पर भी अनेक अनुवाद प्रस्तुत किए गए जिनमें डी० जे० एगलिंग का शतपथ ब्राह्मण का, डा० कीथ का ऐतरेय और सांख्यायन ब्राह्मण का तथा डा० कैलेन्ड का ताण्ड्य महाब्राह्मण का अनुवाद प्रमुख है। आर० ई० ह्यूम का तेरह प्रमुख उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद भी इसी श्रेणी में आता है।

वेद, ब्राह्मण एवं उपनिषदादि ग्रंथों के अनुवाद के अतिरिक्त आरण्यकों, प्रातिशाख्यों, सूत्र-ग्रन्थों आदि के भी पर्याप्त अनुवाद पाश्चात्य वेदानुयायियों ने किए हैं जो उनकी योग्यता एवं लगन के परिचायक हैं।

**वैदिक ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करण**—वैदिक ग्रंथों के प्रामाणिक संस्करणों के प्रकरण में प्रो० मैक्समूलर का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इनके जीवन की अटूट साधना का अनुपम माधुरी सम्पन्न फल है—सायणभाष्य-सहित ऋग्वेद संहिता का सम्पादन, जिसे वे २६ वर्षों के कष्ट-साध्य परिश्रम के द्वारा सन् १८७५ में महत्त्वपूर्ण भूमिका-सहित पूर्ण कर सके। शुक्ल यजुर्वेद का सर्वप्रथम सम्पादन-कार्य सन् १८५२ में वेवर ने सम्पन्न किया तथा कृष्ण यजुर्वेद मैत्रायणी संहिता प्रो० श्रोदर द्वारा सम्पादित हुई। इसी प्रकार शौनक शाखीय अथर्व-संहिता का सर्वप्रथम सम्पादन-कार्य रॉथ और ह्विटने महोदय ने सन् १८०५ में पूर्ण किया। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा की काश्मीर से उपलब्ध एक जीर्ण-शीर्ण प्रति का उद्धार कर प्रो० ब्लूमफील्ड और गार्वे ने उसे जर्मनी से सन् १९०१ में प्रकाशित कराया।

प्रो० लेण्डनर, एस० सी० वर्नेल, हार्टल, और गास्ट्रा आदि विद्वानों ने विभिन्न ब्राह्मण-ग्रंथों का सम्पादन किया। इसी प्रकार स्टेन्सलर, हिलब्रान्ट, कैलेन्ड गार्वे, वेवर, ब्लूमफील्ड, रुडॉल्फरॉथ, मैक्समूलर और मैक्डानल ने विभिन्न सूत्रों, प्रातिशाख्यों एवं अनुक्रमणिकाओं को सम्पादित किया। मैक्समूलर महोदय ने ही उपनिषदों का दो भागों में सम्पादन किया। सन् (१८७९-८४)।

**समीक्षात्मक साहित्य**—१७८४ ई० में बंगाल में 'एशियाटिक सोसाइटी' की शोध-संस्था की स्थापना के उपरान्त १८०५ में मि० कालब्रुक का जब एशियाटिक रिसर्च्स' नामक पत्र में 'हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथ—वेद' शीर्षक गवेषणात्मक निबन्ध

प्रकाशित हुआ तो वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए विदेशों में धूम मच गई। इस लेख ने अनेक विदेशी विद्वानों को वैदिक-वाङ्मय के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में ऐतिहासिक पद्धति (हिस्टोरिकल मैथड) के जन्मदाता रॉथ साहब का नाम विशेष स्मरणीय रहेगा। जिन्होंने ऐतिहासिक पर्यालोचन एवं भाषा-विज्ञान के आधार पर वेदों के अध्ययन की नींव रखी और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'महाकोष' का सम्पादन किया जिस का उल्लेख पीछे आ चुका है। डा० ए० ए० मैक्डानल और कीथ दोनों ने मिलकर वैदिक-संस्कृति से सम्बन्धित 'वैदिक इन्डेक्स' नामक शोध-ग्रंथ की रचना की। वैदिक-व्याकरण पर डा० मैक्डानल का 'वैदिक-ग्रामर' नामक ग्रंथ अपनी शैली का अपूर्व ग्रंथ है। वैदिक-व्याकरण की दृष्टि से डा० वाकर नागेल का नाम भी उल्लेखनीय है। प्रो० ई० वी० आरनल्ड ने वैदिक छन्दों पर भी अनुशीलनपूर्ण ग्रंथ लिखा।

वैदिक-धर्म और दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से डा० मैक्डानल का 'वैदिक-माइथालोजी' सबसे प्रामाणिक एवं परिष्कृत ग्रंथ है। इसी प्रकार के डा० कीथ के एक अन्य ग्रंथ 'रिलीजन एन्ड फिलासफी आफ दी वेदाज एन्ड दी उपनिषदाज' में वैदिक धर्म एवं सभ्यता की आलोचनात्मक मीमांसा है। (सन्-१९२५) उपनिषद् दर्शन पर सम्यक् प्रकाश डालने की दृष्टि से ड्यूसन का 'दी फिलासफी आफ दी उपनिषदाज' भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। टी० इ० स्लेटर का 'स्टडीज इन दी उपनिषदाज' नामक ग्रंथ भी इसी श्रेणी में आता है।

कतिपय ऐसे भी विदेशी विद्वान् हैं जिन्होंने ईसाई मत की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने की दृष्टि से वैदिक-धर्म का उपहास अथवा निन्दा की है। ऐसे विद्वानों में जे० एन० फरक्यार, आर० वी क्लेटन (ऋग्वेद एण्ड वैदिक रिलिजन), ग्रिसवाल्ड का 'दी रिलिजन आफ दी ऋग्वेद' प्रमुख हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गए वैदिक साहित्य-विषयक अनुसंधान-कार्य के इस विवरण के आधार पर निस्संकोच रूप से यह कहा जा सकता है कि जो कार्य उन्होंने किया वह उनके वैदिक-वाङ्मय के प्रति रुचि, आस्था एवं निष्ठा का परिचायक है। पाश्चात्य विद्वानों के इस कार्य ने भारतीयों के समक्ष उनके साहित्य की महत्ता का उद्घाटन कर उनमें अपने जातीय साहित्य एवं संस्कृति के प्रति खोई हुई निष्ठा एवं गौरव की भावना को पुनः जागृत किया, उनमें अपने स्वर्णिम अतीत एवं महिमान्वित परम्परा के श्रद्धा-भाव अंकुरित किए। फलतः भारतीय विद्वान् भी इनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपने अतीत का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए उन्मुख हुए। हमने स्वयं को टटोलने का प्रयत्न किया कि हम क्या थे तथा कालचक्र के दुष्प्रभाव से हम क्या हो गए हैं। भारतीयों के इस प्रयत्न में ही इस युग के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान तथा जागरण के सूत्र निहित थे, जिनकी चर्चा आगे करेंगे। यहाँ भारतीयों द्वारा वैदिक-साहित्य पर किए गए कार्य का संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

## आधुनिक भारतीय विद्वान् एवं उनका वैदिक साहित्य पर कार्य

**स्वामी दयानन्द सरस्वती**—पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक साहित्य पर किए गए परिश्रमपूर्ण एवं कष्टसाध्य प्रयत्नों से प्रेरित होकर तथा कुछ विद्वानों में अपनी स्वतन्त्र प्रेरणा से अपने इस प्राचीनतम साहित्य के प्रति रुचि जागृत हुई, फलतः अंग्रेजी तथा लोक-भाषा में अनेक प्रकार के समीक्षात्मक एवं अनुवादात्मक ग्रंथों का प्रणयन हुआ। विभिन्न ग्रंथों के सुन्दर-सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुए तथा अनेक विद्वानों के अनुसंधानपूर्ण कार्य प्रकाश में आए। अपनी स्वतन्त्र प्रेरणा से प्रेरित अर्वाचीन भारतीय वेद-भाष्यकारों में स्वामी दयानन्द की गणना सर्वप्रथम होती है।

प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द से दीक्षा लेकर उन्होंने जो कार्य किया उसे स्थूल रूप में तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) सांस्कृतिक, (२) धार्मिक एवं (३) सामाजिक। यहाँ हम अपना अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि तक ही सीमित रखते हैं।

सांस्कृतिक दृष्टि से स्वामीजी ने वेद-सम्बन्धी कार्य को अपने हाथ में लिया। पाश्चात्य विद्वानों और स्वामीजी का यह कार्य लगभग एक ही समय में प्रारम्भ किया गया था, पर दोनों के दृष्टिकोणों में महान् अन्तर था। पाश्चात्य विद्वानों ने तो सायण की व्याख्याओं के आधार पर वेदों की कर्मकाण्डात्मक और प्रकृति-मूलक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं जो केवल वेद मंत्रों के स्थूल अर्थों तक ही सीमित थीं, अतः पाश्चात्यों की वेद-व्याख्याओं में आन्तरिक आशय की नितान्त उपेक्षा हुई। पर स्वामी जी ने यास्क के निरुक्त के आधार पर श्रुतियों की यौगिक पद्धति पर व्याख्या की और उनके आन्तरिक आशय को अधिकाधिक रूप में प्रकट करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में स्वामीजी यास्क के निरुक्त से भी दो कदम आगे बढ़ गए।

उन्होंने वैदिक-वाङ्मय में केवल वेद को ही (ब्राह्मण भाग से रहित) सर्वोपरि महत्त्व दिया। सम्पूर्ण यजुर्वेद, तथा ऋग्वेद के ७वें मण्डल के ७२ सूक्त तक की व्याख्या उनके इसी दृष्टिकोण की परिचायक है। स्वामीजी ने 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में अपने वेद-सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया। वे वेद को सब प्रकार की विद्याओं तथा ज्ञान-विज्ञान का भण्डार मानते हैं। ज्ञान, कर्म, उपासना सदाचरण आदि तो वेद के प्रमुख विषय हैं ही। उनके मतानुसार वेद की 'अपरा विद्या' से लौकिक तथा 'पराविद्या' से सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की प्राप्ति होती है।[1] वेदों के अपौरुषेयत्व में भी उनका दृढ विश्वास है।[2] जहाँ तक वेदों की धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है उनके अनुसार वेद न तो बहु देवतावाद (पालीथीइज्म) और न मैक्समूलर के उपास्य श्रेष्ठतावाद (हीनोथीइज्म) का ही प्रतिपादन करते हैं। वे तो केवल एकेश्वर-

---

१. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृ० ५६ (सं० १६४४)।

२. वही, पृ० ५१।

वाद की घोषणा करते हैं। इसीलिए उन्होंने अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि विभिन्न देवताओं की यौगिक पद्धति पर व्याख्या करके ईश्वरपरक अर्थ लिया। स्वामी दयानन्द की इस दृष्टि का श्री अरविन्द ने भी समर्थन किया है। उन्होंने कहा कि—"दयानन्द की मन्त्रों की व्याख्या इस विचार से नियन्त्रित है कि, वेद धार्मिक, नैतिक और वैज्ञानिक सत्य का एक पूर्ण ईश्वर-प्रेरित ज्ञान है। वेद की धार्मिक शिक्षा एक देवतावाद की है और वैदिक देवता एक ही देव के भिन्न-भिन्न वर्णनात्मक नाम हैं, साथ ही वे देवता उसकी उन शक्तियों के सूचक भी हैं जिन्हें कि हम प्रकृति में कार्य करता हुआ देखते हैं, और वेदों के आशय को सच्चे रूप में समझकर हम उन सभी वैज्ञानिक सच्चाइयों तक पहुँच सकते हैं जिनका कि आधुनिक अन्वेषण द्वारा आविष्कार हुआ है।···वेद का एक देवतावाद विश्व की अद्वैतवादी, सर्वदेवतावादी और यहाँ तक कि बहु-देवतावादी दृष्टियों को भी अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है।[1]

इनके अनन्तर भारतीय वेदानुसंधाताओं में लोक-मान्य बाल गंगाधर तिलक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, शंकर पाण्डुरंग पण्डित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शंकर पाण्डुरंग का सायण भाष्य संवलित अथर्ववेद का संस्करण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। 'तिलक' के 'ओरायन' और 'आर्कटिक होम इन दी वेदाज' नामक दोनों ग्रंथ उनकी अपूर्व विद्वत्ता और तर्कशीलता के ज्वलन्त उदाहरण हैं जिनमें वेदों के रचनाकाल आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने चारों वेदों की संहिताओं को बड़े परिश्रम से प्रामाणिक रूप में प्रकाशित कराया। इसी प्रकार डा० लक्ष्मण स्वरूप ने वेंकटमाधव का भाष्य ४ जिल्दों में लाहौर से प्रकाशित कराया।

अर्वाचीन एवं आधुनिक भारतीय विद्वानों ने वेद अथवा उपनिषदों पर भाष्य-रचना की अपेक्षा आलोचनात्मक एवं विवरणात्मक ग्रन्थों के प्रणयन की ओर विशेष ध्यान दिया। इस प्रकार के लेखकों में पं० सत्यव्रत सामाश्रमी, डा० मंगलदेव शास्त्री, रामगोविन्द त्रिवेदी, बलदेव उपाध्याय, चिन्तामणि विनायक वैद्य, डा० सूर्यकान्त, डा० वासुदेव शरण, श्री भगवद्दत्त, स्वामी करपात्री जी, पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं० दीनानाथ सारस्वत, आदि आर्यसमाजी एवं सनातनधर्मी विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रसंग में जयपुर के पं० मधुसूदन ओझा का नाम भी श्रद्धा के साथ लिया जा सकता है जिन्होंने वैदिक साहित्य पर संस्कृत भाषा में महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य किया जो वैदिक वाङ्मय की गरिमा का उद्घाटन करता है।

वेद एवं उपनिषदों के दार्शनिक एवं रहस्यात्मक पक्ष का उद्घाटन करने की दृष्टि से डा० राधाकृष्णन, योगी अरविन्द, कपाली शास्त्री, महादेव शास्त्री, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, महेन्द्रनाथ सरकार, रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, रमेशचन्द्र दत्त, सुरेश

---

१. वेदरहस्य, भाग १, पृ० ४१-४२।

चन्द्र चक्रवर्ती, एस० सी० सेन, एम० पी० पंडित आदि विद्वानों के नाम सम्मान के साथ लिये जा सकते हैं। इनमें भी डा० राधाकृष्णन, श्री अरविन्द और स्वामी विवेकानन्द की वैदिक साहित्य पर की गई व्याख्याओं का युग की मनीषा पर विशेष प्रभाव पड़ा है। यहाँ हम उन विभिन्न संस्थाओं के प्रयत्नों की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं जिनका सम्बन्ध समाज के सांस्कृतिक पुनरुत्थान-कार्य से है।

**सांस्कृतिक पुनरुत्थान**—वैदिक-साहित्य पर पश्चिम और पूर्व में हुए अध्ययन के उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत का अतीत कितना महान् और स्वर्णिम रहा होगा, उस समय के ऋषि-महर्षि कितने गंभीर, उत्कृष्ट और उदार विचार वाले रहे होंगे कि उनकी धारणाओं एवं मान्यताओं पर आधारित आर्य संस्कृति तथा सभ्यता का यह भवन सहस्रों वर्षों के अनुकूल-प्रतिकूल घात-प्रतिघातों को सहकर भी आज ज्यों-का-त्यों खड़ा हुआ है। और सत्य तो यह है कि हम पतन की वर्तमान स्थिति को भी इसी कारण पहुँचे कि हमने शनैः-शनैः उन महर्षियों की उदार और महान् शिक्षाओं को या तो विस्मृत कर दिया अथवा उन्हें गलत अर्थों में ग्रहण किया अथवा युगानुकूल परिवर्तित परिस्थितियों में उनके साथ समन्वय स्थापित कर सकने की क्षमता अपने में अर्जित न कर सके। और आज भी यदि हम ऊपर उठ सकते थे तो अपनी संस्कृति के पुनरुद्धार द्वारा ही, यह तथ्य उन्नीसवीं शती के महान पुरुषों को भली प्रकार अवगत हो चुका था। इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों के भारतीय वैदिक साहित्य के सम्पर्क में आने की घटना एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक घटना मानी गई और स्वयं भी भारतीय अपने इस प्राचीन एवं विस्तृत साहित्य-सागर का पुनर्मन्थन करने के लिए सन्नद्ध होकर इसमें कूद पड़े जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ अस्तित्व में आईं और जिनके प्रयत्न सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।

**ब्राह्मो समाज**—राजनीतिक दासता के लगभग ७००-८०० वर्ष के एक लम्बे काल में पलते रहने के कारण भारत की जीवन्त शक्ति एक प्रकार से क्षीण होती जा रही थी। मुस्लिम शासन-काल की भाँति ब्रिटिश शासन-काल में भी भारतीयों को राजनीतिक दृष्टि से परतन्त्र बनाए रखने के साथ-साथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी उसे परतन्त्र बनाने का कुचक्र रचा गया। इस समय तक सम्पूर्ण समाज अनेक प्रकार की कुरीतियों, अन्ध-विश्वासों तथा बाह्याडम्बरों में ग्रस्त हो चुका था। समुचित शिक्षा के अभाव के कारण अस्पृश्यता, बाल-विवाह, ऊँच-नीच और जात-पात का भेदभाव आदि से सम्बन्धित सामाजिक जीर्ण परम्पराओं ने हिन्दू समाज को और भी अधिक जर्जर बना डाला। फलतः समाज में सर्वत्र विषमता एवं जड़ता, आत्महीनता तथा का पुरुषता का ताण्डव नर्तन हो रहा था। ऐसी स्थिति में धार्मिक उन्माद से ग्रस्त ईसाई पादरियों ने निर्धन भारतीय जनता के मध्य कतिपय परोपकार-सम्बन्धी कार्य कर तथा उन्हें लुब्ध कर ईसाई धर्म में दीक्षित करना प्रारम्भ कर दिया। ईसाई मत का उस समय इतना गहरा रंग चढ़ा कि सुशिक्षित बंगदेशीय जनता तक ईसाई धर्म

ग्रहण करने में गौरव का अनुभव करने लगी। आत्महीनता की यह पराकाष्ठा थी। अन्य दृष्टियों से तो हम पंगु थे ही, पर धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी हमें दुर्बल बनाया जाने लगा। सांस्कृतिक संकट के इन भयानक क्षणों में बंगाल में राजा राम-मोहन राय ने सन् १६२८ में 'ब्रह्मोसमाज' नामक संस्था की स्थापना की। यह धार्मिक-सामाजिक सुधारान्दोलनों में सर्वप्रथम प्रयास था। यह समाज कवच-रूप में भारतीय औपनिषदिक अद्वैतवाद को लेकर चला। इसने उस समय दोहरा कार्य किया—एक तो इसने पाश्चात्य मिशनरियों के प्रभाव को दूर करने में सहयोग दिया, दूसरे अपने प्राचीन जातीय गौरव के पुनर्मूल्यांकन द्वारा हिन्दुओं में बढ़ती हुई रूढिवादिता को कम कर उसे और अधिक पतन की ओर अग्रसर होने से बचा लिया। हिन्दुओं में विभिन्न प्रकार की विषमताओं एवं मूर्ति-पूजा आदि को लेकर जो कटु आलोचनाएँ चल रही थीं उन्हें लेकर मानव-मानव की एकता, जातिगत भेदभाव, मूर्तिपूजा की स्थूलता एवं अछूत समस्या के निराकरण का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने पाश्चात्य आलोचनाओं को उपनिषदों के दर्शन द्वारा खण्डित कर यह सिद्ध किया कि मूल हिन्दुत्व अथवा भारतीय मानवैक्य ज्ञान-साधना, ब्रह्म-चिन्तन आदि के व्यापक सिद्धान्तों में निहित है, दासता की परिस्थितियों से उत्पन्न विकृत रूढियों में नहीं जो परिस्थितिगत, ऊपरी, अल्प-कालिक एवं असत् है।[1] उन्होंने स्वयं उपनिषदों के अनेक अंशों का अनुवाद किया और उसके द्वारा भारत के प्राचीन जातीय गौरव की पुनःस्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने में सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

इस विवरण से इतना तो स्पष्ट है कि राजा साहब ने नीचे गिरती हुई जाति को 'ब्रह्मवाद' के बल पर ऊपर उठाने में मार्ग-दर्शन का कार्य सम्पन्न किया। उनका कार्यक्षेत्र इस प्रकार धार्मिक एवं सामाजिक अधिक रहा है, सांस्कृतिक कम। बंगाल के हिन्दुओं में प्रचलित 'सती-प्रथा' जैसी अमानवीय परम्परा के विरुद्ध नियम पारित कराकर धर्म के नाम पर जो आत्माहुति दिये जाने का उन्माद व्याप्त था उसे उन्होंने अवैधानिक घोषित कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

**प्रार्थना समाज**—बंगाल के 'ब्रह्मो समाज' की भाँति ही बम्बई का प्रार्थना-समाज (सन् १८६७) भी धार्मिक-सामाजिक सुधार की दृष्टि से एक दूसरा आन्दोलन था जिसके पीछे केशवचन्द्र सेन के सन् १८६४ में बम्बई में दिये गए ओजस्वी भाषण की आत्मा कार्य कर रही थी। इस समाज के मुख्य कार्य थे जाति-प्रथा का बहिष्कार, विधवा विवाह का प्रचलन, स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देना एवं बाल-विवाह का निषेध।[1] चतुर्मुखी कार्य-क्रम को लेकर चलने वाले इस समाज का मुख्य कार्य भार-तीय समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों को दूर कर उसे स्वस्थ और सप्राण बनाना था।

अत्यधिक लगन और कर्मठता से कार्य करने वाले इस समाज के सदस्यों में

---

१. Hinduism through the Ages, p. 77.

बम्बई के न्यायाधीश महोदय गोविन्द महादेव रानाडे का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे एक इतिहासविद्, अर्थशास्त्री, शिक्षा-शास्त्री, तथा एक योग्य समाज-सुधारक थे। रानाडे के नेतृत्व में यह समाज महाराष्ट्र के परम्परागत धार्मिक संतों और द्रष्टाओं के उपदेशों और शिक्षाओं को लेकर चला। इन धार्मिक संतों में छंगदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, रामदास, जनार्दन पन्त और मालोपंत के नाम प्रमुख हैं। ये सभी संत लोक-भाषा में गाए अपने भक्तिपरक गीतों में प्राचीन उपनिषदों के आधार पर मानव-मानव की समानता और एकता तथा बंधुत्व और स्नेहभाव को महत्त्व देते थे। ये भक्त सगुण साकार के माध्यम से सगुण निराकार तक पहुँचे थे। मूर्ति का उपयोग वे निर्गुण तक पहुँचने के लिए माध्यम रूप में करते थे। इस दृष्टि से वे मूर्तिपूजक नहीं थे। प्रार्थना समाज में धार्मिक-क्षेत्र में इन्हीं की मान्यताओं को स्वीकार किया। ब्रह्म समाज की अपेक्षा इसका दृष्टिकोण अधिक उदार और संतों की परम्पराओं से जुड़े रहने के कारण अधिक भारतीय था। ब्रह्मो-समाज में आगे चलकर ईसाई मत के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण अनेक विदेशी तत्त्व आ गये थे जो हिन्दुओं को आकर्षित नहीं कर सके, पर यह समाज पूर्णतः हिन्दू परम्पराओं से पोषण लेने के कारण अधिक-से-अधिक हिन्दुओं को आकर्षित कर सका तथा इसके द्वारा सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में सुधार एवं पुनरुद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि से इस समाज का महत्त्व नगण्य ही है।

**आर्य समाज**—आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेद पर किये गए कार्य के प्रसंग में पीछे उल्लेख आ चुका है। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले उच्च कोटि के परिव्राजक थे। आर्य समाजी विद्वानों ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि से वैदिक साहित्य एवं वैदिक धारणाओं एवं सिद्धांतों को लोकप्रिय बनाने के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका संक्षिप्त विवरण पीछे दिया जा चुका है, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से आर्य समाज द्वारा किए गए प्रयत्नों का उल्लेख करेंगे।

आर्य समाज ने धार्मिक क्षेत्र में सर्वप्रथम एक ही ईश्वर को पूजने और उसकी उपासना करने पर बल दिया। आर्य-समाज की मुख्य घोषणा थी कि 'एक परमेश्वर ही इस सृष्टि का रचयिता, धर्त्ता और हर्त्ता है। वही हम सब का एकमात्र पिता है। उसकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता एवं सर्वज्ञता में किसी को भी सन्देह नहीं करना चाहिए। वह दयालु, कृपालु और सभी जीवों का रक्षक है।' धर्म के क्षेत्र में स्वामीजी तथा आर्य समाज संस्था ने अन्ध-विश्वास, बाह्याडम्बर और मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया। इस संस्था ने विभिन्न मतमतान्तरों में खोई और भटकी हुई जनता को पुनर्जागृत कर वैदिक धर्म की पताका के नीचे संगठित करने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया और अद्यपर्यन्त भी सक्रिय है। ईसाई और इस्लाम धर्म[1] की थोथी धार्मिकता इस

---

१. देखिये, सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास।

समाज की निर्मम आलोचना और कड़े प्रहारों का विषय बन चुकी थी। इस प्रकार आर्य धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाली इस संस्था ने भटकते हुए अनेकों हिन्दुओं को ईसाई अथवा मुस्लिम होने से बचा लिया।

इस संस्था ने वेद-समर्थित प्राचीन धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं, यथा—वैदिक कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास रखना, ब्रह्मचर्य, संयम और संन्यास के प्राचीन सिद्धान्त का पालन करना, अच्छे चरित्र तथा व्यक्तित्व के निर्माण के लिए षोडश संस्कारों का आचरण करना, चित्त-शुद्धि के लिए प्रतिदिन होम करना, पंच-महायज्ञों का यथाशक्ति पालन करना तथा प्रतिदिन संध्या, उपासना आदि करना। ये कतिपय ऐसी बातें थीं जिन पर आचरण करना प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक घोषित किया गया।

सामाजिक दृष्टि से भी स्वामीजी तथा आर्य समाज का कार्य-क्रम महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्वामीजी ने गुजरात से बंगाल तक समस्त उत्तर भारत का पैदल घूम-घूमकर भ्रमण किया। उस समय उन्होंने समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों यथा—जाति-पांति, ऊँच-नीच की भावना, मूर्तिपूजा, अछूत-समस्या आदि का डटकर विरोध किया। साथ ही उन्होंने विदेशियों के उस भारतीयता-विरोधी, विषाक्त एवं अपमानजनक प्रचार को एकदम रोक दिया जो भारतीयता की जड़ों को खोखली किए दे रहा था। उन्होंने धर्म, समाज, भाषा और राष्ट्रीयता पर खुलकर अपनी मान्यताएँ व्यक्त कीं और देश की अखण्डता और स्वतन्त्रता को अपरिहार्य और आवश्यक कहा। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामीजी ने देश में प्रचलित अन्ध-मान्यताओं पर इतने तीखे और भयंकर प्रहार किए कि लोग उनकी उचित आलोचनाओं से दहल उठे। महापाण्डित्य एवं अदम्य व्यक्तित्व-सम्पन्न इस महापुरुष ने प्रथम बार स्वदेशी, स्वराज्य, स्वधर्म और स्वभाषा का नारा देकर देश को क्रांति के मार्ग पर ले चलने का महान् कार्य किया, तथा स्वदेश, स्वजाति, स्वभाषा स्वसभ्यता, संस्कृति एवं धर्म के प्रति जनता में आत्म-गौरव और खोये हुए स्वाभिमान की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। यदि 'ब्रह्म-समाज' औपनिषदिक विचारधारा को लेकर चला तो 'आर्य-समाज' ने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देकर आर्य जाति को वेदों की ठोस चट्टान पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया।

इस संस्था ने 'ब्रह्म समाज' की ही भाँति बाल-विवाह का निषेध और विधवा विवाह का समर्थन किया। भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने के क्षेत्र में भी इस संस्था ने पर्याप्त ध्यान दिया। इस संस्था ने प्रचार किया कि जब तक समाज में स्त्रियों को पुरुषों के समान स्तर नहीं दिया जाता तब तक भारत की उन्नति असंभव है। अतः इस समाज ने स्त्रियों में पर्दा-प्रथा की भर्त्सना की तथा उनमें शिक्षा के विकास के लिए प्रयत्न किये।

आर्य-समाज ने स्वामीजी के आदर्शों के अनुरूप सामाजिक जीवन के पूर्ण संस्कार की दृष्टि से सामाजिक जीवन में विविध आन्दोलन चलाया—शुद्धि, संगठन

बम्बई के न्यायाधीश महोदय गोविन्द महादेव रानाडे का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे एक इतिहासविद्, अर्थशास्त्री, शिक्षा-शास्त्री, तथा एक योग्य समाज-सुधारक थे। रानाडे के नेतृत्व में यह समाज महाराष्ट्र के परम्परागत धार्मिक संतों और द्रष्टाओं के उपदेशों और शिक्षाओं को लेकर चला। इन धार्मिक संतों में छंगदेव, ज्ञानदेव, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, रामदास, जनार्दन पन्त और मालोपंत के नाम प्रमुख हैं। ये सभी संत लोक-भाषा में गाए अपने भक्तिपरक गीतों में प्राचीन उपनिषदों के आधार पर मानव-मानव की समानता और एकता तथा बंधुत्व और स्नेहभाव को महत्त्व देते थे। ये भक्त सगुण साकार के माध्यम से सगुण निराकार तक पहुँचे थे। मूर्ति का उपयोग वे निर्गुण तक पहुँचने के लिए माध्यम रूप में करते थे। इस दृष्टि से वे मूर्तिपूजक नहीं थे। प्रार्थना समाज में धार्मिक-क्षेत्र में इन्हीं की मान्यताओं को स्वीकार किया। ब्रह्म समाज की अपेक्षा इसका दृष्टिकोण अधिक उदार और संतों की परम्पराओं से जुड़े रहने के कारण अधिक भारतीय था। ब्रह्मो-समाज में आगे चलकर ईसाई मत के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण अनेक विदेशी तत्त्व आ गये थे जो हिन्दुओं को आकर्षित नहीं कर सके, पर यह समाज पूर्णतः हिन्दू परम्पराओं से पोषण लेने के कारण अधिक-से-अधिक हिन्दुओं को आकर्षित कर सका तथा इसके द्वारा सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में सुधार एवं पुनरुद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। सांस्कृतिक दृष्टि से इस समाज का महत्त्व नगण्य ही है।

**आर्य समाज**—आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेद पर किये गए कार्य के प्रसंग में पीछे उल्लेख आ चुका है। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तथा ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले उच्च कोटि के परिव्राजक थे। आर्य समाजी विद्वानों ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दृष्टि से वैदिक साहित्य एवं वैदिक धारणाओं एवं सिद्धांतों को लोकप्रिय बनाने के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उसका संक्षिप्त विवरण पीछे दिया जा चुका है, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से आर्य समाज द्वारा किए गए प्रयत्नों का उल्लेख करेंगे

आर्य समाज ने धार्मिक क्षेत्र में सर्वप्रथम एक ही ईश्वर को पूजने और उसकी उपासना करने पर बल दिया। आर्य-समाज की मुख्य घोषणा थी कि 'एक परमेश्वर ही इस सृष्टि का रचयिता, धर्त्ता और हर्त्ता है। वही हम सब का एकमात्र पिता है। उसकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता एवं सर्वज्ञता में किसी को भी सन्देह नहीं करना चाहिए। वह दयालु, कृपालु और सभी जीवों का रक्षक है।' धर्म के क्षेत्र में स्वामीजी तथा आर्य समाज संस्था ने अन्ध-विश्वास, बाह्याडम्बर और मूर्तिपूजा का घोर विरोध किया। इस संस्था ने विभिन्न मतमतान्तरों में खोई और भटकी हुई जनता को पुनर्जागृत कर वैदिक धर्म की पताका के नीचे संगठित करने का अभूतपूर्व प्रयत्न किया और अद्यपर्यन्त भी सक्रिय है। ईसाई और इस्लाम धर्म[1] की थोथी धार्मिकता इस

---

१. देखिये, सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ समुल्लास।

समाज की निर्मम आलोचना और कड़े प्रहारों का विषय बन चुकी थी। इस प्रकार आर्य धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाली इस संस्था ने भटकते हुए अनेकों हिन्दुओं को ईसाई अथवा मुस्लिम होने से बचा लिया।

इस संस्था ने वेद-समर्थित प्राचीन धार्मिक विश्वासों एवं मान्यताओं, यथा— वैदिक कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास रखना, ब्रह्मचर्य, संयम और संन्यास के प्राचीन सिद्धान्त का पालन करना, अच्छे चरित्र तथा व्यक्तित्व के निर्माण के लिए षोडश संस्कारों का आचरण करना, चित्त-शुद्धि के लिए प्रतिदिन होम करना, पंच-महायज्ञों का यथाशक्ति पालन करना तथा प्रतिदिन संध्या, उपासना आदि करना। ये कतिपय ऐसी बातें थीं जिन पर आचरण करना प्रत्येक हिन्दू के लिए आवश्यक घोषित किया गया।

सामाजिक दृष्टि से भी स्वामीजी तथा आर्य समाज का कार्य-क्रम महत्त्वपूर्ण नहीं है। स्वामीजी ने गुजरात से बंगाल तक समस्त उत्तर भारत का पैदल घूम-घूमकर भ्रमण किया। उस समय उन्होंने समाज में व्याप्त विभिन्न कुरीतियों यथा—जाति-पांति, ऊँच-नीच की भावना, मूर्तिपूजा, अछूत-समस्या आदि का डटकर विरोध किया। साथ ही उन्होंने विदेशियों के उस भारतीयता-विरोधी, विषाक्त एवं अपमानजनक प्रचार को एकदम रोक दिया जो भारतीयता की जड़ों को खोखली किए दे रहा था। उन्होंने धर्म, समाज, भाषा और राष्ट्रीयता पर खुलकर अपनी मान्यताएँ व्यक्त कीं और देश की अखण्डता और स्वतन्त्रता को अपरिहार्य और आवश्यक कहा। आर्य-समाज के प्रवर्तक स्वामीजी ने देश में प्रचलित अन्ध-मान्यताओं पर इतने तीखे और भयंकर प्रहार किए कि लोग उनकी उचित आलोचनाओं से दहल उठे। महापाण्डित्य एवं अदम्य व्यक्तित्व-सम्पन्न इस महापुरुष ने प्रथम बार स्वदेशी, स्वराज्य, स्वधर्म और स्वभाषा का नारा देकर देश को क्रांति के मार्ग पर ले चलने का महान् कार्य किया, तथा स्वदेश, स्वजाति, स्वभाषा स्वसभ्यता, संस्कृति एवं धर्म के प्रति जनता में आत्म-गौरव और खोये हुए स्वाभिमान की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। यदि 'ब्रह्म-समाज' औपनिषदिक विचारधारा को लेकर चला तो 'आर्य-समाज' ने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा देकर आर्य जाति को वेदों की ठोस चट्टान पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया।

इस संस्था ने 'ब्रह्म समाज' की ही भाँति बाल-विवाह का निषेध और विधवा विवाह का समर्थन किया। भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने के क्षेत्र में भी इस संस्था ने पर्याप्त ध्यान दिया। इस संस्था ने प्रचार किया कि जब तक समाज में स्त्रियों को पुरुषों के समान स्तर नहीं दिया जाता तब तक भारत की उन्नति असंभव है। अतः इस समाज ने स्त्रियों में पर्दा-प्रथा की भर्त्सना की तथा उनमें शिक्षा के विकास के लिए प्रयत्न किये।

आर्य-समाज ने स्वामीजी के आदर्शों के अनुरूप सामाजिक जीवन के पूर्ण संस्कार की दृष्टि से सामाजिक जीवन में त्रिविध आन्दोलन चलाया—शुद्धि, संगठन

और शिक्षा का ।[1] शुद्धि कार्य-क्रम के अन्तर्गत धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं तथा अहिन्दुओं दोनों को शुद्धि संस्कार द्वारा पुनः हिन्दू धर्म में दीक्षित किया गया तथा उन्हें समाज में समानता का स्तर प्रदान किया गया । वस्तुतः इस कार्यक्रम से हिन्दू-समाज में एक नव-चेतना का उदय हुआ, अपने धर्म के प्रति आस्था एवं निष्ठा का विश्वास जगा और इस विघटित जाति में संगठन की भावना पुनर्जागृत हुई । आर्य-समाज ने दीन-हीन हिन्दू-जाति में एक प्रकार से वीरत्व के भाव संचारित कर उसे शक्तिशाली समाज में रूपान्तरित कर देने का गौरव प्राप्त किया है, जिससे हिन्दू जाति अपने खोये हुए प्राचीन आत्म-गौरव को पुनः अर्जित कर सकी । शिक्षण के क्षेत्र में इस संस्था ने जो कार्य किया है उसका उल्लेख आगे करेंगे ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म-समाज की अपेक्षा आर्य-समाज का क्षेत्र अधिक व्यापक, अधिक ठोस, अधिक ऊर्जस्वी तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अधिक निकट है । "निस्सन्देह आधुनिक भारत के इतिहास में स्वामीजी और उनके समाज ने एक नितांत अभिनव अध्याय की सृष्टि की है और उसकी अपरिसीम सफलता हमारी राष्ट्रीय चेतनता का मूलाधार बनी ।"[2]

**थियोसॉफिकल सोसाइटी**—१९वीं शती के अंतिम दशकों में हिन्दुत्व के पुनरुत्थान-कार्य में एक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था ने सहयोग दिया जिसे थियोसॉफिकल सोसाइटी के नाम से पुकारा जाता है । इस संस्था की स्थापना अमरीका (न्यूयार्क), में सन् १८७५ में हुई थी और इसी वर्ष स्वामी दयानन्द ने बम्बई में आर्य-समाज की आधार-शिला प्रतिष्ठित की थी । इस नए संगठन के सदस्य थे—एक रूसी स्त्री, मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल आल्काट । १८७९ में न्यूयार्क से आए इन दोनों लोगों का बम्बई में आर्य समाज द्वारा स्वागत किया गया । कर्नल आल्काट ने सीलोन जाकर बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली और वहीं रहकर बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान-कार्य में अपने को लगा दिया । यहाँ इस सोसाइटी को एक अन्य अंग्रेज महिला श्रीमती एनी बीसेन्ट का सहयोग प्राप्त हुआ जिसके प्रयास से इस संस्था ने अपना मुख्य कार्यालय अड्यार (मद्रास) में स्थापित किया । यह संस्था विज्ञान, बौद्धिकता, रहस्यवाद, गुह्यसाधना (Occultism) और दर्शन तथा प्राच्य विद्या का एक अद्भुत अप्रत्याशित मिश्रण थी । इस आन्दोलन ने मुख्यतः हिन्दू पौराणिक धर्म की वैज्ञानिक और बौद्धिक व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं तथा अध्यात्मवादियों का यह सम्प्रदाय भारतीय धर्म-साधना और संस्कृति को पूर्णरूपेण स्वीकार करके चला । इस संस्था ने भारतीय धर्म-ग्रन्थों के अनुवादों का प्रकाशन करके जन-साधारण तक उनमें निहित विचारों को पहुँचाकर जनता की असाधारण सेवा की । इसका दोहरा लाभ हुआ—एक ओर हिन्दू-जनता अपने धर्म-ग्रंथों से परिचित होकर नास्तिक होने से बची और दूसरी ओर ईसाई धर्म से मोर्चा लेने

---

१. डी० एस० शर्मा : हिन्दूइज्म थ्रो दी एजिज, पृ० ९१ ।

२. डा० रामरतन भटनागर : नि[illegible]

के लिए नये अस्त्र आए। इस प्रकार धर्म और अध्यात्म चेतना के नव-जागरण का जो कार्य बंगाल में ब्रह्मो-समाज और रामकृष्ण मिशन ने किया, पंजाब और मध्य-प्रदेश में आर्य-समाज ने किया, महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज ने किया, वही कार्य प्रकारांतर से दक्षिण में थियोसाफिकल सोसाइटी ने किया। जो पूर्वी और पश्चिमी-विचारों का समीकृत रूप लिए हुए थी। हिन्दू-धर्म का प्रचार करते हुए एक बार एनीबीसेन्ट ने जो कुछ कहा वह वस्तुत: स्मरणीय है—उनका कथन था—"Make no mistake. Without Hinduism India has no future. Hinduism is the soil into which India's roots are stuck, and turn out of that she will inevitably whither, as a tree turn out from its place..." And if Hindus do not maintain Hinduism who shall save it? If India's own children do not cling to her faith who shall guard it. India alone can save India, and India and Hinduism are one."[1] इन शब्दों ने हिन्दुओं में नवचेतना की प्रज्ज्वलित अग्नि को और अधिक उभारने में ईंधन का काम दिया।

**शिक्षण संस्थाएँ**—वैदिक वाङ्मय को लोकप्रिय बनाने तथा प्रकारान्तर में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के कार्य में योग देने की दृष्टि से अनेक शिक्षण-संस्थाओं एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का भी विशेष हाथ रहा है। इस युग के महापुरुषों ने उन सभी संभव साधनों को अपनाने का प्रयत्न किया जो सुप्त समग्र भारत को उसकी शताब्दियों की निद्रा से जगाकर जागरूक कर देने की दृष्टि से उपयोगी हो सकते थे। शिक्षण-संस्थाओं का शिलान्यास उन्हीं साधनों में से एक चिरस्थायी और महत्त्वपूर्ण साधन था। सन् १८८७ में आर्य-समाज की प्रेरणा से लाहौर में स्थापित डी० ए० वी० कालिज इसी प्रकार की संस्था थी जिसने विभिन्न रूपों से वैदिक-विचारों को जनप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। इस शिक्षण-संस्था से गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला लाजपतराय तथा महात्मा हंसराज का विशेष सम्बन्ध रहा है। इसी शिक्षण-संस्था के तत्वावधान में वैदिक-साहित्य से सम्बन्धित एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना हुई जो १९४७ के बाद से होशियारपुर (पंजाब) में 'विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसन्धान संस्थान' के रूप में अब भी वैदिक-साहित्य पर शोध-कार्य करने में संलग्न है। इसमें वैदिक साहित्य से सम्बन्धित हजारों दुर्लभ-ग्रन्थों का संग्रह है। सं० १९५७ में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने कांगड़ी, हरिद्वार में गुरुकुल की स्थापना की जिसने भारत की प्राचीन परम्परा के आधार पर ऐसे स्नातकों को प्रशिक्षित करने का कार्य-भार उठाया जो आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति गौरव की भावनाओं को जागृत करता है। इसी प्रकार की शिक्षण-संस्थाएँ वृन्दावन और काशी (वाराणसी) में भी स्थापित की गई। इन शिक्षण-संस्थाओं ने वैदिक-साहित्य, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में शिक्षण

---

१. डॉ० एस० शर्मा : हिन्दूइजम थ्रो दी एजिज़, पृष्ठ ११०-११।

और प्रचार का जो कार्य किया वह इस युग की अविस्मरणीय घटना है।

**पत्र-पत्रिकाएँ**—वैदिक साहित्य और संस्कृत के प्रचार एवं पुनरुत्थान-कार्य में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस दृष्टि से प्रारम्भ में गुरुदत्त विद्यार्थी द्वारा सम्पादित 'वैदिक-मैगजीन' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी। गुरुदत्त विद्यार्थी की असामयिक मृत्यु के उपरान्त इस पत्रिका के सम्पादन का कार्य-भार गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य श्री रामदेवजी ने संभाला। इस पत्रिका में उच्च कोटि के लेख एवं खोजपूर्ण निवन्ध प्रकाशित होते रहे थे जिन्होंने देश-विदेशों में वैदिक-साहित्य को अधिक लोक-प्रिय बनाने का अपूर्व कार्य किया। रूस के महान् सन्त लियो टालसटाय इस पत्रिका में प्रकाशित विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुए थे।[1] इसी कोटि की एक अन्य पत्रिका 'आर्य' थी जो 'अरविन्द आश्रम' पाण्डिचेरी से प्रकाशित होती थी। सन् १९११ से १९२० तक इस पत्रिका में श्री अरविन्द की वेद-सम्बन्धी-व्याख्याएँ 'आन दी सीक्रेट आफ दी वेदाज़' शीर्षक से निरन्तर प्रकाशित होती रहीं, जो आज 'दी वेदा' ग्रन्थ के रूप में अमरीका से स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसी पत्रिका में अन्य सांस्कृतिक विषयों पर भी बड़े महत्त्व के लेख प्रकाशित हुए। इसी प्रकार प्रसिद्ध आर्य समाजी विद्वान् श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर जी के सम्पादकत्व में 'वैदिक-धर्म' नामक पत्रिका (जो पिछले लगभग ४३ वर्षों से निरन्तर प्रकाशित हो रही है) ने वैदिक-विचार एवं दर्शन के प्रचार में अपूर्व सहयोग दिया है। इसी प्रकार विश्ववन्धु शास्त्री द्वारा सम्पादित 'विश्वज्योति', वाराणसी से युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित 'वेद वाणी', विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद द्वारा प्रकाशित 'वेद-पथ', उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, 'आर्य-मित्र', पंजाब सभा द्वारा प्रकाशित 'आर्योदय', मध्य भारत प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित, 'आर्यावर्त' आदि पत्रिकाएँ इसी कोटि की हैं। 'ब्रह्मो-समाज' द्वारा प्रकाशित 'तत्व बोधिनी पत्रिका', रामकृष्ण आश्रम, कलकत्ता से प्रकाशित 'समन्वय' नामक पत्र, रामकृष्ण मिशन, मायावती-अलमोड़ा से प्रकाशित 'प्रबुद्ध-भारत' तथा रामकृष्ण मठ, मद्रास से प्रकाशित 'वेदान्त केसरी' नामक पत्र-पत्रिकाओं ने वेदान्त-दर्शन (उपनिषद्-दर्शन) के प्रचार और प्रसार में जो कार्य किया वह अभूतपूर्व है। इस युग की विभिन्न प्रबुद्ध प्रतिभाएँ इन पत्र-पत्रिकाओं में दी गई सामग्री से अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। स्वयं महाकवि निराला के जीवन-दर्शन पर 'समन्वय' पत्रिका की अमिट छाप देखी जा सकती है। वे इसके कुछ दिनों तक सम्पादक भी रहे थे। ऐसी स्थिति में यदि उन पर वैदिक दर्शन का प्रभाव पड़ा है इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

**शोध-संस्थान एवं प्रचार संस्थाएँ**—इस युग में वैदिक साहित्य के प्रचार एवं प्रसार की दृष्टि से अनेक शोध-संस्थान एवं प्रचार संस्थाओं की स्थापना हुई जिनके

---

१. श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर।

माध्यम से वैदिक साहित्य की बहुमूल्य सामग्री विधिवत् रूप से प्रकाश में लाई गई। इन शोध-संस्थानों में 'तिलक वैदिक शोध संस्थान, पूना, विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसंधान संस्थान, होशियारपुर, स्वाध्याय मण्डल, औंध (सतारा, पर अब पारडी), परोपकारिणी सभा, अजमेर, आर्य-साहित्य मण्डल, अजमेर, श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, राजस्थान वैदिक तत्वशोध संस्था, जयपुर, संस्कृति-संस्थान, बरेली तथा दयानन्द वैदिक-महाविद्यालय के तत्वावधान में संस्थापित, वैदिक शोध संस्थान, कानपुर (सन् १९६२) प्रमुख हैं।

## विशिष्ट महापुरुषों का वैदिक साहित्य पर कार्य

इस युग में अनेक ऐसे धार्मिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक महापुरुष हुए। जिन्होंने वैदिक साहित्य एवं दर्शन पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। ऐसे महापुरुषों में श्री रामकृष्णदेव, स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के नाम प्रमुख हैं। श्रीरामकृष्ण देव ने यद्यपि उन अर्थों में वैदिक साहित्य अथवा दर्शन पर कार्य नहीं किया जिन अर्थों में मैक्समूलर महोदय अथवा डा० राधाकृष्णन ने किया है, पर इतना सत्य है कि वे इस युग के महान् रहस्यद्रष्टा थे। उन्होंने अपने जीवन में उन सभी अनुभूतियों का साक्षात्कार किया जो वैदिक वाङ्मय में वर्णित हैं, अतः उन्होंने युग के परिवेश में वे ही बातें कहीं जो वैदिक-साहित्य में उल्लिखित हैं। इस प्रकार उनके वचनामृतों का देश के धार्मिक मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। इनके बाद विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा रवीन्द्र आदि के नाम आते हैं। यहाँ संक्षेप में इन्हीं महापुरुषों से सम्बन्धित वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

### (१) धार्मिक महापुरुष :

**रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३६—१८८६ ई०)**—भारत में जितने भी धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन अब तक हुए उन सब में भारत के अतीत के प्रति इतना विश्वासी फिर भी भविष्य की आशामयी संभावनाओं से युक्त, राष्ट्रीय जागृति की चेतना से संपृक्त साथ ही अपने दृष्टिकोण में विश्वात्मक, ऐसा कोई भी सशक्त व्यक्तित्व नहीं हुआ जो रामकृष्ण के व्यक्तित्व की टक्कर ले सके। अतः वे ही भारत की धार्मिक आत्मा के पूर्ण प्रतिनिधि सन्त माने जा सकते हैं जिन्होंने प्रसुप्त भारतीय आत्मा में सच्ची धार्मिक चेतना को जागृत किया। वे भक्त और संत, ज्ञानी और योगी सब कुछ थे। उन्होंने भारतीय धर्मों में अब तक प्रचलित साधना की सभी भूमिकाओं पर से उन-उन मतों एवं सम्प्रदायों के अनुरूप सत्य का साक्षात्कार किया था। वैष्णव और शैव, शाक्त और वेदांत आदि की विभिन्न पद्धतियों से आत्मा की अपरोक्षानुभूति प्राप्त करके उन्होंने

बताया था कि सभी मार्ग उसी एक गन्तव्य की ओर साधक को ले जाते हैं। आवश्यकता है निष्ठा और विश्वास की, भक्ति और उसके प्रति आतुरता की। न केवल इतना ही प्रत्युत उन्होंने ईसाई और इस्लाम धर्मों की साधना भूमिकाओं से भी सत्य की अनुभूति प्राप्त की। धर्म की इतनी विविध भूमिकाओं से भी सत्य का साक्षात्कार करने वाला संत प्राचीन और आधुनिक भारत में तो हुआ ही नहीं विश्व की सभ्य-जातियों के धार्मिक इतिहास में भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नहीं होता।[१] योगाभ्यास, परा-भक्ति, ईश्वर-आसक्ति, निर्विकल्प समाधि, ब्रह्म-साक्षात्कार और सच्चिदानन्द आदि आध्यात्मिक शास्त्र के ये शब्द उनके निकट शब्द-मात्र नहीं थे प्रत्युत उनकी अनुभूति के विभिन्न रूपों को व्यक्त करने वाले विभिन्न अंग थे। जिन का उन्होंने स्वयं साक्षात्कार किया था। इसीलिये इनकी शिक्षाओं में सरलता और गंभीरता विद्यमान है।

'काली' उनका इष्ट थी। पर यह काली—साम्प्रदायिक बंगालियों की काली नहीं। 'वह लीलामयी आद्या शक्ति है। वह सृष्टि स्थिति और प्रलय करती है। उन्हीं का नाम काली है। काली ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही काली है'[२] स्पष्ट है कि उन्होंने ब्रह्म की माँ-रूप में उपासना की है। वह माँ जो ममतामयी—वात्सल्यमयी है। सचमुच वह विराट् माँ है। उन्होंने जिन दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया वे अनुभवसिद्ध और साक्षात्कृत थे। वे पढ़े-पढ़ाये अथवा सुने-सुनाए नहीं थे। उनके दार्शनिक विचारों में उपनिषदों के ऋषियों के द्वारा अनुभूत सत्यों की ही पुनः-प्रतिष्ठा हुई है।

ब्रह्म के सम्बन्ध में उन्होंने वही दृष्टिकोण व्यक्त किया है जो उपनिषदों में वर्णित है। उन्होंने कहा—'ब्रह्म क्या है जो मुँह से नहीं कहा जा सकता, सभी चीजें झूठी हो गई हैं···मुँह से उच्चरित हुई हैं—इसी से झूठ हैं—पर केवल एक वस्तु झूठी नहीं है वह वस्तु ब्रह्म है।'[3] 'ब्रह्म वाक्यमन से अतीत है।'[४] उन्होंने कहा कि "निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है, जो निर्गुण है वही सगुण है[५], जो गुणातीत है

---

१. "In fact, Sri RamaKrishna is a unique figure in the history of Hinduism, because, without much education of scholarship he traversed the entire region of religious experience by his own Tapas and confirmed by his own personal testimony the truths of the Hindu Scriptures."

(D.S. Sharma : Hinduism through the Ages, p. 118.)

२. रामकृष्णवचनामृत भाग १, पृष्ठ १२५।

३. वही, पृष्ठ ५८।

४. वही, पृष्ठ ५६

५. वही, पृष्ठ ६२

वही षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् है।"[1] इसलिए "किसी एक पर विश्वास रखने से काम चल जायेगा। निराकार पर विश्वास करते हो, अच्छा है। पर यह न कहना कि यही सत्य है, और सब झूठ। यह समझना कि निराकार भी सत्य है और साकार भी सत्य है। जिस पर तुम्हारा विश्वास है उसी को पकड़े रहो।"[2] रामकृष्ण जी ब्रह्म की सर्वव्यापकता में भी विश्वास रखते हैं। उन्होंने कहा है कि 'वह विभु के रूप में सब प्राणियों में है—चींटियों तक में है। पर शक्ति का तारतम्य होता है।'[3] उन्होंने ब्रह्म और उसकी शक्ति के अभेद की अनुभूति भी प्राप्त की है जिसके आधार पर उन्होंने कहा—'ब्रह्म और शक्ति में अभेद है जैसे कि अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति।'[4] ब्रह्म के निष्क्रिय-सक्रिय रूप की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—"एक ही वस्तु है। जब वे निष्क्रिय है, सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कोई काम नहीं करते, यह बात जब सोचता हूँ तब उन्हें ब्रह्म कहता हूँ और जब वे ये सब काम करते हैं तब उन्हें काली कहता हूँ, शक्ति कहता हूँ, भेद सिर्फ नाम और रूप में है।"[5] सृष्टि के बाद आद्या शक्ति संसार के भीतर ही रहती है। वह संसार-प्रसव करती है, फिर संसार के भीतर रहती है। ईश्वर संसार का आधार, आधेय दोनों हैं।[6]

ब्रह्म-सम्बन्धी उपरोक्त चर्चा स्पष्टः उपनिषद-दर्शन में वर्णित ब्रह्म-सम्बन्धी कल्पना के नितान्त अनुरूप है। आत्मा के अमृतत्व की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "देह नश्वर है, नहीं रहेगी, देह के भीतर जो देही है वह अविनाशी है।"[7] ब्रह्म और आत्मा के बीच अभेद की स्थापना करते हुए उन्होंने कहा—'जिन्हें ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं, योगी उन्हीं को आत्मा कहते हैं और भक्त उन्हें भगवान कहते हैं।'[8] वस्तु एक ही है केवल नाम का का भेद है।[9]

उन्होंने संसार की नित्यता पर भी विश्वास किया है। वे शंकर की भाँति संसार को ब्रह्म का विवर्त कहकर नहीं उड़ाते। उनके संसार, माया, विद्या-अविद्या-सम्बन्धी अनुभव उपनिषदों के ही अनुरूप हैं। उन्होंने मानव-जीवन का उद्देश्य ईश्वर से प्यार करना बताया और उस तक पहुँचने के लिए सभी साधनों की उपयोगिता को स्वीकार किया। उनका कथन है कि 'ज्ञान योग भी सत्य है और भक्ति पथ भी

---

१. रामकृष्ण वचनामृत, भाग १, पृष्ठ ६२।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृ० ६२।
४. वही, पृ० ७०।
५. वही, पृ० १२६।
६. वही, पृ० १२७।
७. वही, पृ० १२२।
८. वही, पृ० १२२।
९. वही, पृ० १२४।

सत्य हैं, सभी रास्तों से ईश्वर के समीप जाया जा सकता है। ईश्वर जब तक जीवों में 'मैं' यह बोध रखता है, तब तक भक्ति पथ ही सरल है।'[1] साथ ही ईशोपनिषद् और गीता के संदेश को पुनः वाणी देते हुए कर्मों में निष्काम भावना की महत्ता का भी प्रतिपादन किया और कहा—'मैं कर्त्ता हूँ—इस भाव को छोड़कर निष्काम भाव से कर्म कर सको तो और भी अच्छा है···निष्काम कर्म करते जाओ तो ईश्वर लाभ भी होगा।···चित्त की शुद्धि होगी।[2] फल ईश्वर को समर्पित कर देना चाहिए।'[3] मुक्ति के सम्बन्ध में भी उनके विचार उपनिषदों जैसे ही हैं। उनका कथन है कि—'ज्ञानी का उद्देश्य है वह स्वरूप को समझे, यही ज्ञान है और इसे ही मुक्ति कहते हैं। परब्रह्म जो हैं, वे ही सब के स्वरूप हैं। मैं और परब्रह्म दोनों एक ही सत्ता हैं, माया समझने नहीं देती।'[4] यह स्पष्टः अद्वैत दर्शन का ही प्रतिपादन है। रामकृष्ण परमहंस के उपरोक्त वचनों से स्पष्ट है कि उन्होंने सुदूर अतीत से अद्यपर्यन्त हिन्दू-धर्म और दर्शन की सभी मौलिक मान्यताओं और विश्वासों को न केवल आत्मसात ही कर लिया था प्रत्युत उन सबकी उपयोगिता और सत्यता का मधुमती भूमिका पर साक्षात्कार लाभ भी किया था। अतः वे भारतीय धर्म और दर्शन की जीती-जागती प्रतिमा थे। उन्होंने अपनी साधना से कालक्षेप से निष्प्राण हिन्दू-धर्म में पुनः संजीवनी का संचार कर उसे प्राणवान्, सशक्त, ऊर्ध्वमुखी और गतिशील बनाने में सहयोग दिया। इस प्रकार रामकृष्ण ने अपने अनुभवों से हिन्दू-धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

वे स्वयं एक उच्च कोटि के भक्त थे, योगी थे और ज्ञानी थे। अद्वैत विचार-धारा के अनुसार निस्सीम निराकार ब्रह्म ही अंतिम और वास्तविक सत्ता है। भावात्मक दृष्टिकोण से वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। देह, मन, बुद्धि और अहंकार का सारा प्रसार अविद्या—मायाजन्य है। सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि द्वारा जब इस अविद्या का परिहार हो जाता है तब देशकाल की सीमाएँ टूटने लगती हैं। शेष रह जाता है अखण्ड निर्वैयक्तिक ब्रह्म। इस स्तर पर पहुँचकर ज्ञानयोगी अद्वयी एकता का अनुभव करता है। यह निर्विकल्प समाधि की स्थिति है जिसे ब्रह्म-साक्षात्कार भी कहते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन-वृत्तान्त में निर्विकल्प समाधि के अनेक विवरण मिलते हैं। इस स्थिति में जीवात्मा का अहं घुल कर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो देता है। द्वैत का भाव नष्ट हो जाता है और इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ साधक शब्द और विचार के परे पहुँचकर ब्रह्म की प्राप्ति करता है। उन्होंने अपने जीवन में वह स्थिति प्राप्त की और तत्सम्बन्धी अनुभवों के अनेक रोमांचकारी वर्णन अपने वचनामृतों में

---

१. रामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृ० ६२।
२. वही, पृ० ७१।
३. वही, पृ० ८२।
४. वही, भाग २, पृ० ५६१।

दिये हैं। सत्य का ऐसा साक्षात द्रष्टा ही धर्म को महानता प्रदान करता है। उनके निकट सब उसके अपने हो जाते हैं, सारे भेद-भाव दूर हो जाते हैं, सब जीवों के प्रति आत्मभाव की प्रतिष्ठा हो जाने पर दया, करुणा, मुदिता, स्नेह आदि के उदात्त भाव उल्लसित होकर सर्वभूत-हित की भावना को प्रसूत करते हैं। श्री रामकृष्णजी के जीवन में ये सभी स्थितियाँ घटित हुई हैं।

उन्होंने ज्ञान-भक्ति, विद्या-अविद्या, योग-कर्म, संन्यास-गार्हस्थ्य आदि का द्वन्द्व मिटाकर सर्व-धर्म-समन्वय का उदात्त स्वरूप प्रस्तुत किया और अध्यात्मवाद की आधारशिला पर मानव-मानव की एकता का जो सूत्र दिया वह पश्चिम के 'मानववाद' से कहीं अधिक महान वस्तु है।

भारतीय संस्कृति के एक लम्बे इतिहास में रामकृष्ण का जन्म एक महान् भारतीय उपलब्धि है। जिनकी आत्मा की अपूर्व शिक्षा से सारा अध्यात्म-प्रदेश एक बार पुनः आलोकित और मण्डित हो सका है।[1] वे अपने पीछे विवेकानन्द और अन्य संन्यासियों के रूप में जिस आध्यात्मिक विरासत को छोड़ गए वह निधि भी कम महान नहीं है।

**स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२)**—सन् १८८६ में श्री रामकृष्ण परमहंस के महाप्रयाण के उपरान्त स्वामी विवेकानन्द जैसे कर्मठ व्यक्तित्व के कार्य-क्षेत्र में अवतरित होने के रूप में भारतीय-संस्कृति के पुनरुत्थान के इतिहास में एक नया अध्याय खुलता है। रामकृष्ण 'परमहंस' ने अपने लौकिक जीवन के अंतिम क्षणों में अपनी समस्त आध्यात्मिक धरोहर अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्रनाथ को सौंप दी थी। फलतः अपना उत्तरदायित्व समझकर सन् १८८६ से १९०२ तक १५ वर्षों की अल्पकालीन जीवन-साधना के माध्यम से जो कुछ उन्होंने किया वह अपनी व्यापकता, गम्भीरता और श्रेष्टता में अद्वितीय है। उसे हम गर्व के साथ नव जाग्रत भारत का जयघोष कह सकते हैं।

---

१. In his connection Dr. Radha Krishanan has rightly remarked that—"He is one of those rare beings in whom the flame of spiritual life burns so brightly that all who come near are able to share the illuminations and see the world new-born as on the first day. He is an illustrious example of the the mystical tradition which runs right through the religious history of this country from the days of Vedic Rishis. This tradition may sometimes have been overcome by a ceremonial piety or by a rationalistic dogma yet it always reappears faithful to its original pattern. Its characteristic tendencies are those set forth in the Upnishads.
(Q. F. Introduction to the Cultural Heritage of India.)

नरेन्द्रनाथ बाद में स्वामी विवेकानन्द ने अपने संन्यासी भाइयों को एक सूत्र में बाँधकर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसरित किया। पर सत्य तो यह है कि तत्व-ज्ञान और नवजागरण के क्षेत्र में जो महत्त्व उनका रहा है वह शायद ही किसी अन्य महा-पुरुष का रहा हो। उसका कारण है कि उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी दोनों दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। प्रारम्भ में ही उनकी नास्तिकवादी भावना श्रीरामकृष्ण के दैवीय संस्पर्श से आस्तिक रूप में रूपान्तरित हो गई थी और अंत तक बौद्धिकता का आग्रह रहने पर भी उनके भीतर के अन्तर्ज्ञान, (प्रज्ञा-चक्षु) के स्रोत पूर्णतः खुल गए थे। अपने समय तक भारत के धर्म और दर्शन, साहित्य और संस्कृति-सम्बन्धी जो गवेषणाएँ हुई थीं उन्हें उन्होंने पूर्ण रूप से आत्मसात कर लिया था। तथा संस्कृति के अध्ययन से वे भारतीय धर्म और दर्शन से सम्बन्धित मूल ग्रंथों की तह में भी गए और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से यूरोप के ज्ञान-विज्ञान, ईसाई धर्म तथा ऐतिहासिक परम्पराओं का ज्ञान भी प्राप्त किया। उन्होंने सन् १८८६ से १८९३ तक (७ वर्ष) गम्भीर अध्ययन-मनन और चिंतन की परम्परा जारी रखी और इसी बीच ५ वर्ष तक पैदल ही भारत-भ्रमण के द्वारा भारत की गरीब, दुःख और पीड़ा से पीड़ित जनता से निकट का सम्पर्क स्थापित किया। और साथ ही धनिकों के विलासी जीवन से भी साक्षात्कार प्राप्त किया। उन्होंने इसी बीच भारत की विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के लोगों के रीति-रिवाजों और परम्पराओं का भी अध्ययन किया। वस्तुतः यह तैयारी भावी कर्मठ जीवन का पूर्वाभ्यास-मात्र थी जब कि वे न केवल भारत के ही बल्कि सारे विश्व के महान उपदेशक और व्यवस्थापक के रूप में सामने आये।

वह दिन उनके जीवन तथा भारत के ऐतिहासिक जीवन में स्वर्णिम अक्षरों से लिखा गया है—जब कि उन्होंने ११ सितम्बर सन् १८९३ को अमरीका के शिकागो नगर में होने वाले विश्व-धर्म सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेकर अमरीका के निवासियों को सम्बोधित करके अपना ओजस्वी भाषण दिया था और सभी धर्मों की सत्यता पर अपनी सहज स्वीकृति दी थी। लगभग तीन वर्ष तक अमरीका में अनवरत कार्य करके तथा भारतीय औपनिषदिक अद्वैत वेदान्त पर निरन्तर भाषण देकर उन्होंने विश्व के सभ्य देशों की दृष्टि में भारत का जो मस्तक ऊँचा किया, भारत का जो गौरव बढ़ाया वह अविस्मरणीय है।

उन्होंने उपनिषदों की आधुनिक युग-धर्म के परिवेश में नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। यद्यपि तत्व-चिंतन का बहुत कुछ रूप वही रहा जो उपनिषदों में वर्णित है।

सगुण-निर्गण ब्रह्म की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—'कि सगुण ईश्वर के अर्थ से वे सर्वव्यापी हैं, संसार की सृष्टि और प्रलय के वे कर्त्ता हैं, संसार के अनादि जनक और जननी हैं। उनके साथ हमारा नित्य भेद है। सगुण ब्रह्म के ये सब विशेषण निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक और अयौक्तिक हैं। वह निर्गुण और सर्वव्यापी पुरुष ज्ञानवान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान मन का

धर्म है।...वेदों में सगुण के लिए 'सः' और निर्गुण के लिये 'तत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'सः' शब्द कहे जाने से यह व्यक्ति-विशेष हो जाता है, इससे जीव-जगत् के साथ सम्पूर्ण पार्थक्य सूचित होता है, इसलिये निर्गुण वाचक 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'तत्' शब्द से निर्गुण ब्रह्म का प्रचार है, इसी को अद्वैतवाद कहते हैं।[1] इस निर्गुण पुरुष के साथ हमारा सम्बन्ध अभिन्नता का है। 'वह और हम एक हैं।' हर एक मनुष्य उसी निर्गुण पुरुष का जो सब प्राणियों का मूल कारण है—अलग-अलग प्रकाश है। जब हम अनन्त और निर्गुण पुरुष से अपने को पृथक् सोचते हैं तभी हमारे दुःख की उत्पत्ति होती है और इस अनिर्वचनीय निर्गुण सत्ता के साथ अभेद-ज्ञान ही मुक्ति है।

भारत में इसी निर्गुण ब्रह्मवाद के आधार पर सभी को आत्मवत् प्यार करने का उपदेश दिया गया है। स्वामीजी का कथन है—"जब तुम समझोगे कि दूसरे को प्यार करना अपने ही को प्यार करना है—दूसरे को हानि पहुँचाना अपनी ही हानि करना है, तभी तुम समझोगे कि दूसरे का अहित करना क्यों अनुचित है ? अतः यह निर्गुण ब्रह्मवाद ही नीति-विज्ञान का मूल कारण माना जा सकता है।"[2] इस निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास होने से सब प्रकार के कुसंस्कारों से छूटकर 'मैं ही निर्गुण ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान के सहारे अपने ही पैरों पर खड़ा होने से हृदय में कैसी अद्भुत शक्ति भर जाती है। और फिर भय ? मुझे किसका भय ?...मृत्यु मेरे निकट उपहास है। मनुष्य तब आत्मा की महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है, जो अनादि है, अनन्त है, अविनाशी है—जिसकी महत्ता के सामने सूर्य-चन्द्रादि, यहाँ तक कि सारा ब्रह्माण्ड सिन्धु में विन्दु-तुल्य प्रतीत होता है।...हमें इसी महामहिम आत्मा पर विश्वास करना होगा—वीरता तभी आयेगी, तुम जो सोचोगे वही हो जाओगे।...अद्वैत हमें यह उपदेश नहीं देता कि तुम अपने को कमजोर समझो, किन्तु वह हमें तेजस्वी, सर्व-शक्तिमान और सर्वज्ञ सोचने को कहता है।...हमारे भीतर सम्पूर्ण ज्ञान, सारी शक्तियाँ, पूर्णपवित्रता, और स्वाधीनता के भाव विद्यमान हैं।...यदि हम उन पर विश्वास कर सकें, तो उनका विकास होगा—अवश्य होगा। अद्वैतवाद हमें यही शिक्षा देता है।...यह शिक्षा वेदान्त में—केवल वेदान्त में प्राप्त होगी। "वेदान्त में ही वह महान तत्व है जिससे सारे संसार के भावों की जड़ें हिल जायेंगी और जड़ विज्ञान के साथ धर्म की एकता सिद्ध होगी।"[3] यहाँ स्वामीजी ने वेदान्त के आधार पर निर्गुण ब्रह्म और आत्म-तत्व की एकता का प्रतिपादन करते हुए मानव को निर्भीक बनने और शक्ति संपन्न होने का कितना सुन्दर संदेश दिया है जिसे सुनकर एक बार तो अंधकार के आवरण में प्रच्छन्न मानवात्मा में स्पन्दन हुए विना रह नहीं सकता।

---

१. भारत में विवेकानन्द : अनुवादक निराला, पृ० ३७-३८।
२. वही, पृ० ३८।
३. वही, पृ० ३६-४०।

नरेन्द्रनाथ बाद में स्वामी विवेकानन्द ने अपने संन्यासी भाइयों को एक सूत्र में बांधकर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसरित किया। पर सत्य तो यह है कि तत्व-ज्ञान और नवजागरण के क्षेत्र में जो महत्त्व उनका रहा है वह शायद ही किसी अन्य महा-पुरुष का रहा हो। उसका कारण है कि उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी दोनों दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। प्रारम्भ में ही उनकी नास्तिकवादी भावना श्रीरामकृष्ण के दैवीय संस्पर्श से आस्तिक रूप में रूपान्तरित हो गई थी और अंत तक बौद्धिकता का आग्रह रहने पर भी उनके भीतर के अन्तर्ज्ञान, (प्रज्ञा-चक्षु) के स्रोत पूर्णतः खुल गए थे। अपने समय तक भारत के धर्म और दर्शन, साहित्य और संस्कृति-सम्बन्धी जो गवेषणाएँ हुईं थीं उन्हें उन्होंने पूर्ण रूप से आत्मसात कर लिया था। तथा संस्कृति के अध्ययन से वे भारतीय धर्म और दर्शन से सम्बन्धित मूल ग्रंथों की तह में भी गए और अंग्रेजी भाषा के माध्यम से यूरोप के ज्ञान-विज्ञान, ईसाई धर्म तथा ऐतिहासिक परम्पराओं का ज्ञान भी प्राप्त किया। उन्होंने सन् १८८६ से १८९३ तक (७ वर्ष) गम्भीर अध्ययन-मनन और चिंतन की परम्परा जारी रखी और इसी बीच ५ वर्ष तक पैदल ही भारत-भ्रमण के द्वारा भारत की गरीब, दुःख और पीड़ा से पीड़ित जनता से निकट का सम्पर्क स्थापित किया। और साथ ही धनिकों के विलासी जीवन से भी साक्षात्कार प्राप्त किया। उन्होंने इसी बीच भारत की विभिन्न जातियों और सम्प्रदायों के लोगों के रीति-रिवाजों और परम्पराओं का भी अध्ययन किया। वस्तुतः यह तैयारी भावी कर्मठ जीवन का पूर्वाभ्यास-मात्र थी जब कि वे न केवल भारत के ही बल्कि सारे विश्व के महान उपदेशक और व्यवस्थापक के रूप में सामने आये।

वह दिन उनके जीवन तथा भारत के ऐतिहासिक जीवन में स्वर्णिम अक्षरों से लिखा गया है—जब कि उन्होंने ११ सितम्बर सन् १८९३ को अमरीका के शिकागो नगर में होने वाले विश्व-धर्म सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेकर अमरीका के निवासियों को सम्बोधित करके अपना ओजस्वी भाषण दिया था और सभी धर्मों की सत्यता पर अपनी सहज स्वीकृति दी थी। लगभग तीन वर्ष तक अमरीका में अनवरत कार्य करके तथा भारतीय औपनिषदिक अद्वैत वेदान्त पर निरन्तर भाषण देकर उन्होंने विश्व के सभ्य देशों की दृष्टि में भारत का जो मस्तक ऊँचा किया, भारत का जो गौरव बढ़ाया वह अविस्मरणीय है।

उन्होंने उपनिषदों की आधुनिक युग-धर्म के परिवेश में नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। यद्यपि तत्व-चिंतन का बहुत कुछ रूप वही रहा जो उपनिषदों में वर्णित है।

सगुण-निर्गुण ब्रह्म की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—'कि सगुण ईश्वर के अर्थ से वे सर्वव्यापी हैं, संसार की सृष्टि और प्रलय के वे कर्त्ता हैं, संसार के अनादि जनक और जननी हैं। उनके साथ हमारा नित्य भेद है। सगुण ब्रह्म के ये सब विशेषण निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में अनावश्यक और अयौक्तिक हैं। वह निर्गुण और सर्वव्यापी पुरुष ज्ञानवान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ज्ञान मन का

धर्म है।···वेदों में सगुण के लिए 'सः' और निर्गुण के लिये 'तत्' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'सः' शब्द कहे जाने से यह व्यक्ति-विशेष हो जाता है, इससे जीव-जगत् के साथ सम्पूर्ण पार्थक्य सूचित होता है, इसलिये निर्गुण वाचक 'तत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'तत्' शब्द से निर्गुण ब्रह्म का प्रचार है, इसी को अद्वैतवाद कहते हैं।[1] इस निर्गुण पुरुष के साथ हमारा सम्बन्ध अभिन्नता का है। 'वह और हम एक हैं।' हर एक मनुष्य उसी निर्गुण पुरुष का जो सब प्राणियों का मूल कारण है—अलग-अलग प्रकाश है। जब हम अनन्त और निर्गुण पुरुष से अपने को पृथक् सोचते हैं तभी हमारे दुःख की उत्पत्ति होती है और इस अनिर्वचनीय निर्गुण सत्ता के साथ अभेद-ज्ञान ही मुक्ति है।

भारत में इसी निर्गुण ब्रह्मवाद के आधार पर सभी को आत्मवत् प्यार करने का उपदेश दिया गया है। स्वामीजी का कथन है—"जब तुम समझोगे कि दूसरे को प्यार करना अपने ही को प्यार करना है—दूसरे को हानि पहुँचाना अपनी ही हानि करना है, तभी तुम समझोगे कि दूसरे का अहित करना क्यों अनुचित है? अतः यह निर्गुण ब्रह्मवाद ही नीति-विज्ञान का मूल कारण माना जा सकता है।"[2] इस निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास होने से सब प्रकार के कुसंस्कारों से छूटकर 'मैं ही निर्गुण ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान के सहारे अपने ही पैरों पर खड़ा होने से हृदय में कैसी अद्भुत शक्ति भर जाती है। और फिर भय? मुझे किसका भय?···मृत्यु मेरे निकट उपहास है। मनुष्य तब आत्मा की महिमा में प्रतिष्ठित हो जाता है, जो अनादि है, अनन्त है, अविनाशी है—जिसकी महत्ता के सामने सूर्य-चन्द्रादि, यहाँ तक कि सारा ब्रह्माण्ड सिन्धु में विन्दु-तुल्य प्रतीत होता है।···हमें इसी महामहिम आत्मा पर विश्वास करना होगा—वीरता तभी आयेगी, तुम जो सोचोगे वही हो जाओगे।···अद्वैत हमें यह उपदेश नहीं देता कि तुम अपने को कमजोर समझो, किन्तु वह हमें तेजस्वी, सर्व-शक्तिमान और सर्वज्ञ सोचने को कहता है।···हमारे भीतर सम्पूर्ण ज्ञान, सारी शक्तियाँ, पूर्णपवित्रता, और स्वाधीनता के भाव विद्यमान हैं।···यदि हम उन पर विश्वास कर सकें, तो उनका विकास होगा—अवश्य होगा। अद्वैतवाद हमें यही शिक्षा देता है।···यह शिक्षा वेदान्त में—केवल वेदान्त में प्राप्त होगी। "वेदान्त में ही वह महान तत्व है जिससे सारे संसार के भावों की जड़ें हिल जायेंगी और जड़ विज्ञान के साथ धर्म की एकता सिद्ध होगी।"[3] यहाँ स्वामीजी ने वेदान्त के आधार पर निर्गुण ब्रह्म और आत्म-तत्व की एकता का प्रतिपादन करते हुए मानव को निर्भीक बनने और शक्ति संपन्न होने का कितना सुन्दर संदेश दिया है जिसे सुनकर एक बार तो अंधकार के आवरण में प्रच्छन्न मानवात्मा में स्पन्दन हुए बिना रह नहीं सकता।

---

१. भारत में विवेकानन्द : अनुवादक निराला, पृ० ३७-३८।
२. वही, पृ० ३८।
३. वही, पृ० ३९-४०।

इसी प्रकार आत्मतत्त्व पर चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—"प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी में, वह चाहे जितना दुर्बल या दुष्ट, बड़ा या छोटा है, वही सर्वव्यापी, सर्वज्ञ आत्मा विराजमान है। अन्तर जो कुछ है वह आत्मा में नहीं उसके प्रकाश की न्यूनाधिकता में है। मुझ में और एक छोटे-से-छोटे प्राणी में अन्तर केवल प्रकाश के तारतम्य में है, पर स्वरूपतः वह और मैं एक ही हैं, वह मेरा भाई है, उसकी और मेरी आत्माएँ एक ही हैं।" यही सब में महान् तत्त्व है।...जैसे हमारा शास्त्र कहता है—'एवं तु पण्डितैः ज्ञात्वा सर्वभूतमयं हरिम्, इत्यादि।' यही कारण है कि भारतवर्ष में गरीबों, जानवरों, सभी प्राणियों और वस्तुओं के बारे में ऐसी करुणापूर्ण धारणाएँ पोषण की जाती हैं। हमारी आत्मा-सम्बन्धी वह धारणा हमारे लिए साधारण मिलन-भूमि है।[1]

माया, मुक्ति और अज्ञान से भी सम्बन्धित उनका चिन्तन औपनिषदिक ही है। मुक्ति की अवस्था में जीवात्मा जन्म और मृत्यु, सुख और दुःख सभी द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है। वह उस दशा में सर्वातीत आनन्द का अधिकारी हो जाता है।[2] अज्ञान के कारण हम बँधे हुए हैं। यह अज्ञान ज्ञान द्वारा दूर हो सकता है। और उसकी प्राप्ति का मार्ग है भक्तिपूर्वक ईश्वराराधन, तथा सब भूतों को परमात्मा का मन्दिर समझ कर उनसे प्रेम करना। ईश्वर के अनुराग की प्रबलता से ही प्रेम का उदय संभव है—इस प्रेम के उदय होने पर अज्ञान दूर होगा—सब बंधन टूट जायेंगे और आत्मा को मुक्ति मिलेगी।[3] उन्होंने अपने गुरुदेव की भाँति ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग सभी साधना-पद्धतियों का समन्वय किया। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्म-योग, राजयोग पर लिखी उनकी पुस्तकें इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। यदि रामकृष्ण बाहर से भक्त और भीतर से ज्ञानी थे तो विवेकानन्दजी बाहर से ज्ञानी और भीतर से भक्त थे। दोनों के व्यक्तित्व में भक्ति और ज्ञान का अपूर्व सामंजस्य था।

विवेकानन्दजी के व्यक्तित्त्व का एक पक्ष यदि ज्ञानपरक था तो दूसरा पक्ष व्यावहारिक था। वे भारत की भूखी जनता को तत्त्व-ज्ञान का उपदेश देने की अपेक्षा पेट भरने का संदेश पहले देना चाहते थे। मोक्ष को मानव-जीवन का लक्ष्य स्वीकार करते हुए भी उन्होंने सामाजिक हित एवं कल्याण की कभी अवहेलना नहीं की। उन्होंने कहा कि धर्म को हानि न पहुँचाते हुए जनता के उत्थान का लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिये।[4] उन्होंने कहा था कि भारत के सभी दुखों की जड़ निर्धनता है, अतः जनता के कष्ट एवं पीड़ा को दूर किए बिना धर्म का उपदेश निरर्थक है। पहले रोटी

---

१. भारत में विवेकानन्द : अनुवादक निराला, पृ० ३३-३४।
२. वही, पृ० ३६।
३. वही, पृ० ३७।
४. 'Keep the motto before you', he said, 'elevation of the massess with out injuring religion.' (Pageant of Great Lives, p. 24).

फिर धर्म, जब तक मेरे देश का कुत्ता भी भूखा है उसकी भूख की चिंता करना ही मेरा पहला धर्म है, इसके अतिरिक्त धर्म अधर्म या मिथ्या धर्म है।[1] स्वामीजी ने वैदिक शिक्षा का सार एक सूत्र में 'शक्ति' कहा था। उन्होंने कहा था कि आज देश को जिस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता है वह है लोहे की मांस-पेशियाँ और फौलाद की धमनियाँ, दृढ संकल्प। शक्ति ही जीवन है, दुर्बलता मृत्यु, विश्वास से प्रत्येक वस्तु सुलभ हो सकती है। निर्भीकता, शारीरिक, मानसिक, आत्मिक स्वतन्त्रता की शिक्षा प्राप्त करना ही वास्तविक धार्मिक शिक्षा है।[2]

इस प्रकार विवेकानन्द जी ने श्री रामकृष्ण देव के आध्यात्मिक मार्ग को पूर्णत: अपनाते हुए उनकी साधना और विचारधारा से कुछ ऐसे परिणाम निकाले जो नितांत नवीन थे और उन्हें आधुनिक चेतना के अधिक समीप लाते थे। उन्होंने एक ओर अध्यात्म के क्षेत्र में ईश्वर की भक्ति का प्रतिपादन किया तो दूसरी ओर समाज के धरातल पर मानव के प्रति प्रेम-भाव और सेवा-भाव की आवश्यकता पर भी बल दिया। उनकी यह मानव-सेवा आध्यात्मिक एकता पर आधारित थी न कि ईसाइयों के करुणाभाव पर। मानव को विभु मानने वाले विवेकानन्द उसे करुणा का विषय बना ही नहीं सकते थे।

इस प्रकार अपने क्रान्तिकारी विचारों से विवेकानन्द जी ने हिन्दू-समाज में पुनर्जागरण का जो शंखनाद किया था उससे समस्त भारत का वायु-मण्डल ऐसा गुंजित हुआ कि जिसकी स्वर-लहरियाँ आज भी कर्ण-कुहरों में प्रविष्ट कर सोते मानव को जगा देने में समर्थ हैं। उन्होंने हिन्दू-धर्म को मानव-धर्म की सार्वभौमिकता प्रदान कर सहिष्णुता आदि उदात्त गुणों का ध्वज-वाहक बना दिया। उन्होंने हिन्दू-धर्म को वेदांत धर्म सिद्ध किया और उसे विज्ञान की प्रामाणिकता से मण्डित कर

---

१. The root cause of all the miseries of India is the poverty of the people "that is to futile to preach religion against them without first trying to remove their poverty and their suffering. So long as even a dog of my country remains without food, to feed and take care of him is my religion, and everything else is either non-religious or false religion." (Ibid, p. 26).

२. The quintensence of the Vedas and the Vedanta lies in that one word 'Strength' what the country now wants are the muscles of iron & the nerves of steel, gignatic wills. 'strength is life weakness is death, everthing will come to you, if you only have faith. The only religion that aught to be taught is the religion of fearlessness, freedom, physical freedom, mental freedom and spiritual freedom,' (Ibid, p. 29).

उसके गौरव को और भी अधिक बढ़ाया । उन्होंने स्पष्ट कहा कि—'वर्तमान समय में समग्र भारत के हिन्दुओं को यदि किसी साधारण नाम से परिचित करना हो तो उनको 'वेदान्तिक' अथवा 'वैदिक' कहना उचित होगा ।'[1] उन्होंने वेदांत को जीवन में उतार कर उसकी व्यावहारिक उपयोगिता भी प्रमाणित कर दी । व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की उन्नति का मूल मंत्र है आत्म-विश्वास, बिना इसके कोई भी व्यक्ति, कोई भी राष्ट्र, कोई भी समाज शक्तिशाली और आत्म-निर्भर नहीं बन सकता। अंग्रेजों की, अमरीका वालों की उन्नति के पीछे यही विश्वास कार्य कर रहा है और अद्वैतवाद का सिद्धान्त इसी विश्वास को उत्पन्न करता है। उन्होंने कहा कि 'हमने अपने-आप पर से विश्वास उठा लिया है। इसीलिए वेदांत के, अद्वैतवाद में भावों का विचार करने की आवश्यकता है, ताकि लोगों के हृदय जाग जायें, और वे अपनी आत्मा की महत्ता समझ सकें। इसीलिये मैं अद्वैतवाद का प्रचार करता हूँ ।'[2] अद्वैत को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने की उनकी प्रबल साध रही है यह इस अवतरण से देखा जा सकता है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कलकत्ता में सन् १८९७ में 'रामकृष्ण मिशन' नामक संस्था की नींव डाली थी जिसकी आज विश्व-भर में लगभग ११० शाखाएँ समाज-सेवा का कार्य सम्पन्न कर रही हैं ।[3]

**स्वामी रामतीर्थ (१८७३-१९०६)**—स्वामी विवेकानन्द के समान ही स्वामी रामतीर्थ ने भी इस पुनरुत्थान और पुनर्जागरण के काल में वेदांत की शिक्षाओं को व्यावहारिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया था। उन्होंने अपने अल्पकाल में ही उच्च जीवन की दिव्य अनुभूतियों को वैज्ञानिक तर्कों द्वारा जन-मानस के लिए सुलभ बना दिया। इस दिशा में उनका ग्रन्थ woods of God Realigzation महत्त्वपूर्ण है । अद्वैतवाद को उन्होंने अपने निरीक्षण और अध्ययन के बल पर नवीन पद्धति से पुष्ट किया। स्वामीजी उच्च साधक, शिक्षा-प्रेमी, और कुशल उपदेशक थे । अमरीका और अन्य यूरोप के देशों में जाकर विवेकावन्द की भाँति ही वेदांत-दर्शन पर ओजस्वी भाषण दिये और इस प्रकार देश को गौरव तथा स्वाभिमान प्रदान कराने में अच्छा सहयोग दिया। भारत के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए उन्होंने कहा—'मुझे स्वयं को पूर्ण भारत का अनुभव करने दो । भारत-भू मेरा शरीर है, कुमारी अन्तरीप मेरे चरण हैं, हिमालय मेरा मस्तक है, मेरे केशों से गंगा प्रवाहित होती है, विंध्याचल मेरी तगड़ी है । मैं सम्पूर्ण भारत हूँ । मेरा प्रेम विश्वात्मक है । मेरी अन्तरात्मा सभी की अन्तरात्मा है। जब मैं चलता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण भारत चल रहा है।'[4]

---

१. भारत में विवेकानन्द पृ०, १७३ ।

२. वही, पृ० ११९ ।

३. Hinduism through the Ages, p. 140.

४. Let me feel I am India.—the whole of India, the land of India is my body, the comor in is my feet, the Himalaya is my heap·

सम्पूर्ण भारत के साथ एकात्मकता की अनुभूति का कितना सुन्दर चित्रण है। इसे पढ़कर ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त का स्मरण हो आता है।

साधना की उच्च भूमि पर रहते हुए भी उन्होंने कर्म की कभी अवहेलना नहीं की। उनका कहना था कि—"अपने पूर्ण हृदय से कार्य करो, अपनी पूर्ण शक्ति से कर्म में जुटे रहो। याद रखो कर्म ही पूजा है, कर्म ही जीवन है। कर्म मानव-जीवन की सामान्य दशा है।" (Then work, work, work with all your heart, with all your might remembering the work is worship, and remembering also that work is life...work is normal state of mind.) ये शब्द उन्होंने जब वे लाहौर में १८९८ में Forman Christian College में गणित के प्राध्यापक थे तब अपने भाषण में कहे थे।

इस अवतरण से स्पष्ट है कि वे अध्यात्म के क्षेत्र में केवल ज्ञान को ही महत्त्व नहीं देते थे प्रत्युत कर्म के महत्त्व को भी समान रूप से समझते थे। उन्होंने तत्कालीन मानव-जाति को कर्म, साधना, पावित्र्य, स्नेह और समता का मंगल-सूत्र दिया। तत्कालीन जनमानस पर विवेकानन्द और रामतीर्थ के उपदेशों का गहरा प्रभाव पड़ा जिसका प्रतिविम्ब हम साहित्य में भी देखते हैं। हिन्दी के सप्रसिद्ध लेखक सरदार पूर्ण-सिंह तो स्वामी रामतीर्थ से अत्यधिक प्रभावित थे।

इन दोनों महात्माओं ने वर्तमान युग की बढ़ती हुई भौतिकतावादी शंकालुता एवं बौद्धिकता के समक्ष अद्वैत दर्शन का पुनर्मूल्यांकन किया। संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करने के कारण वेदांत पर पलायनशीलता का जो आक्षेप लगाया जाता था उसका निराकरण कर उपनिषदों के आधार पर आत्मा और ब्रह्म, तथा ब्रह्म और जगत् की एकता, अभेदता पर बल दिया गया। अद्वैत-दर्शन पर लगाए गए अकर्मण्यता-प्रेरण के आक्षेप के उत्तर में स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि—"उच्चतम आदर्श और उच्चतम दार्शनिक सत्य में विरोध नहीं है। वरन् उच्च आदर्श उच्च सत्य पर प्रतिष्ठित होकर ही उच्चता पाते हैं।"

इस प्रकार अद्वैतवाद की भूमिका पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, दासता, विरोध आत्मोन्नय, रूढ़ि भंजन एवं नव्य विकास भूमियों को स्वीकृति मिली। अतीत-गौरव और पुनरुत्थान की चेतना जागी, असत्मूलक अवरोधों के विरुद्ध उद्दक्षता की दृढता को समर्थन मिला और नव-निर्माण के भावों को वल मिला।[1]

(२) साहित्यिक महापुरुष :

**रवीन्द्रनाथ ठाकुर** (१८६१–१९४१ ई०)—हमारे आध्यात्मिक एवं धार्मिक

From my hair flows the Ganga...The Vindhyachals are my girt. I am the whole of India...I am universal in Love. My inner spirit is the soul of all. When I walk, I feel, it is India walking. S.R. Sharma : Pageant of Great Lives, p. 37.

१. छायावाद के गौरव चिह्न : प्रो० क्षेम, पृ० ४९।

पुनर्जागरण में रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे साहित्यिक महापुरुषों का भी विशेष स्थान है। वे इस युग के सचेत कलाकार हैं। कला के क्षेत्र में बहुमुखी प्रतिभा के विकास का परिचय जितना उन्होंने दिया है उतना संभवत: ही कभी किसी युग में किसी अन्य कलाकार ने दिया हो। वे एक साथ कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कलाकार, निबन्धकार, शिक्षाविद्, दार्शनिक, चित्रकार और द्रष्टा थे।[१] पर उनकी मान्यता कवि-रूप में सर्वाधिक रही है। उन्हें आधुनिक पुनर्जागरण-काल में विश्व में सर्वश्रेष्ठ धार्मिक कवि के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। उन्होंने विभिन्न स्वरों और लय पर आधारित लगभग दो सहस्र सुन्दर गीत लिख कर बंगला साहित्य के कोष की अपूर्व समृद्धि की। अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से ये गीत अत्यन्त सुन्दर और प्रभावशाली बन पड़े हैं। वस्तुत: उन्होंने अपने जीवन के ८० वर्षों में से लगभग ७० वर्ष तक साहित्य-साधना की और सभी संभव विषयों, यथा—राजनीति, धर्म, दर्शन, शिक्षा, समाज-सुधार, आलोचना, भाषा, संगीत विज्ञान—पर विषयानुरूप कविताएँ, गीत, नाटक, लघुकथा, उपन्यास, पत्र, डायरी और भाषण आदि विभिन्न रूपों में कुछ-न-कुछ लिखा अथवा कहा है।

मानव-प्रेम उनकी चिन्तन-धारा का विशिष्ट केन्द्र-बिन्दु रहा है। मानव को केन्द्र मानकर ही उन्होंने अपने विचारों को स्वरूप प्रदान किया। मानव के प्रति प्रेम-भाव उनकी आध्यात्मिकता में से निःसृत होकर आया है। प्रकृति के प्रति उनके प्रेम के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। वस्तुत: वे उपनिषदों के अद्वैत-वाद से प्रभावित होने के कारण एक महान् रहस्यवादी कवि थे। उनके अनेक गीतों में उपनिषदों में वर्णित उस अज्ञात, अज्ञेय पुरुष के प्रति तीव्र जिज्ञासा, प्रेमभाव और समर्पण है। इसीलिए उन्होंने उस शाश्वत अनन्तपुरुष की सापेक्षता में मानव और प्रकृति, जीवन और प्रकृति, जीवन और मृत्यु, प्रेम और सौन्दर्य से सम्बन्धित अनेकों गीत गाये हैं। उनके निकट बच्चों के हास में, पुष्पों के सौन्दर्य में, संतों की प्रार्थना में उसी अनन्त की चेतना-धारा प्रवाहित हो रही है। उनके निकट प्रत्येक जीवात्मा एक ऐसी सरिता के समान है जो चेतना के अनन्त समुद्र की ओर सतत प्रवहमान है। "वह असीम ही मानो देश और काल में बद्ध होकर ससीम हो गया है।"[२] यह है उपनिषदों का सर्ववादी दर्शन जो प्रथम बार रवीन्द्र के काव्य में मूर्तित हुआ। The Times Literary Supplement ने रवीन्द्र को श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए कहा था—"Perhaps no living poet was more religious, and no man of religion was more poetical than this great Indian." वस्तुत: रवीन्द्र अपने युगधर्म के अनुसार बुद्ध के साथ-साथ उपनिषदों की दार्शनिक विचारधारा और शिक्षाओं से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उन्होंने 'साधना' के दार्शनिक निबन्धों के

---

१. हिन्दूइज़्म थ्रो दी एजिज, पृष्ठ १५७।

२. देखिये, साधना, पृष्ठ १६१।

प्राक्कथन में अपने ऊपर पड़े इस प्रभाव को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हुए कहा—"To me the verses of Upnisads and the teachings of Buddha have ever been things of spirit and therefore endowed with boundless vital growth and I have used them both in my own life and in my preaching as being instinct with individual meaning for me."

ऋषियों की रहस्यात्मक अनुभूतियों में से ही उपनिषदों के धार्मिक-दर्शन की धारा प्रवाहित हुई और इस धारा ने युगयुगान्तर से भारतीयों के जीवन-दर्शन को प्रभावित किया। इस संदर्भ में पीछे रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और स्वा० रामतीर्थ का उल्लेख आ ही चुका है। रवीन्द्र पर भी यह प्रभाव अत्यधिक मात्रा में विद्यमान है। रवीन्द्र ने इस बात का अनुभव किया कि प्राचीन भारतीय ऋषियों ने प्रकृति की रम्य गोद में रहकर किस प्रकार जीवन व्यतीत किया था और किस प्रकार शिक्षण के लिए आश्रम स्थापित किये थे और उनकी इस जीवन-पद्धति ने भारत के जीवन-दर्शन पर अमिट छाप छोड़ी थी। रवीन्द्र ने भी इस आदर्श से प्रभावित होकर 'शान्ति-निकेतन' नामक संस्था की स्थापना की। और इसी प्रकार अपने ऋषियों तथा पश्चिम के मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर उन्होंने 'विश्वभारती' नामक संस्था की नींव डाली।

जहाँ तक उनकी काव्यात्मक प्रतिभा का प्रश्न है वह उपनिषदों की पवित्र श्रुतियों पर आधारित है। उन्होंने अपने धार्मिक अनुभवों के प्रकाश में उन श्रुतियों की व्याख्या की। उनकी ब्रह्म-सम्बन्धी निर्गुण-सगुण की मान्यता उपनिषदों पर ही आधारित है।[1] विश्व के प्रति उनका दृष्टिकोण मिथ्यात्मक नहीं है। वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सिद्धान्त के अनुसार सब कुछ ब्रह्ममय देखते हैं और सब के पीछे ब्रह्म की अज्ञात सत्ता की अनुभूति प्राप्त करते हैं।

दुःख व पीड़ा-सम्बन्धी उनके विचारों पर उपनिषदों का ही गहरा प्रभाव है। उनकी गीतांजलि के लगभग सभी गीत उपनिषद्-दर्शन से प्रभावित हैं। गीतांजलि के एक गीत में उन्होंने कहा कि हम आकाश में घूमते हुए पतझड़ के बादलों की भाँति हैं और जब तक सदा प्रकाशमान सूर्य के स्पर्श से हमारे वाष्पकण पिघल कर विलीन नहीं हो जाते, हम उससे पृथक् ही रहते हैं, जब वह हमें स्पर्श करता है तब हम उसके प्रकाश से मिलकर तदाकार हो जाते हैं।[2] यहाँ स्पष्ट ही सूर्य और बादल के प्रतीक द्वारा ब्रह्म और जीव के पार्थक्य एवम् उसके दिव्य स्पर्श से जीव के तद्रूप हो जाने का वर्णन किया गया है। वस्तुतः रवीन्द्र आत्मा की दिव्यता में विश्वास रखते थे तथा नदी के समुद्र से मिलकर तल्लीन हो जाने की भाँति जीवात्मा के परमात्मा में मिलकर एक हो जाने की साधना करना जीवात्मा का धर्म मानते

१. दी रिलीजन आफ मैन, अध्याय १५।
२. गीतांजली नं० LXXX।

थे। वे उपनिषदों की ही भाँति जीवन-धारा की शाश्वतता में विश्वास रखते थे और कहते थे कि मृत्यु से डरने का कोई कारण नहीं है। मृत्यु का आह्वान आने पर जीव को उसी प्रकार चल देना चाहिए जैसे पत्नी पति से मिलने के लिए जाती है।[1] मृत्यु जीवन के ऊर्ध्व विकास का एक सोपान है और वह अपरिहार्य भी है।

ईश्वर के प्रति आत्मा के प्रणय-निवेदन से सम्बन्धित अनेक गीत उनकी गीतांजलि में उपलब्ध होते हैं जिन्हें उन्होंने लौकिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है।

उन्हें संसार में रहकर त्यागपूर्वक भोग का आदर्श ही अधिक रुचिकर लगा तभी उन्होंने अपने निबन्धों और कविताओं में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' इस औपनिषदिक पंक्ति को बार-बार उद्धृत किया है।

रवीन्द्रनाथ ने 'साधना' के एक निबन्ध में कहा है—"कि सृष्टि की मूलगत एकता का कथन भारत के लिए केवल दार्शनिक ऊहापोह का ही विषय नहीं था, उसके जीवन का तो लक्ष्य ही यह था कि वह अपने संवेदनों और क्रियाओं में उस महान् एकता का अनुभव करे जिसकी शिक्षा उपनिषद् देते हैं।[2] इसी एकता का अनुभव करना 'विद्या' है और अनेकता की प्रतीति 'अविद्या' है। गायत्री मंत्र के महत्त्व पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है।

इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपनी रहस्यात्मक कविता और दार्शनिक निबन्धों में हिन्दू शास्त्रों की अविस्मरणीय शिक्षाओं पर ही बल दिया है। हम उनकी मान्यताओं को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—(१) यह विश्व जिसमें हम रहते हैं उस अनन्त चेतना की आंशिक अभिव्यक्ति है, (२) प्रकृति और मनुष्य और ईश्वर के बीच कोई विशिष्ट विभाजक रेखा नहीं है, (३) महाचिति अनन्त आनन्द और स्नेह का भण्डार है, (४) ईश्वर में समस्त वस्तुओं की एकता की अनुभूति ही सच्चा ज्ञान है, (५) दुःख और पीड़ा की संसार में स्थायी सत्ता नहीं है, वे अस्थायी हैं। (६) सेवा और प्यार के निमित्त ही मानव का पूर्ण आत्मसमर्पण ही सच्ची मुक्ति है।

रवीन्द्र के इन विचारों का हमारे साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। १९१३ ई० में उनकी गीतांजलि के पुरस्कृत होने के उपरांत हमारे कवि रवीन्द्र की ओर झुके और उनके काव्य से उन्होंने प्रेरणा के सूत्र ग्रहण किये—इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

### (३) राजनीतिक महापुरुष :

राजनीतिक महापुरुषों में तिलक महोदय का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने देश की तत्कालीन राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए भी देश के सांस्कृतिक पुन-

---

१. गीतांजलि नं० XCL।

२. साधना, पृष्ठ ७।

रुत्थान की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। भारतीय राष्ट्रवाद के पिता तिलक आधुनिक पुनर्जागरण-काल के प्रमुख नेताओं में प्रखरतम व्यक्तित्व के व्यक्ति थे। देश में हुए विभिन्न राजनीतिक आन्दोलनों के सन्दर्भ में उन्हें तीन बार कारावास का दण्ड सहन करना पड़ा। एक बार सन् १८८२ में चार मास की अवधि का, दूसरी बार सन् १८९७ में एक वर्ष का और तृतीय बार मांडले जेल में छः वर्ष का। उन्होंने देश में राजनीतिक स्वाधीनता की चेतना जागृत करने के सम्बन्ध में जो कष्ट सहन किए हैं उन्हें उन जैसा लोह-पुरुष व्यक्ति ही झेल सकता था। हृदय से पवित्र, संकल्प-शक्ति की दृढ़ता से युक्त, शत-प्रतिशत भारतीयता की भावना से ओत-प्रोत, कर्मठता की अदम्य शक्ति से परिपूरित इस अमर सेनानी ने देश की सांस्कृतिक चेतना के उद्-बोधन में भी जो सहयोग दिया वह चिरस्थायी है।

वैदिक-साहित्य पर कार्य की दृष्टि से उन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे—प्रथम, दी आर्कटिक होम इन दी वेदाज़, द्वितीय, ओरायन तथा तृतीय, वैदिक क्रोनोलोजी एवं वेदांग ज्योतिष। आंग्ल भाषा में निबद्ध इन ग्रन्थों में प्रथम में वैदिक ऋषियों के मूल निवास-स्थान तथा 'ओरायन' नामक ग्रन्थ में वेदों की प्राचीनता के सम्बन्ध में गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखा है जो उनकी विद्वत्ता का परिचय देता है। मराठी भाषा में लिखित गीता पर उनका भाष्य, लगभग ५०० पृष्ठों की विस्तृत भूमिका उनकी मौलिक एवं श्रेष्ठतम उपलब्धि है। गीता उनकी दृष्टि में कर्मयोग का संदेश देती है, ज्ञान और भक्तियोग, कर्मयोग के सहयोगी के रूप में आते हैं। इस प्रकार कर्मयोग के व्याख्याता के रूप में उन्होंने स्वयं को समाज के समक्ष उपस्थित किया।

तिलक एक सफल वक्ता और निर्भीक सम्पादक थे। 'केसरी' और 'मरहट्टा' पत्रों के सम्पादक के रूप में उन्होंने अपने निर्भीक व्यक्तित्व का परिचय दिया है। इस प्रकार स्वदेशी एवं 'स्वतन्त्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' का जनता को नारा देने वाले तिलक ने देश के राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक-धार्मिक पुनरुत्थान में जो सहयोग दिया वह भारत के आधुनिक इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित किया जायेगा।

## वैदिक-साहित्य के आधुनिक व्याख्याकार

पिछले पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर आए हैं कि भारत के आधुनिक सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण का कार्य वैदिक-साहित्य एवं विचार-धारा की सम्पुष्ट पीठिका पर सम्पन्न हुआ। यहाँ और पश्चिम में वैदिक साहित्य पर नाना समीक्षाएँ तथा व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं। अर्वाचीन व्याख्याकारों में स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ प्रमुख थे जिन पर पीछे धार्मिक महापुरुषों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा चुका है। इन की व्याख्याओं का साहित्य और समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। इस शीर्षक के अन्तर्गत हम वैदिक साहित्य के आधुनिक व्याख्याकारों—डा० राधाकृष्णन् तथा श्री अरविन्द—के सम्बन्ध में संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि इनकी व्याख्याओं का

perfect man can become and a nucleus and a force for the evonltion of a perfect society and that the true Unity of the Human Race can only out flower from a union on the soul level is in substance the Central part of his teaching. The key to this change of man is essentially spiritual, and it lies in the evocation and development of the latent faculties of his inner and inner-most being. Man has to cease to live on the surface, learn to live from within out word, he must find his soul. All life in the Ashram centres round this truth."[1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द का मुख्य उद्देश्य रहा है जीवन को अपूर्णता से निकाल कर पूर्णता की ओर ले जाना और यह केवल आत्म-चेतना के धरातल पर ही संभव हो सकता है। इसलिये मानव में प्रसुप्त आन्तरिक शक्तियों के जगाने और आत्मा के उन्नयन की आवश्यकता पर उन्होंने उपनिषदों की ही भाँति अत्यधिक आग्रह प्रकट किया। इस प्रकार अरविन्द ने अपने लेखों से भारत और विश्व की जनता की मृत-आत्म-चेतना को पुनः जागृत करने का भगीरथ प्रयत्न किया है इसमें कोई संदेह नहीं। उनके इस प्रयत्न का प्रभाव हमारी इस पीढ़ी के साहित्यकारों पर भी पड़ा है, यह बात विशेष उल्लेखनीय है—इस क्षेत्र में पंत का नाम लिया जा सकता है। इस पुनर्जागरण-काल में विद्वानों का ध्यान हमारे आदि धर्म-ग्रन्थ वेदों की ओर भी गया था। यह बात हम पीछे कह आए हैं, सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों ने फिर स्वामी दयानन्द ने वेदों की व्याख्याएँ अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत कीं। पाश्चात्य विद्वानों में से कुछ सायण को आधार बनाकर चले, यथा मैक्समूलर और एच० एच० विल्सन; और कुछ ने अपनी स्वतन्त्र ऊहा से वैदिक-मंत्रों के साथ अनेक अटकल-बाजियां लगाई और फलतः अर्थ का अनर्थ कर डाला। स्वामीजी ने निरुक्त की यौगिक पद्धति पर वेद-मंत्रों की व्याख्या की। श्री अरविन्द ने वेदों को, स्वयं योगी होने के कारण, प्राचीन ऋषियों के ही दृष्टिकोण से देखने-परखने का प्रयत्न किया और इस प्रकार उनकी अधिक सुसंगत मनोवैज्ञानिक-आध्यात्मिक व्याख्याएँ कीं जो वेद रहस्य (दी सिक्रेट आफ दी वेदाज़) नाम से तीन खण्डों में संकलित हैं।

वेद-मंत्रों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि वे यास्क के अनुसार त्रिविध अर्थ—कर्म-काण्डिक, आधिदैवत और आध्यात्मिक—को लिए हुए है और इनमें अन्तिम ही मूल अर्थ है। यह अर्थ प्रतीकों के अन्दर छिपाकर रखा गया है जिसे 'ध्यान-योग और तपस्या के द्वारा ही जाना जा सकता है।[2] प्रतीकों की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए श्री अरविन्द ने कहा कि यह सब ऋषियों ने इसलिये किया ताकि वे केवल दीक्षितों द्वारा ही समझे जा सकें, अदीक्षितों के हाथों उनका असली अर्थ सावधानतापूर्वक छिपा बना

१. Q. F. Hinduism through the Ages, p. 201.
२. देखिये, वेदरहस्य, भाग ३, पृ० १८।

रहे।[1] श्री अरविन्द ने उन शब्दों और स्थलों की जो अपने अन्दर दोहरे और तीसरे अर्थ छिपाये हुए थे सम्यक् परीक्षा भी की और कहा कि "वेद का गुह्यज्ञान ही वह चीज़ है जो पीछे जाकर वेदान्त के अन्दर विकसित हुआ। वह विचार, जिस के चारों ओर सब केन्द्रित है, है सत्य, प्रकाश, अमरत्त्व की खोज। एक सत्य है जो बाह्य सत्ता के सत्य से गंभीरतर और उच्चतर है, एक प्रकाश है जो कि मानवीय समझ के प्रकाश से बृहत्तर है जो कि अन्तःप्रेरणा तथा स्वतःप्रकाशन द्वारा आता है, एक अमरत्त्व है जिसकी तरफ़ आत्मा को उठना है।" इस प्रकार सत्य के स्पर्श द्वारा सत्य के लोक में आरोहण करना 'परमेश्वर के साथ अपने को युक्त करना है और मर्त्य-अवस्था से अमरत्त्व में पहुँच जाना है। यह वैदिक रहस्यवादियों की प्रथम और केन्द्रीय शिक्षा है' जिसे श्री अरविन्द ने उद्घाटित किया।[2] उनके अनुसार वैदिक ऋषि भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देते हुए मानस-चेतना के ऊर्ध्व स्तरों पर उत्तरोत्तर प्रगति की आकांक्षा रखने वाले तपःपूत मानव थे और मानव की विकासदशा का चरम लक्ष्य भी यही है कि वह उत्तरोत्तर पूर्ण ईश्वरत्त्व, अनन्त ज्ञान, असीम प्रसार और पूर्ण उन्मुक्ति प्राप्त करता चले। यही वेदों की शिक्षा है। वेद अन्धकार की शक्तियों के विरुद्ध प्रकाश की शक्तियों का विजय-गीत है।

इस प्रकार श्री अरविन्द ने अपने यौगिक अनुभवों के प्रकाश में वेदमंत्रों के अन्दर निहित वास्तविक आशय को खोलने का प्रयास करके वेद को उनके ज्ञान का भण्डार होने का वास्तविक गौरव प्रदान किया है।

श्री अरविन्द के अनुसार छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, ईशोपनिषद् ने वैदिक ऋषियों के मनोवैज्ञानिक सत्य और जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को बहुत कुछ सुरक्षित रखा, (यद्यपि वैदिक ऋषियों की बहुत सी बातें उपनिषद्-काल में आकर लुप्त हो गई थीं)।

श्री अरविन्द ने अपनी व्याख्याओं में शंकर के मायावाद को स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत उपनिषदों के आधार पर ही एक अधिक संतुलित दृष्टिकोण द्वारा आध्यात्मिक (चेतना) और भौतिक (पदार्थ) जगत् में समन्वय स्थापित किया। इहलोक और परलोक दोनों की समान महत्ता को स्वीकार किया। इस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी दोनों जगत् में फैले एकांकी दृष्टिकोण को जो सामाजिक जीवन को विषम बनाये दे रहे थे, दूर करने का प्रयत्न किया। भारत, शंकर के बाद अति आध्यात्मिकता की धुन में भौतिकता का तिरस्कार करता आ रहा था। उधर पश्चिम में अति-भौतिकता के आकर्षण ने आध्यात्मिक चेतना को विलुप्त कर दिया था। श्री अरविन्द के समन्वित दृष्टिकोण ने दोनों अतिवादी भूखण्डों को शीतलता एवं शांति का संदेश दिया है।

---

१. वेदरहस्य, भाग ३, पृ० १५।
२. वही, पृ० ३३-३४।

उनके ऊर्ध्वारोहण और अवरोहण से सम्बन्धित दृष्टिकोण की चर्चा आगे पंत के स्वर्ण-काव्य के अध्ययन के अवसर पर प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि पंतजी उनके इस दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द ने अपने युग की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना को जगाने और विश्व के समक्ष एक अधिक सन्तुलित दर्श प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है जिससे आधुनिक विद्वान् प्रभावित भ हुए हैं।

## हिन्दी में वैदिक-साहित्य :

वैदिक साहित्य में रहस्यभावना एवं दर्शन की दृष्टि से वेद और उपनिषदें प्रमुख हैं। मध्ययुग में वेदों पर भाष्य लिखे गए थे, पर वे संस्कृत भाषा में थे। उन्नीसवीं शती में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक साहित्य में रुचि लेने के अनन्तर भारतीयों ने भी अपने साहित्य में प्रच्छन्न रत्नों को शोधकर लाने की प्रेरणा हुई। फलतः भारत में भी अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा में वैदिक-साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ। आंग्ल भाषा में इस क्षेत्र में जो कुछ कार्य हुआ उसका संक्षिप्त विवरण पीछे दे आए हैं। यहाँ हम वैदिक-साहित्य पर हिन्दी में हुए कार्य का यदि संक्षिप्त-सा परिचय प्रस्तुत कर दें तो अप्रासंगिक न होगा। इस युग में चारों वेद और लगभग सभी प्रमुख-प्रमुख उपनिषदों पर अनुवाद और भाष्य लिखे गए।

ऋग्वेद पर सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द का भाष्य उपलब्ध होता है जो सप्तम मण्डल के ७२वें सूक्त तक ही मिलता है। शेष ९वें मण्डल तक आर्यमुनिजी ने संवत् १९७५ में पूर्ण किया। इसी प्रकार पं० शिवशंकर शर्मा ने सम्वत् १९८० में, पं० जयदेव शर्मा ने सं० १९८७ में भाष्य किए तथा पं० राम गोविन्द त्रिवेदी ने सायण भाष्य का हिन्दी में अनुवाद सम्वत् १९९२ में प्रस्तुत किया। श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर तथा पं० श्री राम आचार्य के अनुवाद अभी पिछले २५ वर्षों में प्रकाश में आए हैं।

अथर्ववेद पर पं० क्षेमकरणदास का भाष्य लगभग सम्वत् १९७१ में, तथा पं० जयदेव शर्मा का सम्वत् १९८७ में प्रकाशित हुआ। इनके बाद हरिशंकर शर्मा, श्री राम आचार्य तथा सातवलेकर के भाष्य प्रकाश में आए।

यजुर्वेद पर स्वामी दयानन्द का भाष्य सं० १९४३ में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र का सम्वत् १९५९ में, पं० जयदेव शर्मा का सम्वत् १९८८ में, वैदिक संस्थान गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन का सं० १९९४ में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर श्रीरामजी, सातवलेकरजी तथा स्वामी भगवदाचार्य के भाष्य उपलब्ध होते हैं।

सामवेद पर पण्डित जयदेव शर्मा (सं० १९८३), पं० हरिप्रसाद शास्त्री, आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री, आचार्य श्रीराम शर्मा तथा सातवलेकर ने भाष्य किये।

**प्रमुख-प्रमुख उपनिषदों पर कार्य**—उपनिषदें वेद का ज्ञान काण्ड हैं जिन्हें

वेदान्त भी कहते हैं। 'ब्रह्म-विद्या' इनका प्रमुख विषय है। इस क्षेत्र में हिन्दी में पिछले ५०-६० वर्षों में पर्याप्त कार्य हुआ है। पं० बदरीदत्त जोशी का 'अष्टोपनिषद्' (तृतीय संस्करण सम्वत् १९८१ में), स्वामी सत्यानन्द का 'एकादशोपनिषत्संग्रह' (सं० १९८७ में), पं० भीमसेन का 'उपनिषद् समुच्चय' (सं० १९९०), आर्यमुनि का 'उपनिषद्भाष्य', (लगभग सम्वत् १९६७ में), पं० जयदेव शर्मा का 'उपनिषद्-संग्रह', स्वामी अच्युतानन्द का 'दशोपनिषद्-भाषा, तथा सत्यव्रत विद्यालंकार का 'एकादशोपनिषद्' ये कतिपय प्रमुख भाष्य हैं। गीताप्रेस गोरखपुर से ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक पर शांकर भाष्य के अनुवाद-सहित भाष्य सं० १९९२ में, माण्डूक्य तथा ऐतरेय पर १९९३ में, श्वे०, बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य पर सं० १९९५ में प्रकाशित हुए। पृथक्-पृथक् उपनिषदों पर यथा छान्दोग्य तथा बृह० उ० पर सं० १९६७ में शिवशंकर काव्यतीर्थ का भाष्य, श्वे० उ० पर सं० १९५१ में तुलसीराम स्वामी का भाष्य, ईश और केन पर सातवलेकरजी के भाष्य सं० १९७४ व ७८ में प्रकाशित हुए। नारायणस्वामी ने सम्वत् २००० के लगभग सभी उपनिषदों पर भाष्य किया। हिन्दी में वैदिक-वाङ्मय पर कुछ समीक्षात्मक ग्रंथ भी लिखे गये हैं। पं० बलदेव उपाध्याय का 'वैदिक-साहित्य और संस्कृति' तथा डा० फतहसिंह का 'वैदिक-दर्शन' ग्रंथ इसी कोटि में आते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है कि १९वीं शती के अन्तिम दशकों को लेकर अद्यपर्यन्त हिन्दी में वैदिक साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ है। अतः सामान्य जनता तथा साहित्यकारों का अपने प्राचीन साहित्य से परिचित होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

**उपसंहार**—राजा राममोहन राय से लेकर श्री अरविन्द तक के इस सौ, सवा सौ वर्षों के पुनर्जागरण-काल में देश के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि को ध्यान में रखकर जो-जो आन्दोलन हुए हैं उनका संक्षिप्त अध्ययन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस पुनरुत्थान और पुनर्जागरण के मूल ग्रंथ थे वेद, उपनिषद् और गीता। ये तीनों ही हिन्दू-जाति के मूर्धन्य ग्रंथ हैं, जिनके आधार-स्तम्भों पर हिन्दू-संस्कृति एवं सभ्यता का विशाल एवं सुदृढ भवन खड़ा हुआ है। इन ग्रंथों में किसी भी प्रकार की संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से रहित मानव-जीवन के शाश्वत एवं चिरन्तन विश्वासों, मान्यताओं, विचारों एवं मूल्यों की अमूल्यनिधि निहित है। भारतीय हिन्दुओं का जीवन इन्हीं में वर्णित धारणाओं पर युगानुसार ढलता चला आ रहा है। पर दुर्भाग्य से भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक ऐसा भी युग आया जबकि हिन्दू-जाति ने इन ग्रंथों की मूल शिक्षाओं तथा उपदेशों को विस्मृत कर दिया, फलतः अज्ञान के विषम अंधकार में हम लोग भटक गए। मध्य-युग के सन्त और भक्त कवियों ने हमें अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाई अवश्य, पर उसका प्रभाव चिरस्थायी नहीं रह सका। परिणामस्वरूप हम पुनः जड़ता एवं निष्क्रियता से ग्रस्त हो गए। हिन्दी का रीतिकाल इस तथ्य का प्रमाण है। आधुनिक युग में आँग्ल-देशीय लोगों के सम्पर्क से तथा १९वीं शती में भारत में उत्पन्न अनेक

उनके ऊर्ध्वारोहण और अवरोहण से सम्बन्धित दृष्टिकोण की चर्चा आगे पंत के स्वर्ण-काव्य के अध्ययन के अवसर पर प्रस्तुत करेंगे, क्योंकि पंतजी उनके इस दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द ने अपने युग की सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक चेतना को जगाने और विश्व के समक्ष एक अधिक सन्तुलित दर्शन प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है जिससे आधुनिक विद्वान् प्रभावित भी हुए हैं।

## हिन्दी में वैदिक-साहित्य :

वैदिक साहित्य में रहस्यभावना एवं दर्शन की दृष्टि से वेद और उपनिषदें प्रमुख हैं। मध्ययुग में वेदों पर भाष्य लिखे गए थे, पर वे संस्कृत भाषा में थे। उन्नीसवीं शती में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक साहित्य में रुचि लेने के अनन्तर भारतीयों ने भी अपने साहित्य में प्रच्छन्न रत्नों को शोधकर लाने की प्रेरणा हुई। फलतः भारत में भी अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा में वैदिक-साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ। आंग्ल भाषा में इस क्षेत्र में जो कुछ कार्य हुआ उसका संक्षिप्त विवरण पीछे दे आए हैं। यहाँ हम वैदिक-साहित्य पर हिन्दी में हुए कार्य का यदि संक्षिप्त-सा परिचय प्रस्तुत कर दें तो अप्रासंगिक न होगा। इस युग में चारों वेद और लगभग सभी प्रमुख-प्रमुख उपनिषदों पर अनुवाद और भाष्य लिखे गए।

ऋग्वेद पर सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द का भाष्य उपलब्ध होता है जो सप्तम मण्डल के ७२वें सूक्त तक ही मिलता है। शेष ६वें मण्डल तक आर्यमुनिजी ने संवत् १९७५ में पूर्ण किया। इसी प्रकार पं० शिवशंकर शर्मा ने सम्वत् १९८० में, पं० जयदेव शर्मा ने सं० १९८७ में भाष्य किए तथा पं० राम गोविन्द त्रिवेदी ने सायण भाष्य का हिन्दी में अनुवाद सम्वत् १९९२ में प्रस्तुत किया। श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर तथा पं० श्री राम आचार्य के अनुवाद अभी पिछले २५ वर्षों में प्रकाश में आए हैं।

अथर्ववेद पर पं० क्षेमकरणदास का भाष्य लगभग सम्वत् १९७१ में, तथा पं० जयदेव शर्मा का सम्वत् १९८७ में प्रकाशित हुआ। इनके बाद हरिशंकर शर्मा, श्री राम आचार्य तथा सातवलेकर के भाष्य प्रकाश में आए।

यजुर्वेद पर स्वामी दयानन्द का भाष्य सं० १९४३ में पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र का सम्वत् १९५९ में, पं० जयदेव शर्मा का सम्वत् १९८८ में, वैदिक संस्थान गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन का सं० १९९४ में प्रकाशित हुआ। तदनन्तर श्रीरामजी, सातवलेकरजी तथा स्वामी भगवदाचार्य के भाष्य उपलब्ध होते हैं।

सामवेद पर पण्डित जयदेव शर्मा (सं० १९८३), पं० हरिप्रसाद शास्त्री, आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री, आचार्य श्रीराम शर्मा तथा सातवलेकर ने भाष्य किये।

**प्रमुख-प्रमुख उपनिषदों पर कार्य**—उपनिषदें वेद का ज्ञान काण्ड हैं जिन्हें

वेदान्त भी कहते हैं। 'ब्रह्म-विद्या' इनका प्रमुख विषय है। इस क्षेत्र में हिन्दी में पिछले ५०-६० वर्षों में पर्याप्त कार्य हुआ है। पं० बदरीदत्त जोशी का 'अष्टोपनिषद्' (तृतीय संस्करण सम्वत् १९८१ में), स्वामी सत्यानन्द का 'एकादशोपनिषत्संग्रह' (सं० १९८७ में), पं० भीमसेन का 'उपनिषद् समुच्चय' (सं० १९९०), आर्यमुनि का 'उपनिषद्भाष्य', (लगभग सम्वत् १९६७ में), पं० जयदेव शर्मा का 'उपनिषद्-संग्रह', स्वामी अच्युतानन्द का 'दशोपनिषद्-भाषा, तथा सत्यव्रत विद्यालंकार का 'एकादशोपनिषद्' ये कतिपय प्रमुख भाष्य हैं। गीताप्रेस गोरखपुर से ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक पर शांकर भाष्य के अनुवाद-सहित भाष्य सं० १९९२ में, माण्डूक्य तथा ऐतरेय पर १९९३ में, श्वे०, बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य पर सं० १९९५ में प्रकाशित हुए। पृथक्-पृथक् उपनिषदों पर यथा छान्दोग्य तथा बृह० उ० पर सं० १९६७ में शिवशंकर काव्यतीर्थ का भाष्य, श्वे० उ० पर सं० १९५१ में तुलसीराम स्वामी का भाष्य, ईश और केन पर सातवलेकरजी के भाष्य सं० १९७४ व ७८ में प्रकाशित हुए। नारायण स्वामी ने सम्वत् २००० के लगभग सभी उपनिषदों पर भाष्य किया। हिन्दी में वैदिक-वाङ्मय पर कुछ समीक्षात्मक ग्रंथ भी लिखे गये हैं। पं० बलदेव उपाध्याय का 'वैदिक-साहित्य और संस्कृति' तथा डा० फतहसिंह का 'वैदिक-दर्शन' ग्रंथ इसी कोटि में आते हैं।

इस विवरण से स्पष्ट है कि १९वीं शती के अन्तिम दशकों को लेकर अद्यपर्यन्त हिन्दी में वैदिक साहित्य पर पर्याप्त कार्य हुआ है। अतः सामान्य जनता तथा साहित्यकारों का अपने प्राचीन साहित्य से परिचित होना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

**उपसंहार**—राजा राममोहन राय से लेकर श्री अरविन्द तक के इस सौ, सवा सौ वर्षों के पुनर्जागरण-काल में देश के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक एवं सामाजिक दृष्टि को ध्यान में रखकर जो-जो आन्दोलन हुए हैं उनका संक्षिप्त अध्ययन इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। इस पुनरुत्थान और पुनर्जागरण के मूल ग्रंथ थे वेद, उपनिषद् और गीता। ये तीनों ही हिन्दू-जाति के मूर्धन्य ग्रंथ हैं, जिनके आधार-स्तम्भों पर हिन्दू-संस्कृति एवं सभ्यता का विशाल एवं सुदृढ भवन खड़ा हुआ है। इन ग्रंथों में किसी भी प्रकार की संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से रहित मानव-जीवन के शाश्वत एवं चिरन्तन विश्वासों, मान्यताओं, विचारों एवं मूल्यों की अमूल्यनिधि निहित है। भारतीय हिन्दुओं का जीवन इन्हीं में वर्णित धारणाओं पर युगानुसार ढलता चला आ रहा है। पर दुर्भाग्य से भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक ऐसा भी युग आया जबकि हिन्दू-जाति ने इन ग्रंथों की मूल शिक्षाओं तथा उपदेशों को विस्मृत कर दिया, फलतः अज्ञान के विषम अंधकार में हम लोग भटक गए। मध्य-युग के सन्त और भक्त कवियों ने हमें अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाई अवश्य, पर उसका प्रभाव चिरस्थायी नहीं रह सका। परिणामस्वरूप हम पुनः जड़ता एवं निष्क्रियता से ग्रस्त हो गए। हिन्दी का रीतिकाल इस तथ्य का प्रमाण है। आधुनिक युग में आँग्ल-देशीय लोगों के सम्पर्क से तथा १९वीं शती में भारत में उत्पन्न अनेक

महापुरुषों की शृंखला से हमें पुनः आत्म-चेतना के बीज अंकुरित हुए। इन महापुरुषों ने युग के परिपार्श्व में प्राचीन वैदिक शिक्षाओं और विश्वासों को पुनरुज्जीवित कर उन्हें पुनः संस्थापित किया। उनके इन प्रयत्नों का मध्यम वर्ग की जनता के मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा जिसका प्रतिफलन हमें इस युग के धर्म, दर्शन और साहित्य में देखने को मिलता है। बंगाल, महाराष्ट्र तथा उत्तरप्रदेश के कवि एवं साहित्यकार इस नवोत्थित जागरण से अत्यन्त प्रभावित हुए। हिन्दी के छायावादी कवियों—यथा प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी—पर भी यह प्रभाव कहीं प्रत्यक्ष रूप से और कहीं परोक्ष रूप से पड़ा है जिसकी चर्चा हम पृथक्-पृथक् अगले अध्यायों में करेंगे।

□□□

पंचम अध्याय

# प्रसादजी के काव्य पर वैदिक दर्शन का प्रभाव

## कवि प्रसाद और उनका वैदिक साहित्य से सम्पर्क

आधुनिक हिन्दी साहित्याकाश के उज्ज्वल नक्षत्र कविवर 'प्रसाद' का जन्म सुँघनी-साहु नाम से प्रसिद्ध काशी के एक कुलीन और सम्पन्न वैश्य घराने में माघ शुक्ला दशमी सम्वत् १९४६ (सन् १८७९) को हुआ था। इनके पिता देवी प्रसाद और इनके पितामह आरम्भ से ही शिव में आस्था रखते थे। इस प्रकार इनके परिवार का वातावरण धार्मिक था। इस धार्मिक वातावरण का प्रभाव बालक प्रसाद पर न पड़ता यह असम्भव था। एक सर्वव्यापक और सर्वातिशायी शक्ति पर आस्था उनके इस पारिवारक परिवेश की ही देन है।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा ७वीं कक्षा तक क्वींस कालिज में हुई थी।[1] पर अनेक कारणों से उनका यह संस्थागत-शिक्षा-क्रम आगे नहीं चल सका। इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी शिक्षा का क्रम और अध्ययन यहीं समाप्त हो गया। उन्होंने घर पर रहकर ही हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वे प्रारम्भ से ही बड़े अध्यवसायी और चिन्तनशील प्रकृति के व्यक्ति थे। अध्ययन, चिन्तन और मनन उनके जीवन के प्रधान अंग थे। अपनी इसी रुचि से प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय-संस्कृति और साहित्य, पुरातत्व और इतिहास, धर्म और दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उनके अध्ययन का आयाम वैदिक वाङ्मय (वेद, ब्राह्मण-ग्रंथ और उपनिषद्) से लेकर संस्कृत-साहित्य, बौद्ध-साहित्य, पुराण ग्रंथ और शैव-दर्शन तक फैला हुआ है। वैदिक ऋचाओं और उपनिषदों के लच्छेदार वाक्य तो उन्हें कण्ठस्थ थे ही, संस्कृत महाकवियों ने किस शब्द का कहाँ किस अर्थ में, कैसा चमत्कारपूर्ण प्रयोग किया है—उसको भी वे सोदाहरण उपस्थित करते चलते थे।[2] "प्रसादजी का शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन और ज्ञान असाधारण था। अनेक धार्मिक और दार्शनिक अंश तो सतत पारायण करने के कारण उन्हें कण्ठस्थ हो गए थे।

---

१. देखिए, विनोद शंकर व्यास : प्रसाद और उनका साहित्य, पृ० १९।
२. शिवपूजन सहाय : प्रसाद(सम्पादिका : निर्मल तालवार), पृ० ७।

उपनिषद् और शैव-दर्शन उनके प्रिय विषय थे जिनका अध्ययन वे नियमित रूप से करते थे।"[1] वे उपनिषदों का अध्ययन और अपना लिखने का कार्य प्रातः शीघ्र उठ कर किया करते थे। संस्कृत-साहित्य का सम्यक् अध्ययन उन्होंने किया था। कोई विषय उनसे छूटा नहीं था।[2] प्रसाद जन्मतः प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए थे। उनके विशाल और विस्तृत अध्ययन ने उनकी प्रतिभा में ऐसा निखार ला दिया कि वह कुन्दन की तरह चमक कर युग की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित कर सकने में समर्थ हो सका।

अपनी अंतिम बीमारी से पूर्व एक बार प्रसंगवश उन्होंने पाठकजी (वाचस्पति पाठक) से कहा था—"तुम बहुत तंग करते हो, अब हमने भी निश्चय किया है कि इन्द्र महाकाव्य (जिसके चारों भाग लिखने की तैयारी वे बहुत दिनों से कर रहे थे, और सच तो यह है कि 'कामायनी' उसी के बीच में से निकल पड़ी एक चीज है) के साथ-साथ मैं तुम्हें प्रतिमाह एक सामाजिक नाटक और एक उपन्यास देता चलूँगा।"[3] पर 'हमरे मन कुछ और है विधिना के कुछ और' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करते हुए वे अपने मनोवांछित कार्य को बीच में ही अधूरा छोड़कर दिवंगत हो गये।

उनके उपलब्ध साहित्य और उपरोक्त विवेचन के आधार पर इतना निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि उनका अध्ययन गहरा था और उसका क्षेत्र भी विस्तृत था। उन्होंने—

(१) वैदिक संस्कृति के आधारभूत साहित्य वेद, ब्राह्मण ग्रंथ और उपनिषदों का अच्छा ज्ञान अर्जित किया था।

(२) वे बौद्ध-धर्म और साहित्य (दर्शन) के भी अच्छे ज्ञाता थे।

(३) लौकिक संस्कृत महाकाव्यों का विशेष अध्ययन किया था। तथा

(४) शैव-दर्शन विशेषतया काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अच्छे मर्मज्ञ थे। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की ओर उनकी रुचि इसलिए और भी अधिक थी कि इस सम्प्रदाय में वेद और उपनिषदों के आत्मवाद और आनन्दवाद की प्रतिष्ठा हुई थी। उन्होंने स्वयं इस वाद का उल्लेख 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध में करते हुए कहा कि 'शैवों का अद्वैतवाद और उनका सामरस्य वाला रहस्य-सम्प्रदाय, वैष्णवों का माधुर्य भाव और उनके प्रेम का रहस्य तथा 'कामकला' की सौन्दर्य-उपासना आदि का उद्गम वेदों और उपनिषदों के ऋषियों की वे साधना-प्रणालियाँ हैं, जिनका उन्होंने समय-समय पर अपने संघों में प्रचार किया था।"[4]

---

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक : महाकवि प्रसाद, पृ० ७-८।
२. वाचस्पति पाठक : प्रसाद : जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व (सं० महावीर अधिकारी), पृ० १५।
३. वही, पृ० १७।
४. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ४६।

प्रसादजी के इस कथन से तथा वैदिक वाङ्मय एवं शैवागमों में वर्णित धारणाओं एवं सिद्धान्तों के तुलनात्मक समीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शैवागमों में विशेषतः प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में उन्हीं मान्यताओं का पल्लवीकरण हुआ है जो वैदिक-वाङ्मय में वर्णित है। अतः यहाँ संक्षेप में दोनों साहित्यों में उपलब्ध ब्रह्म, जीव एवं जगत्-सम्बन्धी मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे ताकि हम प्रसादजी के काव्य पर वैदिक-दर्शन के प्रभाव को स्पष्ट रूपेण दिखा सकें।

(१) प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में परमसत्ता को विश्व से परे भी कहा गया है और विश्व-रूप भी, यहा नाना नामरूपात्मक जगत् वस्तुतः उसी की अभिव्यक्ति है— "श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य अखिल-मभेदेनैवस्फुरति···श्री परम शिव भट्टारक एवं इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।"[1] यहाँ स्पष्टतः परमसत्ता के दो रूपों का उल्लेख हुआ है। वेद तथा उपनिषदों में भी ब्रह्म के दो रूपों—निर्गुण और सगुण—का स्पष्ट कथन है। शैवागामों का 'विश्वोत्तीर्ण' रूप उपनिषदों के निर्गुण रूप के समकक्ष है, यह रूप निरपेक्ष और निरुपाधिक है, इसी प्रकार उसका 'विश्वात्मक' रूप उपनिषदों के 'सगुण' ब्रह्म के समकक्ष है। शैवागमों में उसके प्रथम रूप को 'सदाशिव', 'परमशिव' आदि कहकर पुकारा गया है तथा उसके सगुण रूप को 'शिव', 'चिति', 'महाचिति' कहा गया है जिसका सम्बन्ध सृष्टि के विकास से है। अन्तर केवल शब्दों का है, मान्यता में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है।

इसी सूत्र में कहा गया है कि परम शिव ही स्वयं को इस नाना नामरूपात्मक जगत् में रूपान्तरित कर लेते हैं। यहाँ जगत् की सद्रूपता तथा ब्रह्म एवं जगत् के साथ अभेद का प्रतिपादन किया गया है। वेद उपनिषदों में भी जगत् की अभिन्नता का स्पष्टतः उल्लेख मिलता है। 'पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्चभाव्यम्'[2] तथा 'सर्व खल्विदं ब्रह्म', कहकर वेद और उपनिषद् इन दोनों मान्यताओं की पुष्टि करते हैं।

(२) शैवागमों में कहा गया है कि चैतन्य की चित्शक्ति ही संकुचित होकर उसे विश्वात्मक रूप में ले आती है, उस अवस्था मे चैतन्य भी संकुचित हो जाता है, अतः शिव और जीव में कोई भेद नहीं है—

'चिति संकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचित विश्वमयः'[3] इसी सूत्र की वृत्ति करते हुए कहा है 'शिव जीवयोरभेद एवं उक्तः'[4] इसी प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म एवं जीव के मौलिक स्वरूप का तात्विक अभेद वर्णित है। वहाँ भी कहा गया है 'अयमात्मा-ब्रह्म' वा 'अहं ब्रह्मास्मि।'

---

१. क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र-३, वृत्ति।
२. ऋग्वेद १०,९०,२।
३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, सूत्र-४।
४. वही सूत्र, वही वृत्ति।

(३) इन ग्रंथों में शिव एवं शक्ति के अभेद का भी उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि परमशिव अपनी शक्ति से स्वेच्छया जगत् की अभिव्यक्ति करता है—

**'न शिव शक्ति रहितौ न शक्ति व्यतिरेकिणी,**
**शिवः शक्तः तथाभावान् दृच्छया कर्तुमीहते।**
**शक्ति शक्तिमतो भेद शैवे जातु विवर्ण्यते॥'[१]**
**'चिति स्वतन्त्रा विश्व सिद्धि हेतुः।**
**स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति॥'[२]**

उपनिषदों में भी ब्रह्म एवं उसकी शक्ति में अभेद सम्बन्ध का स्पष्ट संकेत तो मिलता ही है।[3] साथ ही ब्रह्म की शक्ति को स्वाभाविक कहा गया है—'स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च'।[४]

(४) शैवागमों में माया भी शक्ति का ही एक रूप मानी गई है जिसके कारण सत्य का तिरोधान होता है और भेद से विश्व आभासित होता है "माया शक्त्या विभोः सैव भिन्न संवेद्यगोचरा।"[५] यह माया आत्मन् के ऊपर मल या विकृति का आवरण डाल देती है जिससे वह अपने दिव्य स्वरूप एवम् ऐश्वर्य को निद्रित व्यक्ति की भाँति भूल जाता है, अतः उसे शैवागमों में 'तिरोधान करी' कहा गया है।[६] माया से आबद्ध आत्मन् पुरुष, अणु, व्यक्ति, जीव, पशु कहलाता है।[७] उपनिषदों में भी 'माया' को ब्रह्म की शक्ति कहा है—

**"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।**
**तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥"** (श्वे० ४, १०)

साथ ही 'अविद्या' के अर्थ रूप में उसका ग्रहण करके जीव में भेद अथवा द्वैत को उत्पन्न करने वाली भी कहा है।[८] इसी शक्ति से प्रभावित रहने के कारण उपनिषदों में आत्मन् 'जीवात्मा' की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

(५) शैवागमों के 'आपव', 'कार्म' और 'मायीय' नामक तीन प्रकार के मलो अथवा कंचुकों की कल्पना, जिनसे जीव आवृत्त रह कर 'पशु' कहलाता है, उपनिषदों के 'अविद्या' तत्व पर आधारित है, तथा इन कंचुकों से जीव की मुक्ति के जो तीन उपाय—'आणव', 'शक्ति' और 'शांभव' (त० सा०—३) वहाँ कहे गये हैं

---

१. सोमानन्द : शिवदृष्टि ३,२,३।
२. क्षेमराज : प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, सूत्र-२।
३. देखिये, श्वे० १,३।
४. दे०, श्वे० उ० ६,८।
५. अभिनवगुप्ताचार्य : ईश्वरप्रत्यभिज्ञा १,५,१८।
६. वही, ३,१,७।
७. अभिनवगुप्ताचार्य : तंत्रसार, आह्निक-८।
८. बृह० उ०, २,४,१५।

वे उपनिषदों के पंचकोशों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय) के समकक्ष हैं। दोनों के पीछे यही कल्पना विद्यमान है कि ज्यों-ज्यों जीव कलुषित वासनाओं से शनैः-शनैः मुक्त होता चलता है त्यों-त्यों चेतना के ऊर्ध्व स्तरों पर आरोहण करता हुआ जीवन्मुक्ति की ओर अग्रसर होता जाता है।

(६) शैव-दर्शन में शिवत्व (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए इच्छा, क्रिया एवम् ज्ञान के समन्वय से जिस सामरस्य की स्थिति का प्रतिपादन हुआ है[1] वह धारणा तो अपने मूल रूप में यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में विद्यमान है। यहाँ ज्ञान और कर्म के पार्थक्य को बड़े स्पष्ट शब्दों में विषमता का उत्पादक कहा गया है और इनके समन्वित रूप को मोक्ष का विधायक। अतः शैवागमों में वर्णित त्रिपुरा का सिद्धान्त कोई नवीन सिद्धान्त नहीं है। शैवों का आनन्दवाद तो स्पष्टतः औपनिषदिक आनन्दवाद के समकक्ष है अथवा यों भी कहा जा सकता है कि उपनिषदों का आनन्दवाद ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में जाकर प्रतिष्ठित हुआ है।

इन प्रमुख-प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि शैवागम कोई पृथक् से मौलिक दर्शन नहीं है प्रत्युत वैदिक धारणाओं का ही विशदीकरण है। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने स्पष्ट कहा भी है कि—'आगमों का निर्माण' उपनिषदों की व्याख्या करने तथा उनके विचारों को विकसित करने के लिये हुआ है इन दोनों का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसे ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल के प्राचीन और नवीन दोनों रूपों का है।[2] डा० वी० वी० रामनन् शास्त्री का विचार है कि आगमों में केवल उपनिषदों के विचारों का ही विकास है और उनके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र विचारधारा नहीं है।[3] स्वयं प्रसादजी ने भी लिखा है कि 'श्रुतियों का और निगम का काल समाप्त होने पर ऋषियों के उत्तराधिकारियों ने निगम के आनन्दवाद का अनुसरण किया—विचारों में भी और क्रियाओं में भी।'[4]

निगमागमों के दार्शनिक सिद्धान्तों के संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् हम अब वैदिक-दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रसादजी के काव्य का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

## प्रसादजी से पूर्व की साहित्यिक पीठिका

प्रसादजी के हिन्दी साहित्य में आगमन से पूर्व भारतेन्दु और महावीर प्रसाद द्विवेदी ये दो महारथी हिन्दी में जन्म ले चुके थे। भारतेन्दु-युग संक्रांति का काल था। पश्चिम की सभ्यता के सम्पर्क में आने के कारण तथा अनेक सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों के सक्रिय होने के कारण आर्थिक और राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक मूल्यों में बड़ी तेजी से परिवर्तन होने लगे जिनका तत्कालीन साहित्य

---

१. अभिनवगुप्ताचार्य : तंत्रालोक, आह्निक-८।
२. एस० एस० सूर्यनारायण शास्त्री : दी शिवाद्वैत आफ श्रीकण्ठ, पृष्ठ ६।
३. लिंगधारण चन्द्रिका : भूमिका, पृ० २६७।
४. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृ० ५५।

पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। प्रेम, भक्ति और शृंगार के पुराने विषयों के साथ-साथ नये-नये विषय जिनमें राष्ट्रीयता का स्वर प्रमुख था, अभिव्यक्ति पाने लगे। प्रथम बार ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली में भी कविता लिखी जानी प्रारम्भ हुई। श्रीधर पाठक की रचनाओं में प्रकृति पहली बार काव्य का आलम्बन बनी।

द्विवेदी-युग (१८९३-१९१८) में खड़ी बोली को कविता के क्षेत्र में सबल माध्यम के रूप में प्रतिष्ठा मिली। भाषा और काव्य के विषय, दोनों ही क्षेत्रों में पर्याप्त परिष्कार हुआ। 'सरस्वती' पत्रिका ने कविता को रीतिकालीन अति शृंगारिकता के कर्दम से निकाल कर नैतिकता के स्वस्थ धरातल पर लाकर प्रतिष्ठित किया। द्विवेदी जी के नैतिकता के अत्यधिक आग्रह के कारण काव्य-सरिता परिष्कृत-परिमार्जित तो हुई, पर उसका स्वच्छन्द प्रवाह कुण्ठित होने लगा, फलतः एक ओर भाषा गद्यवत् हो गई और दूसरी ओर विषयों के चुनाव में पौराणिक मनोवृत्ति के कारण इतिवृत्तात्मक पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा।[1] मानव-जीवन की सबसे प्रमुख और प्रबल प्रवृत्ति 'राग' या 'रति' पर अश्लीलता के भय से नैतिकता का ऐसा अंकुश लगा दिया गया कि इस युग के कवियों को 'प्रेम' का नाम लेने तक में भय होने लगा। परिणामस्वरूप द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों में इस युग की समस्त काव्य-प्रवृत्तियों के विरुद्ध विरोध उभर कर आया और आने वाले वर्षों में नई पीढ़ी के युवक कवियों ने उन सभी मर्यादाओं (स्थूलता, सुधारवादिता, इतिवृत्तात्मकता, नीरसता आदि) को तोड़ डाला जिनका अब तक बड़े यत्न से संरक्षण किया गया था। प्रसाद 'प्रेम पथिक' और 'झरना', निराला 'जुही की कली' और पंत 'वीणा' लेकर काव्य-क्षेत्र में आगे बढ़े। काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों, परम्परा और रीति से मुक्त इस स्वच्छन्द काव्य को परम्परावादियों ने खीझकर 'छायावाद' नाम दे डाला तथा इस प्रवृत्ति के काव्य को 'अस्पष्ट, गुप्तगूढ़, छायामयी, शुष्क विचारों का विजृम्भण तथा नीरस और अमानवीय'[2] तक कह डालने में संकोच नहीं किया। इन नवोदित कवियों को आलोचकों के अनेक विरोध एवम् कड़े प्रहार सहने पड़े, परन्तु इन्होंने अपने साहस को नहीं त्यागा और जब शनैः-शनैः इस काव्य को उनके पाठकों द्वारा स्वीकृति मिलती गई तब आलोचकों का प्रतिवादी स्वर भी धीमा पड़ गया। प्रसादजी छायावादी कवियों में अग्रज थे अतः प्रारम्भ में उन्हें ही इस धारा के इस काव्य के लिए पथ प्रशस्त करने का कार्य करना पड़ा। तदनन्तर निराला और पंत का विद्रोही स्वर भी इस धारा में आकर मिल गया। फिर तो इनके काव्य-स्वर में वह शक्ति आई जो देखते ही बनती है।

प्रसादजी के काव्य को हम दार्शनिक प्रभाव के सुसम्बद्ध अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०४।
२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : संचयन, पृ० १०६।

(१) **प्रसादजी की प्रारम्भिक रचनाएँ**—चित्राधार, प्रेम पथिक, करुणालय, महाराणा का महत्त्व, कानन कुसुम।
(२) **मध्य-युग की रचनाएँ**—झरना, आँसू, लहर।
(३) **उत्तर युग की रचनाएँ**—कामायनी।

प्रसादजी की प्रारम्भिक रचनाएँ :

प्रसादजी की मध्य और उत्तर युग की रचनाओं की ही छायावादी-काव्य के अन्तर्गत गणना होती है। उनकी रचनाओं पर दार्शनिक प्रभाव दिखाने के लिए प्रारम्भिक रचनाओं का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, क्योंकि उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में वे सब सूत्र निहित हैं जिनका विस्तार उनके परवर्ती काव्य में हुआ है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में से केवल 'चित्राधार', 'प्रेमपथिक' और 'काननकुसुम' को ही लेकर उन स्थलों को दिखाने का प्रयत्न करेंगे जिनका सम्बन्ध दर्शन से है। शेष दो रचनाएँ दर्शन और अध्यात्म की दृष्टि से नगण्य होने के कारण अध्ययन का विषय नहीं बनाई गई है।

**चित्राधार**—चित्राधार प्रसादजी की प्रारम्भ के २० वर्षों तक की उन फुटकर रचनाओं का संग्रह है जो समय-समय पर 'इन्दु' नामक पत्र में निरन्तर प्रकाशित होती रही थीं। इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार को रचनाएँ संग्रहीत हैं। गद्यात्मक रचनाएँ खड़ी बोली में निबद्ध हैं और पद्य की भाषा ब्रज है। दार्शनिक अध्ययन की दृष्टि से चित्राधार के अन्त में 'पराग' और 'मकरन्द-विन्दु' शीर्षक के अन्तर्गत संग्रहीत रचनाएँ ही महत्त्वपूर्ण हैं जिन पर यहाँ चर्चा करनी है, क्योंकि इन्हीं रचनाओं में जिज्ञासा और रहस्य के अंकुर द्रष्टव्य होते हैं जिन पर उपनिषदों की विचारधारा का थोड़ा-सा प्रभाव लक्षित है।

**ब्रह्म की सत्ता में विश्वास**—वेद उपनिषद् और तदाश्रित साहित्य और दर्शन एक परम सत्ता के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, उसकी अनेक प्रकार से चर्चा करते हैं।[1] वेदों में उस तत्व का इन्द्र, अग्नि, वरुण, शिव, रुद्र आदि विभिन्न नामों से स्तवन हुआ है।

प्रसादजी आरम्भ से ही एक परम सत्ता में विश्वास रखने वाले धर्म-प्राण साधक थे। उनके सम्पूर्ण-साहित्य एक ब्रह्म में आस्था, श्रद्धा और विश्वास का साहित्य है। उनके सम्पूर्ण साहित्य पर आस्तिकता की प्रबल छाप है। वह एक ही विधाता के विधान में अटल विश्वास रखते हैं—"करत, सुनत, फल देत, लेत सब तुमहीं, यही प्रतीत।" (पृ० १८६) सब कुछ वही कर रहे हैं, जीवन की नैया भी उन्हीं के सहारे चल रही है और जीवन का लक्ष्य भी वही प्रभु ही है।

**"नाथ तिहारे सहारे चलावत,**
**लक्ष्य तू ही यह जीवन-नैया"** (वही, पृ० १८३)

---

१. 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', ऋग्वेद १,१४६, ४६।

**ब्रह्म के दो रूप**—वैदिक-दर्शन में ब्रह्म के दो रूपों—निर्गुण और सगुण का उल्लेख हुआ है।[1] निर्गुण स्वरूप का ठीक-ठीक वर्णन न कर सकने के कारण वैदिक ऋषि उसका निर्वचन 'नेति-नेति' अर्थात् 'न इति न इति' वह ऐसा भी नहीं है, ऐसा भी नहीं है', इस रूप में करते हैं। वस्तुतः वह अवर्णनीय कहा गया है।[2] स्वयं सूरदास ने निर्गुण ब्रह्म को गूँगे के गुड़ के स्वाद की भाँति अविगत गति वाला कहा है, क्योंकि वह रूप-रेखा-गुन जाति जुगति से रहित है, ऐसे निराकार-निर्गुण को मन कैसे पकड़ सकता है, अतः उसके आलम्बन बनने में कठिनाई आती है। उसकी अनुमति की अभिव्यक्ति में तो और भी अधिक कठिनता का अनुभव होता है। पर सहृदय भावुक मन उस पर गुणों का आरोप कर उसे भावना का विषय बना लेने में समर्थ हो जाता है। वह उसे सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, दयालु, करुणानिधि आदि अनेक नामों से सम्बोधित करने लगता है, तत्सम्बन्धी भावना में और अधिक प्रगाढता आने पर वह उस सत्ता के साथ अपने हृदय का रागात्मक सामंजस्य स्थापित करते हुए उसे प्रिय, प्रियतम, प्राणाधार, प्राणनाथ आदि सम्बोधनों से पुकारना भी प्रारंभ कर देता है और प्रभु द्वारा उसकी कातर-वाणी की उपेक्षा कर दिए जाने पर निष्ठुर और निर्मम आदि व्यंग्यपूर्ण विशेषणों के प्रयोग करने में भी वह नहीं चूकता। सहृदय की यह वृत्ति परमेश्वर के प्रति अत्यधिक प्रेम और भक्ति-भावना की परिचायक है। ब्रह्म का यह सगुण रूप भक्त कवियों के साकारवाद (अवतारवाद) से भिन्न है। वह सगुण होते हुए भी निर्गुण है और निर्गुण होते हुए भी सगुण है। दोनों रूपों में कोई अन्तर नहीं है। वह सगुण रूप में सर्वव्यापक[3] है और निर्गुण रूप में सर्वातिशायी इसलिए उपनिषदों ने उस तत्व को विरोधी गुणों के आश्रय-रूप में वर्णित किया है।

प्रसादजी ने भी ब्रह्म के दोनों स्वरूपों का वर्णन किया है। उसके सर्वव्यापक रूप की चर्चा करते हुए कहते हैं—

> **'छिपि के झगड़ा क्यों फैलायो ?**
> **मंदिर मस्जिद गिरजा सब में खोजत सब भरमायो।**
>
> × × ×
>
> **लीलामय सब ठौर अहो तुम, हमको यहै प्रतीत,** (वही, पृ० १८५)

संसार के समस्त पदार्थों की प्रभु से उत्पत्ति, और उन सब में उसकी व्याप्ति के सिद्धान्त को दार्शनिक क्षेत्र में 'सर्ववाद' अथवा सर्वात्मवाद के नाम से पुकारते हैं। वह कण-कण में समाया हुआ है ऐसा भाव वेद और उपनिषदों में विस्तार के साथ आया है जिसकी चर्चा दर्शन वाले अध्याय में कर आए हैं। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय

---

१. देखिए, वैदिक दर्शन का स्वरूप, पृ० ५८-६१ (यही शोध-ग्रंथ)।

२. वृह० उ० २, ३, ६।

३. 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च। (श्वे० उ० ६,११)

का प्रथम मंत्र 'ईशवास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्' सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ मे उसकी व्यापकता के तथ्य को प्रमाणित करता है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है वह उसी का है।

यह भाव प्रसादजी की 'विनय' आदि रचनाओं मे व्यक्त हुआ है। वे कहते है कि 'पृथ्वी और जल, अग्नि और आकाश, वायु और सूर्य, चन्द्रमा और सज्जन सब में उसका ही सौन्दर्य समाया हुआ है। उसकी विरुद्ध धर्माश्रयता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं 'कि जो ब्रह्म सर्वव्यापक है वही सबसे परे भी है, वह सूक्ष्म होते हुए भी वसुधा को धारण करता है, वह शब्द में निवास करता है, पर शब्द उसका पार नहीं पा पाते, उसकी महान् महिमा का कोई भी गुण-गान नहीं करता (विनय)। उपनिषदें उस ब्रह्म का निवास-स्थान मनुष्य के हृदय-स्थल को बताती हैं (इहैव अन्तः शरीरे सौम्य स पुरुषः, प्र० उ० ६,२) 'विभो' शीर्षक कविता में प्रसादजी ने भी उस सर्वलोक विहारी को हृदय के मध्य निवास करने वाला बताया है 'प्यारे मनुष्य उर मध्य निवास तेरो।' (पृ० १८०)।

**रहस्य-भावना**—'चित्राधार' में जिज्ञासा और रहस्य के सूत्र भी विद्यमान हैं। यह रहस्य-भावना सर्वात्मवादी दृष्टिकोण पर आधारित है जिसमें कवि वस्तु में निहित सौन्दर्य के दर्शन से अज्ञात सत्ता के जानने की आतुरता प्रकट करता है। कवि का जिज्ञासु मन प्रभात-कुसुम को सम्बोधित करते हुए पूछता है—

> **'कहो तुम कौन लख्यो शुभ रूप,**
> **गह्यौ इतनी प्रतिमा सुअनूप।**
> **पड़्यौ तुम पैं कहु कौन प्रकाश,**
> **इह्यौ तुम माहिं लखात विकास।'**

रहस्य-भावना में कवि की आत्मा का विश्वात्मा से रागात्मक (सामंजस्य) सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस स्थिति में कवि अपने प्रियतम से विरह-मिलन की अनेक भावपूर्ण दशाओं का माधुर्यपूर्ण वर्णन करता है। स्वप्नावस्था में कवि की आत्मा का परमात्मा से मिलन हुआ, पर पपीहे के मधुर स्वर ने स्वप्न भंग कर दिया, जागरण होने पर प्रभु चले गये। उनके चले जाने पर कवि ने अपने प्रिय को 'विदाई' शीर्षक कविता में बड़ी ही भावपूर्ण विदाई दी है, कवि ने प्रसंगानुकूल अपने अन्तर की सारी पीड़ा काव्य में उंड़ेल दी है।

'पराग' और मकरन्दबिन्दु' में रहस्य से सम्बन्धित अन्य दशाओं—यथा प्रभु के प्रति प्रणय-भावना, मिलन की आकांक्षा, व्याकुलता, उपालम्भ, अनन्यता के भाव का भी चित्रण हुआ है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसादजी की प्रारम्भिक रचना में ही रहस्य और प्रेम, अध्यात्म और दर्शन, जिज्ञासा और विरह-मिलन के भाव विद्यमान हैं। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने ठीक ही कहा है कि—"यदि चित्राधार में जिज्ञासाएँ न होतीं, तो प्रसादजी प्रेमाख्यानक शृंगारी कवियों की श्रेणी से उठकर उच्चतर रहस्य-भावना

का सृजन न कर पाते ।[1]

**कानन कुसुम**—उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में फुटकर कविताओं का दूसरा संग्रह है—'कानन कुसुम' जिसमें १६०६ से १६ तक की रचनाएँ संकलित हैं। यह खड़ी बोली की कविताओं का उनका प्रथम संग्रह है। तब से अब तक इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। षष्ठ संस्करण में ४६ कविताएँ हैं जिनमें कुछ पौराणिक (यथा भारत, श्रीकृष्ण जयन्ती) तथा कुछ ऐतिहासिक (यथा वीर बालक, शिल्प-सौन्दर्य) हैं। इन कविताओं की कथा प्राचीन होने पर भी उनका निरूपण और दृष्टिकोण आधुनिक है तथा ये कविताएँ द्विवेदी-युगीन काव्य की भाँति इतिवृत्तामत्मक नहीं हैं। प्रकृति के चित्रण में भी नूतनता है। अनेक रचनाओं मे प्रसादजी की रहस्य-भावना के दर्शन होते हैं। कुछ कविताओं का विषय प्रेम, विनय और भक्ति है। उन्होंने अपने उपास्य को दीन-बन्धु, करुणा-समुद्र, सच्चिदानन्द आदि नामों से सम्बोधित किया है। उनका उपास्य रसपूर्ण, रूपवान् एवं सगुण अवश्य है, पर वह भक्तिकालीन भक्त-कवियों के उपास्य राम और कृष्ण की भाँति साकार नहीं है। उनके उपास्य सगुण होते हुए भी निराकार हैं।

वेदों में परमात्मा का ऋषियों ने अनेक नामों से स्तवन किया है। इन्द्र और वरुण की स्तुतियों में भक्ति और रहस्य, प्रार्थना और आत्म-निवेदन के तत्व एक साथ देखे जा सकते हैं। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में ऋषि वसिष्ठ द्वारा वरुण को संबोधित किए गए सूक्तों में स्तुतियों के विभिन्न रूप (भक्ति, रहस्य, आत्मनिवेदन, व्याकुलता, शरणागति) मिलते हैं। कहीं उससे मिलने की, दर्शनों की आकांक्षा प्रकट की गई है, कहीं तादात्म्य की (ऋग्वेद ७,८८,३), कहीं हिंसा-शून्य पूर्व-मित्रता का स्मरण कराया गया है (वही ७,८८,५), कहीं उसकी दयालुता का गुणगान किया गया है (७,८७,७), कहीं उससे पाप और किए गए अपराधों की क्षमा माँगी गई है (७,८६, ५)। ७,८६वें सूक्त में तो ऋषि की विह्वलता मर्मस्पर्शी है। वह कहता है—राजा वरुण, तुम्हारे मिट्टी के मकान को मैं न पाऊँ (सोने का घर अर्थात् अमरत्व की स्थिति पाऊँ), शोभन, धन, वरुण मुझे सुखी करो, दया करो।[2]

वैदिक ऋषियों की प्रणति और आत्मनिवेदन-सम्बन्धी ये स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ कालान्तर में भागवत-सम्प्रदाय में जाकर भक्ति-रूप में प्रतिष्ठित हो गईं। अवतारवाद की प्रतिष्ठा हुई और साथ ही इष्ट के प्रति माधुर्यभाव का संयोग भी हो गया। फलतः नवधा-भक्ति की परम्परा चल पड़ी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और वृन्दावन-विहारी कृष्ण की भगवान्-रूप में प्रतिष्ठा हुई और फिर इनको माध्यम बनाकर जो अनेक भावभीनी सुमनांजलियाँ अर्पित की गईं उनसे कविता-कानन में एक अभूतपूर्व मादकता छा गई। तुलसी और सूर, चैतन्य और मीरा की इसी श्रेणी

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : प्रसाद, पृ० ६६।

२. ऋग्वेद ७,८९,१।

के भक्तों में गणना होती है। यह परम्परा भारतेन्दु-युग तक चलती रही। स्वयं भारतेन्दु 'राधाकृष्ण' के माधुर्य-भाव के उपासक थे। पर द्विवेदी-युग में भक्ति का यह स्वरूप बदला। भक्ति का आलम्बन किसी सगुण-साकार को न बनाकर सगुण निराकार को बनाया गया जो वैदिक उपासना (भक्ति) के अधिक निकट है। छायावादी कवियों में उच्च जीवन और मोक्ष के साधक-रूप विनय और भक्ति का यही स्वरूप देखने को मिलता है।

प्रसादजी आरम्भ में भक्त थे जैसा कि उनकी अनेक भावपूर्ण रचनाओं से प्रमाणित होता है, पर बाद में उनका भक्त दार्शनिक बन गया। इसके विपरीत निराला का दार्शनिक अन्त में भक्ति में पर्यवसित हुआ।

प्रसादजी पूजन भी किया करते थे। इस पूजन के उद्देश्य के विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है—"निराशा में, अशान्ति में, सुख में उस अपूर्व सुन्दर चन्द्र की भक्ति-रूपी किरणें तुम्हें शान्ति प्रदान करेंगी। और यदि तुम्हें कोई कष्ट हो, तो अशरण, शरद् चरण में लौटकर रोओ, वे अश्रु तुम्हें सुधा के समान सुखद होंगे और तुम्हारे सब संताप हर लेंगे।"[1] प्रसादजी की भक्ति-भावना पर, प्रेम और शृंगार पर भारतेन्दु जी का प्रभाव भी स्पष्ट पड़ा है। अब उन स्थलों की परीक्षा करेंगे जहाँ वैदिक विचारधारा के अनुकूल भावाभिव्यक्ति हुई है। यहाँ एक बात और ध्यातव्य है कि प्रसादजी की भक्ति-भावना में उतनी तल्लीनता नहीं आ पाई है जैसी भक्त-कवियों और मीरा आदि में देखी जाती है। उनकी रचनाओं में प्रेम, अध्यात्म और दर्शन की ही प्रमुखता है। प्रकृति-परक रचनाओं में रहस्य के अंकुर विद्यमान हैं। कवि प्रसाद की प्रारम्भिक रचनाओं में सर्वात्मवाद का स्वर सबसे अधिक प्रमुख है। वे सृष्टि की समस्त वस्तुओं में उसी की झाँकी प्राप्त करते हैं। उस ईश्वर की सर्व-व्यापकता का वर्णन करते कवि नहीं थकता।

### सर्वात्मवाद :

आस्थावान् कवि 'प्रभो!' शीर्षक रचना में परमेश्वर को सम्बोधित करके कहता है कि—"विमल इन्दु की किरणें तेरे ही प्रकाश का पता देती हैं, सागर के विस्तार में तेरी दया के प्रसार के दर्शन होते हैं, तरंग-मालाएँ तेरी ही प्रशंसा का गान गा रही हैं, चाँदनी में तेरी मुस्कराहट देखी जा सकती है, तेरे हँसने की धुन में नदियाँ कलकल करती बही जा रही हैं। तुम प्रकृति-रूपी कमलिनी को प्रकाशित एवं प्रफुल्लित करने वाले सूर्य हो।" (पृ० १०२) यहाँ प्रकृति के पीछे कवि एक विराट् पुरुष की अनुभूति करने लगा है। 'कानन कुसुम' की दूसरी कविता में भी भगवान् को उस 'महासंगीत' के रूप में सम्बोधित किया गया है जिसकी ध्वनि विश्व-वीणा गाती है। 'नमस्कार' शीर्षक रचना में कवि ईश्वर को 'विश्वगृहस्थ' के रूप में देखता

---

१. चित्रधार : भक्तिलेख, पृ० १३७।

है, चन्द्र, सूर्य और तारे इस विश्व-गृहस्थ के मंदिर के दीपक हैं। वेद और उपनिषदों की भावना के अनुरूप ही परमेश्वर की सर्वव्यापकता और उस एक ही तत्व के अनेक रूपों में विद्यमान[1] होने का भाव 'मंदिर' शीर्षक कविता में व्यक्त हुआ है। कवि कहता है कि जब वह प्रभु जल, भूमि, अनिल, अनल, आकाश, चन्द्रमा सब में व्याप्त है तो फिर वह मंदिर में भी अवश्य होना चाहिए (पृ० ५-६)। वही अनेक रूपी होकर पूजित हो रहा है—

> **'यों ही अनेक रूपी बनकर कभी पुजाया।**
> **लीला उसी की जग में सब में वही समाया॥** (पृ० ५-६)

आकाश उस प्रभु का सुन्दर वितान है और यह विश्व उसका अनन्त मंदिर है। कुसुमित-कानन की कमनीयता में कवि को उसी परमेश्वर का सौन्दर्य प्रतिबिम्बित प्रतीत होता है (पृ० ८३)। ब्रह्म-सम्बन्धी अनुभूति की अनिर्वचनीयता का भाव 'भाव-सागर' शीर्षक कविता में व्यक्त हुआ है (पृ० ८१)। प्रसादजी ने 'मकरन्द-बिन्दु' शीर्षक रचना में ब्रह्म के दोनों रूपों—सर्वातिशायी और सर्वव्यापक—का वर्णन उपनिषदों के आधार पर ही तनिक विस्तृत रूप से किया है। कवि कहता है कि—"वह (परमेश्वर) पुरातन है और विश्व का प्रथम और परम आदर्श है। वह सनातन तत्व है, आनन्द से युक्त और शक्ति-समन्वित है, वह प्रकृति से परे भी है और सज्जनों के मध्य कमल की भाँति खिला रहता है, विश्व उसकी चित् सत्ता से सत्तावान है, वह व्योम में ओत-प्रोत है, उसका हृदय-कमल में अपरोक्ष अनुभव किया जा सकता है, यह विश्व उसी का अन्नमय कोश है, समस्त अणुओं को गति प्रदान करने वाला, विज्ञानवान् और ज्ञानों का आधार है (पृ० ९३-९४)।

प्रसादजी की अद्वैत-भावना का प्रारम्भिक रूप कानन-कुसुम की रचनाओं में बीज-रूप में विद्यमान दृष्टिगोचर होता है। अद्वैत-भावना के अन्तर्गत मनुष्य में स्थित आत्मा और ब्रह्माण्ड में स्थित परमात्मा में कोई तात्विक भेद नहीं होता। यह आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसा उपनिषद् स्पष्ट कहते हैं 'अयमात्मा ब्रह्म।'[2] प्रसादजी कहते हैं—

> **'फिर वह हमारा हम उसी के, वह हमीं, हम वह हुए।**
> **तब तुम न मुझसे भिन्न हो, सब एक ही फिर हो गए॥** (पृ० ३२)

यही भाव 'मर्मकथा' शीर्षक रचना की कतिपय पंक्तियों में व्यक्त हुआ है।

**रहस्य-भावना**—यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, पर अविद्या के कारण द्वैत का आभास होता है। जब जीव को यह ज्ञात हो जाता है कि वह स्वयं परमात्म-तत्व अथवा उसका अंश या बिम्ब

---

१. "एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।"
कठोपनिषद् ५,१०-११।

२. बृह० उ० ४,४,५।

है तब उसके अन्तर में उस परमात्म-तत्व को प्राप्त करने की जिज्ञासा जागृत होती है, कौतूहल और विस्मय का भाव अंकुरित होता है, स्वप्नादि में क्षणिक मिलन के सुख की अनुभूति से आत्मा के प्रफुल्लित हो उठने पर पुनः शाश्वत मिलन की प्रबल आकांक्षा जग पड़ती है, उसके दर्शन के अभाव में वह व्यथा, वेदना, आकुलता, टीस और पीड़ा का अनुभव करता है। सभी रहस्यवादी संतों और कवियों ने विरह-मिलन की विभिन्न स्थितियों के चित्र प्रस्तुत किए हैं।

प्रसादजी के इधर के काव्य में भी रहस्य के अंकुर, विरह-मिलन की झाँकी उसके स्मरण से व्यथित हो जाने के अनेक चित्र बिखरे मिलते हैं।

'प्रथम-प्रभात' शीर्षक रचना में कवि ने उस दिव्यानुभूति का वर्णन प्रस्तुत किया है जिसके स्पर्श से उसका शून्य हृदय रागरंजित हो गया, उसे प्रतीत हुआ कि जैसे उसने प्रेम के निर्मल तीर्थ में अभी-अभी स्नान किया है और उस स्नान के परिणामस्वरूप उसका अन्तर्मन एक पावन उत्साह से भर उठा है (पृ० १६), उसके मधुर, कोमल स्पर्श से अन्तर और बाह्य की सारी ऋतु भी परिवर्तित हो गई।

**'दृश्य सुन्दर हो गए, मन में अपूर्व विकास था।'**
**आन्तरिक और बाह्य सब में नव वसंत विलास था॥'** (पृ० १९)

'विरह' रचना में कवि कहता है कि उसकी आत्मा जब परमात्मा से संयुक्त थी तब वह पूर्ण थी, पर जब से वह अपने मूल स्रोत परमात्मा से विलग हुई तब से विरह-ही-विरह की अनुभूति हो रही है (पृ० ६९)। महादेवी जी ने भी 'जीवन को विरह का जलजात' कहकर यही भाव व्यक्त किया है। 'तुम्हारा स्मरण' में कवि ने प्रभु के स्मरण से उत्पन्न विचित्र प्रभाव की अनुभूति का मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। वह उनके स्मरण-जनित सुख में इतना मग्न हो जाता है कि दुःखमय संसार की पीड़ा विलीन हो जाती है। उसकी स्मृति के नैरन्तर्य में अन्ततोगत्वा विश्व-बोध की उपलब्धि भी हो जाती है जिसके फलस्वरूप फिर कभी मनुष्य को रुदन नहीं करना पड़ता (पृ० ६०)। उपनिषदें कहती हैं कि यदि जीवात्मा ने हृदयेश को जान लिया तो वह शोक और पाप के समुदाय से तर जाता है, हृदय की गाँठ खुल जाती है—'तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।'[1] यही भाव प्रसादजी की 'करुणा-कुंज' कविता में व्यक्त हुआ है।

प्रभु से मिलन की आतुरता का भाव 'मिल जाओ गले' शीर्षक रचना में मिलता है। इसी प्रकार 'याचना' और 'प्रियतम' रचनाओं में आत्मनिवेदन तथा उनके दृगों में पुतली बनकर चमकते रहने की अभिलाषा प्रकट की गई है। 'मोहन' 'गंगासागर' और 'पतित पावन' शीर्षक कविताओं में रहस्य-भावना और शरणागति के भाव अभिव्यक्त हुए हैं। 'महा-क्रीडा' रचना में कवि ने प्रभु को अपने चितचकोर के रूप में देखा है। कवि का चितचोर कवि की दृष्टि से बच कर जा कहाँ सकता

---

१. मुण्डकोपनिषद् ३,२,९।

है, वह चाहे जहाँ रहे कवि की आत्मा उसे ढूंढ ही लेगी (पृ० १०)।

प्रसादजी ने ऊपा-पट से युक्त प्रकृति को पुरुप की सहचरी कहा है। इन दोनों के खेल से सृष्टि का प्रपंच फैलता है—

**'नित्य नूतन रूप को उसका बना कर देखते।**
**वह तुम्हें है देखती, तुम युगल मिल कर खेलते॥'** (पृ०११)

यह वर्णन उपनिषदों की भावना के अनुरूप है। प्रकृति पुरुष के आधिपत्य में रहकर सृष्टि का कार्य करती है।[1]

एकाध स्थल पर अपवाद-रूप में शांकर मायावाद की झलकी भी देखने को मिलती है, यथा निम्न पंक्तियों में—

**'चले जा रहे वेग भरे किस ओर को,**
**मृग-मरीचिका तुम्हें दिखाती छोर को।**
**किन्तु नहीं है पथिक ! वह जल है नहीं,**
**बालू के मैदान सिवा कुछ है नहीं॥'** (पृ० १३)

प्रसादजी सृष्टि को सत्य ही मानते हैं, क्योंकि वह (परमेश्वर) स्वयं इसमें व्याप्त है। सृष्टि के कण-कण में सौन्दर्य का दर्शन करने वाला कवि प्रकृति को मिथ्या मानकर उड़ा ही नहीं सकता। अतः यह उदाहरण अपवाद-रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है।

**प्रेम पथिक**—'प्रेम-पथिक' का खड़ी बोली का प्रथम संस्करण सं० १९७० में प्रकाशित हुआ था। प्रसादजी ने इसे सन् १९६२ में व्रजभाषा में लिखा था, यह उसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित, तुकान्त-विहीन हिन्दी रूपान्तर है।[2]

प्रेम-पथिक पुतली और एक युवक हृदय के प्रणय की कथा है जिसमें तरुणी प्रेयसी पुतली का किसी अन्य से ग्रन्थि-बन्धन हो जाता है। निराश युवक भग्न-हृदय होकर जीवन के क्षणों को, इधर-उधर भटक कर, आँसू बहा कर व्यतीत करता है। एक दिन उसे तापसी का वेश धारण किए पुतली के दर्शन होते हैं। पता चलता है कि उसके पति की मृत्यु हो गई और ससुराल में जब उसके साथ अभद्र व्यवहार होने लगा तो वह अपने शील की रक्षा करती हुई एक वृद्ध की सहायता से कुटिया में तापसी का जीवन व्यतीत करने लगी। रहस्य खुलने पर दोनों बड़े स्नेह से मिले, क्योंकि वे दोनों बिछुड़े हुए प्रेमी-प्रेमिका ही थे। पथिक ने विश्व-प्रेम की व्याख्या करते हुए उसे सान्त्वना दी।

प्रेम-पथिक यद्यपि स्वच्छन्द वृत्ति से लिखा गया एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है जिसकी कथा प्रेम-भाव पर आधारित है। पर यह प्रेम-भाव पर्याप्त स्वस्थ, प्रांजल एवं व्यापक है। श्री रामनाथ 'सुमन' ने ठीक ही लिखा है कि 'हिन्दी में सात्विक प्रेम

---

१. दे० श्वे० ४,१०।
२. प्रसाद का निवेदन : प्रेम पथिक।

का चित्रण करने वाला ऐसा दूसरा काव्य नहीं लिखा गया।'[1] कवि के जीवन की सम्पूर्ण सात्त्विकता मानो सिमट कर यहीं एकत्र हो गई है, इतने निखरे, धुले, पवित्र रूप में हम कवि प्रसाद का कहीं दर्शन नहीं पाते। वाजपेयीजी का यह कथन भी सत्य है कि 'प्रेम-पथिक का यह छोटा-सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन-क्षण में लिखा गया है।'[2]

किशोर अपनी प्रेयसी पुतली को आन्तरिक स्वर्ग में रमण करने की बात कहता है, निष्कामभाव से पुलकित होकर आत्म-समर्पण करने के लिए प्रेरित करता है और विश्व-प्रेम में अपने को मिला देने के लिए उत्साहित करता है, क्योंकि उसे प्रतीत होता है कि 'यह विश्व स्वयं ही ईश्वर है' (पृ० ३०)। दार्शनिक-दृष्टि से यह सर्वात्मवादी दृष्टिकोण है। इस विश्व में जितनी सुन्दरता विद्यमान है वह उसी सुन्दरतम की है (पृ० ३०)। सौन्दर्य-सुधा-सागर प्रभु की प्राप्ति ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए किशोर पुतली से आत्म-त्याग की बात कहता है। निष्काम-भाव से त्यागपूर्वक भोग की बात यजुर्वेद ४०,१ में भी आई है। मंत्र में कहा है—'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' त्यागपूर्वक भोग करो। त्याग भाव से कर्म किये जाने पर मनुष्य को कर्मफल नहीं लगते।[3] यही भाव प्रसादजी की निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

**'न्योछावर कर दो उस पर तन मन जीवन, सर्वस्व, नहीं।**
**एक कामना रहे हृदय में, सब उत्सर्ग करो उस पर॥'**

कामना स्पष्टत: बन्धन का हेतु है और निष्काम भावमोक्ष का साधक, अत: वही अपेक्षित है। आगे किशोर पुतली से कहता है 'कि हम और तुम दोनों ही उस सौन्दर्य सुधासागर के कण हैं जो आनन्द का अम्बुनिधि है, अत: प्रमुदित मन से उसी से मिलने के लिए चल पड़ो, वहाँ पर वियोग का क्षण भी फटकने नहीं पावेगा। वह एक ऐसा सिन्धु है जहाँ मिलन का अक्षय सम्मिलन हो सकेगा।' (पृ० ३१-३२) और सचमुच वे दोनों प्रेम-पथिक सौन्दर्य-प्रेमनिधि से मिलने के लिए चल पड़ते हैं, जहाँ अखण्ड शांति रहती है।

निष्काम प्रेम-साधना द्वारा यहाँ उस स्थिति के सम्पादन की ओर संकेत किया गया है जिसे उपनिषदों में 'मुक्तावस्था' कहते हैं जिसको प्राप्त करके फिर लौटना नहीं होता।

कवि की दृष्टि में प्रेम और प्रभु में कोई अन्तर नहीं है। प्रेम एक यज्ञ है जिसमें वासना और स्वार्थ की हवि देनी होती है। वह एक पवित्र पदार्थ है जिसमें कपट की छाया भी नहीं रहती। प्रेम जगत् की चालक शक्ति है। वह असीम और अपरिमित होता है। कवि इस पथ के द्वारा उस सीमा तक पहुँचने का उपक्रम

---

१. कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० ४०।
२. १७ जुलाई १९३२ के 'भारत' पत्र से उद्धृत।
यु० वे०, ४०,२; दे० गीता २,४७, ५०, ५१; ५,१०।

है, वह चाहे जहाँ रहे कवि की आत्मा उसे ढूंढ ही लेगी (पृ० १०)।

प्रसादजी ने ऊषा-पट से युक्त प्रकृति को पुरुष की सहचरी कहा है। इन दोनों के खेल से सृष्टि का प्रपंच फैलता है—

**'नित्य नूतन रूप को उसका बना कर देखते।**
**वह तुम्हें है देखती, तुम युगल मिल कर खेलते॥'** (पृ०११)

यह वर्णन उपनिषदों की भावना के अनुरूप है। प्रकृति पुरुष के आधिपत्य में रहकर सृष्टि का कार्य करती है।[1]

एकाध स्थल पर अपवाद-रूप में शांकर मायावाद की झलकी भी देखने को मिलती है, यथा निम्न पंक्तियों में—

**'चले जा रहे वेग भरे किस ओर को,**
**मृग-मरीचिका तुम्हें दिखाती छोर को।**
**किन्तु नहीं है पथिक ! वह जल है नहीं,**
**बालू के मैदान सिवा कुछ है नहीं॥'** (पृ० १३)

प्रसादजी सृष्टि को सत्य ही मानते हैं, क्योंकि वह (परमेश्वर) स्वयं इसमें व्याप्त है। सृष्टि के कण-कण में सौन्दर्य का दर्शन करने वाला कवि प्रकृति को मिथ्या मानकर उड़ा ही नहीं सकता। अतः यह उदाहरण अपवाद-रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है।

**प्रेम पथिक**—'प्रेम-पथिक' का खड़ी बोली का प्रथम संस्करण सं० १९७० में प्रकाशित हुआ था। प्रसादजी ने इसे सन् १९६२ में व्रजभाषा में लिखा था, यह उसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित, तुकान्त-विहीन हिन्दी रूपान्तर है।[2]

प्रेम-पथिक पुतली और एक युवक हृदय के प्रणय की कथा है जिसमें तरुणी प्रेयसी पुतली का किसी अन्य से ग्रन्थि-बन्धन हो जाता है। निराश युवक भग्न-हृदय होकर जीवन के क्षणों को, इधर-उधर भटक कर, आँसू बहा कर व्यतीत करता है। एक दिन उसे तापसी का वेश धारण किए पुतली के दर्शन होते हैं। पता चलता है कि उसके पति की मृत्यु हो गई और ससुराल में जब उसके साथ अभद्र व्यवहार होने लगा तो वह अपने शील की रक्षा करती हुई एक वृद्ध की सहायता से कुटिया में तापसी का जीवन व्यतीत करने लगी। रहस्य खुलने पर दोनों बड़े स्नेह से मिले, क्योंकि वे दोनों बिछुड़े हुए प्रेमी-प्रेमिका ही थे। पथिक ने विश्व-प्रेम की व्याख्या करते हुए उसे सान्त्वना दी।

प्रेम-पथिक यद्यपि स्वच्छन्द वृत्ति से लिखा गया एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है जिसकी कथा प्रेम-भाव पर आधारित है। पर यह प्रेम-भाव पर्याप्त स्वस्थ, प्रांजल एवं व्यापक है। श्री रामनाथ 'सुमन' ने ठीक ही लिखा है कि 'हिन्दी में सात्त्विक प्रेम

---

१. दे० श्वे० ४,१०।
२. प्रसाद का निवेदन : प्रेम पथिक।

का चित्रण करने वाला ऐसा दूसरा काव्य नहीं लिखा गया।"[1] कवि के जीवन की सम्पूर्ण सात्त्विकता मानो सिमट कर यहीं एकत्र हो गई है, इतने निखरे, धुले, पवित्र रूप में हम कवि प्रसाद का कहीं दर्शन नहीं पाते। वाजपेयीजी का यह कथन भी सत्य है कि 'प्रेम-पथिक का यह छोटा-सा कथानक कवि के स्वच्छ जीवन-क्षण में लिखा गया है।'[2]

किशोर अपनी प्रेयसी पुतली को आन्तरिक स्वर्ग में रमण करने की बात कहता है, निष्कामभाव से पुलकित होकर आत्म-समर्पण करने के लिए प्रेरित करता है और विश्व-प्रेम में अपने को मिला देने के लिए उत्साहित करता है, क्योंकि उसे प्रतीत होता है कि 'यह विश्व स्वयं ही ईश्वर है' (पृ० ३०)। दार्शनिक-दृष्टि से यह सर्वात्मवादी दृष्टिकोण है। इस विश्व में जितनी सुन्दरता विद्यमान है वह उसी सुन्दरतम की है (पृ० ३०)। सौन्दर्य-सुधा-सागर प्रभु की प्राप्ति ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। उस प्रभु की प्राप्ति के लिए किशोर पुतली से आत्म-त्याग की बात कहता है। निष्काम-भाव से त्यागपूर्वक भोग की बात यजुर्वेद ४०,१ में भी आई है। मंत्र में कहा है—'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' त्यागपूर्वक भोग करो। त्याग भाव से कर्म किये जाने पर मनुष्य को कर्मफल नहीं लगते।[3] यही भाव प्रसादजी की निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

**'न्योछावर कर दो उस पर तन मन जीवन, सर्वस्व, नहीं।**
**एक कामना रहे हृदय में, सब उत्सर्ग करो उस पर॥'**

कामना स्पष्टतः बन्धन का हेतु है और निष्काम भावमोक्ष का साधक, अतः वही अपेक्षित है। आगे किशोर पुतली से कहता है 'कि हम और तुम दोनों ही उस सौन्दर्य सुधासागर के कण हैं जो आनन्द का अम्बुनिधि है, अतः प्रमुदित मन से उसी से मिलने के लिए चल पड़ो, वहाँ पर वियोग का क्षण भी फटकने नहीं पावेगा। वह एक ऐसा सिन्धु है जहाँ मिलन का अक्षय सम्मिलन हो सकेगा।' (पृ० ३१-३२) और सचमुच वे दोनों प्रेम-पथिक सौन्दर्य-प्रेमनिधि से मिलने के लिए चल पड़ते हैं, जहाँ अखण्ड शांति रहती है।

निष्काम प्रेम-साधना द्वारा यहाँ उस स्थिति के सम्पादन की ओर संकेत किया गया है जिसे उपनिषदों में 'मुक्तावस्था' कहते हैं जिसको प्राप्त करके फिर लौटना नहीं होता।

कवि की दृष्टि में प्रेम और प्रभु में कोई अन्तर नहीं है। प्रेम एक यज्ञ है जिसमें वासना और स्वार्थ की हवि देनी होती है। वह एक पवित्र पदार्थ है जिसमें कपट की छाया भी नहीं रहती। प्रेम जगत् की चालक शक्ति है। वह असीम और अपरिमित होता है। कवि इस पथ के द्वारा उस सीमा तक पहुँचने का उपक्रम

---

१. कवि प्रसाद की काव्य साधना, पृ० ४०।
२. १७ जुलाई १६३२ के 'भारत' पत्र से उद्धृत।
३. यु० वे०, ४०,२; दे० गीता २,४७, ५०, ५१; ५,१०।

करता है जिसके आगे कोई और राह शेष नहीं रह पाती—

**'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना।**
**किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं॥'** (पृ० २२)

प्रसादजी ने कामायनी में जिस आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है उसका प्रारम्भिक रूप प्रेम-पथिक की इन पंक्तियों में देखने को मिलता है। श्रद्धा का सात्त्विक प्रेम मनु को उस सीमा के पार ले जाता है जिसके आगे राह ही नहीं।

स्पष्ट है कि प्रेम-पथिक प्रसादजी की प्रौढ रचना है। साथ ही विचार, भाव अभिव्यंजना और कल्पना आदि की दृष्टि से छायावाद की सभी विशेषताएँ सर्वप्रथम इसी में समाहित दृष्टिगत होती हैं। भोलानाथ तिवारी का यह कथन सत्य है कि "प्रेम, यौवन, सौन्दर्य और आनन्द के इस अमर गायक ने इसकी रचना करने तक लगता है कि उपनिषदों, शैव-ग्रन्थों···का अध्ययन ही नहीं कर लिया था अपितु मनन और चिन्तन द्वारा उन्हें पचाकर अपना भी बना लिया था।"[1]

## मध्य युग की रचनाएँ :

**झरना**—'झरना' की गणना प्रसादजी की प्रौढतर रचनाओं में होती है। इस के प्रकाशक का वक्तव्य है कि 'जिस शैली की कविता को हिन्दी साहित्य में आज दिन 'छायावाद' का नाम मिल रहा है उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था। इस दृष्टि से यह संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।'

इसके वर्तमान संग्रह में सन् १९१४ से १९२७ तक की सभी प्रकार की प्रौढ और अप्रौढ रचनाएँ हैं जिनकी संख्या ४७ है। इसकी दो कविताएँ—*प्रथम प्रभात* और प्रियतम 'कानन कुसुम' में भी संग्रहीत हैं, इस प्रकार कुल ४५ कविताएँ हैं। प्रकृति-परक ४-५ रचनाओं को छोड़कर सभी का विषय प्रेम और रहस्य-भावना से सम्बन्धित है। कानन-कुसुम और प्रेम-पथिक की विवेचना के सम्बन्ध में यह दिखा आए हैं कि प्रसादजी का इस समय तक वेद, उपनिषद् और शैव-ग्रन्थों से परिचय ही नहीं हो चुका था अपितु उनकी चिन्ता-धारा को पचाकर अपना भी लिया था। उस दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव उनकी इस रचना में प्रौढ रूप में देखा जा सकता है।

**ब्रह्म का स्वरूप-वर्णन**—'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' में औपनिषदिक विचारधारा के अनुरूप ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा कर आए हैं। इस प्रसंग में वहाँ स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म का निर्गुण-निराकार स्वरूप काव्य का आलम्बन कठिनाई से बन पाता है अतः उसे भावना और काव्य का आलम्बन बनने के लिए सगुण-निराकार बन कर आना होता है। उपनिषदों में 'सदैव सौम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्'[2] कहकर उस ब्रह्म को समस्त सत्ता का सत्य और अद्वितीय कहा है। प्रसाद

---

१. प्रसाद, पृ० ५६।
२. छा० उ० ६,२,१।

जी भी यही कहते हैं—

**'समस्त निधियों का वह आधार**
**प्रमाता अखिल विश्व का सत्य**
**लिए सब उसके बैठा पास**
**उसे आवश्यकता ही नहीं।'** (पृ०७३)

'तुम' शीर्षक कविता में कवि ने निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की चर्चा की है। वैदिक-विचार के अनुसार वे उसे ज्योति-स्वरूप, पूर्णकाम, विधि और निषेध की व्यवस्था से परे 'नेति-नेति' निर्भय, निरामय और अखण्ड कहते हैं। कारण और कार्य सब कुछ वही है (पृ० ६१)। उपनिषदों में कहा है कि यह आत्म-रूप ब्रह्म प्रवचन, बुद्धि (तर्क) अथवा बहुत सुनने से उपलब्ध नहीं होता—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'[1] स्पष्ट ही यहाँ ब्रह्म की प्राप्ति में तर्क बुद्धि का निषेध किया गया है। प्रसादजी भी उसे बुद्धि-विवेकादि के द्वारा अलभ्य बताते हैं—

**'बुद्धि के, विवेक के, या ज्ञान अनुमान के भी**
**आये जो पंतग तुम्हें देखने, जले गये।**
**बलिहारी माधुरी अनन्त कमनीयता की,**
**रूप वाले लोटने को पैरों के तले गये॥'** (पृ० ६१)

यह सृष्टि की नाना नाम-रूप वाली साज-सज्जा उसी की है, यह प्रकृति का अपार सौन्दर्य उसी का अपना रूप है। यह इतना मोहक और आकर्षक है कि यदि एक बार उसका प्राणधन इस अपने रूप को देख ले तो उस पर आसक्त हुए बिना नहीं रह सकता (पृ० १५) स्पष्टतः सृष्टि के प्रति यह सर्ववादी दृष्टिकोण उपनिषदों के 'सव खल्विदं ब्रह्म'[2] की भावना से अनुप्राणित होकर व्यक्त हुआ है।

**रहस्य-भावना**—झरना में जिज्ञासा और रहस्य के अंकुर फूटकर फैलने लगे हैं। जिस प्रकार अथर्ववेद का ऋषि कौतूहलवश प्रश्न करता है कि 'यह सूर्य किसकी अभिलाषा से दीप्तिमान् है ? यह पवन कहाँ पहुँचने की इच्छा से निरन्तर बहता है ? ये सब जहाँ पहुँचने के लिए चले जा रहे हैं, उस आश्रय को बताओ, वह कौन सा पदार्थ है ?—

**'क्व ? प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व ? प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा**
**यत्र प्रेपसन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।'**[3]

इसी प्रकार प्रसादजी पूछते हैं कि विकच सुमनों के समूह में कौन मुस्करा रहा है ? उषा में किसकी मधुरिमा है ?

---

१. मु० उ० ३,२,३।
२. छा० उ० ३,१४,१।
३. अ० वे० १०,७,४।

करता है जिसके आगे कोई और राह शेष नहीं रह पाती—

**'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांत भवन में टिक रहना।**
**किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं ॥'** (पृ० २

प्रसादजी ने कामायनी में जिस आनन्दवाद की प्रतिष्ठा की है उसका प्रारम्भिक र प्रेम-पथिक की इन पंक्तियों में देखने को मिलता है। श्रद्धा का सात्त्विक प्रेम मनु व उस सीमा के पार ले जाता है जिसके आगे राह ही नहीं।

स्पष्ट है कि प्रेम-पथिक प्रसादजी की प्रौढ रचना है। साथ ही विचार, भा अभिव्यंजना और कल्पना आदि की दृष्टि से छायावाद की सभी विशेषताएँ सर्वप्रथ इसी में समाहित दृष्टिगत होती हैं। भोलानाथ तिवारी का यह कथन सत्य है वि "प्रेम, यौवन, सौन्दर्य और आनन्द के इस अमर गायक ने इसकी रचना करने तव लगता है कि उपनिषदों, शैव-ग्रन्थों…का अध्ययन ही नहीं कर लिया था अपितु मनन और चिन्तन द्वारा उन्हें पचाकर अपना भी बना लिया था।"[1]

## मध्य युग की रचनाएँ :

**झरना**—'झरना' की गणना प्रसादजी की प्रौढतर रचनाओं में होती है। इस के प्रकाशक का वक्तव्य है कि 'जिस शैली की कविता को हिन्दी साहित्य में आज दिन 'छायावाद' का नाम मिल रहा है उसका प्रारम्भ प्रस्तुत संग्रह द्वारा ही हुआ था। इस दृष्टि से यह संग्रह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।'

इसके वर्तमान संग्रह में सन् १९१४ से १९२७ तक की सभी प्रकार की प्रौढ और अप्रौढ रचनाएँ हैं जिनकी संख्या ४७ है। इसकी दो कविताएँ—प्रथम प्रभात और प्रियतम 'कानन कुसुम' में भी संग्रहीत हैं, इस प्रकार कुल ४५ कविताएँ हैं। प्रकृति-परक ४-५ रचनाओं को छोड़कर सभी का विषय प्रेम और रहस्य-भावना से सम्बन्धित है। कानन-कुसुम और प्रेम-पथिक की विवेचना के सम्बन्ध में यह दिखा आए हैं कि प्रसादजी का इस समय तक वेद, उपनिषद् और शैव-ग्रन्थों से परिचय ही नहीं हो चुका था अपितु उनकी चिन्ता-धारा को पचाकर अपना भी लिया था। उस दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव उनकी इस रचना में प्रौढ रूप में देखा जा सकता है।

**ब्रह्म का स्वरूप-वर्णन**—'चित्राधार' और 'कानन कुसुम' में औपनिषदिक विचारधारा के अनुरूप ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा कर आए हैं। इस प्रसंग में वहाँ स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म का निर्गुण-निराकार स्वरूप काव्य का आलम्बन कठिनाई से बन पाता है अतः उसे भावना और काव्य का आलम्बन बनने के लिए सगुण-निराकार बन कर आना होता है। उपनिषदों में 'सदैव सौम्येदमग्रासीदेकमेवा-द्वितीयम्'[2] कहकर उस ब्रह्म को समस्त सत्ता का सत्य और अद्वितीय कहा है। प्रसाद

---

१. प्रसाद, पृ० ५६।
२. छा० उ० ६,२,१।

जी भी यही कहते हैं—

**'समस्त निधियों का वह आधार**
**प्रमाता अखिल विश्व का सत्य**
**लिए सब उसके बैठा पास**
**उसे आवश्यकता ही नहीं।'** (पृ०७३)

'तुम' शीर्षक कविता में कवि ने निर्गुण और सगुण दोनों रूपों की चर्चा की है। वैदिक-विचार के अनुसार वे उसे ज्योति-स्वरूप, पूर्णकाम, विधि और निषेध की व्यवस्था से परे 'नेति-नेति' निर्भय, निरामय और अखण्ड कहते हैं। कारण और कार्य सब कुछ वही है (पृ० ६१)। उपनिषदों में कहा है कि यह आत्म-रूप ब्रह्म प्रवचन, बुद्धि (तर्क) अथवा बहुत सुनने से उपलब्ध नहीं होता—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'[1] स्पष्ट ही यहाँ ब्रह्म की प्राप्ति में तर्क बुद्धि का निषेध किया गया है। प्रसादजी भी उसे बुद्धि-विवेकादि के द्वारा अलभ्य बताते हैं—

**'बुद्धि के, विवेक के, या ज्ञान अनुमान के भी**
**आये जो पंतग तुम्हें देखने, जले गये।**
**बलिहारी माधुरी अनन्त कमनीयता की,**
**रूप वाले लोटने को पैरों के तले गये॥'** (पृ० ६१)

यह सृष्टि की नाना नाम-रूप वाली साज-सज्जा उसी की है, यह प्रकृति का अपार सौन्दर्य उसी का अपना रूप है। यह इतना मोहक और आकर्षक है कि यदि एक बार उसका प्राणधन इस अपने रूप को देख ले तो उस पर आसक्त हुए बिना नहीं रह सकता (पृ० १५) स्पष्टतः सृष्टि के प्रति यह सर्ववादी दृष्टिकोण उपनिषदों के 'सब खल्विदं ब्रह्म'[2] की भावना से अनुप्राणित होकर व्यक्त हुआ है।

**रहस्य-भावना**—झरना में जिज्ञासा और रहस्य के अंकुर फूटकर फैलने लगे हैं। जिस प्रकार अथर्ववेद का ऋषि कौतूहलवश प्रश्न करता है कि 'यह सूर्य किसकी अभिलाषा से दीप्तिमान् है ? यह पवन कहाँ पहुँचने की इच्छा से निरन्तर बहता है ? ये सब जहाँ पहुँचने के लिए चले जा रहे हैं, उस आश्रय को बताओ, वह कौन सा पदार्थ है ?—

**'क्व ? प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व ? प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा**
**यत्र प्रेपसन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।'**[3]

इसी प्रकार प्रसादजी पूछते हैं कि विकच सुमनों के समूह में कौन मुस्करा रहा है ? उषा में किसकी मधुरिमा है ?

---

१. मु० उ० ३,२,३।
२. छा० उ० ३,१४,१।
३. अ० वे० १०,७,४।

'सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरन्द-सा अनूप है ?,
मृदु मलयानिल-सा माधुरी उषा में कौन,
स्पर्श करता है, हिम काल में ज्यों धूप है।' (पृ० ६२)

इसी प्रकार कवि किरणों को देखकर अनेक जिज्ञासाएँ करता है और पूछता है कि वह स्वर्णिम किरण किसके अनुराग में डूबी हुई है ? किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती के समान वह कौन है ? इसी प्रकार उसकी स्वर्ग से भूलोक को मिलाने वाली सूत्र-जैसी कल्पना करता है जो इस भूलोक को विरज और विशोक बना देने का गुण समाहित किए हुए है (पृ०२६,२७)। 'किरण' को सम्बोधित करके यह जो कहा गया—'बना दोगी क्या विरज विशोक।' यह स्पष्ट ही रहस्यात्मक है। यह सूर्य की स्वर्णिम किरण तो है ही, साथ ही यह अन्तश्चेतना की ज्योतिर्मयी किरण भी है जिसे उपनिषदों में प्रज्ञा (Intution)[1] कहा गया है। इस प्रज्ञा की, अन्तश्चेतना की किरण के उदित होने पर मनुष्य का हृदय-देश विरज अर्थात् रजरहित, स्वच्छ, पवित्र और शोक-रहित हो जाता है, अन्तर में सोया हुआ आनन्द का वसन्त फैलने लगता है, हृदय-प्रदेश की ऋतु बदल जाती है, नव पराग, नव आलोक झरने लगता है (पृ० २७)।

'झरना' की 'खोलो द्वार' नामक रचना भी रहस्यात्मक संकेत लिए हुए है। रजनी-रूपी रमणी अपने सूर्य-रूपी प्रियतम के दर्शनों के लिए रात्रि-भर रेतीला, पथरीला और कंटकाकीर्ण मार्ग तय करने चली आ रही है। वह अपने प्रियतम सूर्य को सम्बोधित करके कहती है—'यदि मार्ग में चलने से मेरे पैरों में धूल लग गई है, तो उन धूल-धूसरित चरणों को देखकर घृणा मत दिखलाना। मैंने बड़ी कठिनाई से तो तुम्हें पाया है। अब तुम प्राप्य को प्राप्त करके मैं कैसे छोड़ दूं।' अतः हे प्रियतम ! इस अपने प्रकाश के द्वार को खोल दीजिये, आपके दर्शन करके मेरा अपार दुःख मिट जायेगा—

'अब तो छोड़ नहीं सकता हूं पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे जो तुमको देखूं, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।' (पृ० १९)

यहाँ अविद्याग्रस्त जीव का वर्णन है। अविद्या-ग्रस्त जीव ज्ञान के प्रकाश के अभाव में नाना विषय-विकारों में लिपटा हुआ इधर-उधर भटकता फिरता है और तब तक भटकता फिरता है जब तक प्रियतम के दर्शन नहीं हो जाते। यह प्रियतम वही परमात्मा है जिसे उपनिषदों में मानव-जीवन का प्राप्य बतलाया है, वही उसका गन्तव्य है।

प्रसादजी की उपरोक्त पंक्तियाँ (य० वे० ४०, १५-१६ के उन मन्त्रों से

---

१. ऐ० उ० ३,३।

पर्याप्त साम्य रखती है जहाँ साधक ऋषि सत्य के दर्शन के लिए पूषन् आदि देवताओं से उस आवरण को हटा लेने के लिए विह्वल होकर प्रार्थना करता है जो उसके (सत्य के) वास्तविक रूप को आवृत किए हुए है। जब जीवात्मा को उसके सत्य के वास्तविक स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं तब उसके समस्त द्वन्द्व मिट जाते हैं। प्रसादजी भी उसी प्रियतम का द्वार खुलवाने की बात कहते हैं जिसके दर्शन से जीवन का सुप्रभात हो जाता है, जिसके दिव्य स्पर्श से सारे दुःख-द्वन्द्व मिट जाते हैं। इसी प्रकार कवि की रहस्य-वृत्ति के दर्शन 'बालू की वेला', 'अर्चना', 'प्रत्याशा', 'स्वप्नलोक', 'दर्शन' और 'मिलन' आदि झरना की अन्य रचनाओं में भी होते हैं।

'बालू की वेला' रचना में कवि प्रभु से कठोर न बनकर स्नेह की दृष्टि से देखने के लिए आग्रह करता है, इसमें कवि की आत्मानुभूति का स्वर द्रष्टव्य है (पृ० ३०)। 'प्रत्याशा' में कवि अपने प्राणधन परमात्मा के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है, कवि कहता है कि 'विषय-वासना के अन्धकार में डूबे हुए मुझे देखकर आप संकोच मत करो। तुम्हें आते देखकर वे सब विषय-विकार और मोहासक्ति स्वयमेव हट जायेंगे। आप आओ तो सही। मेरी और अधिक परीक्षा लेकर मुझे अनावश्यक कष्ट न पहुँचाओ (पृ० ५०)।' यह वर्णन भी उपनिषद् समझते हैं। जीव जब तक अविद्या से ग्रस्त है तब तक प्रभु का साक्षात्कार होना असंभव है, ज्योतिपुरुष के दर्शन होते ही सांसारिक वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं। परमात्मा रूप प्रियतम के मोहन मुख का दर्शन हो जाने पर भव-सागर में पड़ी हुई जीवन-नैया तीव्र गति से बह कर शीघ्र ही किनारे लग जाती है, यह भाव 'दर्शन' कविता में व्यक्त हुआ है (पृ० ५३)। 'मिलन' कविता में प्रसादजी ने परमात्मा से आत्मा के मिलन का बड़ा ही उल्लास-पूर्ण और भावपरक वर्णन किया है। 'आत्मा का परमात्मा से मिलन क्या हुआ मानो पृथ्वी पर स्वर्ग ही आकर उपस्थित हो गया। अन्तर में एक विचित्र संगीत-लहरी ध्वनित हो उठी तथा आनन्द की शतशः तरंगें उठकर मानस के ऊर्ध्व स्तरों का स्पर्श करने लगीं (पृ० ५४)।' मर्मियों और सन्तों ने इस प्रकार की रहस्यानुभूति के अनेक प्रकार से बहुत से भावमय चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्रसादजी का रहस्यानुभूति से सम्बन्धित यह वर्णन भी बड़ा ही भावमय एवं श्लाघ्य है।

'आदेश' कविता में कवि अविद्यावस्था में सुप्त जीवात्मा को कठ० उ० के ऋषि की भाँति[1] जाग उठने के लिए उद्बोधित करता है, कवि कहता है—

"तोड़ कर बाधा बन्धन भेद, भूल जा अहमिति का यह स्वार्थ।
सुधा भर ले जीवन घट में, द्वन्द्व का विष मत कर तू पान॥"(पृ० ७६)।

जब तक जीव भेद आदि अविद्या के बन्धन में बँधा है तब तक ऊपर नहीं उठ सकता। अतः उसे द्वैत के बन्धन से ऊपर उठना है, अहं के संकुचित स्वार्थ को भूलना है, जीवन-घट में द्वन्द्वों के विष के स्थान पर द्वन्द्वातीतावस्था का अमृत भरना

---

१. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्नबोधत, १, ३, १४।

'सुमन समूहों में सुहास करता है कौन,
मुकुलों में कौन मकरन्द-सा अनूप है ?,
मृदु मलयानिल-सा माधुरी उषा में कौन,
स्पर्श करता है, हिम काल में ज्यों धूप है।' (पृ० ६२)

इसी प्रकार कवि किरणों को देखकर अनेक जिज्ञासाएँ करता है और पूछता है कि वह स्वर्णिम किरण किसके अनुराग में डूबी हुई है ? किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती के समान वह कौन है ? इसी प्रकार उसकी स्वर्ग से भूलोक को मिलाने वाली सूत्र-जैसी कल्पना करता है जो इस भूलोक को विरज और विशोक बना देने का गुण समाहित किए हुए है (पृ०२६,२७)। 'किरण' को सम्बोधित करके यह जो कहा गया—'बना दोगी क्या विरज विशोक।' यह स्पष्ट ही रहस्यात्मक है। यह सूर्य की स्वर्णिम किरण तो है ही, साथ ही यह अन्तश्चेतना की ज्योतिर्मयी किरण भी है जिसे उपनिषदों में प्रज्ञा (Intution)[1] कहा गया है। इस प्रज्ञा की, अन्तश्चेतना की किरण के उदित होने पर मनुष्य का हृदय-देश विरज अर्थात् रजरहित, स्वच्छ, पवित्र और शोक-रहित हो जाता है, अन्तर में सोया हुआ आनन्द का वसन्त फैलने लगता है, हृदय-प्रदेश की ऋतु बदल जाती है, नव पराग, नव आलोक झरने लगता है (पृ० २७)।

'झरना' की 'खोलो द्वार' नामक रचना भी रहस्यात्मक संकेत लिए हुए है। रजनी-रूपी रमणी अपने सूर्य-रूपी प्रियतम के दर्शनों के लिए रात्रि-भर रेतीला, पथरीला और कंटकाकीर्ण मार्ग तय करने चली आ रही है। वह अपने प्रियतम सूर्य को सम्बोधित करके कहती है—'यदि मार्ग में चलने से मेरे पैरों में धूल लग गई है, तो उन धूल-धूसरित चरणों को देखकर घृणा मत दिखलाना। मैंने बड़ी कठिनाई से तो तुम्हें पाया है। अब तुम प्राप्य को प्राप्त करके मैं कैसे छोड़ दूं।' अतः हे प्रियतम ! इस अपने प्रकाश के द्वार को खोल दीजिये, आपके दर्शन करके मेरा अपार दुःख मिट जायेगा—

'अब तो छोड़ नहीं सकता हूं पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार
सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे जो तुमको देखूं, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार।' (पृ० १९)

यहाँ अविद्याग्रस्त जीव का वर्णन है। अविद्या-ग्रस्त जीव ज्ञान के प्रकाश के अभाव में नाना विषय-विकारों में लिपटा हुआ इधर-उधर भटकता फिरता है और तब तक भटकता फिरता है जब तक प्रियतम के दर्शन नहीं हो जाते। यह प्रियतम वही परमात्मा है जिसे उपनिषदों में मानव-जीवन का प्राप्य बतलाया है, वही उसका गन्तव्य है।

प्रसादजी की उपरोक्त पंक्तियाँ य० वे० ४०, १५-१६ के उन मन्त्रों से

---

१. ऐ० उ० ३,३।

पर्याप्त साम्य रखती हैं जहाँ साधक ऋषि सत्य के दर्शन के लिए पूषन् आदि देवताओं से उस आवरण को हटा लेने के लिए विह्वल होकर प्रार्थना करता है जो उसके (सत्य के) वास्तविक रूप को आवृत किए हुए है। जब जीवात्मा को उसके सत्य के वास्तविक स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं तब उसके समस्त द्वन्द्व मिट जाते हैं। प्रसादजी भी उसी प्रियतम का द्वार खुलवाने की बात कहते हैं जिसके दर्शन से जीवन का सुप्रभात हो जाता है, जिसके दिव्य स्पर्श से सारे दुःख-द्वन्द्व मिट जाते हैं। इसी प्रकार कवि की रहस्य-वृत्ति के दर्शन 'बालू की बेला', 'अर्चना', 'प्रत्याशा', 'स्वप्नलोक', 'दर्शन' और 'मिलन' आदि झरना की अन्य रचनाओं में भी होते हैं।

'बालू की बेला' रचना में कवि प्रभु से कठोर न बनकर स्नेह की दृष्टि से देखने के लिए आग्रह करता है, इसमें कवि की आत्मानुभूति का स्वर द्रष्टव्य है (पृ० ३०)। 'प्रत्याशा' में कवि अपने प्राणधन परमात्मा के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है, कवि कहता है कि 'विषय-वासना के अन्धकार में डूबे हुए मुझे देखकर आप संकोच मत करो। तुम्हें आते देखकर वे सब विषय-विकार और मोहासक्ति स्वयमेव हट जायेंगे। आप आओ तो सही। मेरी और अधिक परीक्षा लेकर मुझे अनावश्यक कष्ट न पहुँचाओ (पृ० ५०)।' यह वर्णन भी उपनिषद् समझते हैं। जीव जब तक अविद्या से ग्रस्त है तब तक प्रभु का साक्षात्कार होना असंभव है, ज्योतिपुरुष के दर्शन होते ही सांसारिक वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं। परमात्मा रूप प्रियतम के मोहन मुख का दर्शन हो जाने पर भव-सागर में पड़ी हुई जीवन-नैया तीव्र गति से वह कर शीघ्र ही किनारे लग जाती है, यह भाव 'दर्शन' कविता में व्यक्त हुआ है (पृ० ५३)। 'मिलन' कविता में प्रसादजी ने परमात्मा से आत्मा के मिलन का बड़ा ही उल्लास-पूर्ण और भावपरक वर्णन किया है। 'आत्मा का परमात्मा से मिलन क्या हुआ मानो पृथ्वी पर स्वर्ग ही आकर उपस्थित हो गया। अन्तर में एक विचित्र [illegible]-लहरी ध्वनित हो उठी तथा आनन्द की शतशः तरंगें उठकर मानस के [illegible] का स्पर्श करने लगीं (पृ० ५४)।' मर्मियों और सन्तों ने इस प्रकार की [illegible] भूति के अनेक प्रकार से बहुत से भावमय चित्र प्रस्तुत किए हैं। प्रसादजी का [illegible]

है। स्पष्टतः यह वर्णन उपनिषदों की प्राणवत्ता को लिए हुए है।

**आँसू**—'आँसू' प्रसादजी की प्रथम काव्य-रचना है जिसने हिन्दी के पाठकों और आलोचकों दोनों ही की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित की थी। इस रचना में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति का स्वर इतना सरस, मधुर, चित्ताकर्षक और मार्मिक था कि बहुत शीघ्र ही सहृदयों की सर्वाधिक प्रिय रचना बन गई। इसका प्रथम संस्करण १९२५ में प्रकाशित हुआ था जिसमें १२६ छंद थे। सन् १९३३ के दूसरे संस्करण में कुछ और छंद जोड़ दिए और इस प्रकार छंद-संख्या १९० हो गई।[1] दूसरे संस्करण में छन्दों के क्रम और पंक्तियों में क्रिया-सम्बन्धी कतिपय परिवर्तन भी किए गए हैं।

'आँसू' स्वानुभूतिमयी वेदना को प्रदान करने वाला खड़ी बोली का प्रथम खण्ड-काव्य है जिसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र होते हुए भी माला में पिरोए हुए मुक्ताओं की भाँति एक क्रमबद्धता को लिए हुए है। 'आँसू' का आलम्बन लौकिक है। यह विद्वानों द्वारा बाह्याभ्यन्तरिक साक्षियों के आधार पर प्रमाणित किया जा चुका है।[2] पर इसकी विशिष्टता इसी बात में है कि प्रसादजी ने लौकिक आलम्बन को इस प्रकार से उपस्थित किया है कि उसमें एक प्रकार की अलौकिकता का समावेश स्वयमेव हो गया है।

'आँसू' का प्रारम्भ कवि की व्यक्तिगत वेदना से होता है। वह अनुभव करता है कि उसके करुणा-कलित हृदय में विकल रागिनी बजनी प्रारम्भ हो गई है और उसकी असीम वेदना हाहाकार के स्वरों में गरजने लगी है (पृ० ७)। कवि की यह वेदना अकारण नहीं है। उसका कारण है, और वह कारण है उसके मानस-पटल पर अतीत की पीड़ामयी स्मृतियों का घनीभूत होकर छा जाना (पृ० १४)। स्पष्ट है कि आँसू का आरम्भ निराशा से होता है। किन्तु उसकी यह निराशा एकरस और स्थायी नहीं है वह उत्तरोत्तर आशा में पर्यवसित होती चलती है। वह विरह और मिलन में, सुःख तथा दुख में एक प्रकार का सामंजस्य स्थापित करता चलता है। कवि कहता है—

> **"मानव जीवन वेदी पर परिणय हो विरह-मिलन का।**
> **दुख सुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का॥"** (पृ० ४६)

यहाँ कवि का दार्शनिक स्वरूप मुखरित होकर व्यक्त हुआ है। कवि का यह समन्वय-वादी दृष्टिकोण उसे आशावाद की ओर अग्रसर करता है। कवि स्पष्ट कहता है—

> **"आशा का फैल रहा है यह सूना नीला अंचल,**
> **फिर स्वर्ण-सृष्टि-सी नीचे उसमें करुणा हो चंचल।"** (पृ० ६६)

इसी वृत्ति के कारण बीच-बीच में रहस्यात्मकता का समावेश भी हो गया है यथा निम्न पंक्तियों में—

---

१. आँसू के प्रकाशक।

२. रामनाथ सुमन : प्रसाद की काव्य साधना, आँसू प्रकरण।

ये सब स्फुलिंग हैं मेरी इस ज्वालामयी जलन के,
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल मेरे उस महा मिलन के। (पृ० ९)

यहाँ कवि की भावना विराट्ता के परिवेश में व्यक्त हुई है और यही उनकी रहस्यात्मकता का कारण भी बन सकी है। एक अन्य स्थल पर कवि कहता है कि—

"तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-संगी
कल्याण कलित इस मग के।" (पृ० १६)

एक ओर यह वर्णन लौकिक आलम्बन पर भी घटित हो जाता है और दूसरी ओर यह अलौकिक परमेश्वर का भी द्योतन कराता है। रहस्य-भावना की दृष्टि से इसका अर्थ होगा कि इस मिथ्या जग में चिर-सुन्दर ही जीवात्मा का सत्य है, वही जीवन के इस विस्तृत मार्ग में उसका संगी बनकर कल्याण का विधायक बनता है। एक अन्य स्थल पर कवि ने अपने प्रियतम के आगमन का परिचय देते हुए कहा कि वह शशि-मुख पर घूँघट डालकर तथा अंचल में दीप छिपाए हुए कौतूहल-सा उस समय आया जबकि उसके जीवन की संध्या थी (पृ० १६)। ये सभी स्थल रहस्यात्मकता को लिए हुए हैं। 'आँसू' में यदि ये रहस्यमय स्थल न होते तो उनकी यह कृति व्यक्तिगत रुदन का आस्फालन-मात्र बनकर रह जाती। कवि की यह वृत्ति उसे व्यष्टि के घोखे से निकालकर समष्टि की खुली धूप में उपस्थित करती है। श्री भोलानाथ तिवारी ने ठीक ही कहा है कि 'आँसू' में कवि ने व्यष्टि को समष्टि में पर्यवसित करके अपनी अनुभूति का प्रसार करके आँसू की वेदना द्वारा आशावाद का महान जीवन-दर्शन दिया है।[1] इस प्रकार 'आँसू' में वैदिक-दर्शन की अपेक्षा उसका जीवन-दर्शन प्रमुख है।

**लहर**—'कानन-कुसुम' और 'झरना' के बाद 'लहर' प्रसादजी की स्फुट रचनाओं का अंतिम संग्रह है। लहर का स्वर 'झरना' और 'आँसू' के स्वर से भिन्न है। झरना कवि की यौवन-काल की रचना है अतः उसमें चित्त की चपलता और मन के चाँचल्य के दर्शन होते हैं और 'लहर' के गीत 'कामायनी' के साथ-साथ लिखे गए प्रौढ जीवन की रचना हैं। अतः उसमें झरना के झंझा और आँसू के विषाद की अपेक्षा शान्ति और आनन्द का स्वर अधिक है।

इस संग्रह में कुल ३३ रचनाएँ हैं, २९ बिना शीर्षक की और ४ शीर्षक से युक्त। इनमें से कुछ प्रकृति-विषयक, कुछ प्रेम-विषयक, कुछ कविताएँ कवि के अतीत से सम्बद्ध हैं और कुछ रहस्यात्मक। अंतिम चारों कविताएँ ऐतिहासिक हैं, पर बड़ी समर्थ शैली में लिखी गई हैं।

**रहस्य-भावना**—'लहर' में जीव और ब्रह्म की लुका-छिपी को बड़े स्पष्ट शब्दों

---

१. कवि प्रसाद, पृ० ९०।

में व्यक्त किया गया है । ब्रह्म जीव के साथ आँख-मिचौनी खेलता है । परन्तु ऊषा की अरुणिमा के रूप में बहने वाली उसके पद-चाप की लाली से, उसकी हंसी से, रूप, रस-गंध में हो रहे उसके खेलों से जीव उसे पहचान लेता है। वह परमात्मा से कहता कि परस्पर के परिचय की कोई आवश्यकता ही नहीं । कारण स्पष्ट है कि वे दोनों एक ही तो हैं फिर परिचय का महत्त्व ही क्या ? बस उनसे मानस-जलधि चुम्बित रहे यही कामना है—

> **"तुम हो कौन और मैं क्या हूं ?**
> **इसमें क्या है धरा, सुनो ।**
> **मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित,**
> **मेरे क्षितिज ! उदार बनो ।। (पृ० १०)**

और जीव की सार्थकता भी इसी में है कि वह सदैव परमात्मा से स्पष्ट रहे। वेद में कहा है कि मनुष्य के अन्तर में एक ऐसा स्रोत छिपा हुआ है, जहाँ से मधु की आनन्द की धारा प्रवाहित होती रहती है, जहाँ से सत्ता के विशुद्ध आनन्द की एक मधुमय लहर उठती है—'और यह इसी आनन्द के द्वारा होता है कि जीव अमरता तक पहुँच जाता है—'समुद्रादूर्मि मधुमाँ उदारद् (ऋग्वेद ४, ५८, १)।' यह आनन्द का मानसरोवर बहुत ही निकट है, पर अनजाना है, व्यावहारिक बुद्धि से उसे जाना ही नहीं जा सकता, वह केवल अनुभवैकगम्य है। पर जब एक बार मधु की वह धारा मनुष्य की भौतिक-सत्ता पर उतर आती है तब वह रस से सराबोर हो उठता है । यही भाव प्रसाद की निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

> **"उस दिन जब जीवन के पथ में,**
> **छिन्न-पात्र ले कम्पित कर में ।**
> **मधु-भिक्षा की रटन अधर में,**
> **इस अनजाने निकट नगर में ।**
> **आ पहुंचा था एक अकिंचन ।।**
> × × ×
> **छिन्न पात्र में था भर आता**
> **वह रस बरबस था न समाता,**
> **स्वयं चकित सा समझ न पाता**
> कहाँ छिपा था, ऐसा मधुवन ।" (पृ० १७-१८)

एक दिन जीवन के पथ में कवि का अकिंचन चैतन्य भौतिकता का टूटा-फूटा पात्र लेकर 'आनन्द नगर' में मधु के सागर के निकट गया तो कवि को विचित्र अनुभूति हुई । उसे उस दिन ज्ञात हुआ कि सम्पूर्ण लोक मधुमय हो गया है, सर्वत्र मधु की वर्षा हो रही है, भौतिक-सत्ता-रूपी पात्र ही टूटा-फूटा है जिसमें वह दिव्य रस समाता ही नहीं । जो साधक जीवात्मा मानस-लोक की, (वैदिक शब्दावली स्वर्लोक की) मधुमती भूमिका में पहुँच जाता है उसे इसी प्रकार की दिव्य अनुभूति होती है

कि रस तो चारों ओर भरा है, पर रस लेने की शक्ति चाहिए। वह उस स्थिति में पहुँचने पर चकित और विस्मित होकर कह उठता है—'अरे! यह मधुवन कहाँ छिपा था।'

'ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे धीरे।' कविता में कवि अपने नाविक से उस नीरव प्रदेश की ओर ले चलने के लिए आग्रह किया है जहाँ कोलाहल से भरी भूमि से दूर सागर की लहरी अम्बर के कानों में गम्भीर और निश्चल प्रेम-कथा कहती हो।' (पृ० १४) यह नीरव प्रदेश वैदिक-विचार के अनुसार चेतना का वह ऊर्ध्व स्तर है जहाँ पार्थिव विषयों का कोलाहल बहुत नीचे छूट जाता है और जहाँ सर्वत्र प्रेम और आनन्द ही छाया रहता है।

रहस्य-भावना के और भी अनेक संकेत कई कविताओं में मिलते हैं। एक स्थल पर उन्होंने कहा है कि उनका प्रियतम केश पाशान्धकार में अपना मुँह छिपा-कर चुपचाप उनसे आँख-मिचौनी खेलता है (पृ० १०) और जब कवि का अव्यक्त प्रियतम से मिलन हो जाता है फिर तो कहना ही क्या? अध्यात्म संयोग-जनित आनन्दोल्लास की निर्झरिणी फूट पड़ती है—

> **'मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,**
> **यह अलस जीवन सफल अब हो गया।'**

उपनिषदों में स्पष्ट कहा गया है कि जब अविद्या के आवरणों से मुक्त जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तब उसका जीवन सफल हो जाता है। उसे इस जीवन[1] में अन्य कुछ करने को शेष नहीं रह जाता, वह अमृत एवं पूर्णकाम हो जाता है।

**कामायनी**—'कामायनी' प्रसादजी के जीवन के अंतिम चरण में लिखी गई उनकी अंतिम और प्रौढतम रचना है। यह न केवल प्रसादजी की ही श्रेष्ठतम रचना है प्रत्युत समस्त छायावादी काव्य और युग की सर्वाधिक समर्थ और मूर्धन्य कृति है। प्रसादजी चाहते थे कि वह एक ऐसी रचना हिन्दी-साहित्य को प्रदान करें जो अपने ढंग की अनूठी और विशिष्ट हो। अपनी इच्छा को मूर्त रूप प्रदान करने के लिये उन्होंने वैदिक-वाङमय और इतिहास से पर्याप्त सामग्री संकलित भी कर ली थी जिसकी चर्चा उन्होंने वाचस्पति पाठक से की थी। इसी आधार पर वाचस्पति ने अपने लेख में लिखा था कि प्रसादजी 'इन्द्र' महाकाव्य लिखना चाहते थे, और यह कामायनी उसी में से बीच में निकल पड़ी रचना है। असमय ही पार्थिव शरीर को त्याग कर शिव-धाम की यात्रा पर चल पड़ने के कारण उनकी यह इच्छा अधूरी ही रही। खैर, उनका इन्द्र महाकाव्य तो हमारे समक्ष है नहीं, पर 'कामायनी' अवश्य है।

प्रसादजी के जीवन की समस्त चिन्तनाओं और विचारधाराओं का समवेत स्वरूप कामायनी में आकर प्रतिष्ठित हुआ है। उनके प्रारम्भिक साहित्य—नाटक और

---

१. 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।' श्वे० उ० ३, १।

काव्य—में जो विचार अंकुरित होकर विकसित हो रहे थे कामायनी में वे चरम परिणति को प्राप्त हुए हैं। समस्त सांस्कृतिक और ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन कामायनी में साकार रूप ग्रहण कर सका है जो उनके गम्भीर और व्यवस्थित अध्ययन की सूचना देता है।

प्रसादजी ने वैदिक-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था और वहीं से उन्होंने कामायनी की कथा के सूत्र भी एकत्रित किए। मनु, श्रद्धा और इडा का वर्णन वेद से लेकर ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों में बिखरा पड़ा मिलता है। इस दृष्टि से कामायनी की कथा का आधार ऐतिहासिक है। उपरोक्त वेदादि ग्रंथों में इन पात्रों का भावात्मक वर्णन मिलता है। इस आधार पर उन्होंने इस कथा में रूपक की योजना भी की है जिसका आधार औपनिषदिक मनोविज्ञान और दर्शन है। प्रसादजी ने कामायनी के आमुख में स्वयं संकेत किया है कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है इसलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है। इन्हीं सबके आधार पर कामायनी की कथा-सृष्टि हुई है।"[1]

**कामायनी का कथानक**—कामायनी की कथा देवताओं के अति-विलास और अमरता के अहं-भाव के कारण भयंकर जलप्लावन में नष्ट हुई देव-सृष्टि से प्रारम्भ होती है। इस जलप्लावन के प्रभाव से केवल मनु ही शेष बच पाए थे। महामत्स्य के चपेटे से उनकी नौका उत्तर में हिमगिरि पर जा लगी। जलप्लावन के उतरने पर मनु शालियाँ बीन कर पाकयज्ञ करने लगे और यज्ञ का बचा हुआ थोड़ा-सा अन्न इस दृष्टि से रख आते थे कि कोई प्राणी मेरे ही समान जीवित बचा हो तो इसे पाकर अपनी क्षुधा तृप्त कर ले। इसी बीच उनकी श्रद्धा से भेंट होती है। वह मनु के निराश जीवन में आशा का संचार करने तथा उसे सरस और सार्थक बनाने के लिए स्वयं आत्मार्पण कर देती है। मनु उत्साहित होकर कर्म-तन्तु का विस्तार करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी समय श्रद्धा के द्वारा पालित पशु को देखकर असुर-पुरोहित किलात-आकुलि मनु को मित्रावरुण यज्ञ करने के लिए प्रेरित करते हैं। श्रद्धा यज्ञ में दी गई पशुरूप-बलि से मनु से रुष्ट हो जाती है और उसे अनेक प्रकार से हिंसा से विरत करने का प्रयत्न करती है, पर मनु हिंसा से पराङ्मुख नहीं होते। श्रद्धा की चेष्टाओं को अपने प्रणय-सुख में बाधक समझकर वे ईर्ष्यालु हो उठते हैं और आसन्नगर्भा श्रद्धा को त्याग कर उजड़े हुए सारस्वत-प्रदेश की ओर चल पड़ते हैं जहाँ इडा से भेंट होती है। इडा के संकेत पर मनु उजड़े हुए सारस्वत नगर को पुनः उन्नतिशील बनाने के प्रयत्न में जुट जाते हैं और थोड़े ही समय में नगर की पर्याप्त श्री-वृद्धि करते हैं।

---

१. कामायनी का आमुख, पृ० ७-८।

पर वासना से प्रेरित होकर मनु इड़ा को अपनी रानी बनाने की चेष्टा में उससे अनैतिक व्यवहार पर उतारु हो जाते हैं, फलतः नगर में विप्लव मच जाता है। प्रजा और मनु में युद्ध होता है और तभी रुद्र कुपित होकर मनु पर महास्त्र का प्रयोग करते हैं और वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

इधर पुत्रवती विरहिणी श्रद्धा मनु से सम्बन्धित उक्त घटना को स्वप्न में देखती है और कुमार को साथ लेकर मनु को खोजती हुई उसी स्थान पर आ जाती है जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े हैं। श्रद्धा की सेवा-शुश्रूषा से मनु पुनः स्वस्थ हो जाते हैं और एक दिन रात को ग्लानिवश श्रद्धा को छोड़कर फिर भाग जाते हैं। श्रद्धा कुमार को इडा को सौंप कर पुनः मनु की खोज में चल पड़ती है, मनु समीप ही सरस्वती नदी के किनारे तपस्या करते मिल जाते हैं। श्रद्धा के आगमन से मनु को शिव के दर्शन होते हैं। वे श्रद्धा से उनके चरणों तक ले चलने के लिए आग्रह करते हैं। श्रद्धा पथ-प्रदर्शन करती है तथा मार्ग में आए त्रिपुर के रहस्य को भी समझाती है। यह त्रिपुर इच्छा, क्रिया और ज्ञान से सम्बन्धित भाव, कर्म और ज्ञान लोक हैं, जो एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण अपूर्ण हैं फलतः जीवन में विषमता के जनक हैं। श्रद्धा अपनी मुस्कान से इन तीनों लोकों का समन्वय कर देती है। फलतः मनु को दिव्य स्वर सुनाई देने लगते हैं, उनकी स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि की अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं और वे श्रद्धा-सहित अखण्ड आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। जहाँ मनु आनन्द प्राप्त करते है उसे कैलाश गिरि कहा गया है। तदनन्तर इडा और कुमार अपनी प्रजा के साथ वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ श्रद्धा और मनु थे। इस मिलन से सभी के हृदयों में भेद-भाव नष्ट हो जाता है तथा सभी समरसता को प्राप्त करके अखण्ड आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

**कामायनी की कथावस्तु का स्रोत**—पीछे संकेत कर आए हैं कि कामायनी की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है, तथा यह इतिहास उस सुदूर अतीत से सम्बद्ध है जिसे भारतीय वाङ्मय में 'वैदिक-काल' के नाम से अभिहित करते हैं। वैदिक काल की अवधि भी बड़ी लम्बी है और उससे सम्बन्धित साहित्य—वेद, ब्राह्मण-ग्रंथ उपनिषद् और सूत्र—भी बड़ा विस्तृत तथा समृद्ध है। विचारणा एवं चिन्तन की दृष्टि से भी यह साहित्य अत्यधिक गम्भीर और सूक्ष्म है। वेद तथा उपनिषदों में वर्णित सूक्ष्म अनुभूतियों एवं प्रौढ दर्शन का परिचय प्राप्त करके पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय ऋषियों की बौद्धिक गरिमा को विस्मय की दृष्टि से देखा है। उसी साहित्य में कामायनी की कथा के सूत्र बिखरे पड़े हैं जिन्हें प्रसादजी की प्रतिभा तथा कल्पना ने महाकाव्य के रूप में उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त किया।

'कामायनी' की कथावस्तु को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जल-प्लावन की कथा और मनु, (२) श्रद्धा मनु का मिलन, उनका गृहस्थ-जीवन तथा मनु का पलायन, (३) मनु-इड़ा मिलन, सारस्वत-नगर की दुर्घटना तथा श्रद्धा से पुनर्मिलन, तथा (४) श्रद्धा के सहयोग से मनु की कैलाश-यात्रा तथा तत्व-दर्शन।

काव्य—में जो विचार अंकुरित होकर विकसित हो रहे थे कामायनी में वे चरम परिणति को प्राप्त हुए हैं। समस्त सांस्कृतिक और ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन कामायनी में साकार रूप ग्रहण कर सका है जो उनके गम्भीर और व्यवस्थित अध्ययन की सूचना देता है।

प्रसादजी ने वैदिक-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था और वहीं से उन्होंने कामायनी की कथा के सूत्र भी एकत्रित किए। मनु, श्रद्धा और इडा का वर्णन वेद से लेकर ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों में बिखरा पड़ा मिलता है। इस दृष्टि से कामायनी की कथा का आधार ऐतिहासिक है। उपरोक्त वेदादि ग्रंथों में इन पात्रों का भावात्मक वर्णन मिलता है। इस आधार पर उन्होंने इस कथा में रूपक की योजना भी की है जिसका आधार औपनिषदिक मनोविज्ञान और दर्शन है। प्रसादजी ने कामायनी के आमुख में स्वयं संकेत किया है कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है इसलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है। इन्हीं सबके आधार पर कामायनी की कथा-सृष्टि हुई है।"[१]

**कामायनी का कथानक**—कामायनी की कथा देवताओं के अति-विलास और अमरता के अहं-भाव के कारण भयंकर जलप्लावन में नष्ट हुई देव-सृष्टि से प्रारम्भ होती है। इस जलप्लावन के प्रभाव से केवल मनु ही शेष बच पाए थे। महामत्स्य के चपेटे से उनकी नौका उत्तर में हिमगिरि पर जा लगी। जलप्लावन के उतरने पर मनु शालियाँ बीन कर पाकयज्ञ करने लगे और यज्ञ का बचा हुआ थोड़ा-सा अन्न इस दृष्टि से रख आते थे कि कोई प्राणी मेरे ही समान जीवित बचा हो तो इसे पाकर अपनी क्षुधा तृप्त कर ले। इसी बीच उनकी श्रद्धा से भेंट होती है। वह मनु के निराश जीवन में आशा का संचार करने तथा उसे सरस और सार्थक बनाने के लिए स्वयं आत्मार्पण कर देती है। मनु उत्साहित होकर कर्म-तन्तु का विस्तार करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी समय श्रद्धा के द्वारा पालित पशु को देखकर असुर-पुरोहित किलात-आकुलि मनु को मित्रावरुण यज्ञ करने के लिए प्रेरित करते हैं। श्रद्धा यज्ञ में दी गई पशुरूप-बलि से मनु से रुष्ट हो जाती है और उसे अनेक प्रकार से हिंसा से विरत करने का प्रयत्न करती है, पर मनु हिंसा से पराङ्मुख नहीं होते। श्रद्धा की चेष्टाओं को अपने प्रणय-सुख में बाधक समझकर वे ईर्ष्यालु हो उठते हैं और आसन्नगर्भा श्रद्धा को त्याग कर उजड़े हुए सारस्वत-प्रदेश की ओर चल पड़ते हैं जहाँ इडा से भेंट होती है। इडा के संकेत पर मनु उजड़े हुए सारस्वत नगर को पुनः उन्नतिशील बनाने के प्रयत्न में जुट जाते हैं और थोड़े ही समय में नगर की पर्याप्त श्री-वृद्धि करते हैं।

---

१. कामायनी का आमुख, पृ० ७-८।

पर वासना से प्रेरित होकर मनु इड़ा को अपनी रानी बनाने की चेष्टा में उससे अनैतिक व्यवहार पर उतारु हो जाते हैं, फलतः नगर में विप्लव मच जाता है। प्रजा और मनु में युद्ध होता है और तभी रुद्र कुपित होकर मनु पर महास्त्र का प्रयोग करते हैं और वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

इधर पुत्रवती विरहिणी श्रद्धा मनु से सम्बन्धित उक्त घटना को स्वप्न में देखती है और कुमार को साथ लेकर मनु को खोजती हुई उसी स्थान पर आ जाती है जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े हैं। श्रद्धा की सेवा-शुश्रूषा से मनु पुनः स्वस्थ हो जाते हैं और एक दिन रात को ग्लानिवश श्रद्धा को छोड़कर फिर भाग जाते हैं। श्रद्धा कुमार को इडा को सौंप कर पुनः मनु की खोज में चल पड़ती है, मनु समीप ही सरस्वती नदी के किनारे तपस्या करते मिल जाते हैं। श्रद्धा के आगमन से मनु को शिव के दर्शन होते हैं। वे श्रद्धा से उनके चरणों तक ले चलने के लिए आग्रह करते हैं। श्रद्धा पथ-प्रदर्शन करती है तथा मार्ग में आए त्रिपुर के रहस्य को भी समझाती है। यह त्रिपुर इच्छा, क्रिया और ज्ञान से सम्बन्धित भाव, कर्म और ज्ञान लोक हैं, जो एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण अपूर्ण हैं फलतः जीवन में विषमता के जनक हैं। श्रद्धा अपनी मुस्कान से इन तीनों लोकों का समन्वय कर देती है। फलतः मनु को दिव्य स्वर सुनाई देने लगते हैं, उनकी स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि की अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं और वे *श्रद्धा-सहित अखण्ड आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। जहाँ मनु आनन्द प्राप्त करते* है उसे कैलाश गिरि कहा गया है। तदनन्तर इडा और कुमार अपनी प्रजा के साथ वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ श्रद्धा और मनु थे। इस मिलन से सभी के हृदयों में भेद-भाव नष्ट हो जाता है तथा सभी समरसता को प्राप्त करके अखण्ड आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

**कामायनी की कथावस्तु का स्रोत**—पीछे संकेत कर आए हैं कि कामायनी की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है, तथा यह इतिहास उस सुदूर अतीत से सम्बद्ध है जिसे भारतीय वाङ्मय में 'वैदिक-काल' के नाम से अभिहित करते हैं। वैदिक काल की अवधि भी बड़ी लम्बी है और उससे सम्बन्धित साहित्य—वेद, ब्राह्मण-ग्रंथ उपनिषद् और सूत्र—भी बड़ा विस्तृत तथा समृद्ध है। विचारणा एवं चिन्तन की दृष्टि से भी यह साहित्य अत्यधिक गम्भीर और सूक्ष्म है। वेद तथा उपनिषदों में वर्णित सूक्ष्म अनुभूतियों एवं प्रौढ दर्शन का परिचय प्राप्त करके पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय ऋषियों की बौद्धिक गरिमा को विस्मय की दृष्टि से देखा है। उसी साहित्य में कामायनी की कथा के सूत्र बिखरे पड़े हैं जिन्हें प्रसादजी की प्रतिभा तथा कल्पना ने महाकाव्य के रूप में उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त किया।

'कामायनी' की कथावस्तु को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जल-प्लावन की कथा और मनु, (२) श्रद्धा मनु का मिलन, उनका गृहस्थ-जीवन तथा मनु का पलायन, (३) मनु-इड़ा मिलन, सारस्वत-नगर की दुर्घटना तथा श्रद्धा से पुनर्मिलन, तथा (४) श्रद्धा के सहयोग से मनु की कैलाश-यात्रा तथा तत्व-दर्शन।

काव्य—में जो विचार अंकुरित होकर विकसित हो रहे थे कामायनी में वे चरम परिणति को प्राप्त हुए हैं। समस्त सांस्कृतिक और ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक चिन्तन कामायनी में साकार रूप ग्रहण कर सका है जो उनके गम्भीर और व्यवस्थित अध्ययन की सूचना देता है।

प्रसादजी ने वैदिक-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था और वहीं से उन्होंने कामायनी की कथा के सूत्र भी एकत्रित किए। मनु, श्रद्धा और इडा का वर्णन वेद से लेकर ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों में बिखरा पड़ा मिलता है। इस दृष्टि से कामायनी की कथा का आधार ऐतिहासिक है। उपरोक्त वेदादि ग्रंथों में इन पात्रों का भावात्मक वर्णन मिलता है। इस आधार पर उन्होंने इस कथा में रूपक की योजना भी की है जिसका आधार औपनिषदिक मनोविज्ञान और दर्शन है। प्रसादजी ने कामायनी के आमुख में स्वयं संकेत किया है कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी सरलता से लग जाता है। इन्हीं सबके आधार पर कामायनी की कथा-सृष्टि हुई है।"[१]

**कामायनी का कथानक**—कामायनी की कथा देवताओं के अति-विलास और अमरता के अहं-भाव के कारण भयंकर जलप्लावन में नष्ट हुई देव-सृष्टि से प्रारम्भ होती है। इस जलप्लावन के प्रभाव से केवल मनु ही शेष बच पाए थे। महामत्स्य के चपेटे से उनकी नौका उत्तर में हिमगिरि पर जा लगी। जलप्लावन के उतरने पर मनु शालियाँ बीन कर पाकयज्ञ करने लगे और यज्ञ का बचा हुआ थोड़ा-सा अन्न इस दृष्टि से रख आते थे कि कोई प्राणी मेरे ही समान जीवित बचा हो तो इसे पाकर अपनी क्षुधा तृप्त कर ले। इसी बीच उनकी श्रद्धा से भेंट होती है। वह मनु के निराश जीवन में आशा का संचार करने तथा उसे सरस और सार्थक बनाने के लिए स्वयं आत्मार्पण कर देती है। मनु उत्साहित होकर कर्म-तन्तु का विस्तार करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। इसी समय श्रद्धा के द्वारा पालित पशु को देखकर असुर-पुरोहित किलात-आकुलि मनु को मित्रावरुण यज्ञ करने के लिए प्रेरित करते हैं। श्रद्धा यज्ञ में दी गई पशुरूप-बलि से मनु से रुष्ट हो जाती है और उसे अनेक प्रकार से हिंसा से विरत करने का प्रयत्न करती है, पर मनु हिंसा से पराङ्मुख नहीं होते। श्रद्धा की चेष्टाओं को अपने प्रणय-सुख में बाधक समझकर वे ईर्ष्यालु हो उठते हैं और आसन्नगर्भा श्रद्धा को त्याग कर उजड़े हुए सारस्वत-प्रदेश की ओर चल पड़ते हैं जहाँ इडा से भेंट होती है। इडा के संकेत पर मनु उजड़े हुए सारस्वत नगर को पुनः उन्नतिशील बनाने के प्रयत्न में जुट जाते हैं और थोड़े ही समय में नगर की पर्याप्त श्री-वृद्धि करते हैं।

१. कामायनी का आमुख, पृ० ७-८।

पर वासना से प्रेरित होकर मनु इड़ा को अपनी रानी बनाने की चेष्टा में उससे अनैतिक व्यवहार पर उतारु हो जाते हैं, फलतः नगर में विप्लव मच जाता है। प्रजा और मनु में युद्ध होता है और तभी रुद्र कुपित होकर मनु पर महास्त्र का प्रयोग करते हैं और वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।

इधर पुत्रवती विरहिणी श्रद्धा मनु से सम्बन्धित उक्त घटना को स्वप्न में देखती है और कुमार को साथ लेकर मनु को खोजती हुई उसी स्थान पर आ जाती है जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े हैं। श्रद्धा की सेवा-शुश्रूषा से मनु पुनः स्वस्थ हो जाते हैं और एक दिन रात को ग्लानिवश श्रद्धा को छोड़कर फिर भाग जाते हैं। श्रद्धा कुमार को इडा को सौंप कर पुनः मनु की खोज में चल पड़ती है, मनु समीप ही सरस्वती नदी के किनारे तपस्या करते मिल जाते हैं। श्रद्धा के आगमन से मनु को शिव के दर्शन होते हैं। वे श्रद्धा से उनके चरणों तक ले चलने के लिए आग्रह करते हैं। श्रद्धा पथ-प्रदर्शन करती है तथा मार्ग में आए त्रिपुर के रहस्य को भी समझाती है। यह त्रिपुर इच्छा, क्रिया और ज्ञान से सम्बन्धित भाव, कर्म और ज्ञान लोक हैं, जो एक-दूसरे से पृथक् रहने के कारण अपूर्ण हैं फलतः जीवन में विषमता के जनक हैं। श्रद्धा अपनी मुस्कान से इन तीनों लोकों का समन्वय कर देती है। फलतः मनु को दिव्य स्वर सुनाई देने लगते हैं, उनकी स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि की अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं और वे श्रद्धा-सहित अखण्ड आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। जहाँ मनु आनन्द प्राप्त करते हैं उसे कैलाश गिरि कहा गया है। तदनन्तर इडा और कुमार अपनी प्रजा के साथ वहीं पहुँच जाते हैं जहाँ श्रद्धा और मनु थे। इस मिलन से सभी के हृदयों में भेद-भाव नष्ट हो जाता है तथा सभी समरसता को प्राप्त करके अखण्ड आनन्द में मग्न हो जाते हैं।

**कामायनी की कथावस्तु का स्रोत**—पीछे संकेत कर आए हैं कि कामायनी की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है, तथा यह इतिहास उस सुदूर अतीत से सम्बद्ध है जिसे भारतीय वाङ्मय में 'वैदिक-काल' के नाम से अभिहित करते हैं। वैदिक काल की अवधि भी बड़ी लम्बी है और उससे सम्बन्धित साहित्य—वेद, ब्राह्मण-ग्रंथ उपनिषद् और सूत्र—भी बड़ा विस्तृत तथा समृद्ध है। विचारणा एवं चिन्तन की दृष्टि से भी यह साहित्य अत्यधिक गम्भीर और सूक्ष्म है। वेद तथा उपनिषदों में वर्णित सूक्ष्म अनुभूतियों एवं प्रौढ दर्शन का परिचय प्राप्त करके पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय ऋषियों की बौद्धिक गरिमा को विस्मय की दृष्टि से देखा है। उसी साहित्य में कामायनी की कथा के सूत्र बिखरे पड़े हैं जिन्हें प्रसादजी की प्रतिभा तथा कल्पना ने महाकाव्य के रूप में उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त किया।

'कामायनी' की कथावस्तु को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) जल-प्लावन की कथा और मनु, (२) श्रद्धा मनु का मिलन, उनका गृहस्थ-जीवन तथा मनु का पलायन, (३) मनु-इड़ा मिलन, सारस्वत-नगर की दुर्घटना तथा श्रद्धा से पुनर्मिलन, तथा (४) श्रद्धा के सहयोग से मनु की कैलाश-यात्रा तथा तत्त्व-दर्शन।

**जलप्लावन**—कामायनी में जिस प्रलय का का वर्णन आया है उसे अग्नि-पुराण[1] तथा श्रीमद्भागवत पुराण[2], में ब्राह्म नामक नैमित्तिक प्रलय कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण[3], अथर्व वेद[4], जैमिनीय ब्राह्मण[5], महाभारत, वनपर्व[6], भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व[7] में प्रलय का वर्णन आया है। नैमित्तिक प्रलय का वर्णन ब्रह्म पुराण मार्कण्डेय-पुराण, स्कन्द-पुराण, पद्म-पुराण, वायु-पुराण आदि में भी मिलता है। संसार की प्रमुख जातियों के धर्म-ग्रन्थों में भी प्रलय (जल-प्लावन) की चर्चा मिलती है। इन सूत्रों के आधार पर ही कामायनी के चिन्तासर्ग में प्रलय-कालीन भीषणता, भयंकर जल-वृष्टि, भयानक संहार आदि का वर्णन हुआ है। स्पष्ट है कि जलप्लावन की कथा का आधार भारतीय है। वह कहीं बाहर से उधार नहीं ली गई है अपितु भारत के सुदूर अतीत में घटित होने वाली घटना का ही सत्यरूप प्रस्तुत करती है।[8]

**मनु**—कामायनी के कथानायक का पूरा नाम वैवस्वत मनु है। ऋग्वेद में मनु को स्थान-स्थान पर पिता कहा गया है।[9] ऋग्वेद में ही वैवस्वत मनु को कुछ सूक्तों का देवता[10] तथा कुछ सूक्तों का मन्त्र-द्रष्टा ऋषि कहा गया है।[11] कुछ सूक्तों में मनु को मानवों का प्रकृष्ट बुद्धि वाला पिता, मानवों में अग्रगण्य तथा उनमें सर्वप्रथम यज्ञकर्त्ता भी बताया है (ऋ० वे० १०,६३,७ तथा १०,१००,५), तथा शतपथ ब्राह्मण में[12] वैवस्वत मनु को राजा तथा मनुष्यों को उसकी प्रजा कहा गया है। उन्हें यहाँ पर पृथ्वीपति,[13] प्रजापति[14] श्रद्धादेव[15], प्रथम पाक यज्ञकर्त्ता[16] आदि कहा गया है।

---

१. अ० पु० २,३।
२. भा० पु० १२,४,३८।
३. श० ब्रा० १,८,१,६।
४. अ० वे० १९,३९,७-८।
५. जै० ब्रा० ३, ९९।
६. महा० भा० १८७,२,५५।
७. भ० पु० ३,१,५४-६१।
८. प्रसाद का लेख : काषोत्सव स्मारक संग्रह, पृ० १६०-६१।
९. ऋग्वेद १,११४,२।
१०. वही, १०,५८।
११. वही, ८,२७,३१।
१२. श० प० ब्रा० १३,४,३,३।
१३. वही, १४,१,३,२५।
१४. वही, ६,६,२,१९।
१५. वही, १,१,४,१५।
१६. वही, १,८,१,७।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में प्रजापति और श्रद्धा तथा प्रजापति और काम की परस्पर बातचीत की चर्चा का उल्लेख भी आया है।[1] वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र प्रजापति को सृष्टि-कामना से पहले तपस्या या यज्ञ करते हुए अंकित किया गया है तथा तपस्या अथवा यज्ञ के उपरान्त उनके द्वारा प्रजा की सृष्टि बताई गई है।[2] तथा इच्छा से जाया की कामना करते हुए भी बताया गया है।[3] इसके अतिरिक्त मनु का सम्बन्ध मन से स्थापित करते हुए उसे अत्यन्त चंचल, बलिष्ठ, इन्द्रियों का स्वामी संसार का प्रवर्तक संकल्प-विकल्पशील तथा अभीष्ट कार्य का सम्पादक कहा गया है।[4]

प्रसादजी ने वैदिक वाङ्मय के आधार पर ही मनु पात्र की कल्पना की है। मनु के इस रूप का चित्रण तो प्रसादजी ने कामायनी में किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्हें आनन्द-पथ का पथिक भी बनाया है।

मनु के चरित्र में मानव-सुलभ दुर्बलताओं का समावेश करके प्रसादजी ने नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। उनके चरित्र में प्रसादजी ने पतन भी दिखलाया है और उत्थान भी। मानव के जीवन में जहाँ सबसे बड़ी संभावना यह है कि वह उठकर गिर सकता है वहाँ उससे भी बड़ी संभावना यह है कि वह गिरकर उठ भी सकता है। मनु की कथा गिरकर उठने की कथा है। इस प्रकार मनु का चरित्र विश्व के मानव के लिए पतन में उत्थान का एक आशाप्रद सन्देश देता है।

**श्रद्धा**—श्रद्धा कामायनी की प्रमुख पात्र है जिसके सक्रिय और शालीन व्यक्तित्व से मनु का जीवन परिचलित होता है। वह इतना महत्त्वपूर्ण पात्र है कि इसी के आधार पर प्रसादजी ने अपने महाकाव्य का नामकरण 'कामायनी' किया है। मनु की ही भाँति श्रद्धा से सम्बन्धित सामग्री वैदिक साहित्य में बिखरी मिलती है।

ऋग्वेद १०वें मण्डल के १५१वें सूक्त का ऋषि 'श्रद्धा' कामायनी है और इसका देवता भी 'श्रद्धा' है। इस सूक्त की व्याख्या में 'श्रद्धा' का परिचय देते हुए आचार्य सायण ने लिखा है—'कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका।' अर्थात् श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, अतः श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में श्रद्धा सत्य की पत्नी मानी गई है।[5] परन्तु शतपथ ब्राह्मण में श्रद्धा को अनेक बार मनु की पत्नी कहा है, अर्थात् मनु श्रद्धादेव कहे गए हैं।[6] तैत्ति-

---

१. तै० ब्रा० ३,१२,४,३।
२. तै० ब्रा० २,२,३, १ तथा ऐ० ब्रा० ५,१,३३।
३. बृह० उ० १,४,१७।
४. कठ० १,३,६-९ तथा गीता ६,३४-३५।
५. ऐ० ब्रा० ७,२,१०।
६. ब्रा० १,१,४, १६ तथा १,१,४,१५।

रीय ब्राह्मण में भी मनु को श्रद्धा देव कहा गया है।[1] विष्णु पुराण,[2] ब्रह्म वैवर्त, प्रकृति खण्ड,[3] हरिवंश अध्याय ६,८ में भी श्रद्धा को मनु की पत्नी कहा गया है। उपरोक्त उद्धरणों से श्रद्धा की ऐतिहासिकता में किसी प्रकार का अविश्वास नहीं होता।

**इडा**—ऋग्वेद में[4] सरस्वती और मही के साथ इडा की गणना भी हुई है। इन तीनों देवियों को सुखदायक कहा है—'इडा सरस्वती मही तिस्रो देवी मयो भुवः।' अन्यत्र इडा को मानवों पर शासन करने वाली,[5] यूथमाता अथवा राष्ट्र स्वामिनी,[6] मानवों को बुद्धि तथा चेतना प्रदान करने वाली,[7] घृतहस्ता,[8] प्रकर्ष हिंसाकारिणी शोभनशील योद्धाओं वाली[9] कहा गया है। शुक्ल यजुर्वेद में इडा को हविष्मती देवी[10], वसुमती, गृहपालिनी[11] स्वर्णमयी, अपार प्रभावशालिनी, अनुपम तेजमयी,[12] साधन-सम्पन्ना तथा अभीष्ट फल देने वाली[13] कहा है। अथर्ववेद में प्रजा को सुख देने वाली,[14] तथा राष्ट्र की संरक्षिका भी बतलाया है।[15] इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी यज्ञों का अनुशासन करने वाली, विश्वरूपिणी, अग्निस्वरूपा, दीप्तिवती, प्रीति-उत्पादिका कहा है। शतपथ ब्राह्मण में इडा को पूर्णयोषिता, सृष्टि की उत्पादिका, मनुजाया, मानवी आदि भी कहा गया है।[16]

**आकुलीकिलात**—कामायनी में असुर-पुरोहित के रूप में किलाताकुली की चर्चा आई है। इनका भी आधार ऐतिहासिक ही है। ऋग्वेद में इन्हें छल-कपट-पूर्ण आचरण करनेवाले, मायावी, आक्रमणकारी, मांस की हवि द्वारा यज्ञ करने वाले, दूसरों

---

१. तै० ब्रा० ३,२,५,६।
२. वि० पु० ३,१,३०।
३. ब्र० वै०, प्र० ख०, ५४,६२।
४. ऋग्वेद ५,५,८; वही, १,१३,६।
५. वही, १,३१,११।
६. वही, ५,४१, १६।
७. ऋग्वेद १०,११०,८।
८. वही, ७,१६,८।
९. वही, १,४०,४।
१०. यजुर्वेद २८,८।
११. वही, २८,१८।
१२. वही, २८,१८।
१३. वही, ३५,१४।
१४. अ० वे० ५,३,७।
१५. वही, ८,६,१३।
१६. श० ब्रा० १,८,१,७-२६।

का पराभव करने वाला असुर कहा गया है (दे० १०,१७ की अनुक्रमणिका)। यजुर्वेद ३०,१६ में इन्हें माँस-भक्षी तथा गुफा में रहने वाला वताया गया है। शतपथ ब्राह्मण में उन्हें स्पष्ट ही मनु को यज्ञ कराने वाले असुर-पुरोहित के रूप में स्वीकार किया गया है—'किलाताकुली इति हा सुर ब्रह्मावसतुः। तौ हौचतुः। श्रद्धा देवो वै मनुरावं नु वेदावेति तौ। हा गत्यो चतुर्म्मनो याजयावद्वेति।'[1] बृहद् देवता में इन्हें मायावी द्विज, पुरोहित, मायावल से दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाले एवं मारने वाले कहा गया है।[2] 'पशु-यज्ञ' में सोम और सुरा के पान का आधार भी वैदिक ही है।

## मनु, श्रद्धा, इडा तथा असुर-पुरोहित की भावमूलक व्याख्या :

ऊपर प्रस्तुत विवेचन से कामायनी के पात्रों की ऐतिहासिकता असंदिग्ध रूप से प्रमाणित होती है। कामायनीकार को इन सभी पात्रों की ऐतिहासिकता में पूर्ण विश्वास है, पर 'कामायनी' की कथा से पात्रों की ऐतिहासिकता के साथ-साथ उनका भावात्मक रूप भी स्पष्ट ध्वनित होता है। उस दृष्टि से कामायनी का प्रत्येक पात्र दोहरा व्यक्तित्व लिए हुए है। मनु जहाँ एक ओर ऐतिहासिक पुरुष हैं, मानव-जाति के प्रथम व्यक्ति हैं वहाँ वे मन के प्रतीक भी हैं। श्रद्धा जहाँ मनु की पत्नी है, वहाँ दूसरी ओर मानव-हृदय की विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति भी है। इसी प्रकार इडा जहाँ राष्ट्र की स्वामिनी और शासिका है वहाँ मन पर शासन करने वाली बुद्धि का प्रतीक भी है। 'किलाताकुली' असुर-पुरोहित अपना ऐतिहासिक व्यक्तित्व बनाए रखते हुए भी मन की असुर वृत्तियों का अर्थ ध्वनित करते हैं। स्वयं प्रसादजी ने पात्रों के दोहरे व्यक्तित्व पर प्रकाश डालकर विद्वद्वर्ग और आलोचकों को व्यर्थ के मानसिक व्यायाम करने और ऊहापोह में पड़ने से बचा लिया है। उनका कथन है कि 'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्त्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से सरलता से लग जाता है।'

**मनु**—निरुक्त में यास्क ने वैदिक शब्दों की यौगिक व्याख्या की है और इसी प्रणाली पर वैदिक शब्दों की व्याख्या करने में स्वामी दयानन्द जी तो यास्क से भी दो कदम आगे बढ़ गए हैं। यास्क और स्वामीजी दोनों ही शब्दों की भाव-मूलक व्याख्या करते हैं। इसी आधार पर मनु श्रद्धा आदि का भावपरक अर्थ निकाला जा सकता है। इस सम्बन्ध में महादेवीजी का अनुमान है कि "वेद में बार-बार आने वाला 'मनु' शब्द व्यक्ति-विशेष की ओर संकेत न करके मननशीलता को व्यक्त

---

१. शतपथ ब्राह्मण १,१,४,१४-१५।
२. बृह० ७,८५-८८।

करता है। यह धारणा नितान्त निर्मूल नहीं है, क्योंकि सभी व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ पहले अपने यौगिक अर्थ में ही प्रयुक्त होती रहती हैं, इस प्रकार 'मनुते जानातीति मनु ज्ञानवान्—यजमान' के अनुसार मनु का अर्थ ज्ञानी लेना कुछ अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता...। मनु और श्रद्धा के नाम से सम्बद्ध सूक्तों में ऐसा स्पष्ट अन्तर है कि हम एक में मननशील पुरुष-स्वभाव और दूसरे में विश्वासमयी नारी प्रकृति का परिचय सहज ही पा सकते हैं।"[1] मनु कामायनी में आदि से अन्त तक एक मननशील स्वभाव वाले पुरुष के रूप में चित्रित हुए हैं।

श्रद्धा—मनु की अपेक्षा श्रद्धा के भावात्मक स्वरूप की व्याख्या निगमागमों में विस्तार से मिलती है। निरुक्त में कहा है—धर्मार्थकाममोक्षेषु अविपर्ययेणैवेतदिति या बुद्धिरुत्पद्यते तदधिदेवताभावाख्या श्रद्धेत्युच्यते।'[2] अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में 'यह ऐसा ही है' अविपर्यय पूर्वक जो इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है, श्रद्धा उसी भाव की अधिष्ठातृ देवी है।

'श्रद्धां हृदय्य याकूत्या'[3] पर सायण ने भाष्य करते हुए कहा है—'हृदये भवा हृदय्या तथाविधया आकूत्या संकल्परूपया क्रियया श्रद्धाम् एव परिचरन्ति सर्वे जनाः—अर्थात् हृदयस्थ संकल्प-रूप क्रिया से लोग श्रद्धा (आकांक्षा) की उपासना करते हैं और ऋग्वेद १०,१५१,१ के भाष्य में सायण ने लिखा है—'पुरुषगतोऽभिलाषविशेषः श्रद्धा' व्यक्ति में स्थित आकांक्षा-विशेष को श्रद्धा कहते हैं।

मेदिनी कोष में उसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'श्रद्धादरे च कांक्षायाम्।' अमर कोष में उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'श्रद्धा संप्रत्ययः स्पृहा।' गीता १७,१ में श्रद्धया का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर, ने 'आस्तिक्य बुद्धया' कहा है। उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि श्रद्धा मानव-हृदय की विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति है। शास्त्रों में इसके महत्त्व पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद १०,१५१,४ में कहा है—'श्रद्धया विन्दतेवसुम्' श्रद्धा से धन की प्राप्ति होती है।

अथर्ववेद १२,३,७ में श्रद्धावान् लोगों को अच्छे लोकों और श्रेष्ठ पदों को प्राप्त करते हुए बताया गया है। अ० वे० १२,२,५१ में श्रद्धा-विहीन लोगों को पराधीन और निकृष्ट कहा है। ऐतरेय ब्राह्मण ७,२,१० में श्रद्धा तथा सत्य के द्वारा यजमान को स्वर्गलोक को विजय करते हुए बताया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३,१२,३,१,२ में श्रद्धा को देवत्व प्रदान करने वाली सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली, समस्त जगत् की प्रतिष्ठा, संसार का भरण-पोषण करने वाली, अमृत लोकदायिनी, समस्त संसार का शासन करने वाली, सम्पूर्ण भुवनों की अधिपत्नी कहा

---

१. गंगाप्रसाद पाण्डेय : कामायनी—एक परिचय : भूमिका, पृ० ५।
२. निरुक्त ६,३,२१।
३. ऋग्वेद १०,१५१,४।

है। मुण्डकोपनिषद् में श्रद्धा की गणना तप, सत्य तथा ब्रह्मचर्य के साथ की गई है।[1] बृहदारण्यकोपनिषद् १,५,३ में मन के अन्तर्गत श्रद्धा, अश्रद्धा, बुद्धि आदि का निवास बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में श्रद्धा को मनन कराने वाली तथा हृदय में निष्ठा उत्पन्न कराने वाली कहा है।[2] गीता में 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'[3] कहकर ज्ञानोपलब्धि के लिए श्रद्धा के महत्त्व को स्पष्ट स्वीकार किया है और कहा है कि यह मनुष्य श्रद्धामय है और वह अपनी श्रद्धा के अनुरूप फल प्राप्त करता है।[4]

त्रिपुरारहस्यम् (ज्ञानखण्ड) अध्याय ५,२५ में जगत् की धात्री, और सबका जीवन कहकर उसके परम्परागत गौरव को ही सुरक्षित रखा है।

प्रसादजी ने कामायनी में उपरोक्त सूत्रों के आधार पर ही श्रद्धा के स्वरूप और व्यक्तित्व का गठन किया है। कामायनी में श्रद्धा विश्वास, प्रेम, सहानुभूति, दया, सौख्यादि उदात्त भावों का प्रतीक बन कर आई है।[5] वह जगद्धात्री, सर्व-मंगला, अमृतधाम आदि रूपों में भी स्थान-स्थान पर वर्णित हुई है। प्रसादजी ने कामायनी की श्रद्धा में मन और प्राण की प्रतिष्ठा के लिए कोषों से उसके पर्यायवाची आदर और आकांक्षा अर्थ, निरुक्त और गीता से आस्तिक-बुद्धि, आस्था, ऋग्वेद से संकल्प और क्रिया की प्रेरक आकांक्षा, त्रिपुरारहस्य से संग्रह, त्याग और लोक-प्रवृत्ति की प्रेरक सतर्क जन्य 'श्रद्धा' का ग्रहण किया है। वह अनुपम सुन्दरी नारी तथा कला की उपासिका है (कामायनी पृ० ४६-४८), मानवता का संदेश देने वाली त्याग मूर्ति (पृ० ५७-५९), आदर्शपत्नी, (९०-९४) आदर्श गृहिणी, मातृभावना की विमल मूर्ति (पृ० १७५-७६), पति की विपत्ति में सहचरी (२२०), वसुधैव कुटुम्बकम् एवं लोक-मंगल की प्रचारिका (२३४) तथा आनन्द पथ की प्रदर्शिका है। श्रद्धा का यह रूप उपनिषद् और गीता के आधार पर गठित किया गया है। अन्तिम सर्ग में श्रद्धा विश्वमित्र, सर्व मंगलकारिणी, क्षमा-निलय, उदार, निर्विकार आदि गुणों से विभूषित मिलती है।

इडा—मानव-मन के मस्तिष्क-पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी वृत्ति है इडा जो रूपक शैली में सांकेतिक अर्थ का द्योतन करती हुई बुद्धितत्व का प्रतीक है। वेद में इसको सरस्वती आदि के समान ही बुद्धि साधने वाली अथवा चेतना देने वाली कहा है। बुद्धि के आश्रित कार्य-व्यापार में लीन इडा हृदय की स्निग्ध एवं सरस विभूतियों से विहीन व्यवसायात्मिका, तर्कमयी प्रज्ञा द्वारा अनुशासित है। जीवन की अखण्डता के स्थान पर वह वर्ग-विभाजन और अभेद के स्थान पर भेद की सृष्टि

---

१. मुण्डकोपनिषद् २,१,७।
२. छा० उ० ७,१९-२०।
३. गीता ४,३९।
४. गीता १७,२।
५. देखिये, कामायनी, पृ० ६५।

करने में लीन रहती है। तभी तो प्रसादजी ने कहा है कि—"इडा का बुद्धिवाद श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान बनने में सहायक होता है। फिर बुद्धिवाद के विकास में अधिक सुख की खोज में दुःख मिलना स्वाभाविक ही है।"[१] 'यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि' वाले गीत में प्रसादजी ने उन दुष्परिणामों की ओर संकेत किया है जो अतिबुद्धिवाद के कारण अवश्यम्भावी हो जाते हैं। यह बुद्धिवाद अखण्डता को खण्डित कर भेद-बुद्धि उत्पन्न करके वर्णों, वर्गों की सृष्टि करता है, प्रेम, ममता, सद्भाव आदि सद्वृत्तियाँ लुप्त हो जाती हैं फिर हृदय की स्निग्ध भावनाओं के अभाव में वह सुख शांति और सन्तोष देने में सर्वथा असमर्थ रहती है। "वस्तुतः इडा व्यवसायात्मिका बुद्धि का वह रूप है जो अपने चरम विकास की परिणति होने पर संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत करती है।"[२]

**कामायनी का रूपकत्व**—कामायनी के प्रमुख पात्रों के ऐतिहासिक अस्तित्व के साथ-साथ उनका भावात्मक अर्थ भी है, यह तथ्य प्रसादजी के स्वयं के कथन, कामायनी में उनके प्रतीकार्थों के निर्वाह और आलोचकों की सम्मतियों से प्रमाणित हो जाता है। पात्रों के दोहरे व्यक्तित्व के कारण ही इस कथा में रूपक की योजना भी हो गई है जिसका आधार मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक है। "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।"[३] प्रसादजी के कथन के अनुसार कामायनी मूलतः ऐतिहासिक काव्य के रूप में लिखी गई है, परन्तु उसकी कथा में रूपक की संभावनाएँ निहित हैं। अतः इसे यदि रूपक के रूप में भी स्वीकार कर लिया जाये तो कवि को कोई आपत्ति नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि रूपक क्या है? हमारे संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थों में रूपक एक साम्य मूलक अलंकार के रूप में स्वीकार किया गया है। आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में रूपक की परिभाषा करते हुए कहा है–'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'[४] अर्थात् रूपक वह अलंकार है जिसमें उपमान का उपमेय पर अभेद आरोप रहता है। इससे भिन्न रूपक अद्यतन एक भिन्न अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यह अंग्रेजी के (Allegory) का पर्याय है जिसे कथा-रूपक कहते हैं।[५] कथा-रूपक में रूपक अलंकार

---

१. कामायनी का आमुख, पृष्ठ ७।
२. डा० विजयेन्द्र स्नातक : महाकवि प्रसाद, पृष्ठ १२१।
३. प्रसाद : कामायनी का आमुख, पृष्ठ ४।
४. काव्य प्रकाश, पृष्ठ १०,१३९।
५. (a) "An allegory is a prolonged metaphor in which typically a series of actions are symbolic of other actions (while the characters often are type or personifications."
(Webster's New International Dictionary, p. 68)

की भाँति अप्रस्तुत कथा का प्रस्तुत कथा पर अभेद आरोप होता है। प्रस्तुत कथा स्थूल घटना-प्रधान होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म, सैद्धान्तिक। यह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक भी हो सकती है और नैतिक भी, वैज्ञानिक भी हो सकती है और मनोवैज्ञानिक भी; परन्तु यह स्थूल कथानक के साथ सूक्ष्म रूप से गुथी हुई होती है, इसका रूप अमूर्त होता है अर्थात् यह मूर्त कथानक में से ध्वनित होती है। इसका सम्बन्ध प्रबन्धकाव्य की प्रासंगिक कथा की भाँति जुड़ा हुआ नहीं होता। इस प्रकार इस विशिष्ट अर्थ में रूपक से तात्पर्य एक ऐसी द्व्यर्थक कथा से है जिसमें किसी सैद्धान्तिक अप्रस्तुतार्थ अथवा अन्यार्थ का प्रस्तुत अर्थ पर अभेद आरोप रहता है।'[1]

कामायनी में यह रूपक-तत्व निश्चित रूप से विद्यमान है भले ही वह गौण रूप लिए हुए हो। कामायनी की प्रस्तुत कथा में श्रद्धा, मनु के सहयोग से मानव-सृष्टि के विकास के साथ उसके नायक द्वारा चरम शान्ति और परमानन्द की उपलब्धि दिखाई गई है। और अप्रस्तुत कथा जीव के अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक आध्यात्मिक यात्रा, मानसिक संघर्ष और इच्छा, क्रिया, ज्ञान के समन्वय द्वारा अखण्ड घन-आनन्द की प्राप्ति में ही पर्यवसित हुई है। कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक-पौराणिक है तथा उसका अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक है। इस प्रकार प्रसादजी ने मनु की कथा को इस तरह अनुस्यूत कर दिया है कि दोनों कथाएँ अभिन्न हो गई हैं। कामायनी की कथा के अप्रस्तुत पक्ष में प्रसादजी ने उपनिषदों के मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को बड़ी कुशलता से पिरो दिया है। अतः यहाँ हम कथा में आए हुए पात्रों तथा घटनाओं की प्रतीकात्मकता पर संक्षेप में उल्लेख करेंगे ताकि उनका वैदिक-दर्शन से साम्य-वैषम्य दिखाया जा सके जो इस प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का मुख्य विषय है।

**कामायनी की कथा की प्रतीकात्मकता**—जहाँ तक कामायनी में आए पात्रों की प्रतीकात्मकता का प्रश्न है उस पर प्रकाश उनकी भावमूलक व्याख्या करते समय ही डाला जा चुका है। तदपि तारतम्य बनाए रखने की दृष्टि से पुनः उनका उल्लेख कर देना अनुचित प्रतीत नहीं होता।

कामायनी में तीन पुरुष पात्र (मनु, किलाताकुली और कुमार), दो स्त्री पात्र (श्रद्धा और इडा), दो पशु पात्र (श्रद्धा का पालित पशु और वृषभ), तथा दो अशरीरी पात्र (काम और लज्जा) हैं।

(१) कामायनी का प्रमुख पात्र मनु मन का अर्थात् मनोमय कोश के स्थित जीव का प्रतीक है।

---

(b) "An allegory exists when one or more meanings additional & parallel to the literal sense and distinct from it, are embodied in story or image."

(Cassell's Encyclopaedia, Vol. 1, p. ५.)

१. डा० नगेन्द्र : कामायनी में रूपक तत्व (लेख) से।

(२) श्रद्धा, प्रसादजी के अनुसार हृदय की उदात्त रागात्मिका वृत्ति की प्रतीक है।

(३) इड़ा स्पष्टतः बुद्धि का प्रतीक है। प्रसादजी ने स्पष्ट रूप से उसके व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल' यह कथन बुद्धि के तर्कात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही प्रयुक्त किया गया है।

(४) मनु 'कुमार' नव मानव का प्रतीक है जो अपने पिता से मनन-शीलता, माता से श्रद्धा अर्थात् हार्दिक गुण और इड़ा से बुद्धि ग्रहण कर पूर्ण मानवत्व को प्राप्त होता है।

(५) 'किलाताकुली' मानव-मन की आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। इसी प्रकार श्रद्धा-पालित 'पशु' जीव, दया, करुणा, आधुनिक अर्थ में अहिंसा का प्रतीक है। 'वृषभ' धर्म का प्रतिनिधि है। स्वयं प्रसादजी ने कामायनी में स्पष्टतः उसे 'सोमलता से आवृत्त वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि'[1] कहा है।

इनके अतिरिक्त—देव, सोमलता, जलप्लावन, त्रिलोक एवं मानसरोवर ये चार-पाँच प्रतीक रह जाते हैं।

इनमें देव इन्द्रियों के प्रतीक हैं, सोमलता को डा० नगेन्द्र ने भोग का प्रतीक, जलप्लावन को अन्नमय कोश का, और मानसरोवर को समरसता की अवस्था का प्रतीक माना है। 'त्रिलोक' तो स्पष्टतः भाव, कर्म तथा ज्ञान वृत्ति के प्रतीक हैं ही। इसी प्रकार कैलाश पर्वत आनन्दमय कोश का तथा सारस्वत प्रदेश जीव के निम्नतर कोश—प्राणमय कोश—का प्रतीक है।[2]

कामायनी की कथा के अप्रस्तुत-पक्ष से सम्बद्ध ये समस्त प्रतीक मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक महत्त्व के हैं जिनका सम्बन्ध वेद एवं उपनिषदों में वर्णित विचार-धारा के अनुसार मनुष्य के आन्तरिक एवं मनोवैज्ञानिक विकास से है। वैदिक विचार-धारा में इस मनोवैज्ञानिक-विकास का क्या स्वरूप है पहले इस पर चर्चा कर लें तब कामायनी में उसका किस प्रकार निर्वाह हुआ है उस पर प्रकाश डालेंगे।

वैदिक-वाङ्मय में सप्त व्याहृतियों का वर्णन आया है। इनमें से तीन 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' का वर्णन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में[3] चौथी 'महः' का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् में[4] मिलता है। शेष का नाम तो वेद में नहीं मिलता, पर उल्लेख अवश्य आया है। अन्य व्याहृतियों—'जनः' 'तपः' 'सत्यम्'[5]—का नाम अन्य उपनिषदों और ग्रन्थों में आया है। इनमें सबसे अन्तिम व्याहृति 'सत्य' है। यह 'सत्य' चैतन्य का

---

१. कामायनी, पृष्ठ २८४।
२. डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृष्ठ ४५ से ४८ तक।
३. यजुर्वेद ३६,३।
४. दे०, तै० उ० १,५।
५. तैत्तिरीय-आरण्यक प्रपाठक १०, अनुवाक २७।

शुद्ध रूप कहा गया है। इसके उपरान्त तपः, जनः, महः, भुवः, और 'भू' हैं। ये चेतना के विकास के क्रमशः सात स्तर हैं जिन्हें सात लोक कहा गया है। इनका सम्बन्ध ब्रह्माण्ड के विकास से है। ब्रह्म अपने-आपको इन विभिन्न स्तरों में व्यक्त करता हुआ सृष्टि करता है। 'भूः' अपने अस्तित्व के लिए भुवः, भुवः अपने अस्तित्व के लिए स्वः पर इसी प्रकार पूर्ववर्ती लोक अपने परवर्ती लोक की सत्ता पर आश्रित है। सत्य इन सब में व्याप्त है, पर उसका अंश निम्न स्तरों में क्रमशः कम होता जाता है। 'भूः' उसकी सत्ता की अभिव्यक्ति का स्थूलतम रूप है और 'सत्य' उसका सूक्ष्मतम रूप। सत्यलोक, श्रेष्ठतम है और वही प्राप्तव्य है।

**औपनिषदिक पंचकोश**—ब्रह्माण्ड में सप्त लोकों अथवा स्तरों की कल्पना की भाँति उपनिषदों में पिण्डाण्ड में, मानव के अन्तर में पाँच कोशों की कल्पना की गई। तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली में प्रथम से पंचम अनुवाक् तक पंचकोशों का विस्तार से उल्लेख आया है। ये पंच कोश क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोश हैं।

**अन्नमय कोश**—अन्न से उत्पन्न पुरुष को उपनिषदों में 'अन्नरसमयः' कहा गया है। भुक्त अन्न से रस, माँस, मेद, मज्जादि सप्त धातुओं का निर्माण होता है। मनुष्य का यह भौतिक स्थूल शरीर अन्न से ही पलता है, उसी पर आश्रित है तथा सारी क्रियाएँ अन्न से ही संचालित होती हैं। इसीलिए भौतिक स्थूल विषयों में रमण करने वाले पुरुष को उपनिषद् 'स वा एष पुरुषोन्नरसमयः' (२,१) कहकर पुकारती है। मनुष्य का बाह्य स्थूल शरीर और भौतिक विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की गणना अन्नमय कोश में होती है इसमें संवेदन, ज्ञान एवं क्रिया ये तीन शक्तियाँ काम करती हैं। इसे भौतिक लोक भी कह सकते हैं। इस कोश में निवास करने वाला जीवात्मा चेतना के निम्नतम स्तर पर रहता है इसमें क्रिया की प्रधानता है। इन्द्रियों की विषयोन्मुखता इस कोश में रहने वाले जीवात्मा की सबसे बड़ी विशेषता है।

**प्राणमय कोश**—अन्न के रस से निर्मित पर स्थूल शरीर से भिन्न उस स्थूल शरीर के भीतर रहने वाला एक और शरीर है जिसे प्राणमय कोश कहते हैं। अन्नमय शरीर इस प्राणमय कोश पर ही आधारित है। यह प्राणमय शरीर पुरुष के आकार का ही कहा गया है। इस प्राणमय शरीर के अन्तर्गत प्राण, अपान, व्यान आदि दशों प्राणों की क्रियाएँ सम्मिलित हैं। सम्पूर्ण अन्नमय कोश को गति इसी कोश से प्राप्त होती है। अन्नमय कोश के कण-कण में प्राण समाया हुआ है। इसके अभाव में अन्नमय कोश में होने वाली सभी क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। इसी की शक्ति पाकर अन्नमय कोश के सारे व्यापार चल रहे हैं। इसका सम्बन्ध भी स्थूल भौतिकता से ही है अर्थात् प्राणमय कोश भी क्रिया-प्रधान है। सम्पूर्ण प्राणी इसी से ही जीवन प्राप्त करते हैं। अतः प्राण को ब्रह्म रूप से उपासना करने वाला पूर्ण आयु को प्राप्त करता है, पर इसकी गणना भी निम्नतर कोश के रूप में ही हुई है।

**मनोमय कोश**—प्राणमय पुरुष से भिन्न पर उसके भीतर रहने वाला पुरुष मनोमय कहा गया है। यह पूर्वोक्त प्राणमय शरीर मनोमय पुरुष से व्याप्त है। अर्थात् प्राणमय शरीर की सारी हलचल मनोमय शरीर पर ही आधारित है। मनुष्य के चित्त में उठने वाले विभिन्न संकल्प-विकल्पों, भावनाओं, इच्छाओं, का सम्बन्ध इसी कोश से है। मनुष्य जीवन की समस्त बाह्याभ्यन्तरिक क्रियाएँ इसी कोश से परिचलित होती हैं। पर यह कोश भी स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं है।

अन्नमय कोश से लेकर मनोमय कोश तक जीव में अहंकार का भाव बड़ा प्रबल रहता है, विषयों में भोग की आसक्ति बनी रहती है तथा मनुष्य की समस्त क्रियाएँ लौकिक जगत् से सम्बद्ध होने के कारण उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी और भेद को उत्पन्न करने वाली होती है। यह मनोमय कोश बहुत महत्त्वपूर्ण है इसे उपनिषदों में अन्यत्र कहा है—'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो:।'[1] इन्द्रियों से संयुक्त हो जाने पर यह मन जीव को बाह्य विषयों की ओर ले जाता है तथा मनुष्य के बन्धन का कारण बनता है। पर अन्तरात्मा से संयुक्त हो जाने पर जीव को चेतना के ऊर्ध्व सोपानों पर ले चलने के लिए प्रेरित करता है। इस कोश में ज्ञानशक्ति की प्रधानता है।

**विज्ञानमय कोश**—इतना यह पूर्ण होते हुए भी यह मनोमय कोश इससे भी सूक्ष्म विज्ञानमय कोश पर आधारित है, क्योंकि इसी की सहायता से विज्ञानात्मा यज्ञों का विस्तार करती है, शुभकर्मों का सम्पादन कर पुण्यों का अर्जन करती है। उपनिषद् में कहा है कि—विज्ञानमय पुरुष की ब्रह्म-रूप से उपासना करने पर जीवात्मा अनेक जन्मों के संचित पाप-समुदाय को शरीर में ही छोड़कर समस्त दिव्य भोगों का अनुभव करता है। इस कोश में पहुँचकर जीव भेद और अभेद दोनों का अनुभव करता है। भौतिक भागों से पर्याप्त ऊपर उठ जाता है, पर यह कोश भी स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं है। यह अपनी सत्ता के लिए अपने से भिन्न अन्य सत्ता पर आधारित है। जिसे आनन्दमय परमात्मा कहते हैं।

**आनन्दमय कोश**—'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्माऽऽनन्दमयः।'[2] सत्ता का यह अन्तिम स्तर आनन्दमय कोश कहा गया है। यह विज्ञानमय कोश से भी सूक्ष्म है। जीवन का लक्ष्य इस स्तर में पहुँचकर आनन्दमय आत्मा की अपरोक्षानुभूति प्राप्त करना ही है। इस कोश में पहुँच कर जीवात्मा अस्मिता को, सम्पूर्ण पाप-पुण्य को, स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों को, समस्त विद्या-अविद्या को त्यागकर अखण्ड एकरस आत्मा का अनुभव करता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की स्थितियों को त्यागकर तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है, जहाँ सारे प्रपंचों का सर्वथा अभाव हो जाता है, केवल कल्याणमय अद्वितीय तत्व पर-ब्रह्म परमात्मा की, केवल शिव की

---

१. मैत्रायणी उपनिषद्।
२. तै० उ०, पंचम अनुव

अनुभूति मात्र रह जाती है।[1] यही कोश सत्ता का सर्वोच्च शिखर है।

**कामायनी की कथा का अप्रस्तुत पक्ष**—प्रसादजी ने मनु के चरित्र के माध्यम से चिन्ता से संघर्ष सर्ग तक, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोश में स्थित जीव की विभिन्न प्रवृत्तियों—चिन्ता, संकल्प-विकल्प, अहंकार, स्वार्थ, काम, वासना, ईर्ष्या, हिंसा, संघर्ष आदि—का चित्रण विस्तार से किया है। संघर्ष सर्ग तक मनु वहिर्मुखी होकर नाना प्रकार के कामों में संलग्न रहते हैं। पर लौकिक विषयों में उन्हें किसी प्रकार का सुख-चैन, शांति-संतोष कुछ भी तो नहीं प्राप्त होता। निर्वेद-सर्ग से उसे अपने पिछले कार्यों पर क्षोभ और खेद होता है, विषय-वासना में लिप्त रहने के कारण जो कष्ट सहे हैं उन पर उसे ग्लानि होती है, वे फिर श्रद्धा को छोड़कर भाग खड़े होते हैं। श्रद्धा उन्हें फिर ढूंढ़ लेती है। अब वे विषयों की लौकिकता से पराङ्मुख होकर अन्तर्मुखी हो जाते हैं। श्रद्धा उन्हें नटराज के चरणों तक ले जाती है। मार्ग की वाधाओं से भयभीत होकर फिर पीछे लौट पड़ने को उद्यत होते हैं। श्रद्धा उन्हें साहस प्रदान करती है। निराधार स्थान पर पहुँच श्रद्धा उन्हें भाव, क्रिया और ज्ञान के तीन पृथक्-पृथक् गोलकों को दिखाती है और समझाती है कि इनका पृथक्करण ही सारी विषमता का मूल है। यह स्तर विज्ञानमय लोक (कोश) का स्तर है जहाँ पार्थिवता बहुत पीछे छूट जाती है, पर भेद और अभेद दोनों ही की अनुभूति बनी रहती है। श्रद्धा की स्मिति से वे तीनों गोलक मिलकर एक हो जाते हैं। जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति की सभी स्थितियाँ नष्ट हो जाती हैं। सर्वत्र, अभेद, समत्व, समरसता, आनन्द-ही-आनन्द छा जाता है। यही आनन्दमय-लोक (कोश) की स्थिति है। यहीं कामायनी की कथा समाप्त हो जाती है।

इस प्रसंग में यहाँ कामायनी के इस पक्ष पर तनिक विस्तार से चर्चा करेंगे।

कामायनी की कथा का प्रारम्भ चिन्ता-सर्ग से होता है। मनु देव-सृष्टि के विनाश पर चिन्तित हो उठते हैं। देव-सृष्टि के विनाश का मुख्य कारण था उनकी प्रवृद्ध अहम्मन्यता और अति-विलासिता की वृत्ति। मनु स्वयं इस देव-सृष्टि के अंग थे अतः उनका चिन्तित हो उठना स्वाभाविक ही था। दैवयोग से देव-सृष्टि के अंतिम प्रतिनिधि के रूप में वे ही बचे रहते हैं। प्रलय का जल उतर जाने पर अग्निहोत्र प्रारम्भ कर देते हैं। यहाँ उनका प्रकृत रूप मननशील और अहंकारी जीव जैसा है। वे अहंकारमय, निष्क्रिय चिन्तन-मनन के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। उनका जागृत अहं-भाव चीत्कार कर उठता है—

"मैं हूं यह वरदान सदृश क्यों,
लगा गूंजने कानों में।
मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूं',
शाश्वत नभ के गानों में।" (पृ० ३५)

यह जीव का जागृत अहं ही है जो उसे स्वार्थमय कार्यों की ओर प्रेरित करता है। वासना की पूर्ति के लिए जीवन की इच्छा जागृत होती है—

"तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जी कर क्या करना होगा ?
देव ! बता दो अमर वेदना,
लेकर कब अमर होगा ?" (पृष्ठ ३६)

और जब जीने की इच्छा के जग पड़ने के साथ कर्म-तन्तु विस्मृत होने लगे और तप से अर्जित बल जब जोर मारने लगा तो मनु के मन में—

"नव हो जगी अनादि वासना,
मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।" (पृ० ४३)

और जब प्राकृतिक भूख के समान जाग पड़ी अनादि वासना की तृप्ति का कोई उपाय नहीं दिखाई दिया तो उनके मन का व्याकुल हो उठना स्वाभाविक ही था। वे अकेले इस पीड़ा को तब तक झेलते रहे जब तक काम और रति की पुत्री श्रद्धा से उनका संयोग नहीं होता। श्रद्धा के सम्पर्क से जीवन में आई हुई निराशा अब आशा में बदलने लगती है, जीवन के प्रति आकर्षण तथा स्फूर्ति का उदय होता है। श्रद्धा के सहयोग से उनमें अहंकार का थोड़ा परिष्कार अवश्य होता है, 'स्व' से 'पर' की ओर झुकते हैं, पर बीच-बीच में उनका अहंकार फिर उभर पड़ता है और आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक किलाताकुली की प्रेरणा से वे पशु-यज्ञ (हिंसा) और सोमरस (भोग) के पान में लीन हो जाते हैं। श्रद्धा मनु के हिंसा-कर्म पर रोष प्रकट करती है, पर उसका मनु पर कोई विशेष रूप से प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, जब तक वे श्रद्धा के प्रभाव में रहते हैं, उनके अहं का संस्कार होता रहता है। परन्तु यह स्थिति अधिक नहीं बनी रहती, वे आसन्न-गर्भा श्रद्धा से जो भावी संतान के लिए आवश्यक उपकरण जुटाने में लग जाती है, द्वेष करने लग जाते हैं, उनका अहं फिर प्रबल हो उठता है...

"यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में,
मैं रमण करूँ बन एक तत्व॥ (पृ० १६१)

वे पुनः 'पर' से 'स्व' की ओर लौट पड़ते हैं और श्रद्धा से विमुख होकर अपने में खो जाते हैं। यहाँ तक औपनिषदिक दर्शन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार घोर स्वार्थ, संकुचित अहं, हिंसा, विषय-लोलुपता और स्थूल भौतिक भोगों में आकण्ठ-मग्न जीव के अन्नमय कोश में स्थित रहने की दशा का वर्णन है। यह स्थिति उपनिषद् में अविद्या-माया से ग्रस्त जीव की स्थिति कही गई है। कारण स्पष्ट है कि इन्द्रियों के संयोग से विषयों का उपभोग करने में आनन्द तो मिलता है, पर वह क्षणिक ही होता है

उन भोगों से चिरस्थायी आनन्द प्राप्त नहीं होता। यम ने नचिकेता को मृत्यु का रहस्य बताने से पूर्व इच्छानुसार दुर्लभ भौतिक-विषयों के उपभोग की सामग्री प्रदान करने का लोभ दिया था।[1] पर नचिकेता उन भोगों की क्षण-भंगुरता से परिचित था, उसमें सात्त्विक बुद्धि का उदय हो चुका था, अतः उसने यमराज से कहा कि 'जिन भोगों का आप वर्णन कर रहे हैं वे क्षणभंगुर हैं। और उनसे प्राप्त होने वाला सुख मनुष्य के अन्तःकरण-सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर डालता है, और समस्त आयु भी चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो अल्प ही है इसलिए ये आपके रथादि वाहन और अप्सराओं के नाच-गाने आप ही के पास रहें।[2] नचिकेता जिन पार्थिव विषयों को अस्वीकार करता है मनु उन्हीं के पीछे लोलुप होकर दौड़ते हैं और गहरी आसक्ति मे डूब जाते हैं, और इस प्रकार असमर्थ होने के कारण दीनता-पूर्वक मोहित हुए, शोक को प्राप्त करते है।[3]

श्रद्धा से विमुख होने पर मनु की वृत्तियों में पुनः अस्त-व्यस्तता आ जाती है। वे भटकते हुए सारस्वत प्रदेश पहुँचते हैं। रूपक की दृष्टि से यह सारस्वत प्रदेश की ओर प्रयाण जीव का अन्नमय कोश से निकल कर प्राणमय कोश की ओर अग्रसर होना है।[4] यहाँ मनु का इड़ा की भाँति जीव का बुद्धि से मिलन होता है जो उसे बुद्धिवाद की दीक्षा देकर भौतिक-जीवन की ओर प्रेरित करती है—

**जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर नर किसकी शरण जायें।**

× × ×

**'यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन।**
**तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन॥**
**सबका नियमन शासन करते बस बढ़ो चलो—अपनी क्षमता।**

× × ×

**तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय।'** (पृ० १७९)

इडा (बुद्धि) का मनु (जीव) पर ऐसा चमत्कारी प्रभाव पड़ा कि वे बुद्धि-बल से प्राकृतिक साधनों को संगठित करके उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश (प्राणमय कोश) को अनुशासित करते हैं, श्री-वृद्धि बढ़ती है, श्रम और कर्म का विभाजन होता है, वर्ग बनते हैं और इस प्रकार जीवन में भौतिक संघर्ष की नींव पड़ती है। मनु (जीव) फिर सत्ता के हाथ में आ जाने पर निरंकुश बन जाते हैं और उनका अहं फिर उभरने लगता है। और यहाँ तक निरंकुशता बढ़ती है कि इडा (बुद्धि) पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं, पर उन्हें अपने प्रयत्न में असफलता मिलती है। विद्रोह

---

१. कठ० उ० १,२५।
२. वही, १,२६।
३. श्वे० उ० ४,६।
४. डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ४८।

यह जीव का जागृत अहं ही है जो उसे स्वार्थमय कार्यों की ओर प्रेरित करता है। वासना की पूर्ति के लिए जीवन की इच्छा जागृत होती है—

"तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जी कर क्या करना होगा?
देव! बता दो अमर वेदना,
लेकर कब अमर होगा?" (पृष्ठ ३६)

और जब जीने की इच्छा के जग पड़ने के साथ कर्म-तन्तु विस्मृत होने लगे और तप से अर्जित बल जब जोर मारने लगा तो मनु के मन में—

"नव हो जगी अनादि वासना,
मधुर प्राकृतिक भूख समान।
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।" (पृ० ४३)

और जब प्राकृतिक भूख के समान जाग पड़ी अनादि वासना की तृप्ति का कोई उपाय नहीं दिखाई दिया तो उनके मन का व्याकुल हो उठना स्वाभाविक ही था। वे अकेले इस पीड़ा को तब तक झेलते रहे जब तक काम और रति की पुत्री श्रद्धा से उनका संयोग नहीं होता। श्रद्धा के सम्पर्क से जीवन में आई हुई निराशा अब आशा में बदलने लगती है, जीवन के प्रति आकर्षण तथा स्फूर्ति का उदय होता है। श्रद्धा के सहयोग से उनमें अहंकार का थोड़ा परिष्कार अवश्य होता है, 'स्व' से 'पर' की ओर झुकते हैं, पर बीच-बीच में उनका अहंकार फिर उभर पड़ता है और आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक किलाताकुली की प्रेरणा से वे पशु-यज्ञ (हिंसा) और सोमरस (भोग) के पान में लीन हो जाते हैं। श्रद्धा मनु के हिंसा-कर्म पर रोष प्रकट करती है, पर उसका मनु पर कोई विशेष रूप से प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, जब तक वे श्रद्धा के प्रभाव में रहते हैं, उनके अहं का संस्कार होता रहता है। परन्तु यह स्थिति अधिक नहीं बनी रहती, वे आसन्न-गर्भा श्रद्धा से जो भावी संतान के लिए आवश्यक उपकरण जुटाने में लग जाती है, द्वेष करने लग जाते हैं, उनका अहं फिर प्रबल हो उठता है···

"यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में,
मैं रमण करूँ बन एक तत्व॥ (पृ० १६१)

वे पुनः 'पर' से 'स्व' की ओर लौट पड़ते हैं और श्रद्धा से विमुख होकर अपने में खो जाते हैं। यहाँ तक औपनिषदिक दर्शन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के अनुसार घोर स्वार्थ, संकुचित अहं, हिंसा, विषय-लोलुपता और स्थूल भौतिक भोगों में आकण्ठ-मग्न जीव के अन्नमय कोश में स्थित रहने की दशा का वर्णन है। यह स्थिति उपनिषद् में अविद्या-माया से ग्रस्त जीव की स्थिति कही गई है। कारण स्पष्ट है कि इन्द्रियों के संयोग से विषयों का उपभोग करने में आनन्द तो मिलता है, पर वह क्षणिक ही होता है

उन भोगों से चिरस्थायी आनन्द प्राप्त नहीं होता। यम ने नचिकेता को मृत्यु का रहस्य बताने से पूर्व इच्छानुसार दुर्लभ भौतिक-विषयों के उपभोग की सामग्री प्रदान करने का लोभ दिया था।[1] पर नचिकेता उन भोगों की क्षण-भंगुरता से परिचित था, उसमें सात्त्विक वुद्धि का उदय हो चुका था, अतः उसने यमराज से कहा कि 'जिन भोगों का आप वर्णन कर रहे हैं वे क्षणभंगुर हैं। और उनसे प्राप्त होने वाला सुख मनुष्य के अन्तःकरण-सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों के तेज को क्षीण कर डालता है, और समस्त आयु भी चाहे वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो अल्प ही है इसलिए ये आपके रथादि वाहन और अप्सराओं के नाच-गाने आप ही के पास रहें।[2] नचिकेता जिन पार्थिव विषयों को अस्वीकार करता है मनु उन्हीं के पीछे लोलुप होकर दौड़ते हैं और गहरी आसक्ति में डूब जाते हैं, और इस प्रकार असमर्थ होने के कारण दीनता-पूर्वक मोहित हुए, शोक को प्राप्त करते है।[3]

श्रद्धा से विमुख होने पर मनु की वृत्तियों में पुनः अस्त-व्यस्तता आ जाती है। वे भटकते हुए सारस्वत प्रदेश पहुँचते हैं। रूपक की दृष्टि से यह सारस्वत प्रदेश की ओर प्रयाण जीव का अन्नमय कोश से निकल कर प्राणमय कोश की ओर अग्रसर होना है।[4] यहाँ मनु का इड़ा की भाँति जीव का बुद्धि से मिलन होता है जो उसे बुद्धिवाद की दीक्षा देकर भौतिक-जीवन की ओर प्रेरित करती है—

**जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर नर किसकी शरण जाये।**

× × ×

**'यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन।**
**तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन॥**
**सबका नियमन शासन करते बस बढ़ो चलो—अपनी क्षमता।**

× × ×

**तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय।'** (पृ० १७९)

इडा (बुद्धि) का मनु (जीव) पर ऐसा चमत्कारी प्रभाव पड़ा कि वे बुद्धि-बल से प्राकृतिक साधनों को संगठित करके उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश (प्राणमय कोश) को अनुशासित करते हैं, श्री-वृद्धि बढ़ती है, श्रम और कर्म का विभाजन होता है, वर्ग बनते हैं और इस प्रकार जीवन में भौतिक संघर्ष की नींव पड़ती है। मनु (जीव) फिर सत्ता के हाथ में आ जाने पर निरंकुश बन जाते हैं और उनका अहं फिर उभरने लगता है। और यहाँ तक निरंकुशता बढ़ती है कि इडा (बुद्धि) पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते है, पर उन्हें अपने प्रयत्न में असफलता मिलती है। विद्रोह

---

१. कठ० उ० १,२५।
२. वही, १,२६।
३. श्वे० उ० ४,६।
४. डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ४६।

होता है, रुद्र के कोप-भाजन बनते हैं। एक बार फिर प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो जाता है। मनु (जीव) पराजित होते हैं।

सांकेतिक-अर्थ के अनुसार जीव का मन श्रद्धा के अभाव में अपने प्रकृत रूप में मननशील तथा अहंकारी है। श्रद्धावान् होकर ही मन का उचित दिशा में संस्कार होता है। श्रद्धा-युक्त मन से ही मानव के जीवन में उदार और उदात्त वृत्तियों का उदय होता है, आसुरी वृत्तियाँ दबती है, अहं का परिमार्जन होता है। तभी मनोमय कोश से ऊपर उठने लगता है।[1] पर ज्यों ही मन श्रद्धा का पल्ला छोड़ देता है, तुरन्त वह निम्नतर कोशों की ओर चल पड़ता है और वहाँ बुद्धि के चक्र में फंस कर अपने लिए विद्रोह और संघर्ष की भूमिका का निर्माण कर लेता है। भेद-बुद्धि से जीवन खण्ड-खण्ड होने लगता है, सुख एवं शान्ति आकाश-कुसुमवत् असम्भव हो जाती है और अन्त में बुद्धि पर अधिकार जमाने की चेष्टा में जीव मानसिक प्रलय को ही निमन्त्रित कर लेता है।

## मनोमय कोश से विज्ञान और आनन्दमय कोशों की ओर प्रगति

इडा के संयोग से जब मनु का पतन हो जाता है तो उन्हें अपने ऊपर बड़ी ग्लानि होती है। यहाँ उनकी पुनः श्रद्धा से भेंट होती है। श्रद्धा बड़ी हार्दिकता से क्षतविक्षत मनु की सेवा-शुश्रूषा करके पुनः स्वस्थ बना देती है तथा कष्ट एवं आत्म-ग्लानि की स्थिति से उबार कर फिर से कर्मशील जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती है। इसी स्थल पर श्रद्धा को इडा के दर्शन होते हैं। श्रद्धा सर्वप्रथम इडा की अति बुद्धि-वादिता की आलोचना करती है, पर अन्त में उसे क्षमा-दान भी देती है। यहाँ तक कि अपने पुत्र कुमार को भी उसे सौंप देती है। स्वयं पुनः ग्लानिवश पलायित मनु को खोजने के लिए चल पड़ती है। सरस्वती नदी के निकट तपस्या-रत मनु श्रद्धा को मिल जाते हैं। यहाँ से श्रद्धा मनु को अपने साथ लेकर हिमालय की ओर चल पड़ती है। हिमालय के ऊर्ध्व शृंगों की ओर चढ़ते हुए मार्ग में उन्हें भाव-लोक, कर्म-लोक एवं ज्ञान-लोक के प्रतीक-रूप तीन गोलक दृष्टिगोचर होते हैं। श्रद्धा इन तीनों गोलकों का रहस्य समझाती हुई मनु से कहती है कि जब तक ये तीनों पृथक्-पृथक् रहते हैं तब तक विश्व अनेक प्रकार की विडम्बनाओं से ग्रस्त रहता है। पर इन तीनों के मिल जाते ही सर्वतः सुख-शान्ति एवं आनन्द का राज्य छा जाता है। इस प्रकार इनका रहस्य समझाते ही श्रद्धा की मुस्कान प्रकाश-किरण बनकर तीनों गोलकों में दौड़ जाती है। तीनों गोलक मिलकर एक हो जाते हैं और तत्क्षण ही मनु के जीवन की समस्त विडम्बनाओं का अन्त हो जाता है। श्रद्धायुत मनु पूर्ण आनन्द में निमग्न हो जाते हैं।

प्रतीक की दृष्टि से भौतिक सुखवाद एवं बुद्धि का अतिरेक मन को पूर्ण रूप

---

१. 'श्रद्धवांल्लभते ज्ञानम्', गीता ४,३९।

से पतन की ओर ले जाता है। उपनिषदों में स्पष्ट कहा है कि आत्म-तत्व अतिबुद्धि-वाद से प्राप्त नहीं किया जा सकता—'नैषातर्केणमतिरापनीया।'[1] फलतः मन को सुख के स्थान पर दुःख का, आनन्द के स्थान पर कष्ट का आलिंगन करना पड़ता है जिससे मन को भयंकर ग्लानि और निर्वेद होता है। ऐसी स्थिति में यदि मन का श्रद्धा से (हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति से) पुनः संयोग हो जाता है तो पुनः उसके लिए उचित दिशा की प्राप्ति संभव हो जाती है तथा श्रद्धा-समवेत उस मार्ग पर धैर्य और साहसपूर्वक बढ़ते-बढ़ते मार्ग की सम्पूर्ण कठिनाइयों तथा विघ्न-बाधाओं का अतिक्रमण करते-करते जीव एक ऐसे शिखर पर पहुंच जाता है जहाँ उसे आत्मा की अपरोक्षानुभूति उपलब्ध होने में विलम्ब नहीं होता। यह शिखर प्रतीक की दृष्टि से चेतना का आनन्दमय कोश है। यहाँ पहुँच कर उसके जीवन की सारी विषमताओं का अन्त हो जाता है। श्रद्धा अथवा अन्तश्चेतना की प्रकाश-किरण (इनट्यूसन) से विभिन्न बिखरी हुई वृत्तियों में सामंजस्य की स्थापना हो जाती है। मन समत्व अथवा समरसता की अवस्था को प्राप्त कर आनन्द के अबाध सागर में अवगाहन करने लगता है तब कैसा शोक, कैसा मोह—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (यजु० ४०,७) और प्रसादजी भी उस स्थिति का चित्रण करते हैं—

> **'स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो,**
> **इच्छा, क्रिया, ज्ञान मिल लय थे।**
> **दिव्य-अनाहत पर निनाद में**
> **श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।'** (रहस्य, पृ० २४१)

अन्त में इडा एवं कुमार के नेतृत्व में कैलास पर्वत पर पहुँचे हुए सारस्वत प्रदेश के नागरिक भी समष्टि रूप से सोमलता (भोग) तथा वृषभ (धर्म-कर्म) का उत्सर्ग कर अखण्ड आनन्द में लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कामायनी निस्सन्देह रूपक है। कामायनी की रचना के समय यह वैदिक-रूपक स्पष्टतः प्रसादजी के मन में विद्यमान था।[2]

**निर्गुण-सगुण विवेचन**—कामायनी एक ऐसे आस्थावान् कवि की कृति है जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से परे विश्व के कारण-रूप एक महान् सत्ता में विश्वास रखता है। जो प्रारम्भ में भक्ति और विनय के गीत गाता है, प्रभु की महिमा का गुणानुवाद करता है, कहीं उसे पिता मानकर पुत्रवत् वात्सल्य की आकांक्षा करता है, और कहीं उसके साथ अपने हृदय का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके प्रेम और मिलन-विरह की अनुभूति प्राप्त करता है। प्रेमावस्था में वह उसे प्रियतम, प्रिय, प्राणाधार, प्राण-वल्लभ आदि नाना सम्बोधनों से पुकारता है जो पति-पत्नी के प्रेम की भाँति निकटता और सहज सम्बन्ध के द्योतक हैं। उसके द्वारा उपेक्षा किये जाने पर कवि खीझकर,

---

१. कठ० २,९।

२. डा० नगेन्द्र : कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ० ४७।

कभी उपालम्भ और कभी व्यंग्य-परक उक्तियों से उसका स्वागत करता है, वह उसे निर्मम और निष्ठुर तक कहने में संकोच नहीं करता। परमात्मा से विरह की अनुभूति की अवस्था में जो वेदना उसके अन्तर से उमड़ती है वह इतनी मार्मिकता लिए होती है कि सहृदय पाठक भी उसकी इस दशा पर विह्वल हुए विना नहीं रह पाता है। उस पर-सत्ता के प्रति कवि का आत्म-निवेदन, जिज्ञासा और विरह-मिलन की सरस अनुभूतियाँ उनके समस्त गीतिकाव्य में बिखरी पड़ी है। कवि की श्रद्धा-भक्ति का आधार यह प्रभु सगुण भक्त-कवियों की भाँति साकार नहीं है, वह राम और कृष्ण की भाँति अवतारी नहीं है, वह तो कबीर आदि रहस्यवादी संतों की भांति सगुण-निराकार है जो निर्गुण का ही भावात्मक स्वरूप है। निर्गुण-निराकार के सम्बन्ध में श्रुतियाँ नेति-नेति कहकर उसका निर्देश करती हैं। उसका निषेधात्मक लक्षणों द्वारा ही परिचय देती हैं। उसे भाव और अनुभूति का विषय बनने के लिए सगुण रूप धारण करके आना पड़ता है।

प्रसाद के काव्य में भी जब उसमें तात्त्विक स्वरूप का वर्णन हुआ है तो उसकी निर्गुण-सगुण दोनों रूपों में चर्चा हुई है, पर जब भावना की भूमि पर उसका भावन किया गया है तब वह निश्चय ही सगुण रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

कामायनी में 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्ग में ब्रह्म के स्वरूप की चर्चा आई है। श्रद्धायुत मनु जब पार्थिव चेतना से ऊपर उठकर ऊर्ध्व स्तरों पर आरोहण करते हैं तब उन्हें आलोक पुरुष के दर्शन होते हैं—

**'वह रजत और उज्ज्वल जीवन,**
**आलोक पुरुष मंगल चेतन।**
**केवल प्रकाश का था कलोल,**
**मधु किरणों की थी लहर लोल।'** (पृ० २६०)

वेद और उपनिषदों में उस ब्रह्म के भावात्मक स्वरूप का वर्णन 'ज्योति पुरुष' के रूप में किया गया है। प्रसादजी भी उस ब्रह्म को, परा-सत्ता को 'आलोक पुरुष' कहकर पुकारते हैं। अन्यत्र प्रसादजी ने भी शैवदर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में उस ज्योति-पुरुष का नटराज कह कर परिचय दिया है—

**'नटराज स्वयं थे नृत्य निरत'।** (वही)

कहीं उसे 'प्रभा पुंज चितिमय' कहा है—

**'वह प्रभा पुंज चितिमय प्रसाद'।** (पृ० २६१)

उपनिषदों में उसे सत् चित् आनन्द कह कर उसका लक्षण दिया है। प्रसादजी का 'चितिमय' और उपनिषदों का 'चित्' समान वाची ही तो है। वह परासत्ता चैतन्य-स्वरूप और प्रकाश स्वरूप है उसी के प्रकाश से सब भासित होते हैं—

**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।** (श्वे० उ० ६,१४)

उपनिषदों में निर्गुण के स्वरूप का वर्णन देते हुए कहा है कि वहाँ न तो सूर्य प्रका-

शित होता है, न चन्द्रमा, न नक्षत्र, न विद्युत, फिर ये भौतिक अग्नियां वहाँ कैसे प्रकाशित हो सकती हैं।

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।' (श्वे० ६,१४)

प्रसादजी ने उसके इस स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

'ऊष्मा का अभिनव अनुभव था
ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे,
दिवा रात्रि के संधि-काल में
ये सब कोई नहीं व्यरत थे।'

× × ×

'ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित
भू-मण्डल रेखा विलीन सी
निराकार उस महादेश में
उदित सचेतनता नवीन सी।' (पृ० २६९)

मनु ऐसे प्रदेश में उठ चुके थे जहाँ अभिनव ऊष्मा का अनुभव हो रहा था, जहाँ ग्रह, तारा, नक्षत्र सभी अस्त थे, वहाँ ऋतुओं के स्तर तिरोहित हो चुके थे और भू-मण्डल की रेखा विलीन हो चुकी थी। वेद में सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म का जो वर्णन किया है वह भी ऐसा ही है। वहाँ कहा है—

'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'[1] वह निराधार ब्रह्म विना वायु के अपनी ही शक्ति से सांस ले रहा था।

श्वे०[2] में ब्रह्म के शक्ति-समन्वित रूप का वर्णन किया है। प्रसादजी भी उस चेतन पुरुष को शक्ति से समन्वित रूप में उपस्थित करते हैं—

"चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अंबु-निधि-शोभन।

**कामायनी में काम-भाव**—सृष्टि के आविर्भाव एवं विकास पर चिन्तन और मनन लगभग सभी दर्शनों का महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। भारत तो आरम्भ से ही चिन्तकों, विचारकों तथा मनीषियों का देश है। अतः यहाँ तो इस विषय पर सुदूर प्राचीन काल से ही विचार होता आया है। जिस समय हमारे देश में ऋषियों द्वारा ऐसे गम्भीर विषयों पर चिन्तन चल रहा था पश्चिमी देश तो उस समय जंगली असभ्य तथा अविकसित दशा में हो गये थे। पश्चिमी देशों में दार्शनिक विषयों पर

१. ऋग्वेद १०,१२६,२।
२. श्वे० १, ३।

में इसे ही 'विश्व रेतस:' कहा गया है। यही काम विश्वोन्मीलन का प्रमुख आधार है। इसी को पाने और जानने के लिए ऋषियों ने घोर तपस्या की थी।[1]

"हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्त्तन सा,
जिसमें संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन सा।" (काम, पृ० ८०)

काम की उपर्युक्त पंक्तियों में भी प्रसादजी ने उसे सृष्टि के मूर्त आकार प्रदान करने वाले आरम्भिक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। 'काम' के सक्रिय होने के उपरान्त ही उसकी माधुरी छाया में आकर्षण और मिलन का खेल प्रारम्भ हो गया—

"वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारम्भ माधुरी छाया में।
जिसको कहते सब सृष्टि, बनी
मतवाली अपनी माया में॥ (वही, पृष्ठ ८१)

फिर तो प्रकृति में भी यह काम-भाव व्याप्त हो गया। उनके भी मिथुन बनने लगे—

भुजलता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए।
जल निधि का अंचल व्यंजन बना
धरणी का, दो दो साथ हुए

स्पष्ट है कि प्रसादजी ने कामायनी में काम के तीनों स्वरूपों—वासनात्मक, सृजनात्मक, आध्यात्मिक—का चित्रण किया है। उन्होंने मनु के पतन में काम के वासनात्मक रूप को चित्रित किया है। मनु श्रद्धा को उसके सुन्दर जड़ देह-मात्र के रूप में ही देखते रहे, श्रद्धा के सौन्दर्य-जलधि में से केवल गरल-पात्र ही भर सके, अहंभाव के कारण केवल उसके शरीर पर ही आधिपत्य चाहते रहे।[2] इस स्थिति में मनु का पतन होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार अन्यत्र इडा के सम्पर्क से उसके शरीर पर स्वामित्व स्थापित करने की कामना जो भयंकर विप्लव का कारण बनी, 'काम' के वासनात्मक रूप का ही परिणाम थी।

आधुनिक मनोविज्ञानिकों ने 'काम' के इसी रूप को ग्रहण किया है, इसे ही अधिक महत्व दिया है। फ्रायड का 'यौवनवाद' काम के इसी स्वरूप पर आधारित है। पर प्रसादजी 'काम' को फ्रायड आदि मनोविज्ञान-शास्त्रियों की मनोवैज्ञानिक परिभाषा के रूप नहीं स्वीकार करते। वे ऐसे काम की निन्दा करते हैं। उन्हें काम का सृजनात्मक एवं आध्यात्मिक रूप ही अधिक अभीष्ट है जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं। वैदिक-दर्शन में काम के इन्हीं दोनों स्वरूपों की प्रतिष्ठा हुई है। यह

१. ऋग्वेद १०,१२६,४।
२. कामायनी, पृ० १७१।

काम का व्यापक रूप है। वासनात्मक काम इस दर्शन में सर्वत्र निन्दा की दृष्टि से देखा गया है। भगवान् शंकर ने अपने तृतीय नेत्र से जिस काम को भस्मी-भूत किया था उसका सम्बन्ध वासनात्मक, निकृष्ट काम से ही है।

प्रसादजी ने इसीलिए काम के उन्मद भाव अथवा माधुर्य-मूलक रूप को ग्रहण नहीं किया जिसकी उपासना का विकास सूफियों तथा कृष्णोपासक कवियों में हुआ, क्योंकि काम के इस रूप का दुष्परिणाम उत्तर भक्ति-काल में वे स्वयं देख चुके थे। उन्होंने काम के उस रूप को स्वीकार किया जो अपने परिशुद्ध रूप में श्रद्धा बनकर जीवन को प्रेरणा दे सके। प्रसादजी ने स्पष्ट कहा है कि कामोपासना अथवा शरीरोपासना ही देवों की विनष्टि का कारण बनी और प्राणों की पूजा असुरों के नाश का, एक मन के दास थे, दूसरे बुद्धि के (कामायनी, पृ० १६६)।

कामायनी में काम का चरम उदात्तीकरण श्रद्धा के रूप में हुआ। उसे प्रसादजी ने 'पूर्ण काम की प्रतिमा' और 'जगत् की मंगल-कामना अकेली'[1] कहा है। उसका अन्तिम फल चरम आनन्द है जिसे चिदानन्द लाभ भी कह सकते हैं।

इस प्रकार प्रसादजी ने काम-सम्बन्धी कल्पना में मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक तत्वों को ग्रहण किया है जो वैदिक मनोविज्ञान और दर्शन के अधिक समीप है।

### जीव और जगत् :

पिछले प्रकरण में सगुण-निर्गुण का विवेचन करते समय ब्रह्म के स्वरूप पर प्रकाश डाल चुके हैं। वह चिद्रूप और ज्योतिर्मय, नित्य और शाश्वत है। जीव भी अपने शुद्ध रूप में वही है जो ब्रह्म है, पर अविद्या में ग्रस्त रहने के कारण अपने ज्योतिर्मय एवं चिद्रूप को भूल बैठा है। आवरण का पटल हट जाने और अविद्या की ग्रन्थि खुल जाने पर उस महान् सत्ता के प्रकटीकरण के लक्षण दिखाई देने लगते हैं और तम के समुद्र में चाँदी के समान गौर-उज्ज्वल चेतना से युक्त प्रकाश के सागर-रूप परमात्मा की मंगल-मूर्ति प्रकट होने लगती है।[2] परमतत्व-रूपी चेतना के समुद्र में यह जीवन (जीवात्मा) लहरों की भाँति जो बिखरा हुआ दिखाई देता है उसका मुख्य कारण जीव के स्वयं के कर्म और तज्जन्य संस्कार हैं, इन्हीं कर्मों और संस्कारों के आधार पर अस्थायी रूप से एक स्वतन्त्र नाम-रूपी प्रतिष्ठा लिए हुए है (पृ० २६६)। इस व्यक्तिगत छाप के कारण ही जीव-जीव में, जीवात्मा-परमात्मा में भेद दृष्टिगोचर होता है। पर यह अन्तर मौलिक नहीं है। जब जीवात्मा व्यक्तिगत छाप को त्याग देता है, तब वह वही हो जाता है, जो वह है।'[3]

वेद तथा उपनिषदों में 'ब्रह्म और जीव की चर्चा की भाँति जगत-सम्बन्धी चर्चा भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा है जो कुछ हुआ

---

१. कामायनी, पृ० २६८।

२. देखिये, कामायनी, पृ० २६०।

३. छा० उ० ६,८।

है और जो कुछ होने वाला है वह सब पुरुष ही है। 'पुरुष एवेदं सर्व यद्भूतं यच्च-भाव्यम्।' छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, यह उसी से उत्पन्न होने वाला उसी में लीन होने वाला, और उसी में चेष्टा करने वाला है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तुपासीत् (३,१४,१)।' उसने ईक्षण किया मैं बहुत हो जाऊँ और अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊं (छा० उ० ६,२)। इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि यह जगत् सत्-रूप है, सत्य है, क्योंकि उसी का स्वरूप है, उसी का आभास है, उसी की इच्छा से इसका आविर्भाव और तिरोभाव हो रहा है।

प्रसादजी की जगत-सम्बन्धी मान्यता पर उपरोक्त विचार-धारा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे भी जगत् को मंगलमय, श्रेयस्कर और आनन्दमय मानते हैं, सद्रूप में स्वीकार करते हैं। उनके जगत्-सम्बन्धी विचारों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति श्रद्धा के शब्दों में मिलती है। श्रद्धा जगत् की सत्यता पर प्रकाश डालते हुए मनु से कहती है—

**"कर रही लीलामय आनन्द**
**महाचिति सजग हुई सी व्यक्त**
**विश्व का उन्मीलन अभिराम**
**इसी में सब होते अनुरक्त।**
**काम मंगल से मण्डित श्रेय**
**सर्ग इच्छा का है परिणाम।' (श्रद्धा, पृ० ६१)**

महा चैतन्यमयी शक्ति सजग होकर विश्व में लीलामय आनन्द को ही मानो व्यक्त कर रही है तथा विश्व का मनोरम विकास इसमें सब के अनुरक्त होने पर ही है। यह समस्त सृष्टि काम का (प्रभु की इच्छा का) ही परिणाम है।

मनु निम्न-कोशों में स्थित होने के कारण जगत्-सम्बन्धी मंगलमय रहस्य को नहीं समझ पाते और वे जीवन तथा जगत् को निस्सार मानते हुए निरन्तर भटकते रहते हैं। परन्तु अन्त में श्रद्धा के संसर्ग में स्वस्थ, स्थिर चित्त हो जाने पर आनंद-मय कोश में वे इस सत्य को अधिगत कर लेते हैं—

**अपने दुःख-सुख से पुलकित**
**यह मूर्त विश्व सचराचर**
**चिति का विराट् वपु मंगल**
**यह सत्य सतत चिर सुन्दर। (आनन्द २९६)**

अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाले दुःख से दुखी और सुख से प्रसन्न यह जड़-चेतन, प्रत्यक्ष संसार वास्तव में उसी विराट् सत्ता का कल्याणप्रद शरीर अर्थात् साकार रूप है। और यह भी सत्य शिव तथा सुन्दर है।

यही भाव निम्न पंक्तियों में भी अभिव्यक्त हुआ है जिसमें जगत की सत्यता पर स्पष्ट रूप से कहा गया है—

"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
यह रूप बदलता है शत शत।" (दर्शन २५०)

भले ही जगत् सैकड़ों रूप बदले, पर वह चिति का, परमात्मा का स्वरूप होने के कारण नित्य है। जगत् की सत्यता के साथ-साथ जीवन-धारा की सत्यता पर भी उनका विश्वास है—

**जीवनधारा सुन्दर प्रवाह**
**सत सतत प्रकाश सुखद-अथाह।** (वही, २४९)

जीवन और जगत् पर सचमुच प्रसादजी को बड़ी आस्था थी। वे इसे जीवन-पर्यन्त शिव-रूप, परमात्म-स्वरूप ही मानते रहे हैं। यहाँ उनका शंकराचार्य की जगत्-सम्बन्धी मान्यता से स्पष्ट विरोध देखा जा सकता है। शंकराचार्य केवल मात्र ब्रह्म की सत्यता में विश्वास रखते है और जगत् को मिथ्या मानकर उसे उड़ा देना चाहते हैं। शंकर आत्मवाद की दुःख-मिश्रित धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं तो प्रसाद का आत्मवाद आनन्द की धारा से परिप्लावित है। उन्होंने जगत् को औपनिषदिक ऋषियों की भाँति आत्म-शक्ति के क्रीड़ागार के रूप में देखा है, उसे मनोहर कृतियों का आश्रय-स्थल और कर्मों की रंगभूमि माना है—

**"यह नीड़ मनोहर कृतियों का,**
**यह विश्व कर्म रंगस्थल है।**
**है परम्परा लग रही यहां,**
**ठहरा जिसमें जितना बल है॥"** (काम०, पृ० ८३)

पुरुष से प्रकृति और प्रकृति से पुरुष एकान्ततः पृथक् नहीं है, क्योंकि शक्ति-रूप किरण-राशि, शिव-रूप सूर्य का स्फुरण मात्र है। स्पष्ट है कि प्रसादजी शंकर मत के अनुसार जगत के मिथ्यात्व का समर्थन नहीं करते हैं। वे तो विश्व में उसी सुन्दरतम के सौंदर्य की झाँकी पाते हैं। जब सब कुछ ब्रह्ममय है तो संसार के मिथ्यात्व का प्रश्न कैसा ?

**भूमा**—मानव जीवन तथा उसकी समस्त क्रियाओं का एकमात्र केन्द्र-बिन्दु है सुख और आनन्द की प्राप्ति। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के पीछे एक ही वृत्ति प्रमुख होती है कि उसे अपने प्रत्येक प्रयत्न से अधिकाधिक सुख की प्राप्ति हो, अधिकाधिक आनन्द मिले। वह सुख की अनुभूति अपने मन की इच्छाओं एवं कामनाओं की तृप्ति में अनुभव करता है। प्रत्येक आकांक्षा की पूर्ति उसे कुछ-न-कुछ आनन्द प्रदान करती है। यह सुख स्थूल भौतिक वासनाओं के पूर्ण होने से भी सम्बन्ध रखता है तथा मानसिक-आध्यात्मिक वृत्तियों के तोषण एवं पोषण से भी। पर हमारा प्रतिदिन का अनुभव यह बतलाता है कि पंच विषयों से सम्बन्धित इन्द्रियजन्य आनन्द की अनुभूति अस्थायी और क्षणिक होती है। तोषण के स्थान पर इन्द्रियों की पिपासा और अधिक तीव्र हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हवि की आहुति से अग्नि की ज्वाला शान्त होने के स्थान पर और अधिक प्रज्ज्वलित हो उठती है। इस प्रकार के भौतिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सुख को उपनिषदों में 'अल्प' कहा गया है। वहाँ सनत्कुमार ने नारद से स्पष्ट कहा है कि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति

है और जो कुछ होने वाला है वह सब पुरुष ही है। 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च-भाव्यम्।' छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि यह सारा जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, यह उसी से उत्पन्न होने वाला उसी में लीन होने वाला, और उसी में चेष्टा करने वाला है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तुपासीत् (३,१४,१)।' उसने ईक्षण किया मैं बहुत हो जाऊँ और अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊं (छा० उ० ६,२)। इन श्रुतियों से स्पष्ट है कि यह जगत् सत्-रूप है, सत्य है, क्योंकि उसी का स्वरूप है, उसी का आभास है, उसी की इच्छा से इसका आविर्भाव और तिरोभाव हो रहा है।

प्रसादजी की जगत-सम्बन्धी मान्यता पर उपरोक्त विचार-धारा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे भी जगत् को मंगलमय, श्रेयस्कर और आनन्दमय मानते हैं, सद्रूप में स्वीकार करते हैं। उनके जगत्-सम्बन्धी विचारों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति श्रद्धा के शब्दों में मिलती है। श्रद्धा जगत् की सत्यता पर प्रकाश डालते हुए मनु से कहती है—

**"कर रही लीलामय आनन्द**
**महाचिति सजग हुई सी व्यक्त**
**विश्व का उन्मीलन अभिराम**
**इसी में सब होते अनुरक्त।**
**काम मंगल से मण्डित श्रेय**
**सर्ग इच्छा का है परिणाम।' (श्रद्धा, पृ० ६१)**

महा चैतन्यमयी शक्ति सजग होकर विश्व में लीलामय आनन्द को ही मानो व्यक्त कर रही है तथा विश्व का मनोरम विकास इसमें सब के अनुरक्त होने पर ही है। यह समस्त सृष्टि काम का (प्रभु की इच्छा का) ही परिणाम है।

मनु निम्न-कोशों में स्थित होने के कारण जगत्-सम्बन्धी मंगलमय रहस्य को नहीं समझ पाते और वे जीवन तथा जगत् को निस्सार मानते हुए निरन्तर भटकते रहते हैं। परन्तु अन्त में श्रद्धा के संसर्ग में स्वस्थ, स्थिर चित्त हो जाने पर आनंद-मय कोश में वे इस सत्य को अधिगत कर लेते हैं—

**अपने दुःख-सुख से पुलकित**
**यह मूर्त विश्व सचराचर**
**चिति का विराट् वपु मंगल**
**यह सत्य सतत चिर सुन्दर। (आनन्द २९६)**

अपने कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाले दुःख से दुखी और सुख से प्रसन्न यह जड़-चेतन, प्रत्यक्ष संसार वास्तव में उसी विराट् सत्ता का कल्याणप्रद शरीर अर्थात् साकार रूप है। और यह भी सत्य शिव तथा सुन्दर है।

यही भाव निम्न पंक्तियों में भी अभिव्यक्त हुआ है जिसमें जगत की सत्यता पर स्पष्ट रूप से कहा गया है—

"चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
यह रूप वदलता है शत शत।" (दर्शन २५०)

भले ही जगत् सैकड़ों रूप बदले, पर वह चिति का, परमात्मा का स्वरूप होने के कारण नित्य है। जगत् की सत्यता के साथ-साथ जीवन-धारा की सत्यता पर भी उनका विश्वास है—

**जीवनधारा सुन्दर प्रवाह**
**सत सतत प्रकाश सुखद-अथाह।** (वही, २४९)

जीवन और जगत् पर सचमुच प्रसादजी को बड़ी आस्था थी। वे इसे जीवन-पर्यन्त शिव-रूप, परमात्म-स्वरूप ही मानते रहे हैं। यहाँ उनका शंकराचार्य की जगत्-सम्बन्धी मान्यता से स्पष्ट विरोध देखा जा सकता है। शंकराचार्य केवल मात्र ब्रह्म की सत्यता में विश्वास रखते हैं और जगत् को मिथ्या मानकर उसे उड़ा देना चाहते हैं। शंकर आत्मवाद की दुःख-मिश्रित धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं तो प्रसाद का आत्मवाद आनन्द की धारा से परिप्लावित है। उन्होंने जगत् को औपनिषदिक ऋषियों की भाँति आत्म-शक्ति के क्रीड़ागार के रूप में देखा है, उसे मनोहर कृतियों का आश्रय-स्थल और कर्मो की रंगभूमि माना है—

**"यह नीड़ मनोहर कृतियों का,**
**यह विश्व कर्म रंगस्थल है।**
**है परम्परा लग रही यहां,**
**ठहरा जिसमें जितना बल है।।"** (काम०, पृ० ८३)

पुरुष से प्रकृति और प्रकृति से पुरुष एकान्ततः पृथक् नहीं है, क्योंकि शक्ति-रूप किरण-राशि, शिव-रूप सूर्य का स्फुरण मात्र है। स्पष्ट है कि प्रसादजी शंकर मत के अनुसार जगत के मिथ्यात्व का समर्थन नहीं करते हैं। वे तो विश्व में उसी सुन्दरतम के सौंदर्य की झाँकी पाते हैं। जब सब कुछ ब्रह्ममय है तो संसार के मिथ्यात्व का प्रश्न कैसा ?

**भूमा**—मानव जीवन तथा उसकी समस्त क्रियाओं का एकमात्र केन्द्र-बिन्दु है सुख और आनन्द की प्राप्ति। मनुष्य की प्रत्येक क्रिया के पीछे एक ही वृत्ति प्रमुख होती है कि उसे अपने प्रत्येक प्रयत्न से अधिकाधिक सुख की प्राप्ति हो, अधिकाधिक आनन्द मिले। वह सुख की अनुभूति अपने मन की इच्छाओं एवं कामनाओं की तृप्ति में अनुभव करता है। प्रत्येक आकांक्षा की पूर्ति उसे कुछ-न-कुछ आनन्द प्रदान करती है। यह सुख स्थूल भौतिक वासनाओं के पूर्ण होने से भी सम्बन्ध रखता है तथा मानसिक-आध्यात्मिक वृत्तियों के तोषण एवं पोषण से भी। पर हमारा प्रतिदिन का अनुभव यह बतलाता है कि पंच विषयों से सम्बन्धित इन्द्रियजन्य आनन्द की अनुभूति अस्थायी और क्षणिक होती है। तोषण के स्थान पर इन्द्रियों की पिपासा और अधिक तीव्र हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हवि की आहुति से अग्नि की ज्वाला शान्त होने के स्थान पर और अधिक प्रज्ज्वलित हो उठती है। इस प्रकार के भौतिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले सुख को उपनिषदों में 'अल्प' कहा गया है। वहाँ सनत्कुमार ने नारद से स्पष्ट कहा है कि 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति

भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति ।' (निश्चय जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है । सुख भूमा ही है । भूमा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये ।''[1] वहां भूमा को ही अमृत कहा गया है ।

कामायनी के मनु प्रारंभ में जिस सुख की इच्छा कर रहे थे वह वासना-जन्य था, स्पर्श-जनित सुख था, ऐसा सुख था जिसकी अनुभूति से उसे चिरस्थायी सुख आनन्द नहीं मिल सका था । कभी वे यज्ञ से सुख की प्राप्ति की आकाँक्षा रखते क कभी आखेट में मन की तृप्ति खोजने का प्रयत्न करते । पर शाश्वत सुख उन्हें व नहीं मिल सका । सुख की खोज में वे श्रद्धा से पराङमुख होकर इतस्ततः भटकते सारस्वत-प्रदेश में इडा से मिले । बुद्धि के सहयोग से वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा उजड़े प्रदेश को बसाकर उस पर शासन करने लगे, पर उससे भी स्थायी सुख की उ लब्धि नहीं हो सकी । इड़ा पर आधिपत्य की कामना मन में उठी कि उसके सम से सुख मिलेगा । पर तदनुकूल प्रयत्न करने में क्या परिणाम निकला ? केवल युद्ध केवल मात्र संघर्ष ! जीवन, मान, सम्मान भी ख़तरे में पड़ गया । मनु के अथ प्रयत्नों के फलस्वरूप भी स्थायी सुख क्यों नहीं मिल सका ? कारण स्पष्ट था । वह अल्प था । भौतिक विषयों के सम्पर्क से जनित सुख 'अल्प' ही होते हैं । नचिके ने यम द्वारा प्रदत्त दुर्लभ भौतिक सुखों को भी उनकी क्षणभंगुरता एवं अल्पता समझ कर अस्वीकार कर दिया था और मृत्यु के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करने के अपने आग्र पर दृढ रहा था । मनु ने नचिकेता के विपरीत आचरण किया फलतः वास्तवि सुखानुभूति से बहुत दूर जा पड़ा । वास्तविक सुख 'भूमा' में है और 'भूमा' का अ है 'महान्', अर्थात् अपने व्यक्तित्व का, अपने अहं का इस सीमा तक प्रसारण कि व विश्व से तादात्म्य स्थापित कर ले । व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान हो जाए । स्व को विश्वमय बना ले । 'भूमा' से प्राप्त सुख की साधना में व्यक्ति के लिए सुख-दुःख समान हो जाते हैं । दोनों एक ही सत्य के दो रूप दृष्टिगोचर होने लगते हैं । वास्तव में भूमा संसार को एक इकाई के रूप में देखने का आध्यात्मिक प्रयत्न है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना इसके अधिक समीप है । भूमा के अन्तर्गत 'आत्म' और 'पर' दोनों की तृप्ति आ जाती है ।

प्रसादजी की कामायनी में भूमा का यही स्वरूप वर्णित हुआ है । उनका कथन है—

> 'विषमता की पीड़ा से व्यस्त
> हो रहा स्पन्दित विश्व महान्,
> यही दुख सुख विकास का सत्य
> यही भूमा का मधुमय दान ।
> नित्य समरसता का अधिकार
> उमड़ता कारण जलधि समान

---

व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।' (श्रद्धा, पृ० ६२)

यह महान् विश्व समता के अभाव के कारण ही स्पन्दित हो रहा है। दुःख-सुख के विकास का भी यही रहस्य है। पर जब मन में 'समरसता'—समता—का भाव उदित हो जाता है तब दुःख भी सुख-रूप में भासित होने लगता है, तब दुःख भी सुख का कारण बन जाता है। यह समता का भाव समष्टि में व्यष्टि के पर्यवसान के उपरान्त ही तो उदय हो पाता है, तब मानव का अहं इतना विराट्-रूप धारण कर लेता है कि विश्व के साथ उसका तादात्म्य अनायास ही सिद्ध हो जाता है। तब कोई भी पराया प्रतीत नहीं होता, सब अपने ही लगते हैं, जीवन का यही पूर्णत्व है, यही भूमा है, और सुख है, यही अमृत है।

प्रसादजी ने सुख-दुख को समान रूप से स्वीकार करने की बात निम्न पंक्तियों में कही है—

'अरे सर्ग अंकुर के दोनों
पल्लव हैं ये भले बुरे।
एक दूसरे की सीमा है,
क्यों न युगल को प्यार करे।' (निर्वेद, पृ० २१८)

गुण-दोष, पुण्य-पाप, वस्तुतः सृष्टि-रूपी एक ही अंकुर के दो पल्लव हैं। एक का अन्त दूसरे का प्रारम्भ है और एक का प्रारम्भ दूसरे का अन्त है। फिर इन दोनों को ही समत्व दृष्टि से देखना चाहिये। 'आँसू' में भी कवि ने यही बात कही थी—

'मानव जीवन-वेदी पर
परिणय है विरह-मिलन का,
सुख दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।' (आँसू, पृ० ४६)

समत्व भाव के उदय होते ही यह विश्व अपना परिवार-जैसा लगने लगता है। श्रद्धा को यह विश्व इसी रूप में दृष्टिगोचर हुआ—

'यह विश्व अरे कितना उदार
मेरा गृह रे उन्मुक्त द्वार।' (दर्शन २४२)

जब तक मनु वहिर्मुखी वृत्ति से प्रेरित होकर विषयों में सुख खोजने की चेष्टा करते रहे, तब तक असफल ही रहे। पर जब अन्त में श्रद्धा से युक्त होकर अन्तर्मुखी हो जाते हैं तथा आलोक-पुरुष के दर्शन से सब कुछ ब्रह्ममय दृष्टिगोचर होने लगता है तब समत्व का भाव उदित हो जाना स्वाभाविक था। तब सबकी सेवा अपनी सेवा लगने लगी। अपना ही अणु-अणु, कण-कण, सर्वत्र व्याप्त दृष्टिगोचर होने लगा—

'सबकी सेवा न पराई
वह अपनी सुख-संसृति है,
अपना ही अणु अणु कण कण
द्वयता ही तो विस्मृति है।' (आनन्द, पृ० २९७)

तथा जब सब की सेवा पराई न होकर अपने ही सुख की संसृति प्रतीत होने लगती है, तब फिर भेद-भाव की, विषमताओं की, सुख-दुःख की वृत्तियों को स्थान ही कहाँ रह जाता है, तब तो यह संसार अपनी ही चेतना का प्रोद्भास दृष्टिगोचर होने लगता है, सम्पूर्ण विश्व एक ही घोंसला, एक ही घर जैसा बन जाता है—

**'सब भेद भाव भुलवाकर**
**दुख सुख को दृश्य बनाता।**
**मानव कह रे 'यह मैं हूं'**
**यह विश्वनीड़ बन जाता॥'**

इसी अनुभूति की जागृति ही सच्चा सुख है, यही 'भूमा' है, यह परमात्म-रूप की प्राप्ति है, यही अमृत है। प्रसादजी इसी 'भूमा' तत्व से उत्पन्न सुख को प्राप्त करने के लिए मानव को सन्देश देते हैं, और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शक्तिशाली और विजयी बनने का परामर्श देते हैं—

*'शक्तिशाली हो विजयी बनो*
**विश्व में गूंज रहा यह गान।' (श्रद्धा, पृ० ६५)**

**द्वैत में अद्वैत**—वैदिक-तत्व ज्ञान की सर्वप्रथम और मौलिक मान्यता है कि चरम तत्व एक है। उसे वेद में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, वायु, सूर्य आदि नामों से सम्बोधित[1] किया गया है और उपनिषदों में उस तत्व को 'सत्'[2] चित् और आत्मा[3] आदि कहा गया है। विप्रों ने अनेक प्रकार से उस तत्व का स्तवन किया है। उसी की सत्ता से सब सत्तावान् हो रहे हैं। वही सबकी अन्तरात्मा भी है।[4] चराचर विश्व की समस्त विषमताओं में वही 'सम' विद्यमान है। इस प्रकार भेद में अभेद देखने की प्रवृत्ति भारतीय-दर्शन की प्रमुख विशेषता रही है। इस दार्शनिक प्रवृत्ति का प्रभाव न्यूनाधिक रूप से भारतीय जीवन और साहित्य दोनों पर पर ही पड़ा है।

प्रसादजी पर भी वैदिक-दर्शन की इस प्रवृत्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। वे प्रलय-प्रवाह का वर्णन करते हुए कहते हैं—

**'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर**
**बैठ शिला की शीतल छाँह,**
**एक पुरुष, भीगे नयनों से**
**देख रहा था प्रलय-प्रवाह।**

---

१. ऋ० वे० १,१६४,४६।
२. छा० उ० ६,२।
३. ऐ० उ० १,१।
४. छा० उ० ६,११।

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन ।
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन ।।' (चिंता, पृ० ११)

प्रलय के बाद हिमालय के निम्नस्थ प्रदेश से जल प्रवाहित हो रहा था और उसकी चोटियों पर बर्फ जमी थी । कवि इसी स्थिति का चित्रण करते हुए भेद में अभेद की स्थापना करता है, विभेदक आवरण को छिन्न-भिन्न करके, 'एक तत्व की प्रधानता द्वारा' विभिन्न जान पड़ने वाली वस्तुओं के बीच एकात्मकता स्थापित करता है—वस्तुओं के वाह्य नाम—रूपों से मुक्त होकर उनके भीतर छिपे इस सत्य का अनुसंधान करता है कि केवल हिम अथवा जल ही नहीं संसार की समस्त वस्तुओं में चाहे वे देखने में जड़ जान पड़ती हों अथवा चेतन, वस्तुतः एक ही तत्व की (ब्रह्म की) प्रधानता है, एक ही विश्वात्मा का वास है, द्वैत में अद्वैत की स्थिति है ।

इसी प्रकार द्वैत में अद्वैत की स्थापना करते हुए कवि अन्यत्र कहता है—

'इस ज्योत्स्ना के जलनिधि में
बुद्-बुद् सा रूप बनाये,
नक्षत्र दिखाई देते
अपनी आभा चमकाये ।
वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि-क्रम है,
सब में घुल मिलकर रसमय
रहता यह भाव चरम है ।।' (आनन्द, पृ० २९६)

प्रकाश के समुद्र में चमकते हुए तारा-रूप बुल-बुलों की भाँति भिन्नताविहीन समुद्र में (जिसमें सागर और लहर जल और बुद्बुद् में कोई तात्विक भेद नहीं है) मानव-जीवन का सृष्टि-क्रम चल रहा है । वस्तुतः वही चरम-भाव, आनन्द की वह चरम स्थिति, आनन्द का वास्तविक अक्षय स्रोत, विश्वात्मा, सभी में घुला-मिला रहता है । स्पष्ट है प्रसादजी वैदिक-दर्शन के अनुसार विश्व के सभी पदार्थों में एक ही आनन्द-मय तत्व को निहित देखते हैं । इस प्रकार भिन्नता में अभिन्नता के दर्शन की साधना ही भारतीय तत्व-ज्ञान का चरम लक्ष्य है ।

**माया**—वैदिक-काल से लेकर अब तक 'माया' शब्द दार्शनिक तथा व्यावहारिक दोनों ही क्षेत्रों में पर्याप्त प्रचलित रहा है । यह शब्द जितना अधिक प्रिय एवं व्यापक रहा है सम्भवतः भारतीय जीवन में किसी अन्य शब्द को इतनी अधिक प्रसिद्धि नहीं मिली । सामान्य ग्रामीण से लेकर महान् दार्शनिक इस शब्द में निहित अर्थ-गौरव से परिचित हैं ।

वहाँ देव और असुर दोनों ही माया से सम्पन्न कहे गए हैं । वेद में यह शब्द कहीं शक्ति के अर्थ में ग्रहीत है, कहीं धूर्तता, शठता और दुराचारी मनुष्यों के बल

अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, कहीं आश्चर्यजनक तथा रहस्यमय कार्यों के वर्णन के सम्बन्ध में इसका उल्लेख मिलता है, और कहीं भ्रम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सायणाचार्य के अनुसार कहीं इसका अभिप्राय छल तथा कपट आदि से है। वेद में इन्द्र या अग्नि के साथ माया का घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया गया है, वहाँ इसका अर्थ एक शक्ति-विशेष के रूप में गृहीत हुआ है जिसका पर्यवसान शांकर मायावाद में हुआ।

उपनिषदों में माया शब्द वेद की अपेक्षा एक विशेष दार्शनिक महत्व ग्रहण कर लेता है। प्रश्नोपनिषद् १,१६ में इस शब्द का अर्थ कुटिलता और झूठ (अनृत) से है जो ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक है। अन्यत्र प्रकृति को ही माया कहा गया है[1] और परमेश्वर को 'मायिन्' तथा अपनी माया आदि शक्तियों से बहुरूपी जाल फैला कर विश्व के सभी प्राणियों को उसमें फंसा लेने के कारण उसे जालवान् कहा गया है।[2] अन्यत्र आसक्ति, मोह, अज्ञान अथवा द्वैत-भाव को उपनिषदों में अविद्या कहा गया तथा माया के पर्याय रूप में उसे ग्रहण किया गया है। ब्रह्म की अविच्छिन्न शक्ति को भी माया कहा गया है जो विश्व-सृजन का कारण है।

बाद में शंकर ने गौडपादाचार्य की माण्डूक्य कारिकाओं के आधार पर 'माया' का एक विशेष दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन किया जो उनके ब्रह्म को एकमात्र परमसत् सिद्ध करने की दृष्टि से जगत् को विवर्त रूप में सिद्ध करने के हेतु प्रयोग में लाया गया।

इस प्रकार वेद और उपनिषदों में यद्यपि माया शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं उसका भ्रम अर्थ में भी ग्रहण हुआ है। पर इतना स्पष्ट है कि इस शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में 'विर्वत' अर्थ में कहीं नहीं हुआ।

प्रसादजी ने कामायनी में 'माया' शब्द का प्रयोग कम-से-कम छत्तीस बार, मायाविनी शब्द का प्रयोग दो बार और मायारानी का एक बार किया है, 'मायाविनी' शब्द एक बार 'श्रद्धा' को सम्बोधित करते हुए कहा गया है[3] जहाँ उसका अभिप्राय है झूठ के भुलावे में डालने वाली, इसी प्रकार इस शब्द का प्रयोग 'इड़ा' के लिये जादूगरनी अर्थात् विचित्र कार्यों की सम्पादिका के अर्थ में हुआ है।[4] 'माया' शब्द कामायनी में वेद और उपनिषदों की भाँति विभिन्न अर्थों में व्यवहृत हुआ है। अनेक स्थलों पर यह शब्द मोह और आसक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[5] एकाध स्थल पर छल, बल और कपट आदि के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।[6] कई स्थान पर

---

१. देखिये, इस प्रबन्ध का पृष्ठ ७३-७५।
२. श्वे० ३,१।
३. कामायनी, पृष्ठ १६१।
४. वही, पृष्ठ २०४।
५. वही, पृष्ठ ८७, १०५, १३५, १८६।
६. वही, पृष्ठ १२०।

प्रसादजी ने इसका प्रयोग जादू-रूप में किया है।[1] श्रद्धा के बाह्य सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित होकर मनु कहते हैं :

**'कौन हो तुम विश्व माया कुहक-सी साकार'**[2] अर्थात् विश्व-व्यापिनी माया के सजीव इन्द्रजाल के समान हे श्रद्धे ! तुम तुम कौन हो। यहाँ स्पष्ट ही माया शब्द विश्वव्यापी इन्द्रजाल के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार इन्द्रजाल (जादू) द्रष्टा को थोड़ी देर के लिए भ्रम में डाल देता है उसी प्रकार माया भी वस्तु के वास्तविक रूप को द्रष्टा से छिपा कर रखती है। इसी प्रकार "कुटिल कुन्तल से बनाती काल माया जाल"[3] में भी मनु श्रद्धा के काले, घुँघराले बालों को देखकर मायाजाल से उपमित करते हैं। श्रद्धा के केश मनु के हृदय को उसी प्रकार अपने जाल में फंसाए ले रहे हैं जिस प्रकार माया अपने जाल में जीव को। जीव मायाशक्ति के प्रभाव से प्रकृति द्वारा प्रदत्त भोगों को भोगता हुआ भटकता फिरता है, उन्हीं का रस लेता हुआ सुख-दुःख का अनुभव करते हुए सच्चे सुख से वंचित ही रहता है। निम्न पंक्तियों—

**"प्रखर विनाशशील नर्त्तन में**
**विपुल विश्व की माया,**
**क्षण-क्षण होती प्रकट नवीना**
**बन कर उसकी काया।"**[4]

में माया ब्रह्म की शक्ति के रूप में प्रयुक्त हुई है। अनन्त संसार की शक्ति ब्रह्म की काया बनकर प्रतिक्षण नवीन रूपों में प्रकट हो रही है। माया-शक्ति के कारण संसार के प्राचीन रूप नष्ट हो रहे हैं और नवीन रूपों का आविर्भाव हो रहा है अर्थात् प्रकृति में परिवर्तन-शीलता की क्रिया ब्रह्म की माया-शक्ति के कारण ही सम्पन्न हो रही है। कई स्थलों पर 'माया' शब्द आवरण के अर्थ में आया है। यह आवरण अंधकार का ही हो सकता है, जो अज्ञान और अविद्या का प्रतीक है।

'उधर फैलती मदिर घटा-सी अंधकार की घन माया'[5] में 'अंधकार की घन माया' से अभिप्राय अविद्या के आवरण से है। लौकिक-क्षेत्र में अंधकार वस्तु को व्यक्ति की दृष्टि तक पहुँचने में बाधा पहुँचाता है और मनुष्य के अन्तर्जगत् में अविद्या का अंधकार ज्ञान के वास्तविक रूप को ढके रखता है।

उपनिषदों में 'माया' को ब्रह्म की शक्तिरूपा प्रकृति कहा है[6] और यही माया

---

१. कामायनी, पृष्ठ १७७, २५४।
२. वही, पृष्ठ ६८।
३. वही, पृष्ठ १०१।
४. वही, पृष्ठ १३२।
५. वही, पृष्ठ १६२।
६. श्वे० ४,१०।

जीव को भली भाँति संसार में बाँधे हुए हैं[1] ईश० और मुण्डकोपनिषद् में अविद्या भी जीवात्मा को संसार में बाँधने वाली कही गई है। इस प्रकार माया और प्रकृति, माया और अविद्या, ये सब जीव के बन्धन के कारण हैं। प्रकृति, माया या अविद्या ये तीनों ही संसारी जीव में भाव, इच्छा, कामना आदि उत्पन्न करके उसे सकाम कर्म के लिए प्रेरित करती हैं और भाव व कर्म निश्चय ही जीव को बंधन में डालने वाले कहे गये। एक बार यह भाव-चक्र प्रवर्तित हुआ नहीं कि जीव उसमें ऐसा उलझ जाता है कि उसका सुलझना कठिन हो जाता है। प्रसादजी ने माया के इसी स्वरूप का वर्णन रहस्य सर्ग के अन्तर्गत भाव-लोक का परिचय देते हुए किया है—

"घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चल चित्रों सी संसृति छाया,
जिस आलोक बिन्दु को घेरे
वह बैठी मुस्काती माया।" (पृ० २७२)

भाव-लोक में चारों ओर अमूर्त भाव-सृष्टि का एक छाया-संसार चलचित्रों की भाँति घूम रहा है। प्रकाश के केन्द्र-बिन्दु भाव-लोक को सब ओर से घेर कर माया बैठी मुस्करा रही है। मानव के इस भाव-लोक में क्षण-क्षण में अनेक भाव उदित और अस्त होते रहते हैं। इस सम्पूर्ण भाव-लोक पर माया रानी का अखण्ड राज्य है जो जीव को हर क्षण मोह के पाश में आबद्ध किए रखती है। यह माया अपनी इच्छानुसार भाव-रूपी चक्र को गति प्रदान किए रखती है, श्रृंगारादि नव रस स्वरूपिणी अराएँ निरन्तर कुतूहल में भर कर उस चक्र की परिधि को चूमती रहती हैं अर्थात् भाव रस के रूप में परिणत होकर जीवन-चक्र को निरन्तर चलाए रखते हैं।

"भाव चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ-नाभि घूमती,
नव रस भरी अराएँ अविरल
चक्रवाल को चकित चूमतीं। (वही, २७२)
यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना,
माया राज्य यही परिपाटी
पाश बिछा कर जीव फांसना।" (वही)

इस भाव-लोक में आसक्ति की ही प्रधानता है। माया यहाँ की एकमात्र स्वामिनी है। यहाँ माया-रूपी शासिका की शासन-प्रणाली की मुख्य व्यवस्था है मोह, अज्ञान, और आसक्ति का जाल बिछाकर जीवों को संसार के पंच विषयों में ही भरमाये रखना। माया के स्वरूप का जैसा मोहक और काव्यात्मक वर्णन प्रसादजी की

---

१. कामायनी, ४,६।

उपरोक्त पंक्तियों में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इन उपरोक्त पंक्तियों पर उपनिषदों की माया अथवा अविद्या-सम्बन्धी मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव द्रष्टव्य है। श्वे० उ० ३,१ में कहा है—

**'य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः।'**

यहाँ जगत् को जाल कहा गया है और उसके स्वामी को जालवान् जो अपनी स्वरूप-भूत शासन-शक्तियों द्वारा जगत-रूप जाल में फंसे जीवों पर शासन करता है। यह शासिका माया ही तो है जो अपनी शक्ति से यन्त्र पर चढ़े हुए प्राणियों को सदैव घुमाया करती है[1], जो उस जालवान् को जान लेते हैं वे इस माया शक्ति के प्रभाव से मुक्त होकर अमर हो जाते हैं।[2]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसादजी उपनिषदों में वर्णित अविद्या—माया-सम्बन्धी विचारों से प्रभावित हैं। उन्होंने माया को उस अर्थ में ग्रहण नहीं किया है जिस अर्थ में शंकर ग्रहण करते हैं। शंकराचार्य तो माया को सदसत् से परे अनिर्वचनीय तत्व के रूप में ग्रहण करते हैं। और उपनिषदों की भाँति उसे ब्रह्म को अविच्छिन्न शक्ति भी स्वीकार नहीं करते। शंकराचार्य मायावाद के सिद्धान्त द्वारा जगत् को मिथ्या सिद्ध करते हैं परन्तु प्रसादजी जगत् को ब्रह्म की अविच्छिन्न शक्ति माया का आभास मानकर सत्य मानते हैं। यह माया-शक्ति ब्रह्म से सदैव संयुक्त रहती है ठीक उसी प्रकार अग्नि और उसका दाहकत्व, जल और उसका शीतत्व। तभी प्रसादजी कहते हैं—

**"चिर मिलित प्रकृति से पुलकित**
**वह चेतन पुरुष पुरातन,**
**निज शक्ति तरंगायित थी**
**आनन्द-अंबु-निधि शोभन॥** (आनन्द, २९४)

**प्रसाद का नियतिवाद और वैदिक ऋत तत्व**—वेद में 'ऋत' एक ऐसा शब्द है जो शताधिक बार प्रयुक्त हुआ है और बड़े मनोरम रूप से उसकी कल्पना की गई है। 'ऋत' के सम्बन्ध में कहा गया है कि अभीष्ट तप से उसकी उत्पत्ति हुई है। वह प्रथम उत्पन्न तत्व है जिसके कारण उत्पन्न सृष्टि में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा और नियमबद्धता विद्यमान है। इसकी सत्ता के कारण विषमता के स्थान पर समता और अशान्ति के स्थान पर शान्ति स्थापित है। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं अथवा ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम 'ऋत' के द्वारा उत्पन्न और वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत-रूप हैं, सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं, नदियाँ इसी ऋत को वाहन करती हैं। वी० एम० आप्टे के अनुसार ऋत का प्रमुखतः अर्थ है कि 'गति का ठीक मार्ग'। वह निश्चित-पथ जिसका उल्लंघन न सूर्य कर सक[illegible] [illegible]गिन न और

---

१. गीता १८,६१।
२. श्वे० ३,१।

उषा। सभी देवता अपने-अपने निश्चित पथ से जाते हैं। ऋत का गौण अर्थ है व्यवस्थित नियम अथवा नैतिक तत्व।[1]

भौतिक जगत् जिस प्रकार ऋत-तत्व से अनुशासित और चालित है उसी प्रकार नैतिक और सामाजिक जीवन कर्म-सिद्धान्त से अनुशासित है। उपनिषदों का कर्म-सिद्धान्त प्राचीन वैदिक ऋत की धारणा से ही पल्लवित किया गया है। अतः भौतिक-जगत् को नियमित करने वाली शक्ति ऋत और नैतिक-जीवन को व्यवस्था प्रदान करने वाला वही तत्व कर्म कहलाता है। भौतिक और नैतिक दोनों ही प्रकार के नियम जगत् के दोनों पक्षों का नियन्त्रण करते हैं। इन नियमों का कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। प्राकृतिक और मानवीय दोनों प्रकार के जीवन की गति का पथ निश्चित है। भवितव्य तो होना ही है।

प्रसादजी का नियतिवाद कोई भिन्न और स्वतन्त्र तत्व नहीं है। यद्यपि नियति शब्द का प्रयोग शैव-दर्शन के ३६ तत्वों के ही अन्तर्गत हुआ है। वैदिक वाङ्मय में यह शब्द सम्भवतः ढूँढे से भी बड़ी कठिनाई से ही मिले पर इसके पीछे जो धारणा है उस पर ऋत तत्व का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यों नियति शब्द प्रसादजी ने शैव-दर्शन में गृहीत अवश्य किया है, पर उस पर उनके स्वतन्त्र चिन्तन का योग अधिक है जो वैदिक-ऋत के अधिक समीप है। प्रसादजी का नियति तत्व कर्मठता और सक्रियता का पाठ पढ़ाता है। जीवक के शब्दों में प्रसादजी कहते हैं—'अदृष्ट तो मेरा सहारा है, नियति की डोरी पकड़ कर मैं निर्भय कर्म-कूप में कूद सकता हूँ, क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो होना है वह तो होगा ही, फिर कायर क्यों बनूं—कर्म से विरक्त क्यों रहूँ?'[2] जिस प्रकार ऋत तत्व प्रकृति की समस्त शक्तियों को अपने-अपने कर्त्तव्य में नियोजित करता है, देवताओं को निर्धारित मार्ग पर चलाता है, ठीक उसी प्रकार प्रसादजी का नियति-तत्व मनुष्य को पूर्व-निर्धारित कार्य में नियोजित करता है। मनुष्य स्वतः कुछ नहीं करता, वह तो निमित्त मात्र है, साधन मात्र है, कार्य तो कोई अपर शक्ति ही करती है। गीता में कहा है कि गुण गुणों के अर्थ में वर्तते हैं[3] और सारे कर्म प्रकृति द्वारा किए हुए होते हैं[4] अतः जो होना है वह निश्चित रूप से होगा इसलिए मनुष्य को अकर्मण्य बनकर बैठे रहने की आवश्यकता नहीं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में प्रसादजी व्यास के शब्दों में कहते हैं—'जो हो रहा है उसे होने दो, अन्तरात्मा को प्रकृतिस्थ करने का उद्योग करो, मन को शांत रखो।[5]

---

१. दे०, इस प्रबन्ध का पृ० ८३-८४।
२. अजात शत्रु, पृ० ३८।
३. गीता ३,२८।
४. वही, ३,२७।
५. जनमेजय का नागयज्ञ, पृ० ७४।

कामायनी में चिन्तनशील मनु पर प्रकाश डालते हुए कवि कहता है कि—

**"उस एकान्त नियति शासन में**
**चले विवश धीरे धीरे।"** (आशा, पृ० ४२)

मनु नियति के एकान्त शासन में विवश होकर धीरे-धीरे अपने कर्म-पथ की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इससे भिन्न उनके लिए अन्य कोई मार्ग ही नहीं, यही तो निश्चित पथ है, कि वे कर्म में लगें और यही ऋत का मार्ग है। 'ऋतस्थपन्था' ऋत का मार्ग कहा ही उसे गया है कि जो जिसका कर्त्तव्य है वह उसमें पूर्ण शक्ति से लगा रहे। कर्म ही मनुष्य का निश्चित पथ है अतः वे कर्म-तन्तु फैलाने लगे।

**'दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल।'** (पृ० ८९)

में मनु और श्रद्धा के मिलन में भी विधि के विधान की निश्चितता द्योतित हो रही है। दोनों का मिलन होना था इसलिए वह हुआ, उसे कोई टाल नहीं सकता था।

इसी प्रकार—

**'इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही।'** (१६६)

में मनु श्रद्धा से विमुख होकर भाग खड़े हुए। इसके परिणामस्वरूप उन्हें दण्ड भोगना, कष्ट पाना आवश्यक था अतः नियति-नटी के भीषण अभिनय की छाया कष्टदायक प्रतीत हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ?

**'अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति चक्र का बने यंत्र।'** (पृ० १७१)

में आन्तरिक परिवर्तन के अतिरिक्त बाह्य परिवर्तन सामाजिक, राजनीतिक आदि भी नियति की ही आज्ञा से होते हैं सभी पर नियति का कठोर शासन चलता है।

प्रसादजी के कई आलोचकों ने प्रसाद के 'नियति' तत्व को वैदिक ऋत की कल्पना पर आधारित कर्मों के समष्टि-रूप भाग्यवाद से किंचित् भिन्न माना है किन्तु ऐसा लगता नहीं। कई स्थलों पर 'नियति' शब्द भाग्य के अर्थ में कामायनी में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए प्रसादजी का निम्न पद लिया जा सकता है।

मनु कहते हैं—

**"शनि का सुदूर वह नील लोक !**
**जिसकी छाया सा फैला है, ऊपर नीचे यह गगन शोक।**
**उससे भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक।**
**वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतन्त्रता में सहाय।**
**क्या बन सकता है ? नियति जाल से मुक्ति दान का कर उपाय॥"**

(पृ० १७८)

'कि शनि के उस सुदूरस्थ लोक से भी सुदूर प्रकाश का कोई महापुंज स्थित है। क्या वह प्रकाश-पुंज अपनी एक किरण देकर भाग्य (दुर्भाग्य) के इस जंजाल से मुझे मुक्ति दिलाने का उपाय करके स्वतन्त्रता बनाए रखने में मेरी सहायता कर सकता है।' यहाँ 'नियति-जाल' भाग्य अथवा दुर्भाग्य के लिए स्पष्टतः प्रयुक्त हुआ है।

**ताण्डव में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकल था,**
**नियति विकर्षणमयी, त्रास से सब व्याकुल थे।** (संघर्ष, पृ० २०८)

में नियति शब्द भाग्य के अर्थ में ही ग्रहीत है। भाग्य की गति आज संहारमयी हो रही थी। सब भयभीत और बेचैन थे।

रहस्य सर्ग में कर्म-लोक का परिचय देते हुए प्रसादजी कहते हैं—

**"नियति चलाती कर्म-चक्र यह**
**तृष्णाजनित ममत्व वासना।** (वही, पृ० २७५)

उसमें कर्मचक्र का प्रवर्त्तन करने वाला तत्व नियति अर्थात् भाग्य ही कहा गया है, इसी के प्रभाव-स्वरूप तृष्णा से उत्पन्न ममता-मोह का दास बनकर प्रत्येक प्राणी कर्म करता है।

प्रसादजी ने एक स्थल पर मनु के शब्दों में कहा है—

**"नियति खेल देखूं न, सुनो अब**
**इसका अन्य उपाय नहीं है।"** (रहस्य, पृ० २६८)

मनु श्रद्धा के सम्पर्क से आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करते हुए, चेतना के ऊर्ध्व सोपानों पर आरोहण करते हुए, पार्थिव आधार से परे के क्षेत्र में प्रवेश कर चुके हैं। यह वह क्षेत्र है जहाँ पहुँचकर मनुष्य के सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं ऐसा उपनिषद् कहते हैं।[1] यही मनु भी अनुभव कर रहे हैं कि 'नियति खेल देखूँ न' अर्थात् अब भाग्य का खेल नहीं देखना, क्योंकि चरम तत्व के दर्शन करके उनके समस्त संचित और क्रियमाण कर्म क्षीण हो गए।

इस प्रकार प्रसादजी का नियति शब्द शैव-दर्शन से गृहीत होने पर भी वैदिक-ऋत और भाग्य-वाद से नितांत भिन्न नहीं है। "वे नियति को ऋत अर्थात् नैतिक तत्वों से समाविष्ट कर देते हैं। मनुष्य यदि समझ ले कि नियति उच्छृंखल नहीं है, 'सर्वभूत हित—सबका कल्याण'—यही उसका लक्ष्य है तो वह नियति के थपेड़ों से दुखी न हो।"[2] हाँ, प्रसादजी की नियति भाग्यवाद से अधिक व्यापक है। क्योंकि भाग्य का क्षेत्र चेतन प्रकृति तक ही सीमित है और नियति चेतन और जड़ प्रकृति दोनों पर अधिकार जमाए रखती है। यहाँ वह ऋत के अधिक निकट है।

**रहस्यवाद**—रहस्यवाद, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, दर्शन के अद्वैत पर आधारित एक भावात्मक साधना-पद्धति है जिसमें आत्मा का अनिर्वचनीय ब्रह्म के साथ रागवृत्ति के आधार पर सहज सम्बन्ध स्थापित किया जाता है अथवा करने की इच्छा व्यक्त की जाती है। काव्य के क्षेत्र में पदार्पण करते ही रहस्यवादी का अनिर्वचनीय ब्रह्म वचनीय हो जाता है और ब्रह्म पर गुणों का आरोप होते ही वह ईश्वर या

---

१. मुण्डकोपनिषद् २, २, ८।
२. प्रसाद : ले० रामरतन भटनागर, (सम्पादक : इन्द्रनाथ मदान) पृ० ३४६।

परमात्मा का रूप धारण कर लेता है तब उसके प्रेम-व्यापार का आलम्बन बनने में कोई कठिनाई नहीं आती है। रहस्यवाद के क्षेत्र में विरह, मिलन और प्रेम आदि की स्थिति तो भावना की प्रौढ़ावस्था में आती है। यह बहुत बाद की स्थिति है। प्रमुख बात तो यह है कि रहस्य का जन्म होता कब है ? साधक अथवा कवि इस पथ का पथिक बनता कैसे है ? कैसे उसे इस क्षेत्र में पदार्पण करने की प्रेरणा होती है ? ये वे प्रारम्भिक प्रश्न हैं जिनके उत्तर पाकर ही हम रहस्य अथवा रहस्यवाद को समझ अथवा समझा सकते हैं।

मानव पग-पग पर अपने जीवन में एक विवशता का, एक प्रकार की पराधीनता का अनुभव करता है। वह जीवन में अनेक प्रकार से सोचता है, विभिन्न प्रकार की कामनाएँ और इच्छायें करता है। कभी उसका सोचा हुआ पूरा हो जाता है, इच्छानुकूल कार्य सम्पन्न हो जाता है और कभी ऐसा भी होता है कि उसकी इच्छाएँ, उसकी कामनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, उसके प्रयत्न विफल हो जाते हैं। स्पष्ट है कि वह परिस्थितियों का नियन्ता नही है, उसमें पूर्ण कर्तृत्व की शक्ति भी नही है और दोषपूर्ण चिन्तन के कारण वह पूर्ण ज्ञानी भी नहीं है। उसके जीवन का अनुभव, उसका चिन्तन उसे बताता है कि उससे बढ़कर भी कोई है अवश्य जो सबका नियामक और नियन्ता है। पर वह 'कैसा' है, 'क्या है', 'क्यों है' यह सब नहीं जान पाता। ये प्रश्न कुछ ऐसे हैं जिन पर प्रारम्भ से ही समय-समय पर चिन्तकों और विचारकों ने चिन्तन और विचार किया पर आज तक इनका संतोषजनक उत्तर प्राप्त नही हो सका। ये प्रश्न ही ऐसे हैं जिनका कोई अंतिम उत्तर दे ही नहीं सकता। हाँ, पर 'कुछ है अवश्य' इसका निश्चय कर लेने के बाद 'अनेक प्रकार से उसके बारे में अटकल लगाने की प्रेरणा करने वाली भावना ही 'रहस्य' है और उस रहस्य को उद्घाटित करने के लिए किसी प्रकार के धार्मिक, दार्शनिक या साहित्यिक मतवाद की सृष्टि ही 'रहस्यवाद' है।"[1]

वेद और उपनिषदों में उस परम सत्ता के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर जिज्ञासाएँ देखने को मिलती हैं जो रहस्य-भावना का आधार हैं। अथर्व वेद का ऋषि जिज्ञासा प्रकट करते हुए पूछता है—

**"क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहो रात्रे द्रवतः संविदाने,**
**यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवः सः ?** (अ० वे०१०,७,६)

(विपरीत रूप वाले गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं ? वे सरिताएँ जहाँ पहुँचने की अभिलाषा से जा रही हैं, उस परम आश्रय को बताओ। वह कौन है ?)

इन जिज्ञासाओं से रहस्य-भावना का उदय होता है। प्रसाद की कामायनी में भी ये जिज्ञासाएँ वर्तमान हैं। देव-सृष्टि के प्रलय में नष्ट हो जाने के बाद जब धीरे-

---

१. डा० विजयेन्द्र स्नातक : महाकवि प्रसाद, पृ० २१३।

धीरे जल उतरने लगता है, और प्रकृति के तत्वों में पुनः संतुलन आ जाता है तब ऊषा सुनहले तीर बरसाती हुई जय-लक्ष्मी की भाँति उदित होती है, हिम से मारी हुई वनस्पतियाँ पुनः हरी-भरी होकर लहराने लगती हैं। प्रकृति में नवचेतना और नव-जागृति प्रतिष्ठित होने लगती है। समस्त सौर-मण्डल पूर्ववत पुनः गतिशील हो उठता है। बस यहीं से जिज्ञासा प्रारम्भ हो जाती है। मनु सोचने लगते हैं कि वह कौनसी शक्ति है जिसके किंचित भ्रू-भंग मात्र से प्रलय का भयंकर दृश्य उपस्थित हो गया और जिसके कारण ये सब देवता भी वेचैन हो गए ? कितना आश्चर्य है कि विश्वदेव प्रकृति के शक्ति-चिह्न होकर भी ये उस विराट् सत्ता के सामने कितने निर्बल और शक्तिहीन सिद्ध हुए—

**"किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा**
**जिसमें ये सब विकल रहे,**
**अरे ! प्रकृति के शक्ति-चिन्ह ये**
**फिर भी कितने निबल रहे ।"** (आशा, पृ० ३३)

मनु प्रश्न करते हैं कि वह विराट् कौन है जो प्रलय से नष्ट सृष्टि में, रंगहीन चित्र में नया रंग भरने के लिए आज स्वर्ण घोल रहा है—

"वह विराट् था हेम घोलता
नया रंग भरने को आज,
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज ।" (वही, पृ० १२)

वह कौन है जिसके अम्लान शासन में विश्वदेव सविता, पूषा, सोम, मरुत, चंचल पवमान और वरुण आदि देवता घूम रहे हैं ?[१] कामायनी का यह विराट् जिसके लिए 'कौन' का अचानक प्रश्न होता है जिसके शासन में सविता आदि देव कहे गए हैं, द्यावा, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि देवों का जनक और नियामक "वैदिक 'क' (कौन ?) देव से पूर्णतया साम्य रखता है—"

**"हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे, भूतस्य जात पतिरेक आसीत्,**
**सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।**
**य आत्मदाबलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिसं यस्य देवाः**
**यस्य छायामृते यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।"**
(ऋ० वेद १०, १२१, १-२)

मनु की यह जिज्ञासा शीघ्र ही समाप्त नहीं हो जाती। वे वैदिक ऋषि की भाँति प्रश्नों का क्रम उपस्थित करते चलते हैं। मनु पूछते हैं—

"महानील इस परम व्योम में,
अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,

१. कामनीया, पृ० ३३, आशा ।

ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण,
किसका करते से संधान ।
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए,
तृण, वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए ?" (पृ० ३४)

× × ×

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहां,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहां ?" (वही)

उस वास्तविक सत्ता की खोज में प्रवृत्त मनु के हृदय में एक साथ अनेक प्रश्न उदय होते हैं। वे पूछते हैं—इस नील महाकाश में अन्तरिक्ष में चमकते हुए ग्रह-नक्षत्र और विद्युत-कण आदि किस की खोज करते हुए घूम रहे हैं ? ये ग्रह-नक्षत्रादि यथासमय छिपकर पुनः न जाने किसके आकर्षण से खिंचे हुए फिर निकल आते हैं। किसके रस से सिंचित होकर यह घास-तिनके, ये वृक्षादि लहलहा रहे हैं ? और सिर नीचा कर जिसके प्रभुत्व को इस सृष्टि के समस्त जड़-चेतन पदार्थ स्वीकार कर रहे हैं और सभी मौन-भाव से जिसका गुणगान कर रहे हैं वह सत्ता कहाँ है, कौन सी है ?

उस सत्ता के प्रति मनु के मन में अपरिमित आश्चर्य और श्रद्धा का भाव उदय होता है। वे उस सत्ता को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ।

× × ×

हे विराट ! हे देव ! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान—"
गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान । (वही, पृ० ३४)

मनु उस सत्ता को 'अनन्त रमणीय' कहकर सम्बोधित करते हैं। पर उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस बात का निश्चय करने में वे अपने-आपको सर्वथा अयोग्य और असमर्थ पाते हैं। और ठीक भी तो है—यदि उसके स्वरूप का ठीक-ठीक निर्धारण हो गया तो फिर उसकी रहस्यात्मकता ही क्या रही, उसकी विशिष्टता का क्या महत्व रहा ? औपनिषदिक ऋषि भी तो उसके लिए कोई निश्चित स्वीकारात्मक परिभाषा नहीं दे सके। उसके स्वरूप के अवधारण में 'नेति-नेति' का ही आश्रय लिया है।

वस्तुतः वह ऐसा विचित्र तत्व है जो मन और बुद्धि की पकड़ में आता ही नहीं। तर्क और बुद्धि के कर से उस रहस्यमय सत्य का स्पर्श करने पर वह छुई-मुई सा बन जाता है—

"और सत्य यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है,
मेधा के क्रीड़ा-पंजर का
पाला हुआ सुआ है।
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है
किन्तु स्पर्श से तर्क करों को
बनता छुई मुई है॥" (कर्म-सर्ग, ११९)

उपनिषदों में स्पष्ट कहा है कि यह विषय मन और बुद्धि का है ही नहीं 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।' यह तो प्रतिभा, ज्ञान अथवा अन्तर्दृष्टि का विषय है। ईश्वर-जैसी सत्ता तो तर्कातीत है। वह तर्क की पकड़ में नहीं आता इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका अस्तित्व ही नहीं। वह सत्ता है। पर उसका सम्बन्ध श्रद्धा से है।' 'अस्तीति ब्रुवतो' (कठ० ६,१२) जो श्रद्धापूर्वक उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है बस उसके लिए वह अपना स्वरूप प्रकट कर देती है सबके लिए नहीं। तभी तो प्रसादजी कहते हैं कि 'तर्क करों के स्पर्श से वह छुई-मुई बनता है।' हाँ तभी तो आत्मानुभूति के आधार पर उसके विषय में ऐसा आभास होता है कि वह सत्ता कुछ है जो विराट् है, महान् है।

जब यह निश्चित हो गया है कि सृष्टि के पीछे कोई सत्ता है तो फिर उसके दर्शनों की उत्सुकता बढ़ती है। क्योंकि मनुष्य स्वयं सत् रूप है और यदि वह अपने अखण्ड तत्व 'सच्चिदानन्द' के दर्शनों के लिए उत्सुक हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पर वह सत् रूप ब्रह्म आकर्षक पर्दे के पीछे छिपा हुआ है। उस पर्दे को हटाकर ही कोई-कोई उसके दर्शन कर सकता है। यजुर्वेद में उसके सम्बन्ध में कहा है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'[1] प्रसादजी भी यही कहते हैं—

"सौन्दर्यमयी चंचल कृतियां
बनकर रहस्य हैं नाच रहीं,
मेरी आंखों को रोक वहीं
आगे बढ़ने से जांच रहीं।" (काम०, पृ० ६४)

दिव्य सौन्दर्य से परिपूर्ण चंचल आकृतियाँ मनु के समक्ष एक विचित्र रहस्य बन कर नाच रही हैं और उनकी दृष्टि को वहीं बाह्य रूप-वैभव पर रोककर वास्तविक सत्य का दर्शन कर सकने की शक्ति को चुनौती-सी दे रही हैं…। यहाँ प्रसादजी वेद के

१. यजुर्वेद, ४०,१५।

उपरोक्त मंत्र के अनुसार ठीक ही तो कहते हैं कि सत्-स्वरूप बाह्य सौन्दर्य के पर्दे में छिपा रहता है। हिरण्यमयी बाह्य सुन्दरता का आकर्षण इतना तीव्र होता है कि वह दृष्टि को मोह में बाँध लेता है, आलोक मूर्च्छित हो जाता है, आँखें अन्तः-सौन्दर्य के दर्शन में बाह्य सौन्दर्य-भेदन का प्रयत्न करते-करते थक कर रोने लगती हैं, आगे बढ़ने ही नहीं पातीं।[1] मनु की उलझन अभी समाप्त नहीं हुई है। वे कहते हैं—

"मैं देख रहा हूं जो कुछ भी,
वह सब छाया या उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में
क्या अन्य धरा कोई धन है ?" (कामा०)

कि मेरे सामने जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह सब क्या सत्य न होकर उसकी छाया अर्थात् प्रतिबिम्ब मात्र है ? क्या इस बाह्य सुन्दरता के पर्दे के पीछे कोई और अधिक चिरस्थायी और मूल्यवान् धन छिपा है, विश्वास नहीं होता। वे अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर की अक्षय निधि को पहचानने का प्रयत्न करते हैं, यदि उसे पहचान लिया तो प्राणों की सारी उलझन के सुलझने में देर नहीं लग सकती।

"मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो,
पहचान सकूंगा क्या न तुम्हें ?
उलझन प्राणों के धागों की
सुलझन का समझूं मान तुम्हें।" (वही, पृ० ७४)

अकेले मनु ही सौन्दर्य के इस आकर्षक बाह्य पर्दे को खोलने के लिए उत्सुक नहीं, प्रत्युत सभी इसे खोलने के इच्छुक हैं—

"सब कहते हैं 'खोलो खोलो,
छवि देखूंगा जीवन-धन की'
आवरण स्वयं बनते जाते
है भीड़ लग रही दर्शन की।" (काम०, पृ० ७६)

सभी दर्शनार्थी इस पर्दे को खोलने के लिए उत्सुक हैं ताकि वे अपने जीवन-धन की रूप-छटा का पान कर सकें। यजुर्वेद का ऋषि भी पूषन् से यही प्रार्थना करता है, कि हे पूषन ! मुझ सत्यधर्मा के लिए दर्शन हेतु अपनी चमकती हुई ज्योतिर्मयी यवनिका को हटा लें—'तत्वं पूषन्नपावृणुसत्यधर्माय दृष्टये।'[2] यहाँ वेद-मंत्र में अभि-व्यक्त भाव का प्रसादजी की उपरोक्त पंक्तियों पर स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। इसी प्रकरण में अगले मंत्र में ऋषि प्रार्थना करते हुए कहता है—हे पूषन्, एकर्षे यम, सूर्य, प्रजापति हे प्रभु ! आप इन रश्मियों के समूह को समेट लीजिये जिसमें मैं

---

१. कामायनी अनुशीलन, पृष्ठ १५८-१५६।
२. यजुर्वेद ४०,१५।

आपके अनन्त कल्याणमय और दिव्य स्वरूप के दर्शन कर सकूँ—

"पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यन्ते कल्याण तमं तत्ते पश्यामि········।"[1]

प्रसादजी की निम्न पंक्तियों में भी यही भाव अभिव्यक्त हुआ है—

"चांदनी सदृश खुल जाये कहीं
अवगुंठन आज संवरता सा
जिसमें अनन्त कल्लोल भरा
लहरों में मस्त विचरता सा—
अपना फेनिल फन पटक रहा
मणियों का जाल लुटाता सा,
उन्निद्र दिखाई देता हो
उन्मत्त हुआ कुछ गाता सा।" (वही, पृ० ७६)

यहाँ प्रसादजी ने मनु को अनन्त के प्रति अपनी आकुल आकांक्षा की भावना से युक्त दिखाया है। मनु अनन्त के दिव्य उद्घाटन की कल्पना से आह्लादित होकर कह उठते हैं, कितना अच्छा हो यदि कहीं सौभाग्य से चाँदनी का दर्शनों में बाधा डालने वाला पर्दा दूर हो जाये और इस प्रकार आनन्द के अगणित कल्लोलों से युक्त उस पर-ब्रह्म के दिव्य रूप के दर्शन हो जाएँ। यदि ऐसा हो जाए तो मनु का जीवन धन्य और सफल-मनोरथ हो जाय, क्योंकि उसमें और पर-ब्रह्म में दूरी है वह इस आवरण के ही कारण है, जहाँ यह माया का, बाह्य सौन्दर्य का आकर्षक परदा हटा नहीं, कि वे दोनों एक हो जायेंगे, क्योंकि वह 'वही है'—'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।'[2] अनेक उत्थान-पतन के उपरांत मनु को श्रद्धा के सहयोग से परब्रह्म के दर्शनों में बाधा डालने वाला पर्दा उठता दृष्टिगोचर हुआ। उस पर्दे के हटते ही एक महान् सत्ता के प्रकटीकरण के लक्षण दीख पड़ने लगे। दिव्य पुरुष की साकार प्रतिमा प्रकट होने लगी, उस समय सब ओर प्रकाश ही प्रकाश छा गया।

"सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रन्थि खोल,

× × ×

वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन
आलोक पुरुष! मंगल-चेतन।
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु किरनों की थी लहर लोल।" (दर्शन, पृ० २६०)

मनु शिव-रूप ब्रह्म के दर्शन करके अपनी सुध-बुध भूल बैठते हैं और श्रद्धा की पुकार

---

१. यजुर्वेद, ४०,१६।
२. वही, ४०,१६।

पर उन परब्रह्म के चरणों तक ले चलने को कहते हैं जिनके सामीप्य से समस्त पाप-पुण्यादि द्वन्द्व जलकर भस्म हो जाते हैं और वह निर्मल एवं पवित्र बन जाता है, समस्त असत्य और सीमित ज्ञान दोनों ही समाप्त हो जाते हैं, जिनके चरणों में केवल समरसता और अखण्ड आनन्द का ही चिर-निवास है—

"यह क्या ! श्रद्धे बस तू ले चल,
उन चरणों तक, दे निज सम्बल,
सब पापपुण्य जिसमें जल-जल,
पावन बन जाते हैं निर्मल,
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश।" (दर्शन, पृ० २६२)

उपनिषदों में कहा है कि उस परात्पर पुरुषोत्तम के दर्शनों से जीवात्मा के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय क्षीण हो जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं—

'भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥"[1]

केवल आनन्द-स्वरूप परब्रह्म ही वहाँ सर्वत्र प्रकाशित रहता है—"तद्विज्ञानेन परि-पश्यन्तिधीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।"[2] श्रद्धा निश्चय ही मनु को विभिन्न बाधाओं में से पार ले जाती हुई, पृथक्-पृथक् गोलकों में समन्वय स्थापित करती हुई, मनु के छूटते साहस को पुनः वृद्धिगत करती हुई उस लोक में ले जाती है जहाँ कर्म-चक्र का प्रवर्तन समाप्त हो जाता है, जहाँ ग्रह, तारा, नक्षत्र आदि अस्त हो जाते हैं, जहाँ ऋतुओं का क्रमिक आवागमन समाप्त हो जाता है, जहाँ भौतिकता बहुत पीछे छूट चुकी होती है, जहाँ शिव के डमरु की ध्वनि ही कर्णगोचर होती रहती है, जहाँ योगियों की भाँति अनाहत नाद ही सुनाई देता है, जिस लोक में पहुँच कर जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं और केवल तुरीयावस्था मात्र रह जाती है—

'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।' (वही, पृ० २८१)

इस स्थिति का वर्णन उपनिषदों में अनेक प्रकार से किया गया है—

१. ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति। (श्वे० ४,१४)
२. तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशाश्छिनत्ति। (वही, ४,१५)

३. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (वही ४,१६)
४. एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। (वही, ४,१७, कठ० ६,९)
५. ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाल परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। (मु० ३,२,६)
६. स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति,
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (कठ० ४,१४)

जिस आत्मा के द्वारा स्वप्न और जागृत अवस्था के अन्तर्गत दीखने वाले पदार्थों को मनुष्य देखता है, उस महान् और विभु आत्मा को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता। यही जीवात्मा का मोक्ष है, रहस्य-भावना का चरम लक्ष्य है, और प्रसादजी का आनन्दवाद है।

प्रसादजी की रहस्य-भावना वेद और उपनिषदों के सिद्धान्तों के अधिक निकट है। उन्होंने शैव-दर्शन से परिभाषिक शब्द अवश्य गृहीत किये हैं, और साथ ही यह भी सत्य है कि शैव-दर्शन वैदिक-दर्शन से भिन्न कोई अन्य दर्शन नहीं है। इस विषय पर पीछे हम प्रकाश डाल भी आए हैं और यह भी कह आए हैं कि वेद और उपनिषदों में जिन दार्शनिक विचारों, चिन्तनाओं और सिद्धांतों तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों की चर्चा हुई है उन्हीं का शैव-दर्शन में विस्तार से क्रमबद्ध प्रतिपादन हुआ है।

प्रसादजी ने अपने काव्य-साहित्य में, विशेषकर कामायनी में, जिन मूलभूत सिद्धांतों को ग्रहण किया है वे वेद और उपनिषद्-सम्मत हैं। प्रसादजी स्वयं शैव थे और उन्होंने शैव-ग्रन्थों का अध्ययन भी किया था, अतः शैव-दर्शन के पारिभाषिक शब्द और किंचित् रूपकात्मक वर्णन यदि उनकी कामायनी में मिलते हैं तो वह स्वाभाविक ही है। कामायनी में वर्णित त्रिकोण के अन्तर्गत जिस भाव, क्रिया और ज्ञान-लोक के समन्वय की बात उठाई है वह यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में आये 'विद्यांचाविद्यांच' मंत्र का शैव-दर्शन में गृहीत संशोधित संस्करण है। इसी प्रकार समरसता का सिद्धान्त औपनिषदिक समत्व-भाव का ही तो पर्याय है। उसमें नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से विशेष कुछ भी नहीं है। इन दोनों की चर्चा आगे प्रसंगानुकूल होगी।

प्रसादजी की कामायनी में रहस्यवाद के जिस स्वरूप का चित्रण मिलता है उसमें न तो वैष्णवों की माधुर्य-मूलक भावना का योग है, न सूफियों की प्रेम की पीड़ा की चर्चा है और न संतों की भाँति विरह-मिलन की विभिन्न स्थितियों का समावेश है। उसमें तो अन्नमय कोश में स्थित जीवात्मा का विभिन्न राग-विराग-मयी भूमिकाओं में से होकर गुजरते हुए, उत्थान और पतन की नाना स्थितियों का अतिक्रमण करते हुए, श्रद्धा द्वारा निर्देशित होकर आनन्दमय कोश में पहुँचने की यात्रा का वर्णन है। विराट् के प्रति जिज्ञासा, उत्सुकता और अनन्त ब्रह्म पर पड़े आवरण को हटा कर उसके दर्शनों की तीव्र इच्छा आदि इस यात्रा के विभिन्न सोपान हैं, जिसका पर्यवसान अंतिम सर्गों में मनु द्वारा पर-ब्रह्म के वास्तविक दर्शन

कर लेने पर होता है। इस प्रकार प्रसाद की रहस्य-भावना आधुनिक अन्य छायावादी कवियों से किञ्चित् भिन्न तथा औपनिषदिक रहस्य-भावना के अधिक निकट है।

## कामायनी का लक्ष्य : आनन्दवाद :

वैदिक दर्शन का चरम प्रतिपाद्य है—मोक्ष। यह मोक्ष क्या है, मोक्ष के स्वरूप का वर्णन विभिन्न दार्शनिक मतों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुसार विभिन्न प्रकार से किया है। आचार्य शंकर ने कहा है—

> **"मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति नग्रामान्तरमेव।**
> **अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥"**

हृदय स्थित अज्ञान-ग्रन्थि का नाश ही मोक्ष है। उपनिषदें भी यही कहती हैं। इस अवस्था में पहुँच कर जीवात्मा की हृदय-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, उसके समस्त संशय क्षीण हो जाते हैं।[1] वस्तुतः यह स्थिति 'स्व' की, 'आत्मा' की, अपरोक्षानुभूति की स्थिति है। यह वह दशा है जब जीवात्मा के सभी दोष क्षीण हो जाते हैं, और आत्मा पवित्रता, निर्मलता और निर्लेपता का अनुभव करती हुई अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, हानि-लाभ उसके निकट समरूप होकर विलीन हो जाते हैं अथवा वह उनका एक तटस्थ द्रष्टा-मात्र रह जाता है। यह आत्मा की 'द्वन्द्वातीतावस्था' है। इसे ही 'त्रिगुणातीतावस्था' भी कहते हैं, इस अवस्था को प्राप्त करके आत्मा केवल मात्र आनन्द का अनुभव करती हुई सर्वत्र एकता, समता और अभेद की अनुभूति को प्राप्त कर लेती है। सभी प्राणी उसके लिए आत्मरूप हो जाते हैं, वह सबमें अपने को और अपने में सब को देखने लगता है। यजुर्वेद में इस स्थिति का वर्णन करते हुए ऋषि का कथन है—

> **"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।**
> **सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (६)**
> **यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।**
> **तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (७)**

(अर्थात् जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है वह इस सर्वात्म्य दर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं करता। (६) जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखने वाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।) स्पष्ट है कि उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है—मोक्ष अर्थात् साम्यावस्था की प्राप्ति, यह अभेदानुभूति आनन्द के स्रोतों को अनावृत कर देती है, क्योंकि आत्मा स्वरूपतः आनन्दमय ही है—'आत्माऽऽनन्दमयः', 'आनन्द आत्मा' (तै० ३,५) आदि अनेक श्रुतियों में आत्मा की आनन्दमयता को स्पष्ट स्वीकार किया गया है।

---

१. मुण्डकोपनिषद् २,२,८।

३. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः। (वही ४,१६)

४. एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। (वही, ४,१७, कठ० ६,९)

५. ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाल परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे। (मु० ३,२,६)

६. स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति,
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (कठ० ४,१४)

जिस आत्मा के द्वारा स्वप्न और जागृत अवस्था के अन्तर्गत दीखने वाले पदार्थों को मनुष्य देखता है, उस महान् और विभु आत्मा को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता। यही जीवात्मा का मोक्ष है, रहस्य-भावना का चरम लक्ष्य है, और प्रसादजी का आनन्दवाद है।

प्रसादजी की रहस्य-भावना वेद और उपनिषदों के सिद्धान्तों के अधिक निकट है। उन्होंने शैव-दर्शन से पारिभाषिक शब्द अवश्य गृहीत किये हैं, और साथ ही यह भी सत्य है कि शैव-दर्शन वैदिक-दर्शन से भिन्न कोई अन्य दर्शन नहीं है। इस विषय पर पीछे हम प्रकाश डाल भी आए हैं और यह भी कह आए हैं कि वेद और उपनिषदों में जिन दार्शनिक विचारों, चिन्तनाओं और सिद्धांतों तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों की चर्चा हुई है उन्हीं का शैव-दर्शन में विस्तार से क्रमबद्ध प्रतिपादन हुआ है।

प्रसादजी ने अपने काव्य-साहित्य में, विशेषकर कामायनी में, जिन मूलभूत सिद्धांतों को ग्रहण किया है वे वेद और उपनिषद्-सम्मत हैं। प्रसादजी स्वयं शैव थे और उन्होंने शैव-ग्रन्थों का अध्ययन भी किया था, अतः शैव-दर्शन के पारिभाषिक शब्द और किंचित् रूपकात्मक वर्णन यदि उनकी कामायनी में मिलते हैं तो वह स्वाभाविक ही है। कामायनी में वर्णित त्रिकोण के अन्तर्गत जिस भाव, क्रिया और ज्ञान-लोक के समन्वय की बात उठाई है वह यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में आये 'विद्यांचाविद्यांच' मंत्र का शैव-दर्शन में गृहीत संशोधित संस्करण है। इसी प्रकार समरसता का सिद्धान्त औपनिषदिक समत्व-भाव का ही तो पर्याय है। उसमें नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से विशेष कुछ भी नहीं है। इन दोनों की चर्चा आगे प्रसंगानुकूल होगी।

प्रसादजी की कामायनी में रहस्यवाद के जिस स्वरूप का चित्रण मिलता है उसमें न तो वैष्णवों की माधुर्य-मूलक भावना का योग है, न सूफियों की प्रेम की पीड़ा की चर्चा है और न संतों की भाँति विरह-मिलन की विभिन्न स्थितियों का समावेश है। उसमें तो अन्नमय कोश में स्थित जीवात्मा का विभिन्न राग-विराग-मयी भूमिकाओं में से होकर गुजरते हुए, उत्थान और पतन की नाना स्थितियों का अतिक्रमण करते हुए, श्रद्धा द्वारा निर्देशित होकर आनन्दमय कोश में पहुंचने की यात्रा का वर्णन है। विराट् के प्रति जिज्ञासा, उत्सुकता और अनन्त ब्रह्म पर पड़े आवरण को हटा कर उसके दर्शनों की तीव्र इच्छा आदि इस यात्रा के विभिन्न सोपान हैं, जिसका पर्यवसान अंतिम सर्गों में मन द्वारा पर-ब्रह्म के वास्तविक दर्शन

कर लेने पर होता है। इस प्रकार प्रसाद की रहस्य-भावना आधुनिक अन्य छायावादी कवियों से किंचित् भिन्न तथा औपनिषदिक रहस्य-भावना के अधिक निकट है।

कामायनी का लक्ष्य : आनन्दवाद :

वैदिक दर्शन का चरम प्रतिपाद्य है—मोक्ष। यह मोक्ष क्या है, मोक्ष के स्वरूप का वर्णन विभिन्न दार्शनिक मतों ने अपने-अपने सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुसार विभिन्न प्रकार से किया है। आचार्य शंकर ने कहा है—

**"मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति नग्रामान्तरमेव।**
**अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥"**

हृदय स्थित अज्ञान-ग्रन्थि का नाश ही मोक्ष है। उपनिषदें भी यही कहती हैं। इस अवस्था में पहुँच कर जीवात्मा की हृदय-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, उसके समस्त संशय क्षीण हो जाते हैं।[1] वस्तुतः यह स्थिति 'स्व' की, 'आत्मा' की, अपरोक्षानुभूति की स्थिति है। यह वह दशा है जब जीवात्मा के सभी दोष क्षीण हो जाते हैं, और आत्मा पवित्रता, निर्मलता और निर्लेपता का अनुभव करती हुई अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, हानि-लाभ उसके निकट समरूप होकर विलीन हो जाते हैं अथवा वह उनका एक तटस्थ द्रष्टा-मात्र रह जाता है। यह आत्मा की 'द्वन्द्वातीतावस्था' है। इसे ही 'त्रिगुणातीतावस्था' भी कहते हैं, इस अवस्था को प्राप्त करके आत्मा केवल मात्र आनन्द का अनुभव करती हुई सर्वत्र एकता, समता और अभेद की अनुभूति को प्राप्त कर लेती है। सभी प्राणी उसके लिए आत्मरूप हो जाते हैं, वह सबमें अपने को और अपने में सब को देखने लगता है। यजुर्वेद में इस स्थिति का वर्णन करते हुए ऋषि का कथन है—

**"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।**
**सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (६)**
**यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।**
**तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" (७)**

(अर्थात् जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है वह इस सर्वात्म्य दर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं करता। (६) जिस समय ज्ञानी पुरुष के लिए सब भूत आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखने वाले उस विद्वान् को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।) स्पष्ट है कि उपनिषदों का मुख्य लक्ष्य है—मोक्ष अर्थात् साम्यावस्था की प्राप्ति, यह अभेदानुभूति आनन्द के स्रोतों को अनावृत कर देती है, क्योंकि आत्मा स्वरूपतः आनन्दमय ही है—'आत्माऽऽनन्दमयः', 'आनन्द आत्मा' (तै० ३,५) आदि अनेक श्रुतियों में आत्मा की आनन्दमयता को स्पष्ट स्वीकार किया गया है।

---

१. मुण्डकोपनिषद् २,२,८।

कामायनी का लक्ष्य भी आनन्दवाद की प्रतिष्ठा है। यह आनन्द इन्द्रियों के विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न क्षणिक आनन्द से भिन्न है। यह अन्तर्मुखी आनन्द है। 'स्व' की अपरोक्षानुभूति का आनन्द है, आत्मा का आनन्द है। इसी आनन्द की प्रतिष्ठा के लिए प्रसादजी ने मनु को प्रारम्भ में इन्द्रिय-जनित अल्प आनन्द के वात्या-चक्र में उलझा कर वहुत समय तक इधर-उधर भटकाया है। मनु प्रारम्भ में श्रद्धा के स्वर्ण-जैसे दीप्त, गौर शरीर के उपभोग में आनन्द का अनुभव करते हैं, पर शीघ्र ही अपने ईर्ष्या आदि मनोविकारों के उभर जाने के कारण उससे विमुख हो जाते हैं, तदन्तर इडा के सम्पर्क से अपने क्षुब्ध और अशान्त मन को सुखी और आनन्दित वनाना चाहते हैं, पर उससे ही सुख और आनन्द मिलना तो दूर रहा उल्टे युद्ध और संघर्ष की विभीषिका से आक्रांत होकर मुमूर्षु हो जाते हैं। प्रसादजी इस प्रकार मनु को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर, वाह्य विषयों में फंसाकर उन्हें त्रस्त-रूप में चित्रित करके यही प्रतिपादित करना चाहते थे कि असंयत विपयोपभोग से जीवात्मा को सच्चे आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। उससे जीवात्मा में अहंकार और स्वार्थ बढ़ता है, भेद-वुद्धि उपजती है और भेद-बुद्धि सदैव संघर्ष और विप्लव की भूमिका प्रस्तुत किया करती है। मनु इस सत्य को हृदयंगम कर वाह्य विषयों से अपने मन को पराङ्मुख कर अन्तर्मुखी होते हैं और शीघ्र ही श्रद्धा-युक्त हृदयाकाश के आनन्दमय कोश में परमशिव के दर्शन करते हैं, स्वप्न, स्वाप, जागरण सब कुछ भस्म हो जाते हैं—

> **"स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो**
> **इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,**
> **दिव्य अनाहत पर निनाद में**
> **श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।"** (रहस्य पृ० २८१)

परम ब्रह्म के दर्शनों से मनु को जिस आनन्द की अनुभूति हुई उससे उस समय जड़ और चेतन सभी में समरसता अर्थात् एकरूपता, अभिन्नता की स्थापना हो गई थी। सौन्दर्य ने मूर्त रूप धारण कर लिया था, सर्वत्र एक अद्भुत चेतनता के वास का अनुभव हो रहा था। अखण्ड, पूर्ण एवं अत्यधिक आनन्द सभी ओर व्याप्त था—

> **'समरस थे जड़ या चेतन**
> **सुन्दर साकार वना था,**
> **चेतनता एक विलसती**
> **आनन्द अखण्ड घना था।।'** (आनन्द पृ० ३०२)

और उपनिषद् की श्रुति कहती है—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' यह परम-शिव रस रूप है। उस रस-रूप शिव को प्राप्त करके जीवात्मा भी आनन्द-युक्त हो जाता है।[1] मनु इस स्थिति को प्राप्त करके शाप-ताप आदि सभी से मुक्त हो जाता है। चारों ओर पूर्ण समरसता और सामंजस्य स्थापित हो जाता है, सारी

---

१. तै० उ० २,७, अनुवाद।

विषमताएँ आनन्द के रस में डूबकर विलीन हो जाती हैं—

'शापित न यहाँ है कोई
तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है।' (आनन्द पृ० २९६)

उपनिषदों में जिस अद्वैत तत्व, अभिन्नता, एकरूपता, आनन्दवाद अथवा (पारिभाषिक शब्द में) मोक्ष की चर्चा हुई है उसकी सिद्धि साम्यावस्था अर्थात् समत्व-भावना की परिपक्वावस्था में ही होती है। ईशो० ७,७ में स्पष्ट कहा है 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' अर्थात् एकत्व की अनुभूति होने पर ही वह शोक-मोह से रहित होकर आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार आनन्द और एकत्व दोनों पर्याय हैं।' प्रसादजी इस स्थिति को सामरस्य की अवस्था कहते हैं। और इस समरसता की सिद्धि के लिये वे भाव, क्रिया और ज्ञान के समन्वय की अनिवार्यता पर बल देते हैं। वे कहते हैं—

'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।' (रहस्य, पृ० २८०)

जीवन की सब से बड़ी विडम्बना यही है कि ज्ञान और कर्म में परस्पर तारतम्य का अभाव है। वे एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। मानव-जीवन में दुःख और विषमता का सबसे प्रमुख कारण यही है कि वे दोनों एक-दूसरे से मिल नहीं पाते, इनमें कोई सम्बन्ध नहीं है। इन दोनों के बीच समन्वय के अभाव के कारण, मन की इच्छा कैसे पूरी हो सकती है ? जब तक ज्ञान और कर्म में समन्वय न हो तब तक समत्व-भावना या समरसता का उदय असंभव है और तब तक आनन्द भी दुर्लभ ही है। स्पष्टतः प्रसाद-जी आनन्द की सिद्धि के लिए ज्ञान और कर्म के समन्वय पर जोर देते हैं। प्रसादजी का यह भाव कर्म और ज्ञान के समन्वय का दृष्टिकोण यजुर्वेद के कर्म और ज्ञान के समन्वय की धारणा के नितांत अनुकूल है। वहाँ कहा गया है—

'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो यउविद्यायां रताः॥ (९)
विद्यां चा विद्यांच यस्तद्वेदोभयं सह्।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।' (११)

(जो पुरुष अविद्या अर्थात् कर्म की उपासना करते हैं वे अज्ञान-स्वरूप घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो मनुष्य विद्या अर्थात् ज्ञान के मिथ्या अभिमान में मत्त हैं वे उससे भी अधिकतर घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं। जो मनुष्य उन दोनों को अर्थात् ज्ञान और कर्म के तत्व को साथ-साथ यथार्थतः जान लेता है वह कर्मो के अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके ज्ञान के अनुष्ठान से अमत को भोगता है अर्थात् अविनाशी

आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है।)

इच्छा और कर्म के परस्पर के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए उपनिषद् में कहा है—

**'काममय एवायं पुरुषइति स यथा कामोभवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।'** (बृह० उ० ४,४,५)

(अर्थात् यह पुरुष काममय ही है, वह जैसी कामना वाला होता वैसा संकल्प करता है, जैसे संकल्प वाला होता है वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है) यहाँ कामना से अभिप्राय मनुष्य के भाव अथवा इच्छा से ही है। सद्ज्ञान के अभाव में मनुष्य के मन में श्रेष्ठतर और उदात्त भावों का उदय होना असंभव ही है, क्योंकि इन्द्रियों की वृत्ति अधोगामिनी होने के कारण पुरुष को दुःख, पतन और विषमता की ओर ही ले जाती है। स्वभावतः इच्छा के दूषित होने के कारण उससे शुद्ध कर्म की आशा ही नहीं की जा सकती। अतः भाव कर्म और ज्ञान के असामंजस्य के कारण पुरुष कहीं भी सुख, चैन, शांति, आनन्द नहीं पाता। ऐसी उपनिषदों की मान्यता है।

प्रसादजी ने भी इन तीनों प्रकार के पृथक्-पृथक् रहने पर जो विषमता उत्पन्न होती है उसका बड़ा ही काव्यमय और हृदयग्राही वर्णन किया है। वे पहले भावलोक का चित्रण करते हुए कहते हैं—

**"वह देखो रागारुण है जो**
**ऊषा के कन्दुक सा सुन्दर**
**छाया मय कमनीय कलेवर**
**भाव-मयी प्रतिमा का मन्दिर।** (रहस्य, पृ० २७०)

× × ×

**शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की,**
**पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियां,**
**चारों ओर नृत्य करती ज्यों**
**रूपवती रंगीन तितलियां।** (रहस्य, पृ० २७०)

× × ×

यहां मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना,
माया-राज्य ! यही परिपाटी,
पाश बिछा कर जीव फांसना। (वही, पृ० २७२)

× × ×

चिर-वसंत का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है
अमृत हलाहल यहां मिले हैं
सुख-दुःख बंधते, एक डोर हैं।" (वही, पृ० २७३)

कि यहाँ इच्छा का मधु-मादकता अंगड़ाई वाला मायाराज्य है जो रागारुण ऊषा के कंदुक-सा सुन्दर है और जिसमें शब्द-स्पर्शादि की पारदर्शिनी पुतलियाँ रंग-विरंगी तितलियों के समान नाच रही हैं। यहाँ चिर-वसंत का उद्‌गम भी है और पतझड़ भी। यहाँ सुख-दुःख एक सूत्र में बँधे है, यह भावलोक इच्छाओं का जाल बिछाकर जीव को फाँसता है। यह मनुष्य के ज्ञानरहित मनःलोक का औपनिषदिक दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर और वास्तविक वर्णन है। मनुष्य के चित्त में स्थित नाना इच्छाएँ, वासनाएँ और कामनाएँ उसे नाना आकर्षक विषयों में खींच कर ले जाती हैं और इस प्रकार जीव इच्छाओं के जाल में ऐसा उलझ जाता है कि उसमें से निकलना कठिन हो जाता है। कोरे कर्म-लोक का वर्णन करते हुए प्रसादजी कहते हैं—

"मनु यह श्यामल कर्म लोक है
धुंधला कुछ-कुछ अंधकार सा,
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम धार सा। (रहस्य, पृ० २७४)

× × ×

श्रममय कोलाहल, पीड़ामय
विकल प्रवर्तन महायंत्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का। (वही, पृ० २७४)

× × ×

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है,
अंधकार में दौड़ लग रही,
मतवाला यह सब समाज है। (वही, पृ० २७५)

× × ×

नियति चलाती कर्म चक्र यह
तृष्णा जनित ममत्व वासना,
पाणि-पाद मय पंचभूत की
यहाँ हो रही है उपासना।" (वही, पृ० २७५)

'कर्म का श्यामल लोक धुएँ-सा धुधंला है जहां क्षण-भर भी विश्राम नहीं है, सतत संघर्ष और विफलता का कोलाहल रहता है। आकांक्षा की तीव्र पिपासा बनी रहती है, सारा समाज मतवाला हो रहा है।' प्रसादजी के कर्म-लोक-सम्बन्धी वर्णन पर वेद की इस श्रुति, 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' (यजु० ४०,९) का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

भाव और कर्मरहित कोरे ज्ञान-लोक का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

"प्रियतम! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख दुःख से है उदासीनता,

यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि चक्र जिसमें न दीनता। (रहस्य, पृ० २७७)

× × ×

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
करते थे अणु तर्क युक्ति से,
ये निस्सर्ग, किन्तु कर लेते
कुछ सम्बन्ध विधान-मुक्ति से। (वही, पृ० २७८)

× × ×

यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती,
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती। (वही, पृ० २७८)

× × ×

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो,
बस इतना ही भाग तुम्हारा,
तृषा! मृषा, वंचित होने दो। (वही, पृ० २७९)

× × ×

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं,
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं।" (वही, पृ० २८०)

ज्ञान-क्षेत्र में सदा बुद्धि का चक्र चलता रहता है, सुख-दुःख से उदासीनता रहती है, यहाँ के निरंकुश अणु तर्क-युक्त से अस्ति-नास्ति की चर्चा करते हुए उनके बीच भाँति-भाँति के भेद-भाव की परिकल्पना करते रहते हैं। एक-दूसरे के प्रति निरपेक्ष रहते हुए ये मोक्ष से किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध बनाये रखते हैं। यहाँ जीवनरस का उपभोग नहीं होता, सांसारिक इच्छाओं को मिथ्या कहकर झुठलाया जाता है।' यहाँ भी कोरे ज्ञान के मिथ्याभिमान की निन्दा की गई है—ऐसे ज्ञानी लोग कर्मरत लोगों से भी अधिक गहरे अंधकार में प्रवेश करते हुए कहे गये हैं—'ततोभूय इव ते तमो यउ विद्यायां रताः' (यजु० ४०,६)।

इस प्रकार इच्छा, कर्म और ज्ञान का पृथक्करण जीवन और समाज में विषमता और पीड़ा उत्पन्न करता है। इन दोनों-तीनों का समन्वय ही जीवन में समरसता अर्थात् समत्व-भाव उत्पन्न करता है जो अभेदानुभूति और आनन्दानुभूति का साधक है। यही तथ्य वेद की श्रुतियों में बलपूर्वक कहा गया है और यही बात प्रसादजी भी कहते हैं। वैदिक-श्रुति और प्रसादजी के कथन में यदि कुछ भी अन्तर

है तो वह शैली का है। उन्होंने भाव लोक, कर्म-लोक और ज्ञान-लोक के त्रिपुर का जो रूपक खड़ा किया है वह शैव-दर्शन से गृहीत है और उसके माध्यम से जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है वह वैदिक है। इन तीनों के समन्वय की चर्चा शैव-दर्शन में भी हुई है। १—अभिनवगुप्त : तंत्रालोक आह्निक। पर वह वैदिक-सिद्धान्त का ही पल्लवित रूप है, अलग से कोई स्वतन्त्र चिन्तन नहीं है।

इस प्रकार इच्छा, कर्म और ज्ञान का समन्वय, समरसता का जनक है। यही आनन्दानुभूति का साधक है। जिसके उदित होने पर, दुःख की स्थिति आत्मा के लीला और अभिनय-रूप जीवन में विदूपक से अधिक नहीं रहती, जो कुछ क्षणों के लिए परिहास-पूर्ण अभिनय कर अन्त में लुप्त हो जाता है—

> **'सुख सहचर दुःख विदूषक**
> **परिहास पूर्ण कर अभिनय,**
> **सब की विस्मृति के पट में**
> **छिप बैठा था अब निर्भय।'** (आनन्द, पृ० ३०१)

यह समत्व की स्थिति एक ऐसी अखण्ड आत्मानुभूति है जिसमें द्वयता के लिए कोई स्थान नहीं है—दुख, सुख और जड़-चेतन से सम्बन्धित विश्व की बाह्य द्वयता इस सामरस्य में लीन हो जाती है—

> "सब भेद-भाव भुलवाकर
> सुख-दुःख को दृश्य बनाता
> मानव कह रे! 'यह मैं हूं'
> यह विश्व नीड़ बन जाता। (आनन्द, पृ० २९७)
>
> × × ×
>
> अपना ही अणु अणु कण कण
> द्वयता ही तो विस्मृति है। (वही)
>
> × ×
>
> देखोगे तुम कि यहाँ पर
> कोई भी नहीं पराया।
> हम अन्य न और कुटुम्बी
> हम केवल एक हमीं हैं।
> तुम सब मेरे अवयव हो
> जिसमें कुछ नहीं कमी है॥" (वही)

यहाँ अपने-पराये का कोई भेद-भाव ही नहीं रहता। सब अपने हो जाते हैं।

**विश्व-बन्धुत्व की भावना**—वैदिक-दर्शन में व्यष्टि के धरातल पर जिस अद्वैतवाद अथवा अभेदवाद का प्रतिपादन हुआ वही सामाजिक-व्यावहारिक धरातल पर विश्व-बन्धुत्व और मानवतावादी दृष्टिकोण का भी प्रेरक है। जीवात्मा जब विभिन्न सम-विषम-परिस्थितियों में से होकर गुजरती हुई, समन्वयात्मक दृष्टि ग्रहण

कर आत्मा की अपरोक्षानुभूति प्राप्त करती है, उस समय सारा चराचर विश्व आत्म-मय और आत्मवत् प्रतीत होने लगता है। 'अयं निजः परो वेति' की संकुचित दृष्टि क्षीण हो जाती है। तब सब अपने ही बनने लगते हैं फिर किससे द्वेष ? किससे ईर्ष्या ?? किससे घृणा ??? 'नेह नाना अस्ति किंचन' (कठ० ४,११) के अनुसार यहाँ तो कोई दूसरा है भी नहीं फिर भेद-भाव कैसा ? सामाजिक धरातल पर यह एकत्व और समत्व की भावना मानव-मानव के प्रति स्नेह, सहानुभूति, करुणा, दया, ममता, परोपकार और परार्थ हित अथवा एक शब्द में 'सर्वभूत हिते रतः' की वृत्ति को जन्म देती है, 'विश्व मानवता-वाद' की भावना का पोषण करती है। वेद में मित्रता-पूर्ण व्यवहार और समत्व-भावना से युक्त अनेक श्रुतियाँ आई हैं—

**'दृते दृढँ्हमामित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्**
**मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा-समीक्षामहे।'**
(यजु० ३६,१८)

(अर्थात्—हे दृढ बनाने वाले, मुझे ऐसा दृढ बना दे कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं स्वयं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता रहूँ। और चाहता हूँ कि हम सब आपस में एक-दूसरे के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार करें।)

इसी प्रकार ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा में कहा गया है—

**'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधु सौभगाय।'** (५,६०,५)

(अर्थात् हम में कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं, हम सब भाई की तरह मिलकर सौभाग्य के लिए उन्नति करें।)

प्रसादजी का समस्त साहित्य आध्यात्मिक आत्मैक्य की भावना पर आधारित विश्व-मानवतावाद के सिद्धान्त से संवलित है। काव्य में भी उनकी यह भावना आरंभ से ही देखी जा सकती है। उनके कथनानुसार मनुष्य वही है जो दूसरों के काम आवे—

**"दुःखी जनों के दुःख को निवारि के**
**सुखी कर धर्म महा प्रचारि के**
**आतिथ्य सेवारत मोद को भरे**
**मनुष्य सत्कर्म्म यज्ञ को करे।"** (अष्टमूर्ति)

क्षणभर की जन-सेवा पहरों की भक्ति से अच्छी है, क्योंकि कवि को आरम्भ से ही ज्ञान है कि जन में जनार्दन का निवास है—

"तोड़कर बाधा बन्धन भेद,
भूल जा अहमिति का यह स्वार्थ।
×          ×          ×
दुखी पर करुणा क्षण भर हो
प्रार्थना प्रहरों के बदले।" (कानन-कुसुम)

कवि आत्म-केन्द्रित, स्वार्थी, अहंकारी और व्यक्तिवादी मनुष्य को मिट्टी और लोय

से भी निकृष्ट समझता है—

"उस खल हृदय से कहीं अच्छी होती है श्यामा रजनी।
जहाँ दुखी प्रेमी, निराश—सब मीठी निद्रा में सोते॥

प्रेम और करुणा का व्यवहार दीन-मलीन हृदय का सब ताप हर लेता है—

'किन्तु न परिमित करो प्रेम सौहार्द विश्व व्यापी कर दो।' (प्रेम पथिक)

× × ×

"सुखी कर विश्व, भरे स्मित सुषमा से मुख,
सेवा सबकी हो, तो प्रसन्न तुम होते चलो।" (झरना)

कामायनी में लोक-मंगल और विश्व-मावतावाद का स्वर तो और भी अधिक ऊँचा है। प्रसादजी की लोक-मंगल की भावना केवल मानव तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत पशु आदि समस्त भूत उसकी परिधि में आते हैं—श्रद्धा मनु से उसके स्वार्थ-प्रधान विचारों का खण्डन करती हुई, परमार्थ-प्रधान विचारों का मण्डन करते हुए कहती है कि अपने स्वार्थ की सीमाओं में जकड़ा हुआ व्यक्ति कदापि विकास नहीं कर सकता। स्वार्थ-भाव अत्यन्त भयानक है, वह अपने ही विनाश की सामग्री तैयार करता है—

"अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा॥" (कर्म, पृ० १४०)

अतः श्रद्धा मनु को सत्परामर्श देते हुए कहती है—

"औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ।" (वही, पृ० १४०)

श्रद्धा चाहती है कि मनु अपने सुख को इतना बढ़ा ले कि उसमें सबका सुख सम्मिलित हो जाए अर्थात् सब के सुख में अपना सुख समझने लगे। व्यक्तिगत सुख को समष्टि का पोषक बना दे। अतः पुनः कहती है—

"रचना मूलक सृष्टि-यज्ञ यह
यज्ञ-पुरुष का जो है
संसृति-सेवा भाग हमारा
उसे विकसने को है।" (वही)

यह संसार स्वयं यज्ञ-पुरुष द्वारा अपनी आहुति देकर निर्मित किया गया है। इस सृष्टि-यज्ञ में अपने कर्त्तव्य की भी आहुति डालते हुए उसे विकसित करना हमारा धर्म है।[1] अतः यदि तुम सुख को अपने तक ही सीमित रखकर दूसरों के लिए दुःख ही छोड़ोगे और दूसरे प्राणियों को दुःख देकर अपना मुख मोड़ लोगे तो निश्चय ही

---

१. ऋग्वेद १०,९०,६; गीता ३,११।

स्नेह, सहानुभूति आदि श्रेष्ठ गुणों से वंचित हो जाओगे। उपरोक्त पंक्तियों में ('सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया', 'ओ३म् भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा'[1] 'वसुधैव कुटुम्बकम्' आदि) मानवतावाद की पोषक उक्तियों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है—

"सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे,
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुंह मोड़ोगे॥ (कर्म, पृ० १४१)
ये मुद्रित कलियाँ दल में सब
सौरभ बन्दी कर लें।
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से
खुलकर तो ये भर लें॥ (वही, पृ० १४१)
सूखे, झड़े और तब कुचले
सौरभ को पाओगे।
फिर आमोद कहाँ से मधुमय
वसुधा पर लाओगे।" (वही, पृ० १४१)

उपरोक्त पंक्तियों में भी श्रद्धा मनु को स्वार्थ के सीमित घोंघे में से बाहर कर लोकोन्मुखी होने की प्रेरणा देती है। वैदिक-संस्कृति का यह भाव है कि 'अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ' बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। वैदिक ऋषि का कथन है कि जो केवल अपना ही पेट भरता है वह 'पाप' को ही खाता है 'केवलाघो भवति केवलादी'[2] और गीता भी यही कहती है—'भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।'

इसी प्रकार 'ईर्ष्या' सर्ग में श्रद्धा मनु को उनकी निर्दयता और हिंसापूर्ण वृत्ति की भर्त्सना करती हुई कहती है—

"अपनी रक्षा करने में जो
चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र,
वह तो कुछ समझ सकी हूं मैं
हिंसक से रक्षा करे शस्त्र। (ईर्ष्या, १५४)
× × ×
पर जो निरीह जीकर भी कुछ
उपकारी होने में समर्थ,
वे क्यों न जिएँ, उपयोगी बन
इसका मैं समझ सकी न अर्थ॥ (वही)

---

१. ऋग्वेद, १,८९,८।
२. वही, १०, ११७, ७६।

चमड़े उनके आवरण रहें
ऊनों से मेरा चले काम,
वे जीवित हों मांसल बनकर
हम अमृत दुहें, वे दुग्ध धाम। (ईर्ष्या, पृ० १५५)

× × ×

वे द्रोह न करने के स्थल हैं
जो पाले जा सकते सहेतु,
पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधि में बनें सेतु ॥" (वही, पृ० १५५)

यहाँ मनु को जीव-मात्र पर करुणा और अहिंसा का संदेश देती हुई श्रद्धा कहती है कि यदि हम पशु से कुछ ऊँचे है तो हमें इस संसार-समुद्र में दूसरों के लिए सेतु-तुल्य बनने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रसादजी यहाँ स्पष्टतः यह कहना चाहते हैं कि मानव-जीवन की सार्थकता दूसरों को सहयोग पहुँचाने में है, हानि पहुंचाने में नहीं। इस सबके पीछे कामायनीकार का आध्यात्मिक दृष्टिकोण निहित है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

प्रसादजी के दृष्टिकोण में एक विशेषता और द्रष्टव्य है। उनके आनन्दवाद का सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत भूमिका पर जाकर ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका व्यष्टि-पक्ष जितना प्रबल है सामाजिक पक्ष उतना ही सबल है। वे पुरुष और प्रकृति की समरसता पर ही जाकर नहीं रुकते। वे नर और नारी, व्यक्ति और समाज, शासक और शासित की समरसता का भी संदेश देते हैं। वे नर और नारी तथा शासक और शासित की समरसता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

"तुम भूल गए पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की ॥" (इडा, पृ० १७०)

श्रद्धा सबकी समरसता का प्रचार करने के लिए अपने पुत्र से कहती है—

"सबकी समरसता का प्रचार
मेरे सुत ! सुन मा की पुकार।" (दर्शन, पृ० २५२)

उन्हें हृदय और बुद्धि का समन्वय भी अभीष्ट है। श्रद्धा अपने पुत्र कुमार को इडा को सौंपते हुए कहती है—

"यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय।" (वही)

और अन्त में कहती है—

"सबकी सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है।" (आनन्द पृ० २९७)

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने व्यष्टि के विकास के साथ-साथ समष्टि के विकास के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। उन्हें केवल व्यक्ति के निःश्रेयस की ही चिन्ता नहीं थी, समाज के उत्थान का भी

ध्यान था। इसीलिए उन्होंने श्रद्धा के माध्यम से सामाजिकता के विकास का भी बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया और यह प्रतिपादन उपनिषदों के 'भूमा' तत्व के आधार पर बड़ी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया। 'भूमा' के सम्बन्ध में पीछे प्रकाश डाला जा चुका है जहाँ यह कहा गया है कि भूमा वह तत्व है जिसके आधार पर व्यक्ति अपने सुख को व्यष्टि के सीमित घोंघे में से निकालकर समष्टि की खुली धूप में बिखेर देता है, अपने सुख का समष्टि के सुख से समन्वय कर देता है, उसका अहं इतना विराट् और महान् रूप धारण कर लेता है कि उसका समष्टि से सहज ही तादात्म्य में स्थापित हो जाता है। 'कामायनी' की सामाजिकता का आधार यही 'भूमा' तत्व है जिसकी स्थापना करते हुए श्रद्धा कहती है—

> "समन्वय उसका करे समस्त
> विजयिनी मानवता हो जाय।" (श्रद्धा, पृ० ६७)

प्रसादजी का यह समष्टिगत विकास शैव-दर्शन के व्यष्टिगत विकास से मेल नहीं खाता। यह औपनिषदिक अर्थात् वैदिक-दर्शन के अनुकूल है जहाँ व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि के विकास पर भी बल दिया गया है।

### उपसंहार :

प्रसादजी के समस्त काव्य-विवेचन से स्पष्ट है कि वे उन कतिपय महान् कवियों में से हैं जो अर्वाचीन और नवीन के मिलन-विन्दु पर खड़े होते हुए भी नवीनता और मौलिकता की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने अपनी काव्य-साधना ब्रजभाषा से प्रारम्भ की थी तथापि उसमें विचार और अभिव्यक्ति की दृष्टि से नवीनता के अंकुर विद्यमान थे। 'चित्राधार' में उनका प्रार्थना और भक्ति का प्रभाव प्रमुख था जिसमें किंचित् दार्शनिकता समाविष्ट थी। 'कानन-कुसुम' में जाकर भक्ति-सम्बन्धी भावना को और पोषण मिला, पर यह भक्ति वैष्णवों की भक्ति से भिन्न थी जिसमें सगुण-निराकार के स्तवन को महत्त्व दिया गया। 'प्रेम-पथिक' कलेवर की दृष्टि से लघुकाय होते हुए भी भाव और शैली दोनों ही दृष्टियों से प्रसादजी की प्रथम स्वच्छन्द रचना है जिसमें प्रेम के व्यापक और उदात्त रूप की प्रतिष्ठा हुई। इन प्रारम्भिक रचनाओं में रहस्य और दर्शन के वे सभी बीज विद्यमान थे जो उनकी मध्य और उत्तर-युग की रचनाओं में जाकर विकसित और प्रतिष्ठित हुए। मध्ययुग की रचनाओं—'झरना', 'आंसू' और 'लहर'—तीनों का ही तीन दृष्टि-विन्दुओं से विशेष महत्त्व है। 'झरना' से उस शैली की काव्य-साधना का समारंभ होता है जिसे आज का युग छायावाद के नाम से जानता है। इसी रचना से प्रसादजी सर्वप्रथम प्रकृति, प्रेम, सौन्दर्य और रहस्य के कवि के रूप में सामने आते हैं। यहाँ उनके यौवन का उद्दाम स्रोत काव्य के धरातल पर प्रवाहित होता दृष्टिगोचर होता है और 'तुम', 'किरण', 'खोलो द्वार' आदि रचनाओं में वे रहस्य-भावना से संवलित कवि के रूप में सामने आते हैं। 'आँसू' उनके व्यक्तिगत जीवन की प्रयोगशाला से उत्पन्न एक ऐसा

सुन्दर-काव्य-मुक्ता है जो अपनी मार्मिकता और तरलता के कारण सहृदयों के कण्ठ का हार बन सका। इसमें लौकिकता के साथ-साथ अलौकिकता का भी समावेश है जो उनकी रहस्यवृत्ति की प्रगाढता के कारण रहस्यात्मक रूप भी ग्रहण कर सका है। 'लहर' के गीत तब लिखे गए थे जब उनके जीवन में यौवन का झंझा प्रशांत और गंभीर रूप ग्रहण कर चुका था, विचार और चिन्तन में एक प्रकार की स्थिरता और प्रौढता आ चुकी थी। 'लहर' के कतिपय गीतों में रहस्य का स्वर पूर्व की रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्रगाढ रूप में व्यक्त हुआ है जिसका निर्देश यथा-स्थान कर चुके हैं। उनका समस्त अध्ययन, मनन और चिन्तन 'कामायनी' में अपने श्रेष्ठतम रूप में प्रतिफलित हुआ है। प्रसादजी का दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन अपूर्व था जो 'कामायनी' में, वृक्ष में उसके रस की भाँति, सर्वत्र व्याप्त है। उन्होंने उपनिषदों के मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक चिंतन को मनु, श्रद्धा और इडा आदि वैदिक चरित्रों के माध्यम से काव्य की भूमिका पर जितनी सुन्दरता से पिरो दिया, वह कार्य उनकी जैसी प्रखर प्रतिभा का कोई महान् कलाकार ही सम्पन्न कर सकता था। प्रसादजी की महत्ता इसी स्थल पर आकर हमें अभिभूत करती है। यहीं वे सच्चे दार्शनिक कलाकार के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। इतिहास के क्षीण कंकाल में रक्त और माँस भरने वाले प्रसादजी की प्रतिभा को आज का कोई भी कवि स्पर्श नहीं कर सका, यह एक सुस्पष्ट तथ्य है।

प्रसादजी की एक और विशिष्टता है और वह है उनकी प्रतिभा की बहुरूपता। महादेवी की भाँति उनके काव्य में विषयों की विविधता का अभाव नहीं है। उन्होंने विविध विषयों पर समान रूप से लेखनी चलाई है। वे जितने महान् दार्शनिक थे उतने ही बड़े इतिहास के मर्मज्ञ भी थे। इसीलिए उनके काव्य में एकरसता नहीं आने पाई है।

□□□

षष्ठ अध्याय

# निराला के काव्य पर वैदिक दर्शन का प्रभाव

## निराला

'जुही की कली' लेकर हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करने वाले 'निराला' समस्त हिन्दी-काव्य-परम्परा में, कबीर को छोड़कर, सर्वाधिक प्रखर और ओजस्वी व्यक्तित्व लेकर उत्पन्न हुए थे। शरीर से, स्वभाव से, संस्कार से सबसे उनका निरालापन टपकता था। "चौड़ा विशाल मांसल शरीर, बड़े-बड़े रतनारे नेत्र, लम्बी शाल की शाखा-सी भुजाएँ, शाश्वत मंद-मुस्कान में सिक्त पतले आकर्षक ओंठ, कवियोचित कंबु-कण्ठ और वृषभ कंधे इन सब विशिष्टताओं से युक्त निराला अपने साथियों, आलोचकों और प्रशंसकों को साक्षात् रोमन-मूर्ति जैसे महान् और आकर्षक लगते थे।"[1] वे स्वभाव से भी असाधारण और असामान्य प्रवृत्तियों के धनी थे। जिसे न घर की चिन्ता, न वस्त्र की और न भोजन की फिक्र—ऐसे थे मस्त-मौला निराला, अपने सम्बन्ध में बेसुध, पर अतिथि की सेवा के लिए सतर्क प्रहरी।[2] 'ऐसे अवढर दानी कि बड़े प्रयत्न से बनवाई रजाई, कोट-जैसी नित्य व्यवहार की वस्तुएँ भी जब दूसरे ही दिन किसी अन्य का कष्ट दूर करने के लिए अन्तर्धान हो जाती थीं तो फिर अर्थ के सम्बन्ध में तो क्या कहा जावे जो साधन मात्र है।'[3] और उनके संस्कारों में इतना अधिक विद्रोह का स्वर कि समाज, धर्म और साहित्य के जीर्ण-शीर्ण भवन को अपने पैरों से रौंद कर कुचलते हुए निकल जाते और उसके स्थान पर नया प्रासाद खड़ा करने के लिए समुत्सुक रहते। सब कुछ ढाह कर नया निर्माण करते चलना उनके जीवन का लक्ष्य था। प्रथम पत्नी के दिवंगत हो जाने पर दूसरा विवाह न करके भाग्य की लिपि को मिटाने, पुत्री सरोज का विवाह कुल में चली आ रही परम्पराओं के अनुसार न कर सर्वथा भिन्न प्रकार से करके नई लीक डालने,[4] लोगों की थोथी

---

१. गंगाप्रसाद पाण्डेय : महाप्राण निराला, पृ० १५४।
२. वही, भूमिका लेखिका : महादेवी वर्मा, पृ० ३।
३. वही, पृ० ३।
४. सरोज-स्मृति।

धार्मिकता, अन्धविश्वास और पाखण्ड के कटु किन्तु यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने, कविता के क्षेत्र में प्रथम बार मुक्त छन्द का प्रयोग करके एक सहस्र वर्ष से चली आ रही काव्य-शास्त्र परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का झंडा गाड़ने, और सामन्तवादी समाज की कुत्सित एवं घृणित प्रवृत्तियों की निर्भय आलोचना करने, तथा माँ भारती (हिन्दी) के उज्ज्वल भविष्य के हेतु गांधीजी तथा नेहरूजी से जा टकराने में उनके विद्रोही स्वभाव एवं संस्कार के स्वर स्पष्टतः श्रुतिगोचर होते हैं। यह बात निस्संकोच भाव से कही जा सकती है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कबीर से पहले और बाद में यदि किसी का स्वर इतना अधिक तीखा, स्पष्ट और विद्रोही रहा तो वह निराला का स्वर था। उनके स्वर में बवण्डर का वेग है, सिंह-जैसी गर्जना है, समुद्र जैसी मन्द्रता और हिमालय जैसी उच्चता है। उनका व्यक्तित्व पौरुषमय व ओजयुक्त और उनकी कविता मर्दाना कविता है जिसमें उनके पौरुष और ओजपूर्ण व्यक्तित्व का स्वर ध्वनित होता है। डा० रामविलास शर्मा के इन शब्दों को—

> "वह सहज विलम्बित मन्थर गति जिसको निहार,
> गजराज लाज हो राह छोड़ दे एक बार।"

उद्धृत करते हुए जय कुमार 'जलज' कहते हैं "ऐसा मर्दाना व्यक्तित्व जिस व्यक्ति का हो, भला उसकी वाणी में मर्दानापन क्यों न होगा, स्त्रैणता तो वहाँ कभी भूल कर भी नहीं जा सकती। सचमुच उनकी देह वज्र से और उनके प्राण पराग से निर्मित हैं[1]।"

उनके जीवन, व्यक्तित्व और काव्य में जिस दृढ़ता, महानता और तेज के दर्शन होते हैं उनका मूल प्रेरक-स्रोत है—उनका औपनिषदिक-दर्शन का अध्ययन। उनके सम्पूर्ण काव्य-साहित्य में आदि से अंत तक एक ही स्वर प्रबल है और वह है वेदांत के अद्वैतवाद का। उनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आदर्श और यथार्थ दोनों पक्ष अद्वैत के मेरुदण्ड पर आधारित हैं। वे सदैव यही कामना करते रहे हैं—

> "दूर हों अभिमान संशय
> वर्ण - आश्रमगत - महाभय
> जाति जीवन हो निरामय
> वह सदाशयता प्रखर दो।"

निराला हिन्दी के प्रबुद्ध, सजग और जागरूक प्रथम दार्शनिक-साहित्यकार हैं। उनकी इकाई वही 'शाश्वत ज्योति' है, जो उनकी कविता और उनके दार्शनिक, सामाजिक, कलात्मक विचारों के मूल में हैं।...वे हिन्दी-काव्य के प्रथम दार्शनिक कवि और सचेत कलाकार हैं।[2]

### निराला का वैदिक साहित्य से सम्पर्क :

यह एक संयोग और हिन्दी के लिए सौभाग्य की ही बात थी कि कविवर

---

१. प्रेमनारायण टण्डन : निराला—व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० १२२।
२. नन्ददुलारे वाजपेयी : कवि निराला, पृ० २६।

रवीन्द्र की जन्म-भूमि बंगाल में निराला ने जन्म लेकर भी अपनी वाणी से हिन्दी-कविता-कामिनी का ही शृंगार किया। बात यह थी कि इनके पिता गढ़ाकोला, जिला उन्नाव (उ० प्र०) के निवासी होते हुए भी नौकरी के कारण बंगाल के मेदिनीपुर जिले की महिपादल रियासत से सम्बद्ध थे, वहीं उनकी एकमात्र सन्तान सूर्य कुमार (आगे चलकर सूर्यकान्त त्रिपाठी) का जन्म हुआ। वहीं उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा हुई। इसी कारण बंगला भाषा के अध्ययन का सौभाग्य भी निराला को प्राप्त हुआ। निराला लगभग ८ वर्ष की अवस्था तक बंगाल में ही रहे। पर नवम वर्ष में अपने गाँव गढ़ाकोला में ही उनका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ और चौदह वर्ष की अवस्था में सन् १९११ में डलमऊ की मनोहरा देवी से विवाह हुआ।[1] सन् १९१४ में उनके पुत्र रामकृष्ण और सन् '१६ में उनकी पुत्री सरोज का जन्म डलमऊ में ही हुआ। इस बीच भी उनका सम्पर्क महिपादल रियासत से बराबर बना रहा। यहाँ एक बात और उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने विवाह के उपरान्त अपनी पत्नी मनोहरा देवी की प्रेरणा से हिन्दी के अध्ययन की दिशा में प्रयत्न किया।[2] सरस्वती की प्रतियाँ मँगाकर अध्ययन प्रारम्भ किया। बस यहीं से निराला की हिन्दी-साधना प्रारम्भ होती है जो उनके जीवन के अंतिम क्षण तक निर्बाध चलती रही। सन् १७ से २० तक का समय उनके लिए पारिवारिक विपत्तियों का समय कहा जा सकता है। १९१७ में उनके पिता की मृत्यु और उसके उपरान्त सन् '१८ में पत्नी की मृत्यु से परिवार के भरण-पोषण का विशेष दायित्व उन पर आ गया। इसी दायित्व की पूर्ति के लिए महिपादल राज्य को छोड़कर सन् '२० के आसपास कलकत्ता आ गये। यह वह समय है जो उनके जीवन और साहित्य दोनों पर अपनी अमिट छाप छोड़ता है। यहाँ वे कलकत्ता में 'रामकृष्ण आश्रम' से प्रकाशित होने वाले पत्र 'समन्वय' के सम्पर्क में आए।[3] यह पत्र उपनिषद्-दर्शन अर्थात् वेदान्तिक विचारधारा से सम्बन्धित बंगाल का प्रमुख दार्शनिक पत्र था। लगभग २ वर्ष तक 'समन्वय' पत्र के सम्पादक के रूप में कार्य करते रहे। यहीं उनका वैदिक साहित्य और दर्शन से विशेष परिचय हुआ। यों तो उनकी प्रथम कविता 'जुही की कली' सरस्वती में प्रकाशित होने के लिए भेजी गई थी जिसे द्विवेदीजी ने कवि निराला की नई कल्पना की सराहना करते हुए भी मुक्त छन्द में लिखी होने के कारण से वापस कर दिया था। उस कविता पर भी अद्वैत विचारधारा का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि निराला 'समन्वय' पत्र में आने से पहले ही उपनिषदों के अद्वैतवादी विचारों से प्रभावित हो चुके थे। और यह परिचय उन्हें मिला रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' से, क्योंकि १९१३ में रवीन्द्र की रहस्यपरक कविताओं का यह संग्रह 'नोबल पुरस्कार' प्राप्त करके

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : कवि निराला, पृ० २१६।

२. देखिये, निराला : गीतिका का समर्पण।

३. नन्ददुलारे वाजपेयी : कवि निराला, पृ०, २१७।

नवोदित हिन्दी कवियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगा था। निराला की 'रवीन्द्र-कविता-कानन' पुस्तक-रचना इस तथ्य का समर्थन करती है। समन्वय में आने के बाद तो उन्हें वैदिक-विचारधारा के अध्ययन, मनन और चिन्तन का पूरा-पूरा अवसर मिला। 'समन्वय' में उस समय उनके गंभीर विचारपूर्ण लेख, जिसमें उनके दार्शनिक विषयों पर लिखे निबन्ध भी सम्मिलित हैं, प्रकाशित हुए जिनको बाद में 'प्रबन्धपद्म', 'प्रबन्ध प्रतिभा', 'चाबुक', 'चयन' आदि निबन्ध-संग्रहों में संकलित किया गया। ये निबन्ध दार्शनिक विषयों पर उनके गम्भीर चिन्तन के परिचायक हैं। तदनन्तर निराला ने रामकृष्ण 'परमहंस' के बंगला 'वचनामृत' का सरस हिन्दी में तीन खण्डों में अनुवाद किया और साथ ही साथ विवेकानन्द के सम्पूर्ण आध्यात्मिक और दार्शनिक साहित्य का सम्यक् अध्ययन किया। विवेकानन्द से भी उनका परिचय था।[1] परमहंस की तरह निराला की भाव-साधना की तल्लीनता के भी अधिक उल्लेख मिलते हैं। वस्तुतः उनका जीवन ऋषि-तुल्य चिन्तना का जीवन रहा है। आचार्य शिवपूजन सहाय ने बतलाया है कि 'मतवाला' में काम करते समय भी निराला एक गहरी डुबकी में डूबे रहते थे।[2] निराला स्वयं अपने में और विवेकानन्द में गहरी समता देखते थे। उन्होंने एक बार कहा था—'जब मैं इस प्रकार बोलता हूँ, तो यह मत समझो कि निराला बोल रहा है। तब समझो मेरे भीतर से विवेकानन्द बोल रहे हैं। यह तो तुम जानते ही हो कि मैंने विवेकानन्द का सारा वर्क हज़म कर लिया है। जब इस प्रकार की बातें मेरे अन्दर से निकलती हैं, तो समझो यह विवेकानन्द बोल रहे हैं।'[3] विवेकानन्द को, जैसा कि सर्वविदित ही है, अपने गुरुदेव रामकृष्णजी की सम्पूर्ण आध्यात्मिक सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी। उन्होंने अपनी इस प्राप्त सम्पत्ति को स्वयं के विधिवत् अध्ययन के योग से और भी अधिक सम्पन्न किया था। अतः उनकी ओजस्वी वाणी का प्रभाव जन्मतः आस्थावान् निराला पर न पड़ता यह कैसे हो सकता है। इस प्रकार निराला के वैदिक-साहित्य और दर्शन के सम्पर्क से सम्बन्धित स्रोतों के विषय में संक्षेप में निम्न प्रकार से कह सकते हैं—

(१) रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि।
(२) रामकृष्ण आश्रम से प्रकाशित 'समन्वय' पत्र से सम्पर्क।
(३) रामकृष्ण 'परमहंस' के वचनामृत के बंगला से हिन्दी अनुवाद।
(४) स्वामी विवेकानन्द के साहित्य का सम्यक् अध्ययन, और
(५) स्वयं उपनिषदों का अध्ययन।

---

१. 'अनामिका' द्वितीय संग्रह में निराला द्वारा अनुवादित विवेकानन्द की अनेक बंगला कविताओं का हिन्दी रूपान्तर—'गाता हूँ गीत तुम्हें ही सुनाने को', 'नाचे उस पर श्यामा', 'सखा के प्रति।'
२. अभिनन्दन ग्रन्थ : संस्मरण, पृ० २,३४,३६ तथा पृ० ३१,१०७,११२ एवं ११३।
३. वही, ३७ वां संस्मरण, पृ० ११४।

निराला के व्यक्तित्व और बौद्धिक-जगत् के निर्माण में ऊपर जिन स्रोतों का उल्लेख किया गया है उनके सम्बन्ध में निराला के शब्द भी महत्त्वपूर्ण हैं। अतः यहाँ उपर्युक्त महापुरुषों के सम्बन्ध में यदि निराला के स्वयं के कतिपय शब्दों को उद्धृत कर दिया जाये तो अप्रासंगिक न होगा।

१६वीं शती की महाविभूति श्री रामकृष्ण 'परमहंस' से निराला पर्याप्त प्रभावित थे। उनके अन्तर में श्री रामकृष्ण के प्रति कितनी निष्ठा और आस्था है इसका परिचय उनकी इन पंक्तियों से प्राप्त हो जाता है—"सर्व व्यापक चेतन विभु से उतर कर, भ्रष्ट ज्ञान, पाश्चात्य-बहु-दर्शन-पाठ-भ्रान्त-पथ मनुष्यों को भारतवर्ष की महाविज्ञानमयी शान्ति, ज्योति, अनेकानेक धर्म-पथ-प्रवाह, महान्-व्यक्तित्व दिखाने, समझाने, दिखलाने, तथा विश्वमानव को परस्पर ज्ञान-सम्बद्ध करने के लिए भगवान् श्री रामकृष्णदेव ज्ञान, भक्ति, कर्म योग आदि का समन्वय लेकर युगावतार के रूप में अवतीर्ण हुए। भारतवर्ष के तत्कालीन धर्म-विप्लवों में श्री रामकृष्ण देव का उदय विशेष महत्त्व रखता है।"[१] 'आध्यात्मिक साहित्य पाठक की हैसियत से मैं यह बात जोर देकर कह सकता हूँ कि विश्व के आध्यात्मिक साहित्य में कोई मनुष्य इतना अद्भुत, महान्, तपस्वी, जितेन्द्रिय तथा अपार भाव-राशि सम्पन्न नहीं मिलता जिसकी तुलना श्री रामकृष्ण देव से की जा सके, न इतना बड़ा उत्तरदायित्व लेकर कोई आया है।'[२] अतः रामकृष्ण के प्रवर्तन को निराला आद्य-शंकर के जीवन और कार्य के समकक्ष रखते हैं। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि—"आज विश्व समाज में भ्रातृत्व-बन्धन की जो ध्वनि गूँज रही है वह सबसे पहले भगवान श्री रामकृष्णजी के मुख से निकली थी। विश्व-विजयी वेदान्त-केसरी स्वामी विवेकानन्द जी की वीर-वाणी को मंत्र-मुग्धवत् संसार सुन रहा है, पर उनकी दिव्य शिक्षा भगवान् श्री रामकृष्णदेव के पद-प्रान्त में समाप्त हुई थी। आज भारत में एकता लता पर जो फूल खिल रहा है उसके निपुण माली है भगवान रामकृष्ण।"[३] स्वामी दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व भी उन्हें कम आकर्षक नहीं लगा। निराला ने कहा कि 'आर्य संस्कृति के लिए आपने निःसहाय होकर भी दिग्विजय किया, और उसकी समुचित प्रतिष्ठा की। स्वामीजी का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा की ओर नहीं देखा, वेदों की प्रतिष्ठा की है।[४] आर्य संस्कृति का जो कुछ भी श्रेष्ठतम रहा है निराला उस सबसे प्रभावित हुए हैं और वह श्रेष्ठतम जिस किसी भी महा-पुरुष के माध्यम से व्याख्यात अथवा पुनः संस्थापित हुआ है उन सबके प्रति हृदय से श्रद्धानत। कबीर और तुलसी, रवीन्द्र और बंकिम, दयानन्द और परमहंस, विवेकानंद

१. निराला : संग्रह, पृ० ५६।
२. वहीं, पृ० ६४।
३. वहीं, पृ० ७४-७५।
४. देखिए, प्रबन्ध प्रतिभा(लेख)महर्षि दयानन्द सरस्वती और युगान्तर, पृ० ५१-६२।

और रामतीर्थ ये सभी महापुरुष आर्य-संस्कृति के श्रेष्ठतम के गायक और उन्नायक रहे हैं और निराला के लिए ये सब श्रद्धास्पद ।

निराला कलकत्ता में 'रामकृष्ण आश्रम' से सम्बद्ध स्वामी शारदानन्द जी महाराज के व्यक्तित्व से भी अत्यधिक प्रभावित थे । उनसे हुए एक दार्शनिक प्रश्न का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"मैंने पूछा—'यह संसार मुझ में है या मैं संसार में हूँ।' उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—'इस तरह नहीं ।' और तब उन्होंने स्वामीजी से दीक्षा ली, तदनन्तर निराला की क्या दशा हुई उसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"मुझे ऐसा जान पड़ा, एक ठण्डी छाँह में मैं डूबता जा रहा हूँ । फिर मेरे गले में अपनी उँगली से एक बीज-मंत्र लिखने लगे । मैंने मन को गले के पास ले जाकर पढ़ने की चेष्टा की, पर कुछ समझ में न आया ।···मुझे कुछ ही दिनों में जान पड़ने लगा मेरा निचला हिस्सा ऊपर और ऊपर वाला नीचे हो गया, और रामकृष्ण मिशन के साधु मुझे खींच रहे हैं । अजीब घबराहट हुई । मैंने सोचा इन साधुओं ने मुझ पर वशीकरण किया है ।···मेरी विरोध-शक्ति बराबर प्रबल रही । तीव्र तीक्ष्ण दार्शनिक वज्र-प्रहारों से मैं मन से उनका अस्तित्व मिटाता रहा'····"मैं जब प्रहार करता हुआ थक जाता था, तब मेरे मनस्तत्व के सत्यस्वरूप स्वामी शारदानन्दजी मुझे रंगीन छाया की तरह ढककर हंसते हुए तर कर देते थे । इन महादार्शनिक, महाकवि, स्वयंभू, मनस्वी, चिर-ब्रह्मचारी, संन्यासी, महापण्डित, सर्वस्वत्यागी, साक्षात् महावीर के समक्ष देवत्व, इन्द्रत्व और मुक्ति भी तुच्छ है । मैं ब्राह्मण था, किसी मनुष्य को सर नहीं झुकाया···चरित्र और ज्ञान, जीवन और परिसमाप्ति में जो 'एजति न एजति' को सार्थक करने वाले ब्रह्म थे, उन्होंने अपनी पूर्णता देकर, ऐसी स्वल्पता ले ली । अब दोनों भाव उन्हीं के हैं, एक से वे लड़ते हैं, दूसरे से बचाते हैं—यही मेरा उस समय का जीवन है ।"[1] निराला को जीवन-क्षेत्र में पदार्पण करते ही इस प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण मिला । सन् १९२१ से २७ तक उन्हें माधवानन्द, शारदानन्द, प्रेमानन्द[2] आदि महादार्शनिकों का सम्पर्क प्राप्त होता रहा जिसका निराला की परिमल-काल की काव्य-साधना पर गहरा प्रभाव पड़ा । 'अणिमा' में आई 'स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज' शीर्षक कविता भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है ।

निराला ने काव्य को अध्यात्म से नीचा स्थान नहीं दिया । उनका कथन है, "मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार की ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कुलपता तक पहुँचकर शब्द ब्रह्म से उसका संयोग करने के पश्चात् यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति करार दिया था ।[3] उसमें व्यक्तित्व की साधना के लिए पर्याप्त अवकाश है

---

१. देखिए, निराला का 'शारदानन्दजी महाराज और मैं' लेख ।

२. दे०, अनामिका की 'सेवाव्रत' नामक कविता, पृ० १७७ ।

३. चयन, पृ० ४९ ।

ऐसी उनकी मान्यता है। अहंकार को भक्त कवियों की तरह घटाकर या ज्ञानी कवियों की तरह बढ़ाकर भूमा में परिवर्तित कर वह आत्म-संस्कार के मार्ग पर ही बढ़ता है।[1] उन्होंने जातीय जीवन का लक्ष्य आत्मवाद स्वीकार करते हुए कहा—"आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारों से अलग है। बिना मुक्त हुए जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मुक्ति-पथ पर पहुँचने के जो उपाय कहे गए हैं वही साधन-मार्ग है। साधन से सिद्धि तक का रास्ता प्रवाह के ही भीतर है। किन्तु यह प्रवाह माया या अविद्याकृत नहीं वह विद्या-कृत है। मुक्ति-साधना का आरम्भ करते ही यथार्थ विद्या या सत्यज्ञान का आरम्भ हो जाता है और ब्रह्म या आत्म-दर्शन में सत्यज्ञान को पूर्णता प्राप्त होती है।[2] उन्होंने 'बाहर और भीतर' शीर्षक निबन्ध में प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्गों की चर्चा की है, बाहर अर्थात् प्रवृत्ति का लक्ष्य भोग कहा और भोग कभी पूर्ण नहीं हो सकता। अन्तर्लोक में प्रवेश कर बाहर आकर वहाँ शान्ति का संदेश देने वालों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—"न वहाँ सूर्य है न चन्द्र, न मैं हूँ, न तुम, वहाँ केवल आनन्द ही आनन्द है। तुम स्वयं आनन्दस्वरूप हो, अपने चिदानन्दमय-शान्तिमय स्वरूप को तुम नहीं समझना चाहते, इसी से तुम दुःख झेलते हो, जब तुम अपना बाहर का खेल त्याग दोगे, अपने आनन्दमय स्वरूप को भीतर ढूँढ़ोगे तो तुम्हें वह मिल भी जाएगा। वहाँ तक न मन की पहुँच है, न वाणी की। वह है, 'अवाङ्‌मनसो गोचर'[3] भीतर की यही शान्ति और स्वतन्त्रता निराला की दृष्टि में मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ है और अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने इसी की साधना की है। जीवन का मुख्य केन्द्र ब्रह्म है, वही शान्ति और स्वतन्त्रता है उसी में स्थिर रहने की साधना निराला ने की है।

निराला के समस्त काव्य का मेरुदण्ड औपनिषदिक अद्वैतवाद तो है ही, साथ ही उन्होंने अपने निबन्धों में भी यत्र-तत्र दार्शनिक विषयों पर चर्चा की है। 'ब्रह्म' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—"ब्रह्म शब्द से नफरत की कोई बात नहीं हो सकती। ब्रह्म का मतलब सिर्फ बड़ा है, जिससे बड़ा कोई और नहीं। किसी को ब्रह्म देखने के अर्थ हैं, उसके भौतिक रूप में ही नहीं, सूक्ष्मतम आध्यात्मिक, दार्शनिक बृहत्तर रूप में भी देखने वाले की दृष्टि प्रसरित है।"[4] उन्होंने कहा—"महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। यह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिए अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिए उसे

---

१. चयन, पृ० ५०।
२. संग्रह, पृ० १४।
३. वही, पृ० ५-६।
४. प्रबन्ध-प्रतिभा, पृ० ४६-४७।

और रामतीर्थ ये सभी महापुरुष आर्य-संस्कृति के श्रेष्ठतम के गायक और उन्नायक रहे हैं और निराला के लिए ये सब श्रद्धास्पद ।

निराला कलकत्ता में 'रामकृष्ण आश्रम' से सम्बद्ध स्वामी शारदानन्द जी महाराज के व्यक्तित्व से भी अत्यधिक प्रभावित थे । उनसे हुए एक दार्शनिक प्रश्न का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"मैंने पूछा—'यह संसार मुझ में है या मैं संसार में हूँ ।' उन्होंने बड़े स्नेह से कहा—'इस तरह नहीं ।' और तब उन्होंने स्वामीजी से दीक्षा ली, तदनन्तर निराला की क्या दशा हुई उसका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"मुझे ऐसा जान पड़ा, एक ठण्डी छाँह में मैं डूबता जा रहा हूँ । फिर मेरे गले में अपनी उँगली से एक बीज-मंत्र लिखने लगे । मैंने मन को गले के पास ले जाकर पढ़ने की चेष्टा की, पर कुछ समझ में न आया ।···मुझे कुछ ही दिनों में जान पड़ने लगा मेरा निचला हिस्सा ऊपर और ऊपर वाला नीचे हो गया, और रामकृष्ण मिशन के साधु मुझे खींच रहे हैं । अजीब घबराहट हुई । मैंने सोचा इन साधुओं ने मुझ पर वशीकरण किया है ।···मेरी विरोध-शक्ति बराबर प्रबल रही । तीव्र तीक्ष्ण दार्शनिक वज्र-प्रहारों से मैं मन से उनका अस्तित्व मिटाता रहा'···"मैं जब प्रहार करता हुआ थक जाता था, तब मेरे मनस्तत्व के सत्यस्वरूप स्वामी शारदानन्दजी मुझे रंगीन छाया की तरह ढककर हंसते हुए तर कर देते थे। इन महादार्शनिक, महाकवि, स्वयंभू, मनस्वी, चिर-ब्रह्मचारी, संन्यासी, महापण्डित, सर्वस्वत्यागी, साक्षात् महावीर के समक्ष देवत्व, इन्द्रत्व और मुक्ति भी तुच्छ है। मैं ब्राह्मण था, किसी मनुष्य को सर नहीं झुकाया···चरित्र और ज्ञान, जीवन और परिसमाप्ति में जो 'एजति न एजति' को सार्थक करने वाले ब्रह्म थे, उन्होंने अपनी पूर्णता देकर, ऐसी स्वल्पता ले ली। अब दोनों भाव उन्हीं के हैं, एक से वे लड़ते हैं, दूसरे से बचाते हैं—यही मेरा उस समय का जीवन है ।"[१] निराला को जीवन-क्षेत्र में पदार्पण करते ही इस प्रकार का आध्यात्मिक वातावरण मिला । सन् १९२१ से २७ तक उन्हें माधवानन्द, शारदानन्द, प्रेमानन्द[२] आदि महादार्शनिकों का सम्पर्क प्राप्त होता रहा जिसका निराला की परिमल-काल की काव्य-साधना पर गहरा प्रभाव पड़ा । 'अणिमा' में आई 'स्वामी प्रेमानन्दजी महाराज' शीर्षक कविता भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है ।

निराला ने काव्य को अध्यात्म से नीचा स्थान नहीं दिया । उनका कथन है, "मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है। विचार की ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कुलपता तक पहुँचकर शब्द ब्रह्म से उसका संयोग करने के पश्चात् यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति करार दिया था ।[3] उसमें व्यक्तित्व की साधना के लिए पर्याप्त अवकाश है

---

१. देखिए, निराला का 'शारदानन्दजी महाराज और मैं' लेख ।

२. दे०, अनामिका की 'सेवाव्रत' नामक कविता, पृ० १७७ ।

३. चयन, पृ० ४६ ।

ऐसी उनकी मान्यता है। अहंकार को भक्त कवियों की तरह घटाकर या ज्ञानी कवियों की तरह बढ़ाकर भूमा में परिवर्तित कर वह आत्म-संस्कार के मार्ग पर ही बढ़ता है।[1] उन्होंने जातीय जीवन का लक्ष्य आत्मवाद स्वीकार करते हुए कहा— "आत्मवाद या मुक्ति ही भारत के जातीय जीवन का लक्ष्य है। मुक्ति प्रवाह या माया के अधिकारों से अलग है। विना मुक्त हुए जीव स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मुक्ति-पथ पर पहुँचने के जो उपाय कहे गए हैं वही साधन-मार्ग है। साधन से सिद्धि तक का रास्ता प्रवाह के ही भीतर है। किन्तु यह प्रवाह माया या अविद्याकृत नहीं वह विद्याकृत है। मुक्ति-साधना का आरम्भ करते ही यथार्थ विद्या या सत्यज्ञान का आरम्भ हो जाता है और ब्रह्म या आत्म-दर्शन में सत्यज्ञान को पूर्णता प्राप्त होती है।[2] उन्होंने 'बाहर और भीतर' शीर्षक निबन्ध में प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्गों की चर्चा की है, बाहर अर्थात् प्रवृत्ति का लक्ष्य भोग कहा और भोग कभी पूर्ण नहीं हो सकता। अन्तर्लोक में प्रवेश कर बाहर आकर वहाँ शान्ति का संदेश देने वालों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा—"न वहाँ सूर्य है न चन्द्र, न मैं हूँ, न तुम, वहाँ केवल आनन्द ही आनन्द है। तुम स्वयं आनन्दस्वरूप हो, अपने चिदानन्दमय-शान्तिमय स्वरूप को तुम नहीं समझना चाहते, इसी से तुम दुःख झेलते हो, जब तुम अपना बाहर का खेल त्याग दोगे, अपने आनन्दमय स्वरूप को भीतर ढूंढ़ोगे तो तुम्हें वह मिल भी जाएगा। वहाँ तक न मन की पहुँच है, न वाणी की। वह है, 'अवाङ्मनसो गोचर'[3] भीतर की यही शान्ति और स्वतन्त्रता निराला की दृष्टि में मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ है और अपने साहित्य के माध्यम से उन्होंने इसी की साधना की है। जीवन का मुख्य केन्द्र ब्रह्म है, वही शान्ति और स्वतन्त्रता है उसी में स्थिर रहने की साधना निराला ने की है।

निराला के समस्त काव्य का मेरुदण्ड औपनिषदिक अद्वैतवाद तो है ही, साथ ही उन्होंने अपने निबन्धों में भी यत्र-तत्र दार्शनिक विषयों पर चर्चा की है। 'ब्रह्म' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—"ब्रह्म शब्द से नफरत की कोई बात नहीं हो सकती। ब्रह्म का मतलब सिर्फ बड़ा है, जिससे बड़ा कोई और नहीं। किसी को ब्रह्म देखने के अर्थ हैं, उसके भौतिक रूप में ही नहीं, सूक्ष्मतम आध्यात्मिक, दार्शनिक वृहत्तर रूप में भी देखने वाले की दृष्टि प्रसरित है।"[4] उन्होंने कहा—"महर्षियों ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नहीं। यह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिए अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिए उसे

---

१. चयन, पृ० ५०।
२. संग्रह, पृ० १४।
३. वही, पृ० ५-६।
४. प्रबन्ध-प्रतिभा, पृ० ४६-४७।

'तत्सत्' कहा ।[१] वह आजकल की विश्व-भावना, विश्व-मैत्री, आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच के बाहर है,[२] जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नहीं करना चाहता, इस तरह उसमें जड़त्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशवान है,[३] 'विन पद चले सुने बिन काना, कर विनु कर्म करे विधि नाना' आदि-आदि से कर्त्ता भी वही है, जड़ में कर्म करने की शक्ति कहाँ ? मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को शास्त्रकारों ने जड़ कहा है, क्योंकि वे पंच महाभूतों के जड़ पिण्ड का आश्रय लिए हुए हैं और मृत्यु होने पर कारण शरीर में तन्मय रहते हैं—उन्हें लिंग-ज्ञान भी नहीं है । इस तरह जड़त्व वर्णित न होने के कारण इन्हें भी ब्रह्म से वहिर्गत कर जड़ कहा गया है । यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ये क्रियाशील होते हैं ।[४] कुछ हो ये सब यन्त्र ही हैं, कर्त्ता वही है और उसके कृतित्व का एकाधिकार समझकर ही उसे 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'[५] कहा है ।[६] इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता है, जड़ शरीर वाले कवि की आत्मा दिखाई पड़ती है ।" ब्रह्म के सम्बन्ध में निराला का कथन जहाँ एक ओर उनकी अध्यात्म के प्रति रुचि को द्योतित करता है वहाँ दूसरी ओर उनके गहन, व्यापक अध्ययन और सूक्ष्म चिन्तन का भी परिचायक है । उपनिषदों के ऋषियों ने ध्यान योग द्वारा ब्रह्म की जिस अविच्छिन्न शक्ति के दर्शन किए उसको शिव-शक्ति के सामरस्य रूप में शैव-दर्शन में प्रतिष्ठा मिली और यह तथ्य शाक्तों के शक्ति-अद्वयवाद में जाकर प्रतिष्ठित हुआ । निराला भी ब्रह्म और शक्ति की अभेदता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । उन्होंने 'शून्य और शक्ति'[७] शीर्षक निवन्ध में कहा है कि "शास्त्रानुसार शून्य और शक्ति अभेद हैं । फर्क इतना ही है कि जब शून्य में स्थित है तब शक्ति का ज्ञान नहीं, क्योंकि वह नहीं काँपता 'तन्नैजति—सिद्ध है, और जब शक्ति का परिचय है तब शून्य का ज्ञान नहीं, क्योंकि वह काँपता है 'तदेजति'—सिद्ध है ।"[८] स्पष्ट है कि यहाँ निराला ने वैदिक श्रुति (यजुर्वेद ४०,५) 'तदेजति तन्नेजति' में ऊपर से दिखाई देने वाले विरोध में बुद्धिसम्मत अविरोध स्थापित करने का प्रयत्न किया है ।

ऊपर के समस्त विवेचन के आधार पर निस्संकोच भाव से यह कहा जा सकता

---

१. निराला ने ब्रह्म के स्वरूप का जो विवेचन किया है उसे निम्न श्रुतियों से मिलाकर देखिए—'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति ।' ऋग्वेद १,१६४,४६ ।
२. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो । केन० उ० १,३ ।
३. तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । मुण्डकोपनिषद् २,२,१० ।
४. वही, २,२,१० ।
५. यजुर्वेद ४०,८ ।
६. प्रबन्ध-पद्म, पृ० ६९-७० ।
७. यहाँ शून्य ब्रह्म का ही पर्यायवाची है ।
८. प्रबन्ध-पद्म, पृ० १८ ।

है कि निराला ने अपने जीवन के प्रभात से ही अद्वैत-वेदांत के विराट् उपवन में श्वास लिया और अद्वैत के विशाल वृक्ष पर उनके मनरूपी पक्षी ने एक बार जो आश्रय ग्रहण किया तो वह बस सदा के लिए उसी का हो रहा, उसी वृक्ष की सघन दृढ शाखाओं के नीचे सदा छाया प्राप्त करता रहा, सुख और चैन, संतोष और शांति उपलब्ध करता रहा, तथा अद्वैत के मधुर रस से सदा अपने व्यक्तित्व और काव्य को पुष्ट और समृद्ध करता रहा। जीवन में युद्ध और संघर्ष करने की शक्ति भी उसी से प्राप्त हुई, और दरिद्र-नारायण के प्रति सब कुछ लुटाकर सेवा करने का पाठ भी उसी से पढ़ा। जीवन के अंतिम चरण में विनय और भक्ति भी उसी का भावात्मक रूप है। इस प्रकार "निराला का काव्य इसी वेदांत-चिन्तन को आधार-शिला बनाकर उस पर काव्य के ताजमहल उठाता है।"[1]

## निराला का काव्य-साहित्य

कथा-साहित्य की भाँति निराला का काव्य-साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। 'जुही की कली' (सन् १९१६) से लेकर जीवन के अंतिम चरण तक—लगभग ४५ वर्ष तक निरन्तर साहित्य की साधना में लीन रहे हैं। कथा-साहित्य, उपन्यास, रेखाचित्र, निबन्ध, अनुवाद-कार्य सभी क्षेत्रों में उन्होंने लेखनी चलाई है। काव्य-साहित्य की दृष्टि से उनका प्रथम संग्रह 'अनामिका' नाम से १९२३ में प्रकाशित हुआ है। दूसरा संग्रह जो महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है, 'परिमल' सन् १९३० में प्रकाशित हुआ। 'मुक्तछन्द' में लिखी तुकान्त, अतुकान्त सभी प्रकार की रचनायें इसमें संग्रहीत हैं। 'अनामिका' द्वितीय संस्करण में उसके प्रथम संस्करण की सभी कवितायें ले ली गई। अतः यह उनकी सन् १९२३ (खण्डहर के प्रतिचुम्बन) से लेकर सन् १९३८ तक १५ वर्षो की अवधि में लिखी उन सभी कविताओं का संग्रह है जो परिमल में स्थान नहीं पा सकी थीं। 'गीतिका' सन् १९३६ में प्रकाशित हुई जिसमें उनके शृंगारिक, प्राकृतिक, दार्शनिक और रहस्यात्मक गीत संगृहीत है। संगीत के आधार पर गेयता इन गीतों की अपनी विशिष्टता है। 'तुलसीदास' तुलसी पर मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक दृष्टि से लिखा गया प्रबन्ध-काव्य है जो आकार में संक्षिप्त होते हुए भी (केवल १०० छंद हैं) विषय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से नवीन और महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। 'कुकुरमुत्ता' (सन् १९४२) उनका व्यंग्य-काव्य है और इस दृष्टि से वह बड़ा ही प्रभावोत्पादक व्यंग्य है। 'अणिमा' (सन् १९४३), 'नये-पत्ते' (१९४६), 'बेला' (१९४६), 'अर्चना' (१९५०), 'आराधना' (१९५३) और 'गीत-गुंज' (१९५४) की गणना उनके परवर्ती-काव्य के अन्तर्गत होती है। जिसमें उनके लगभग ४०० गीत संगृहीत हैं। 'अणिमा' में कुछ श्रद्धांजलियाँ भी संगृहीत हैं, प्रकृत रूप से कवि का स्वर भक्ति की ओर झुकता जा रहा है। 'नये-पत्ते' की भाषा सरल है, शैली भी

---

१. रामरतन भटनागर : निराला और नवजागरण : भूमिका, पृ० 'ग'।

बदली हुई है। हास्य और व्यंग्य की प्रचुरता इसमें भी द्रष्टव्य है। 'बेला' में सभी तरह के गेय-गीत हैं। भाषा सरल तथा मुहावरेदार है, देश-भक्ति के गीत भी हैं, उर्दू की बहरों की गजलें भी हैं जिनमें फारसी के छन्दःशास्त्र का निर्वाह किया गया है।[1] 'अर्चना' और 'आराधना' में उनके जीवन के अंतिम चरण में लिखे गए आत्मनिवेदन, भक्ति और विनयपरक गीत हैं।

हम अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निराला के काव्य को निम्न प्रकार से बांटकर चलते हैं—

(१) प्रारम्भिक काव्य : परिमल और अनामिका।
(२) गीत काव्य : गीतिका।
(३) प्रबन्ध काव्य : तुलसीदास और राम की शक्ति-पूजा,।
(४) परवर्तीकाव्य : अणिमा, बेला, अर्चना, आराधना।

प्रारम्भिक काव्य :

**परिमल और अनामिका**—निराला के वैदिक साहित्य से सम्पर्क की चर्चा करते समय यह कह आए हैं कि अपने जीवन के विशाल प्राँगण में प्रवेश करते समय उनकी भेंट अद्वैतवाद से हुई। इसकी निराला से ऐसी घनिष्ठता बढ़ी कि जीवन के अन्त तक उसने निराला का साथ नहीं छोड़ा। विशाल वृक्ष की भाँति उसने निराला को दुःख-सुख, हानि-लाभ आदि जीवन की सभी विषम-सम परिस्थितियों में आश्रय दिया। एक शुभाकांक्षी इष्टमित्र की भाँति अद्वैत-चिन्तन ने निराला को सदैव संरक्षण प्रदान किया, वही एक ऐसा सच्चा साथी प्रमाणित हुआ जिसने जीवन के अन्तिम क्षण तक निराला को सहयोग देने में कभी संकोच नहीं किया। अतः आरम्भ से ही उनके काव्य में अद्वैत-चिन्तन का स्वर प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति पा सका है। अब उन स्थलों की परीक्षा करेंगे जहाँ उनका यह चिन्तन प्रतिफलित हुआ है।

**निर्गुण-सगुण विवेचन**—वैदिक-दर्शन के प्रकरण और 'प्रसाद' के काव्य पर वैदिक-दर्शन के प्रभाव के संदर्भ में ब्रह्म के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाल आए हैं। अतः उस सबकी पुनरावृत्ति यहाँ अनावश्यक होगी। तदपि संक्षेप में इतना तो कहा ही जा सकता है कि वैदिक तत्व-ज्ञान में 'परम सत्ता को ब्रह्म' कहा गया है। निर्गुण रूप में उसे 'तदेकम्' और 'एकं सत्' कहकर सम्बोधित किया गया है और उपनिषदों में उसे 'नेति-नेति' कहकर उसकी अनिर्वचनीयता पर प्रकाश डाला गया है। उसका 'सगुण' रूप सापेक्ष है जिस पर जीव और जगत् की सापेक्षता में ही प्रकाश डाला जा सकता है। रहस्यवादियों का परमसत्ता के जिस स्वरूप से सम्बन्ध है वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है, पर है निराकार। सिद्धों और नाथों की परम्परा

---

१. 'बेला' में निराला का आवेदन।

से लेकर अब तक के रहस्यवादियों का आलम्बन ब्रह्म का यही स्वरूप रहा है। पर इतना अवश्य है कि इन रहस्यवादी कवियों ने अपनी-अपनी श्रद्धा और भावना के अनुसार अनेक श्रद्धा-सूचक और स्नेह-सूचक सम्बोधनों से सम्बोधित किया है।

निराला उस विराट् सत्ता को कहीं 'अनन्त', कहीं 'श्यामा', कहीं 'अतीत' और कहीं 'असीम' कहकर पुकारते हैं। कहीं 'कारण संसार के विश्व-रूप'[1] जैसे लम्बे पदों का भी प्रयोग किया है। कहीं उसे 'माँ' रूप में देखा है और कहीं 'जननि' और 'देवि' रूप में। नारी रूप में कवि उसे 'किरणमयि', ज्योतिर्मयि', 'ज्योत्स्नामयि,' 'सुन्दरि' और 'आश्रमवासिनि' कहकर पुकारता है। कभी उस सत्ता को 'प्रिय', 'परम-प्रिय', 'प्रियतम', प्रेम-प्रकाश', 'चिर-प्रियदर्शन' आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करता है। कहीं-कहीं कवि ने उसके लिए श्रद्धासूचक सम्बोधन भी प्रयुक्त किए हैं, यथा 'प्रभो', 'बन्धु', 'मायाकर', 'हरि', 'करण-कारण-पार' आदि। आराधना में तो एक सम्पूर्ण कविता में उसे विभिन्न सम्बोधनों से सम्बोधित किया है। वहाँ उसे अजेय, अप्रमेय, जग के परम पार, जीव-जप-तप के तनु सूत्रधार, गरल कण्ठ, अकुण्ठ, शिव, विष्णु, जिष्णु, शंकर, कृष्ण, राम, बान्धव आदि कहा गया है।[2] ब्रह्म के लिए प्रयुक्त इन विविध सम्बोधनों से स्पष्ट है कि अध्यात्म के क्षेत्र में जितना उदार दृष्टिकोण निराला में देखने को मिलता है उतना अन्य किसी कवि में दृष्टिगोचर नहीं होता। 'शतविध नामानुवन्ध, बान्धव है निराकार' में उन्होंने (निराला ने) वही बात कही है जिसे बहुत पहले हमारे वैदिक ऋषि—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' कहकर उस 'एक' का नाना नामों से स्तवन कर चुके थे। यहाँ निराला के ब्रह्म के लिए राम और कृष्ण पदों का प्रयोग भी साम्प्रदायिक धरातल पर न होकर व्यापक धरातल पर हुआ है। वे सगुण निराकार के उपासक थे, सगुण साकार के नहीं। यों वे रामकृष्ण को भी भगवान् विशेषण से संयुक्त करके सम्बोधित करते हैं, पर यहाँ उनका 'परमहंस' जी के प्रति श्रद्धा-भाव ही अधिक प्रमुख है। वैसे भी 'परमहंस' आत्मद्रष्टा संत थे और ऐसे गुरु को कबीर 'गोविन्द' से भी श्रेष्ठतर स्थान प्रदान करते हैं। यही बात निराला के विषय में भी कही जा सकती है। यथार्थतः तो उनका इष्टदेव 'निःस्पृह, निःस्व, निरामय, निर्मम, निराकांक्ष, निर्लेप, निरुद्गम, निर्भय, निराकार, तथा निःसम् शम्' है।[3] माया आदि जिनके चरणों की दासी है। निराला द्वारा प्रयुक्त ये सभी पद ब्रह्म के निगुण-निराकार रूप को द्योतित करते हैं, जो वैदिक तत्व-ज्ञान के अतिशय अनुरूप हैं।[4]

---

१. परिमल, पृ० १६३।
२. दे० 'आराधना', पृ० ६७।
३. वही, पृ० ५०।
४. यजुर्वेद ४०, ८।

**ब्रह्म का सापेक्ष रूप**—निर्गुण ब्रह्म ही जगत् और जीव की सापेक्षता की दृष्टि से सगुण कहा गया है। साकार विश्व में उसी का ऐश्वर्य विद्यमान है, क्योंकि यह उसी से उद्भूत है। रामकृष्ण जी कहते हैं 'ब्रह्म वाक्य-मन से अतीत है'[1] जो निर्गुण है वही सगुण है।'[2] उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण रूप को सृष्टि, स्थिति और संहार का कारण बताया गया है।[3] निराला भी यही कहते हैं—

> "देखता है, सृष्टि, स्थिति, प्रलय का
> कारण कार्य भी है वही—
> उसकी इच्छा है रचना चातुर्य में
> पालन संसार में।" (परिमल, पृ० २२८)

परमेश्वर की इच्छा से प्रलय और सृष्टि होती रहती है, जीव चलते-फिरते रहते हैं—

> "जिसकी इच्छा से संसार में संसरण होता
> चलते फिरते हैं जीव,
> उन्हीं की इच्छा फिर सृजति है सृष्टि नई।" (वही, पृ० २२९)

वह तत्व उपनिषदों में सर्वशक्तिमान कहा गया है जिसके भय से सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु आदि देवता अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं।[4] निराला भी यही कहते हैं कि वह सर्वनियन्ता हैं, उनके लिए यहाँ कुछ भी अकार्य नहीं है—

> "उनके लिए लाल देखो
> क्या है अकार्य यहां ?" (वही, पृ० २२९)

उन्हीं के संकेत पर ग्रह और तारा-मण्डल नाचते हैं, उन्हीं के संकेत पर वे पल में उठते और गिरते रहते हैं तथा धरा चंचल होकर घूमती रहती है।[5] उन्हीं के कटाक्ष से करोड़ों शिव, विष्णु, आज, कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्र, तारा, ग्रह, करोड़ों इन्द्र और सुर, असुर तथा जड़ और चेतन से मिले हुए साँसारिक जीव तथा संसार बनते, पलते और नष्ट होते रहते हैं।[6]

उपनिषद् ब्रह्म को शक्ति-समन्वित रूप में वर्णित करती हैं।[7] वह अपनी शक्ति से युक्त होकर अनेक रूप धारण करता है। सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में विद्यमान उसी की शक्ति सक्रिय होकर कार्य करती रहती है। इसी शक्ति-समन्वित ब्रह्म को

---

१. रामकृष्णवचनामृत, भाग १ : अनुवादक निराला, पृ० ५९ (सं० १९५०)।
२. वही, पृ० ६२।
३. छा० उ० 'तज्जलान्' ३, १४, १, तै० उ० ३, १।
४. कठ० उ० ६, ३।
५. अनामिका, पृ० ९५।
६. परिमल, पृ० २१९-२०।
७. श्वे० उ० १, ३।

श्री रामकृष्णदेव 'मा' अथवा 'काली' कहकर पुकारते हैं। वे कहते हैं—"वे सृष्टि स्थिति और प्रलय करती हैं। उन्हीं का नाम काली है। काली ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही काली है।"[1] निराला ने भी उस व्यापक शक्ति को माता माना है—

**"सारे ब्रह्माण्ड के जो मूल में विराजती है**
**आदि—शक्ति—रूपिणी**
**शक्ति से जिनकी शक्तिशालियों में सत्ता है,**
**माता हैं मेरी वे।"** (वही, पृ० २१९-२०)

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह आदि संसार के सभी ज्योतिर्मय पिण्ड तथा अन्य सभी वस्तुएँ उसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, उसके प्रकाश से कोई भी वंचित नहीं है (पृष्ठ २२७)। व्यष्टि और समष्टि में वही एक रूप चिदानन्द घन ब्रह्म समाया हुआ है।[2] (वही, २२७)

**ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन**—उपनिषदों का मौलिक सिद्धांत है कि मनुष्य के अन्तःकरण में रहने वाला आत्मा अपने शुद्ध रूप में ब्रह्म ही है। आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक दृष्टान्तों द्वारा ब्रह्मात्मैक्य के सिद्धांत को समझाकर स्पष्ट किया था 'तत्त्वमसि' महावाक्य उसी एकता को सूचित करता है। बृह० उ० ४, ४, ५ में भी स्पष्ट कहा है—'अयमात्मा ब्रह्म।'

रामकृष्ण देव ने भी कहा है—"जीव तो सच्चिदानन्द स्वरूप है, परन्तु इसी माया या अहंकार से वे नाना उपाधियों में पड़े हुए अपने स्वरूप को भूल गए हैं।"[3] निराला ने 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता में इसी तथ्य का बड़ी ओजस्वी शैली में वर्णन करते हुए कहा है कि तुम पशु नहीं वीर हो, कायर नहीं समर-शूर हो, समर-सरताज हो, पर कालचक्र के कारण दबे हुए हो। अपने मूल रूप में तुम मुक्त-स्वरूप शाश्वत आत्मा हो, यह द्वैत-भाव माया है, जो भेद उत्पन्न किया करती है। यह तुम्हारी जीवगत कायरता और कामपरता क्षणिक और नश्वर है, तुम ब्रह्म-स्वरूप हो। तुम अपने वास्तविक रूप को भूले हुए हो, अब तुम्हें जागृत हो जाना चाहिए—

**"पर, क्या है,**
**सब माया है, माया है,**
**मुक्त हो सदा ही तुम,**
**बाधा-विहीन बन्ध छन्द ज्यों,**
**डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप।**

---

१. रामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृ० १२५।

२. देखिये, 'एकोदेवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा', श्वे० उ० ६, ११।

३. रामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृष्ठ १८५।

महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं-परमाणुओं में फूंका हुआ—
"तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम
पद-रज पर भी है नहीं
पूरा यह विश्व-भार—"
जागो फिर एक बार ।" (परिमल, पृष्ठ १८२)

'तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्' उपनिषदों के 'महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति"[1] इस श्रुति का कितना सुन्दर काव्यमय रूपान्तर है जिससे निराला का जीवन और साहित्य दोनों ही प्रभावित थे ।

औपनिषदिक 'सोऽहम्' और 'तत्वमसि' जैसी स्थापनाओं की निराला के काव्य में इसीलिए सहज स्वीकृति मिली है।[2]

जीव—संसार में चलते-फिरते, उड़ते-तैरते प्राणियों का समुदाय भी सृष्टि का बड़ा रहस्य है। बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लोगों की दृष्टि तो इस ओर कम ही उठती है, पर जो थोड़े से जिज्ञासु प्रकृति के लोग हैं उन्होंने इस दिशा में अवश्य ही गंभीर चिन्तन और मनन किया है। उन्हें यह तिलिस्म काम आश्चर्यमय नहीं लगा और सौभाग्य से इस रहस्य-लोक के द्वार की कुँजी हाथ लगी। हमारे ऋषियों के, जिन्होंने एक सत् पदार्थ के दर्शन किए थे जो अपनी शक्ति से चींटी से लेकर कुंजर तक, अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक समस्त जड़-चेतन पदार्थों में व्याप्त अनुभूत हुआ। सब में वही एक समाया हुआ है अथवा यों भी कह सकते हैं कि वही परमात्म-तत्व नाना नाम-रूपों में, उपाधियों के संसर्ग और शक्ति के तारतम्य भेद से, अनेकरूप होकर भास रहा है। इसी सत्य की अनुभूति रामकृष्ण देव ने भी प्राप्त की थी और कहा था—"वह विभु के रूप में सब प्राणियों में है—चींटियों तक में है। पर शक्ति का तारतम्य होता है।"[3] इसका सीधा-सा अभिप्राय यही हुआ कि वही तत्व मानव-समुदाय में भी व्याप्त है। उस तत्व से भिन्न अन्य यहाँ कुछ है ही नहीं, 'नेहनानास्ति किंचन' (कठ० ४, ११)। जो यहाँ द्वैत देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है (वही) फिर यहां नानारूपता क्यों दृष्टिगोचर होती है ? उपनिषद् स्पष्ट उत्तर देते हैं—अविद्या के कारण, अज्ञान के कारण अथवा माया के कारण। इस अविद्या से बद्ध आत्म-तत्व को ही वैदिक तत्व-ज्ञान में 'जीव' अथवा 'जीवात्मा' कहा गया है।[4] और

---

१. कठोपनिषद् ४, ४।
२. देखिये, परिमल की जागरण कविता, पृ० १४१-४२।
३. रामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृ० ६२।
४. देखिये, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ६४।

उसके स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया गया है। संसारी जीव की वृत्तियाँ बहिर्मुखी होने पर काम-क्रोधादि विकारों से ग्रस्त रहती हैं और प्रायः यह शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रहता है, अविद्या-माया में जकड़ा हुआ कभी उठता है, कभी गिरता है। अहं के आवेश में आकर मैं और तुम के भेद का विस्तार करता है। फलतः हास्य, प्रेम और क्रोधादि की प्रतिक्रियाएँ उसे निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं।

निराला ने उपनिषदों के अविद्या-तत्व पर आधारित मोहग्रस्त जीव के ऊपर उठने की दशा का बड़ा ही सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है—

> "प्रथम विजय थी वह—
> भेद कर मायावरण
> दुस्तर तिमिर घोर-जड़ावर्त—
> अगणित—तरंग-भंग—
> वासनाएँ समल निर्मल—
> कर्दममय राशि-राशि
> स्पृहाहत जंगमता—
> नश्वर संसार—
> सृष्टि-पालन-प्रलय भूमि—
> दुर्दम अज्ञान-राज्य—
> मायावृत 'मैं' का परिवार—
> पारावार-केलि-कौतूहल
> हास्य-प्रेम-क्रोध-भय—
> परिवर्तित समय का—
> बहु-रूप-रसास्वाद—
> घोर-उन्माद-ग्रस्त,
> इन्द्रियों का बारंबार बहिरागमन,
> स्खलन, पतन, उत्थान—एक
> अस्तित्व जीवन का
>
> महामोह,
> प्रतिपद पराजित भी अप्रतिहत बढ़ता रहा,
> पहुंचा मैं लक्ष्य पर।" (परिमल, पृ० २३७-३

अविद्या के जाल में फंसे अंहकारी जीव का इससे सुन्दर तथा सुगठित भाषा में व्यक्त वर्णन और क्या हो सकता है। यह जीव का सीमित औरसंकुचित अहं ही तो है जो स्वार्थ की खाई खोदता है, वासना के कर्दम में संपृक्त करता है, जीव को जीव से पृथक् करता है, उदार और सद्वृत्तियों के स्थान पर क्रूर और आसुरी प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करता है, अतृप्त आकांक्षाओं की मरुभूमि में भटकाता रहता है। यह

अहं-भाव ही जीवात्मा को संसार के जड़ बन्धनों में कसकर बाँधे रखता है। इन बन्धनों को काटकर आगे बढ़ना ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न है।

निराला ने इसी रचना में अन्यत्र माया-बद्ध जीव की दशा का अलि और मकरन्द के रूपक द्वारा विषयों में लिप्त होकर चुपचाप रसपान करने का चित्र अंकित किया है। जिस प्रकार भ्रमर मधु के उपवन में पहुँचकर अथवा कमल-कोरक में बैठकर जब मकरन्द-पान करता है तब उसका गुंजन बंद हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा जब तक विषयानन्द में लिप्त रहता है तब तक उसे अपने 'स्व' का यथार्थ रूप विस्मृत रहता है। वह इन्द्रिय-जन्य सुख को ही वास्तविक सुख मानकर बन्धन में बँधा रहता है। जीवात्मा को इस स्थिति से उबारने के लिए उद्‌बोधन की आवश्यकता होती है। तभी निराला कहते हैं—'जागो फिर एक वार।'[1]

अनामिका की 'प्रेयसी' शीर्षक रचना में आई इन पंक्तियों में कि—'जाग—देह ज्ञान, फिर याद गेह की हुई, (पृ० ५) में गेह की याद उसी रहस्य-लोक की ओर संकेत है, जहाँ आत्मा जाकर अपने से विमुख हो जाती है। जीवात्मा की अपनी मायाबद्ध स्थिति का यह आख्यान भी सुन्दर बन पड़ा है। कवि कहता है—

> **"बीता कुछ काल**
> **देह ज्वाला बढ़ने लगी**
> **नन्दन-निकुंज की रति को ज्यों मिला मरु,**
> **उतर कर पर्वत से निर्झरी भूमि पर**
> **पंकिल हुई सलिल-देह कलुषित हुई।"** (अनामिका, पृ० ६-७)

यहाँ पर्वत उस प्रदेश का प्रतीक है जहाँ से आत्मा परमात्मा से विलग होती है। यह पारिभाषिक शब्दावली में विज्ञानमय कोश की स्थिति है, जहाँ अद्वैत के साथ-साथ द्वैत का भाव भी जगने लगता है, निर्झरी भूमि मायामय संसार की भूमि है, मनोमय कोश की स्थिति है, जहाँ शुद्धात्मा अविद्या-ग्रस्त होकर विषयों की पंक से पंकिल और कलुषित हो जाती है।

**जगत् (प्रकृति)**—नासदीय सूक्त १०,१२६,४ में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम काम-तत्व उत्पन्न हुआ, तदनन्तर इस सृष्टि का विस्तार हुआ। उपनिषदों में भी कहा गया है—'सोऽकामयत' उसने एक से अनेक होने की कामना की। बस प्रजापति द्वारा कामना करते ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति की साम्यावस्था टूटी और सृष्टि-क्रम प्रारम्भ हो गया। पहले महत् तत्व आविर्भूत हुआ और फिर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पंच सूक्ष्म तन्मात्राएँ और पंचमहाभूत उत्पन्न हुए। नानात्व का पसारा फैल गया। यह नानात्व वास्तव में ब्रह्म की लहरें हैं—

> **"इच्छा हुई सृष्टि की,**
> **प्रथम तरंग वह आनन्द-सिन्धु में,**

---

१. मिलाइये—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' कठ० उ० ३, १४।

प्रथम कम्पन में सम्पूर्ण बीज सृष्टि के,
पूर्णता से खुला मैं पूर्ण सृष्टि शक्ति ले,
त्रिगुणात्मक रचे रूप,
विकसित किया मन को,
बुद्धि चित्त अहंकार, पंचभूत,
रूप-रस-गन्ध-स्पर्श
शब्दज संसार यह
वीचियां ही अगनित शुचि सच्चिदानन्द की।" (जागरण, पृ० २३९)

निराला का सृष्टि की उत्पत्ति-सम्वन्धी यह दृष्टिकोण वेद, उपनिषद् और सांख्य दर्शन के अनुकूल होते हुए भी शाक्तागमों के प्रभाव से रंजित होकर आया है। उपनिषदों में जिसे 'ईक्षण' कहा गया है, उसे शाक्त आगमों में 'कम्पन' अथवा 'स्पन्दन' रूप में वर्णित किया गया है। निराला स्वयं शक्ति के उपासक थे, अतः उनके सृष्टि-प्रक्रिया से सम्वन्धित इस वर्णन में तत्सम्बन्धी प्रभाव विद्यमान है। उन्हीं की इच्छा से इस सृष्टि का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है (पृ० २२६)। ऋग्वेद के 'नासदीय-सूक्त' में सृष्टि से पूर्व की प्रलयावस्था का दार्शनिक वर्णन हुआ है। ऋषियों का कथन है कि उस समय तम से आवृत तम ही था (त्रिगुणात्मिका प्रकृति की वह साम्यावस्था थी। 'तम आसीत्तमसागूढमग्रेऽप्रकेतंसलिलं सर्वमा इदम्।' (१०,१२६,३,) निराला का निम्न वर्णन उसी स्थिति का उल्लेख करता है—

"जिस प्रकार व्यष्टि एक धरती है सूक्ष्म रूप
वैसे ही समष्टि का भी
सूक्ष्म भाव होता है।
रहते आकाश में हैं
प्रकृति के तब सारे बीज।
और यह भी सत्य है कि,
प्रकृति के तीनों गुण सम तब हो जाते हैं।"

(पंचवटी प्रसंग, पृ०, २२९-३०)

**जगत् का व्यावहारिक रूप**—त्रिगुणात्मक यह संसार विषमता, दुःख, कष्ट और पीड़ा से भरा हुआ है। यहाँ अविद्या-माया का साम्राज्य है। जीव जब इस संसार-चक्र में फंस जाता है तव दुःख-ही-दुःख का अनुभव करता है। अहं और स्वार्थ के वशीभूत होकर स्वयं कष्ट भोगता और अन्यों को कष्ट देता है। श्री रामकृष्ण देव कहते हैं—'इस जगत् में विद्या-माया और अविद्या-माया दोनों हैं, ज्ञान-भक्ति है, कामिनी-कांचन भी है, सत् भी है असत् भी, भला भी है और बुरा भी।'[1] निराला जगत् के असत् पक्ष का उद्घाटन करते हुए कहते हैं—

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृष्ठ ५७।

"यहाँ कभी मत आना,
उत्पीड़न का राज्य, दुःख ही दुःख
यहाँ है सदा उठाना,
क्रूर यहाँ पर कहलाता है शूर
और हृदय का शूर सदा ही दुर्बल क्रूर ।" (परिमल, पृ० १३२-३३)

इसीलिए उपनिषदें वहिर्मुखी होकर जगत् में रहने की स्थिति को मृत्यु कहती हैं और जगत् से विमुख होकर अन्तर्मुखी होने को सच्चा जागरण[1]—

'परांचिखानिव्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।
पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्यपाशम् ।"
(कठ० ४,१,२)

(अर्थात्—स्वयंभू परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियों को बाहर की ओर जाने वाली ही बनाया है, अतः मनुष्य इन्द्रियों द्वारा प्रायः बाह्य जागतिक वस्तुओं को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं । कोई भाग्यशाली मनुष्य ही अमृतत्व की इच्छा करते हुए चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से लौटा कर अन्तरात्मा को देखता है। परन्तु जो मूर्ख बाह्य भोगों का अनुसरण करते हैं, वे सर्वत्र फैले हुए मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं ।) यही भाव निराला की निम्न पंक्तियों में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है—

"जगत् की निद्रा, है जागरण,
और जागरण, जगत् का—इस संसृति का
अन्त—विराम—मरण ।" (वही, पृ० १३३)

जगत्-सम्बन्धी निराला के दृष्टिकोण पर शंकर के विचारों का किंचित् प्रभाव देखा जा सकता है । शंकर ने बौद्धों की भाँति जगत् को दुःखमय माना है । निराला भी कहीं-कहीं जगत् का वैसा ही वर्णन करते हैं । परिमल की 'स्वप्न-स्मृति' शीर्षक रचना की अंतिम पंक्तियों में जगत्-सम्बन्धी यही दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है (पृष्ठ १४४-४५) । निराला सांसारिक जीवन के मेले की भर्त्सना इसलिए करते हैं कि बाह्य वस्तुओं के आकर्षण से, अज्ञानता के कारण, आत्मा की पवित्र निधि जड़ बनती जाती है—

"यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को लेकर
त्यों त्यों आतमा की निधि पावन बनती पत्थर ।"
(अनामिका, पृ० ९२)

संसार की सौन्दर्यमयी सामग्री जीव को अपने मोह-जाल में फँसाए रखती है—इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं तभी तो मध्य युग के ज्ञानमार्गी संन्यासी संसार को माया, मिथ्या और असार कह कर उससे पराङ्मुख हो गए थे और अकर्मण्यता की साधना

---

१. कठोपनिषद् २,१,१-२

की थी। निराला ज्ञानमार्गी अवश्य थे, पर अन्य संन्यासियों की भाँति संसार से विमुख होकर अकर्मता के साधक नहीं बने, संसार के कुरुक्षेत्र को छोड़कर उससे पलायन नहीं किया, प्रत्युत ताल ठोककर जीवन-भर युद्ध और संघर्ष-रत रहे। जीवन में जितना विरोध निराला का हुआ स्यात् ही कभी किसी कलाकार का हुआ हो, जितनी फाका-मस्ती से उन्हें दिन काटने पड़े स्यात् ही किसी अन्य कलाकार को काटने पड़े हों, फिर भी साहस नहीं खोया, आत्मविश्वास नहीं खण्डित हुआ। सच-मुच निराला जैसे साहस और जीवट का इतना सचेत और जागरूक कलाकार हिन्दी में तो हुआ ही नहीं, विश्व के साहित्य में भी ढूँढे से ही उदाहरण मिले। ऐसा कवि संसार को मिथ्या कहकर उससे इतनी सरलता से पिण्ड छुड़ा ले, यह संभव नहीं था।

**माया**—माया के दार्शनिक स्वरूप पर हम पीछे दर्शन के प्रकरण और प्रसाद-जी के काव्य-विवेचन के प्रसंग में, पर्याप्त प्रकाश डाल आए हैं। भारतीय-दर्शन में माया का अपना एक इतिहास है। भारतीय जीवन और दर्शन में यह शब्द बहुत पहले से ही एक व्यापक स्थान बना चुका है। लगभग सभी दार्शनिक कवि और संत माया के प्रभाव से प्रभावित रहे हैं। दर्शन में तो इसका अडिग स्थान है ही, रहस्यवादी-काव्य में भी इसको सहज स्वीकृति मिली है। हाँ, यह बात दूसरी है कि वैदिक-काल से लेकर आज तक इस शब्द की अनेक दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। वेद में इसका दार्शनिक स्वरूप पल्लवित नहीं हुआ है, वहाँ तो यह शब्द जादू, छल, कपट, शक्ति आदि के रूप में प्रयुक्त होता रहा है। उपनिषदों में इसका किंचित् दार्शनिक स्वरूप विकसित हुआ। वहाँ यह अविद्या और प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म की शक्ति के अर्थ में भी उसे ग्रहीत किया गया है। गौड़पाद ने 'माण्डूक्य-कारिका' में जगत् के मिथ्यात्व के अर्थ में प्रथम बार 'माया' शब्द का प्रयोग किया और उनके शिष्य शंकराचार्य ने इसे तर्कसम्मत दार्शनिक रूप प्रदान किया। संसार के दुःखपूर्ण मिथ्यात्व और उसकी असारता का सिद्धांत बौद्ध-दर्शन में पहले ही वर्णित हो चुका था। वहाँ नागार्जुन ने 'शून्यवाद' की जो व्याख्या की उसी आधार पर शंकर ने ब्रह्म के एकत्व और संसार के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए जगत् को ब्रह्म का विवर्त बतलाया और इस प्रकार 'मायावाद' के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। शंकर का 'मायावाद' एक ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त है जो व्यावहारिक धरातल पर तो जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है, पर पारमार्थिक दृष्टि से उसे मिथ्या कहकर उड़ा देता है। ब्रह्म-सूत्र के अन्य व्याख्याकारों ने या तो शंकर के 'मायावाद' को स्वीकार ही नहीं किया या उसे ब्रह्म की अभिन्न शक्ति के रूप में ग्रहण किया, यथा रामानुज ने। शैव-दर्शन में भी माया ब्रह्म की त्रिगुणात्मिका शक्ति स्वीकार की गई है।

श्री रामकृष्ण 'परमहंस' भी 'माया' को स्वीकार करते हैं, पर उस रूप में नहीं जिस रूप में शंकर ने स्वीकार किया है। प्रत्युत वे उसे उस रूप में स्वी-कार करते हैं, जिस रूप में उपनिषदों में उसकी चर्चा आई है। वहाँ द्वैत-भाव को

'अविद्या' कहा है, क्योंकि यही भाव जीव को प्रपंच में फँसाता है, भेद उत्पन्न करता है और यही माया है।[१] माया की व्याख्या करते हुए 'परमहंस' जी ने कहा है—"लीला से उन्होंने संसार की रचना की है। उसी का नाम महामाया है अतएव उस शक्ति-रूपिणी महामाया की शरण लेनी पड़ती है। माया के पाशों ने बाँध लिया है, फाँस काटने पर ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। वे (महामाया) संसार को मुग्ध करके सृष्टि, स्थिति और प्रलय कर रही हैं। उन्होंने सबको अज्ञानी बना डाला है। वे जब द्वार से हट जायेंगी तभी जीव भीतर जा सकता है।···संसार का मूल आधार शक्ति ही है। उसी आद्या-शक्ति के भीतर विद्या-अविद्या दोनों हैं—अविद्या मोह-मुग्ध करती है। अविद्या वह है जिससे कामिनी और कांचन उत्पन्न हुए हैं और विद्या वह है जिससे भक्ति, दया, ज्ञान और प्रेम की उत्पत्ति हुई है, वह ईश्वर-मार्ग पर ले जाती है।"[२] अन्यत्र उन्होंने कहा है—"मैं नित्यता और लीला सब मानता हूँ, संसार को माया कहकर मैं उसका अस्तित्व लोप नहीं करता। यदि मैं वैसा करूँ तो वजन पूरा न मिले।"[3] ज्ञानी का उद्देश्य है वह स्वरूप को समझे, यही ज्ञान है, और इसे ही मुक्ति कहते हैं। परब्रह्म जो हैं वे ही सब के स्वरूप हैं। मैं और परब्रह्म दोनों एक ही सत्ता हैं। माया समझने नहीं देती।[४] विद्या माया का आश्रय लेने पर सत् मार्ग के द्वारा लोग उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। जो ईश्वर को प्राप्त कर लेता है, जो उनके दर्शन करता है, वही माया को पार कर सकता है।[५]

स्वामी विवेकानन्द ने 'माया' को समझाते हुए कहा है—"समुद्र से समुद्र की तरंग का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंगों की पृथक से कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंगों के साथ ही है। तरंग विलीन हो जा सकती हैं, और तरंगों में जो नाम और रूप हैं वे भी चाहे चिरकाल के लिए विलीन हो जायें, तथापि पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार यह माया ही तुम में और हममें, पशुओं में और मनुष्यों में, देवताओं में और मनुष्यों में भेदभाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और यह माया नाम और रूप के सिवाय और कुछ नहीं है। यदि इनका त्याग कर दिया जाये, नाम और रूप दूर कर दिये जायें, तो वह सदा के लिए अन्तर्हित हो जायेगी। तब तुम वास्तव में जो कुछ हो वही रह जाओगे।"[६] रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द—दोनों ने 'माया' की समान ही

१. श्वे० १,१०।
२. श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृष्ठ ८७-८८।
३. वही, भाग २, पृष्ठ ५४४ (१९५२ का संस्करण)।
४. वही, भाग २, पृष्ठ ५६१।
५. वही, भाग ३, पृष्ठ ४४९ (१९४७ का संस्करण)।
६. भारत में विवेकानन्द, पृ० ४४६।

व्याख्या की है। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि नव्य-वेदांत में माया ब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार की गयी है। जहाँ सब कुछ ब्रह्म है वहाँ उससे भिन्न माया का अस्तित्व ही नहीं रहता। नाम-रूप ही माया है, क्योंकि वह अविद्या है। इसे भेद-माया भी कह सकते हैं। माया के दो रूप—विद्या और अविद्या—माने हैं। 'अविद्या-माया' अद्वैतानुभूति में बाधक है और 'विद्या-माया' साधक है। वस्तुतः ये दोनों रूप एक ही हैं। अविद्या-माया ही रूप बदलकर विद्या-माया बन जाती है। सच्चिदानन्दी चेतना से ओत-प्रोत ब्रह्मनिष्ठ साधक के लिए संसार में प्रपंच नहीं रह जाता। वह उसमें सौंदर्य, प्रेम और आनन्द का प्रकाश ही देखता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, उसी के नाते ये जीवन और जगत सत्तात्मक है। इस प्रकार द्वैत में अद्वैत की प्रतिष्ठा होती है। 'माया' की यह व्याख्या उपनिषदों की भावना के अतिशय अनुरूप है।

नव्य वेदांत में 'माया' के स्वरूप की किंचित् विस्तृत व्याख्या इसलिए भी अपेक्षित थी कि निराला ने अपने काव्य में माया के इसी स्वरूप को ग्रहण किया। उन्होंने माया को आद्या-शक्ति के रूप में भी स्वीकार किया है और भेदबुद्धि उपजाने वाली 'अविद्या' के रूप में भी उसे माना है। यहाँ निराला के काव्य की सापेक्षता में 'माया'-तत्व की विवेचना करेंगे।

'माया' कविता में निराला ने माया का वर्णन अविद्या-जनित मोह, आसक्ति, आकर्षण, वासना और भ्रान्ति आदि के रूप में किया है, जो जीव को बंधन में जकड़े रखती है—

> "तू किसी के चित्त की है कालिमा,
> या किसी कमनीय की कमनीयता ?
> × × ×
> तू किसी भूले हुए की भ्रांति है,
> शान्ति-पथ पर या किसी की गम्यता ?" (माया, पृ० ६१)

यहाँ 'माया' को 'चित्त की कालिमा', कमनीय की कमनीयता, भूले हुए पथिक की भ्रांति, तथा अगली पंक्तियों में विरही यक्ष की विरह-व्यथा, दुष्यन्त की शकुन्तला, कौशिक-मोह की मेनका आदि कहा है। चित्त की कालिमा ब्रह्म की प्राप्ति में जितनी बाधक है उतनी ही किसी सुन्दरी की सुन्दरता भी। भ्रांति भी पथिक को उसके ठीक मार्ग से भटका देती है। इसी दृष्टि से यहाँ ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक कालिमा, कमनीयता और भ्रांति को माया कहा है। शकुन्तला दुष्यन्त को और मेनका विश्वामित्र को आसक्ति और मोह के पथ पर ले जाकर भटका देती है, अतः शकुन्तला और मेनका दोनों ही माया कही गई हैं। जो भ्रम, मोह, आसक्ति में डाल दे वही माया है, क्योंकि ये विकार ही जीव को संसार के जाल में, अविद्या की फांस में फँसाए रखते हैं (पृ० ६१)। इसी प्रकार कायरों के चित्त का भय भी ब्रह्म-प्राप्ति में बाधक है और विजेता के विजय की प्राप्ति भी। उपनिषदें स्पष्ट कहती

है—'नायमात्माबलहीनेनलभ्यः'[1] यह आत्मा दुर्बल और भयाक्रांत व्यक्ति के द्वारा लभ्य नहीं है और विजय की प्राप्ति अहंकार को जन्म देती है, 'मैं और मेरा—यह दोनों अज्ञान है'[2] अतः अहंकारी जीव भी उसे नहीं पा सकता। स्पष्टतः ये सब बाधक होने के कारण 'माया'-रूप में उनका वर्णन हुआ है (पृ० ६२)। निराला उसे सृष्टि के अन्तःकरण में, केन्द्र में, स्थित बताते हैं (पृ० ६३)। इस सृष्टि का प्रसार ही मायाजन्य है, अविद्या के कारण है। यदि इस माया का परिहार हो जाये तो एकत्व, अभेद अथवा अद्वैत की स्थिति तत्काल प्राप्त हो जाए, जीव अपने शुद्ध स्वरूप में मुक्त और स्वतन्त्र है, पर अविद्या-जन्य मोह उसे कालचक्र में दबाये हुए है (पृ० १८१-८२)। इसी के कारण व्यष्टि और समष्टि में भी भेद उत्पन्न हो जाता है। श्री रामकृष्ण देव कहते हैं—"जीव तो स्वयं सच्चिदानन्द स्वरूप है परन्तु इसी माया या अहंकार से नाना उपाधियों में पड़े हुए अपने स्वरूप को भूल गए हैं।[3] निराला भी इस सम्बन्ध में यही बात कहते हैं—

**"व्यष्टि और समष्टि में नहीं है भेद,**
**भेद उपजाता है भ्रम—**
**माया जिसे कहते हैं।"** (परिमल, पृ० २२७)

जब जीवात्मा इस अविद्या-रूप माया के आवरण को भेद देती है तब अपने लक्ष्य पर पहुँच जाती है। परिमल की 'जागरण' कविता का प्रारम्भिक वर्णन मायाबद्ध जीवात्मा के माया के पात्रों को छिन्न कर विद्या जन्य, परमात्मा के दर्शन रूप लक्ष्य पर पहुँचने का बड़ा ही हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत करता है—

**"प्रथम विजय थी वह—**
**भेद कर मायावरण**
× × ×
**दुर्दम—अज्ञान—राज्य—**
**मायावृत 'मैं' का परिवार**
× × ×
**पहुंचा मैं लक्ष्य पर।"** (वही पृ० २३०)

'अहंकार-भाव' और इन्द्रियों के सभी विषयों को माया का परिवार कहा गया है। ये सभी जीवात्मा को ऊर्ध्व स्तर पर चढ़ने से रोकते हैं, गन्तव्य की ओर बढ़ते हुए भी पग-पग पर उसके मार्ग में बाधा खड़ी कर उसे नीचे घसीटना प्रारम्भ कर देते हैं। ऊपर उठने के लिए इन सभी को पीछे छोड़ना पड़ता है, इन्हें पीछे धकेलने के लिए अथक संघर्ष करना पड़ता है, तब कहीं साधक लक्ष्य तक पहुँच पाता है। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है—

---

१. मु० उ० ३, २, ४।
२. श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग, १, पृ० ६५।
३. श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृ० १८५।

"एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ
द्वैत भाव ही है भ्रम ।" (वही, पृ० २३०)

निराला कहते है कि परम तत्व एक ही है, उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है । जो अपने से भिन्न देखते हैं वह द्वैत, भ्रम अथवा माया है। श्रुति का कथन है—"जहाँ (अविद्यावस्था में) द्वैत-सा होता है, वही अन्य-अन्य को सूँघता है, अन्य-अन्य को देखता है·········किन्तु जहाँ इसके लिए सब आत्मा ही हो गया है वहाँ किसके द्वारा किसे सूंघे, किसके द्वारा किसे देखे········ ···।" "यत्र हि द्वैतमिवभवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति············यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत ।"[1] यहाँ द्वैत-भाव स्पष्टतः भ्रम, माया और अविद्या के लिए कहा गया है । उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रुतियों में अविद्या-माया का जो रूप विद्यमान है वही निराला को भी अभीष्ट है ।

निराला ने माया को ब्रह्म की आद्या-शक्ति के रूप में भी वर्णित किया है और उसे अपनी माता कहकर पुकारा है ।[2] परमहंसजी के शब्दों में वह महामाया कही गई है ।

**भूमा**—श्रुतियों में दो प्रकार के सुखों का उल्लेख आया है—अल्प और महान । सांसारिक विषयों से मिलने वाला सुख 'अल्प' कहा गया है और 'भूमा' का महान । प्रसादजी से सम्बन्धित अध्याय में हम 'भूमा' पर भी प्रकाश डाल आए हैं । यहाँ इतना भर कह देना पर्याप्त होगा कि व्यक्ति के अहं का इस सीमा तक विस्तृत हो जाना कि व्यष्टि का समष्टि में पर्यवसान हो जाए अर्थात् अपने अहं को इतना व्यापक बना लेना कि संसार का सुख-दुख अपना सुःख-दुःख हो जाये—वह स्थिति 'भूमा' की है । स्पष्टतः यह स्थिति व्यष्टि की विश्व के साथ तादात्म्य और एकता की स्थिति है । यह वह स्थिति है जहाँ पहुँचकर व्यक्ति स्वार्थ की संकुचित सीमाओं से मुक्त होकर समत्व की अनुभूति करने लगता है । यह 'भूमा' है और इससे प्राप्त सुख महान है।

निराला के काव्य में 'भूमा' के बड़े सुन्दर चित्र मिलते हैं । निम्न चित्र देखिए—

"पहुंचा मैं लक्ष्य पर ।
अविचल निज शान्ति में
क्लान्ति सब खो गई—
डूब गया अहंकार
अपने विस्तार में—
टूट गए सीमा-बन्ध—

---

१. बृह० उ० २, ४, १४ ।
२. देखिये, 'पंचवटी प्रसंग', पृ० २१६ ।

छूट गया जड़ पिण्ड—
ग्रहण देश-काल का,
निर्बीज हुआ मैं—
पाया स्वरूप निज,
मुक्ति कूप से हुई,
नीड़स्थ पक्षी की
तम विभावरी गई—
विस्तृत अनन्त पथ
गगन का मुक्त हुआ
मुक्त पंख उज्ज्वल प्रभात में,
ज्योतिर्मय चारों ओर
परिचय सब अपना ही।
स्थित मैं आनन्द में चिरकाल
जाल-मुक्त। ज्ञानाम्बुधि
वीचि रहित।" (परिमल पृ० २३८-३९)

जब जीवात्मा माया के घने और दुस्तर अन्धकारमय आवरण को भेदकर, समल निर्मल वासनाओं को निर्मूल करके, अहं के मायावृत परिवार से मुक्त होकर तथा सांसारिक ममता, मोह को त्याग कर व्यक्तित्व की संकुचित सीमाओं को छिन्न-भिन्न कर देती है तब उसका अहं इतना विराट् हो जाता है कि विश्व से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, व्यष्टि की सारी सीमाएँ खण्ड-खण्ड हो जाती हैं, अतः उसे कोई भी परिधि अपने घेरे में नहीं बाँध पाती, वह जड़ता से छूट जाता है, देश-काल की सीमाएँ भी अब उसे सीमित नहीं कर पातीं और पाप-पुण्य के द्वन्द्वों से मुक्त हुआ अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। आत्मबोध होते ही अविद्या की रात्रि दूर हो जाती है, गगन की भाँति उसका विस्तृत अनन्त पथ खुल जाता है, चारों ओर प्रकाश-ही-प्रकाश दृष्टिगोचर होने लगता है, सब आत्मरूप प्रतीत होने लगते हैं, और अन्त में जाल-मुक्त होकर जीवात्मा चिर-आनन्द में स्थिर हो जाती है। यही भूमा है, यही महान् सुख है। इसे प्रकारान्तर से जीवन्मुक्ति की, अद्वैत की स्थिति भी कह सकते हैं, जिसका उल्लेख उपनिषदों में अनेक प्रकार से आया है। सनत्कुमार भूमा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता, वह भूमा है। किन्तु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है—वही अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है।" (यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथयत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्·········।)"[1] इस वर्णन से स्पष्ट है

---

१. छा० उ० ७, २४, १।

कि बृह० उ० की अद्वैतावस्था और छा० उ० की 'भूमा' की स्थिति दो भिन्न अवस्थाएँ नहीं हैं। जो अद्वैत है वही भूमा है और वही अमृत है। निराला का भूमा का उपरोक्त वर्णन इन श्रुतियों के आधार पर ही प्रतिष्ठित है। जिस स्थिति में द्वैत समाप्त हो जाता है, सब अपने ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

भूमा के और भी अन्य विराट् चित्र निराला के काव्य में देखने को मिलते हैं। एक स्थल पर कवि कहता है 'चारों ओर यह जो सौन्दर्य की आभा विकीर्ण हो रही है वह उस ब्रह्म की ही आभा है और 'वह मैं हूँ।' इस तथ्य की अनुभूति होते ही विभिन्न जीवन-सम्बन्धों में एक ही प्रेम-भाव व्याप्त हो गया। भोग की अभिलाषा, वांछा जाती रही, संकीर्ण अहं की निर्दय मरोड़ भी समाप्त हो गई।

"फैला प्रकाश मेरा आदि-युग,
सत्य समुद्भासमान,
अल्प-अज्ञान ज्ञान-राशि में,
स्वर्णलोक शोक हर लेता था—
देता था हृदय को चिर-संचित हृदय का प्रेम,
अवलेद, अल्प भेद,
प्रस्फुट गुलाब-सा
कण्टक-संयुक्त सी कोमल-तनु मन्द गन्ध।
स्पर्श मधुर अधरों को,
नयनों को दर्शन-सुख।
उपकरण नहीं थे अनेक
एक आभरण प्रेम था
मन के गगन के
अभिलाष-घन उस समय,
जानते थे वर्षण ही—
उद्गीरण वज्र नहीं।
वेदना में प्रेम था, अपनापन
रसना न भोग की,
आकर्षण घोर निज ओर का
न निर्दय मरोर था।" (परिमल, पृ० २३९-४०)

उसके निकट फिर भगवान का यह ऐश्वर्य-पूर्ण संसार अपना सम्मोहन-जाल नहीं फैलाता। अनन्त के पथिक को आकर्षण की परिधि में घेरे रखकर विपथगामी नहीं बनाता—

"अन्त में अनन्त की
प्रथम विभूति वह
मुग्ध नहीं करती थी

बाँध कर पास से
विपथगामी न कभी करती थी पथिक को।" (वही पृ० २४०)

भूमा की स्थिति में पहुँचे साधक को अपने शरीर का चिन्तन लुप्त हो जाता है, परार्थ और उपकार ही उसका सत्य आदर्श बन जाता है, सबकी सेवा उसकी अपनी सेवा-सी प्रतीत होती है, क्योंकि सब उसी के आत्मरूप हो जाते हैं, ऊँचे तत्व उसे अनायास हृदयंगम हो जाते हैं। (वही, पृ० २४०-२४१)

भूमा के ऐसे विराट् चित्र किसी अन्य भाषा के काव्य में संभवतः ढूंढे से भी न मिले ।

**रहस्यवाद**—निराला वेदान्ती है, और वेदान्त का चरम लक्ष्य है अद्वैतवाद अथवा आत्मबोध, एकत्व वा समत्व की अपरोक्षानुभूति। निराला के काव्य में उपनिषदों के अद्वैत का और उससे सम्बद्ध अन्य मान्यताओं का प्रतिफलन पीछे दिखा चुके हैं, उस सब का सम्बन्ध अध्यात्म से है। वस्तुतः दर्शन जब बौद्धिक धरातल के माध्यम से काव्य में अवतरित होता है तब उसे अध्यात्मवाद से अभिहित करते हैं और जब कहीं दर्शन हृदय की भावभूमि पर से होता हुआ काव्य में प्रतिष्ठित होता है तब उसकी संज्ञा 'रहस्यावाद' होती है। पहले में बुद्धि-तत्व प्रमुख होता है और दूसरे में राग-तत्व। बुद्धि-तत्व की अधिकता के कारण आध्यात्मिक काव्य-दर्शन और चिन्तन की गम्भीरता से समन्वित तो अवश्य हो जाता है, पर तत्व-ज्ञान के सूक्ष्म सिद्धांतों की विवेचना की दृष्टि से काव्य को राग-तत्व की हानि भी अवश्य सहनी पड़ती है। अतः दार्शनिक विचारों अथवा सिद्धांतों को कविता का लिवास पहना देना ही दार्शनिक-काव्य नहीं। काव्य की संज्ञा पाने के लिए उसे राग-पक्ष से समन्वित होकर आना अनिवार्य है। दर्शन जब कवि की सहजानुभूति से सम्पृक्त होकर काव्य में प्रतिष्ठित होता है तब सचमुच उसमें पाठक के हृदय पर और मस्तिष्क पर दोनों को रसान्वित कर देने की शक्ति आ जाती है। कबीर दार्शनिक कवि हैं, उनके काव्य में वेदान्त के दार्शनिक सिद्धांतों और सूत्रों की प्रतिष्ठा हुई है। क्यों ? कारण स्पष्ट है। उन्होंने जिस दार्शनिक सत्य को काव्य की भूमिका पर अवतरित किया उसका उन्होंने साक्षात्कार किया था, भावना की भूमि पर लाकर उनकी सहजानुभूति भी प्राप्त की थी। वे 'कानन सुनी' नहीं 'आखिन देखी' बात कहते हैं, तभी दर्शन काव्य बनकर प्रतिष्ठित हो सका, तभी उसमें इतनी अधिक प्राणवत्ता आ सकी है श्रोता उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। अद्वैत की अनुभूति की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति उनकी निम्न साखी में हुई है—

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तत कथौ गियानी।"

निराला के काव्य का बहुत बड़ा अंश भी दर्शन और चिंतन से सम्पृक्त है। उसमें गम्भीर दार्शनिक सत्यों की अभिव्यक्ति हुई है। पर दर्शन-पक्ष उनके काव्य में राग-तत्व से समन्वित होकर, उनकी अनुभूति का अंग बनकर प्रतिष्ठित हुआ है। इसलिए उनका काव्य भी अधिक प्रभावोत्पाक बन सका है। पहले ही कहा जा चुका है कि

दर्शन का अद्वैतवाद जब नाना भावभंगिमाओं के साथ काव्य में अभिव्यंजित होता है जब उस काव्य की गणना रहस्य की कोटि में होती है। निराला का काव्य रहस्यवादी काव्य है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने निराला के गीतों की रहस्यात्मकता के सम्बन्ध में जो बात कही है वह उनकी कतिपय व्यंगपरक रचनाओं को छोड़कर अधिकांश काव्य-साहित्य पर घटित होती है। उनका कथन है कि "परोक्ष की रहस्यपूर्ण अनुभूति से उनके गीत सज्जित हैं।...कुछ कवियों ने तो रहस्यपूर्ण कल्पनाएँ ही की हैं किन्तु निरालाजी के काव्य का मेरुदण्ड ही रहस्यवाद है। उनके अधिकांश पदों में जीवन के चित्र हैं सही, किन्तु वे सब के सब रहस्यानुभूति से अनुरंजित हैं।"[1] स्पष्ट है कि निराला का अधिकांश काव्य रहस्य-काव्य की सीमा के अन्तर्गत आता है। पर उनकी रहस्यवृत्ति अन्य छायावादी कवियों की रहस्यवृत्ति से किंचित विशिष्ट है। उसमें जिज्ञासा के स्वर की अपेक्षा भक्त-जैसी आस्था, विनयशीलता तथा निवेदन की मात्रा अधिक है। उन्हें इस विश्व में व्याप्त परम-सत्ता का स्पष्ट आभास है, अतः वे सदैव उस शक्ति से अनुग्रह के लिए आवेदन और अनुनय-विनय करते दिखाई देते हैं। अद्वैत के ज्ञान के साथ-साथ भक्त की भक्ति का भाव भी उनमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। 'उनके रहस्यवाद में चिन्तन भी है और पूजा भी, मूर्ति-वन्दन भी है और विनय भी, यों सहज रूप से हम कह सकते हैं कि दर्शन और भक्ति दोनों ही अपने समन्वित रूप में निराला के काव्य में प्रतिबिम्बित हैं।'[2]

**जिज्ञासा**—निराला के काव्य में यद्यपि आस्था और विश्वास की मन्दाकिनी का अजस्र स्रोत प्रवाहित हो रहा है तदपि जिज्ञासा के दो-एक स्थल अवश्य देखने को मिल जाते है। जिज्ञासु की दृष्टि से निम्न स्थल द्रष्टव्य है—

> "किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर,
> आती हो तुम सजी मण्डलाकार ?' (परिमल पृ० ७६)

रहस्यवादी कवियों को उस अरूप की छाया के दर्शन प्रकृति में विशेष रूप से होते है। निरालाजी भी चंचल लहरों के माध्यम से उस अनुरूप के नीले आंचल के कंपित होने का आभास पाते हैं। इस दृष्टिकोण के पीछे ब्रह्म की सर्वव्यापकता का भाव प्रतिफलित हो रहा है। 'तरंगों के प्रति' कविता में कवि एक ओर तरंगों का उमगकर समुद्र में मिल जाने का वर्णन करता है, तो दूसरी ओर औपनिषदिक विचारधारा के अनुसार उससे आत्मा का परमात्मा में मिलकर तदाकार हो जाने का वर्णन भी ध्वनित है। जिस प्रकार तरंगों का समुद्र में मिल एकरूप हो जाना ही अभीष्ट है उसी प्रकार आत्मा का परमात्मा में अवसान चरम लक्ष्य है। कवि कहता है—

> "चंचल चरण बढ़ाती हो,
> किससे मिलने जाती हो ?
> × × ×

---

१. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृ० १४७।
. सं० प्रेमनारायण टण्डन : निराला-व्यक्तित्व और कृतित्व, पृ० १२६।

किसके स्वर में आज मिला दोगी वर्षों का गान,
आज तुम्हारा किस विशाल वक्ष:स्थल में अवसान ?
आज यहाँ छिप जाओगी
फिर न हाय तुम गाओगी ? (परिमल, पृ० ७७)

निराला के काव्य में इस जग के पार जाने की आकांक्षा बड़ी प्रबल है, क्योंकि इस जग में कामना के कीट-जीवन के पात्र को काट-काट कर उसमें छिद्र बना देते हैं जिसमें प्रेम जैसी दुर्लभ वस्तु ठहर नहीं पाती। अत: उसे इस लोक से परे जाना भला प्रतीत होता है—"हमें जाना इस जग के पार।" (पृ० ९९)।

निराला की रहस्य-वृत्ति के अन्तर्गत मिलन, तन्मयता, आत्मानुभूति और निवेदन के चित्र जितने अधिक मिलते हैं उतने जिज्ञासा, विरह और विह्वलता के चित्र नहीं। 'परिमल' की 'भ्रमर गीत' शीर्षक रचना में कवि ने मिलन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है 'मिल गए एक प्रणय में प्राण, रुक गया प्रिय तव मेरा गान' (पृ० ६५) में कवि उस सत्य को ध्वनित करता है जब आत्मा प्रणयाधिक्या-वस्था में परमात्मा में मिलकर एकरूप हो जाती है और उसका पृथक् अस्तित्व विलीन जाता है। 'प्रभु' के शीतल कर स्पर्श का अनुभव कर कवि का क्षुब्ध पुलकायमान हो जाता है तथा उसके अन्तर में आकर विराजमान हो जाने पर जीवन सफल हो जाता है, इस रहस्यात्मक अनुभूति का वर्णन कवि ने 'भर देते हो' रचना में किया है (पृ० १११)। 'स्वागत' रचना में कवि नव-जीवन भर लाने वाले प्रिय-दर्शन परमात्मा का हृदय से स्वागत करता है। यहाँ कवि की आत्मानुभूति का स्वर प्रमुख है। प्रभु के हृदय में आकर प्रतिष्ठित हो जाने से जीवन सार्थक हो जाता है यह एक अनुभूत दार्शनिक सत्य है। उसी दार्शनिक सत्य की अभिव्यक्ति इस रचना में हुई है। (पृष्ठ ११२)। 'अंजलि' शीर्षक एक अन्य रचना में कवि की विह्वलता आत्मा द्वारा प्रयतम परमात्मा के वन्द द्वार को खुलवाने के लिए की गई मनुहार और करुण पुकार अपनी मार्मिकता से हृदय को स्पर्श करती है—

"वन्द तुम्हारा द्वार
मेरे सुहाग-शृंगार
द्वार यह खोलो—।
सुनो भी मेरी करुण-पुकार ?
जरा कुछ वोलो।" (वही, पृ० १३०)

इस स्थल पर कवि अपनी आत्मा को नारी-रूप में चित्रित करता है और परमात्मा को प्रियतम रूप में, क्योंकि वह उस अज्ञात प्रियतम को स्पष्टत: 'सुहाग-शृंगार' कह-कर सम्बोधित करता है। इस प्रसंग में हम निराला को कवीर के समान माधुर्य-भाव से प्रभावित पाते हैं, भले ही निराला स्वयं को कवीर की भाँति 'राम की वहुरिया' कहकर सम्बोधित न करते हों।

इसी रचना में आत्मा का परमात्मा से अभिसार का चित्र भी आया है जो वड़ा ही सरस और मोहक वन पड़ा है।

निराला की परिमल-काल की रचनाओं में स्वानुभूति के जितने सुन्दर और विराट् चित्र मिलते हैं वैसे चित्र स्यात् ही किसी अन्य कवि की रचना में ढूंढे से मिलें। कवि का इस दृष्टि से निम्न चित्र द्रष्टव्य है—

"सोने के प्रभात की
किरणें सुनहली थीं चूमता
सोने के पुष्पों-पत्रों के अधर,
सोने के निर्झर
प्रति-चरण चूम-चूम तट
मिलते थे सरिता से
चुम्बन का अन्त ज्यों
देते सर्वस्व निज
छोड़ क्षुद्र सीमा-बंध
पलकों से नीड़ से
सोने के नभ में
उड़ जाते थे नयन, वे
चूमकर असीम को
लौटते आनन्द भर।
ज्योति का पारावार
पार करते ही हुए
डूब जाते कभी वे
सुप्ति के मोह में
चुम्बन का स्वप्न ले।
देखता मैं बार-बार
ज्योति के ही चक्राकार
चुम्बन से चंचल हो उठता संसार
स्थिरता में गति फैलती—
भास होता ज्ञान का
कैसे कहूं, जीवन वह
मोह था, अज्ञान था।" (परिमल, पृ० १८८-८९)

निराला की स्वानुभूति का यह चित्र बड़ा ही विराट् और हृदयस्पर्शी है। यहाँ निराला की अनुभूति उपनिषदों की सीमाओं को पार कर वैदिक ऋषियों के उस स्वर्लोक में प्रवेश करती है जहाँ अन्तःप्रकाश के स्वर्ण-निर्झर ऊपरी स्तरों से नीचे की ओर प्रवाहित होकर जीव की भौतिक-चेतना की सरिता के तट का स्पर्श कर उसकी ससीमता को असीमता में परिवर्तित कर देते हैं, जहाँ से मधु और आनन्द की धाराएँ बहकर मनुष्यता की भौतिकता को आनन्द से ओत-प्रोत कर देती हैं, जहाँ केवल

> किसके स्वर में आज मिला दोगी वर्षों का गान,
> आज तुम्हारा किस विशाल वक्ष:स्थल में अवसान ?
> आज यहाँ छिप जाओगी
> फिर न हाय तुम गाओगी ? (परिमल, पृ० ७७)

निराला के काव्य में इस जग के पार जाने की आकांक्षा बड़ी प्रबल है, क्योंकि इस जग में कामना के कीट-जीवन के पात्र को काट-काट कर उसमें छिद्र बना देते हैं जिसमें प्रेम जैसी दुर्लभ वस्तु ठहर नहीं पाती। अत: उसे इस लोक से परे जाना भला प्रतीत होता है—"हमें जाना इस जग के पार।" (पृ० ९९)।

निराला की रहस्य-वृत्ति के अन्तर्गत मिलन, तन्मयता, आत्मानुभूति और निवेदन के चित्र जितने अधिक मिलते हैं उतने जिज्ञासा, विरह और विह्वलता के चित्र नहीं। 'परिमल' की 'भ्रमर गीत' शीर्षक रचना में कवि ने मिलन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है 'मिल गए एक प्रणय में प्राण, रुक गया प्रिय तब मेरा गान' (पृ० ६५) में कवि उस सत्य को ध्वनित करता है जब आत्मा प्रणयाधिक्या-वस्था में परमात्मा में मिलकर एकरूप हो जाती है और उसका पृथक् अस्तित्व विलीन जाता है। 'प्रभु' के शीतल कर स्पर्श का अनुभव कर कवि का क्षुब्ध पुलकायमान हो जाता है तथा उसके अन्तर में आकर विराजमान हो जाने पर जीवन सफल हो जाता है, इस रहस्यात्मक अनुभूति का वर्णन कवि ने 'भर देते हो' रचना में किया है (पृ० १११)। 'स्वागत' रचना में कवि नव-जीवन भर लाने वाले प्रिय-दर्शन परमात्मा का हृदय से स्वागत करता है। यहाँ कवि की आत्मानुभूति का स्वर प्रमुख है। प्रभु के हृदय में आकर प्रतिष्ठित हो जाने से जीवन सार्थक हो जाता है यह एक अनुभूत दार्शनिक सत्य है। उसी दार्शनिक सत्य की अभिव्यक्ति इस रचना में हुई है। (पृष्ठ ११२)। 'अंजलि' शीर्षक एक अन्य रचना में कवि की विह्वलता आत्मा द्वारा प्रियतम परमात्मा के बन्द द्वार को खुलवाने के लिए की गई मनुहार और करुण पुकार अपनी मार्मिकता से हृदय को स्पर्श करती है—

> "बन्द तुम्हारा द्वार
> मेरे सुहाग-शृंगार
> द्वार यह खोलो—।
> सुनो भी मेरी करुण-पुकार ?
> जरा कुछ बोलो।" (वही, पृ० १३०)

इस स्थल पर कवि अपनी आत्मा को नारी-रूप में चित्रित करता है और परमात्मा को प्रियतम रूप में, क्योंकि वह उस अज्ञात प्रियतम को स्पष्टत: 'सुहाग-शृंगार' कह-कर सम्बोधित करता है। इस प्रसंग में हम निराला को कबीर के समान माधुर्य-भाव से प्रभावित पाते हैं, भले ही निराला स्वयं को कबीर की भाँति 'राम की बहुरिया' कहकर सम्बोधित न करते हों।

इसी रचना में आत्मा का परमात्मा से अभिसार का चित्र भी आया है जो बड़ा ही सरस और मोहक बन पड़ा है।

निराला की परिमल-काल की रचनाओं में स्वानुभूति के जितने सुन्दर और विराट् चित्र मिलते हैं वैसे चित्र स्यात् ही किसी अन्य कवि की रचना में ढूंढ़े से मिलें। कवि का इस दृष्टि से निम्न चित्र द्रष्टव्य है—

"सोने के प्रभात की
किरणें सुनहली थीं चूमता
सोने के पुष्पों-पत्रों के अधर,
सोने के निर्झर
प्रति-चरण चूम-चूम तट
मिलते थे सरिता से
चुम्बन का अन्त ज्यों
देते सर्वस्व निज
छोड़ क्षुद्र सीमा-बंध
पलकों से नीड़ से
सोने के नभ में
उड़ जाते थे नयन, वे
चूमकर असीम को
लौटते आनन्द भर।
ज्योति का पारावार
पार करते ही हुए
डूब जाते कभी वे
सुप्ति के मोह में
चुम्बन का स्वप्न ले।
देखता मैं बार-बार
ज्योति के ही चक्राकार
चुम्बन से चंचल हो उठता संसार
स्थिरता में गति फैलती—
भास होता ज्ञान का
कैसे कहूं, जीवन वह
मोह था, अज्ञान था।" (परिमल, पृ० १८८-८९)

निराला की स्वानुभूति का यह चित्र बड़ा ही विराट् और हृदयस्पर्शी है। यहाँ निराला की अनुभूति उपनिषदों की सीमाओं को पार कर वैदिक ऋषियों के उस स्वर्लोक में प्रवेश करती है जहाँ अन्तःप्रकाश के स्वर्ण-निर्झर ऊपरी स्तरों से नीचे की ओर प्रवाहित होकर जीव की भौतिक-चेतना की सरिता के तट का स्पर्श कर उसकी ससीमता को असीमता में परिवर्तित कर देते हैं, जहाँ से मधु और आनन्द की धाराएं वहकर मनुष्यता की भौतिकता को आनन्द से ओत-प्रोत कर देती हैं, जहाँ केवल

आनन्द, ज्योति और प्रकाश का समुद्र लहरा रहा है। कवि की सहजानूभूति उस दिव्य-ज्योति के दर्शन करती है जिसके स्पर्श से सम्पूर्ण संसार चंचल होकर गतिशील हो उठता है, जहाँ केवल मात्र आत्मबोध का ही ज्ञान शेष रह जाता है। उस सत्यानुभूति को मोह और अज्ञान कहकर झुठलाया नहीं जा सकता।[1] निराला का यह चित्र यहीं समाप्त नहीं हो जाता अद्वैतानुभूति का भी मोहक वर्णन प्रस्तुत करता है—

**"ज्योति नयन-ज्योति से**
**पलकों से पलक मिले,**
**अधरों से अधर**
**कण्ठ कण्ठ से लगा हुआ,**
**बाहुओं से बाहु**
**प्राण प्राणों से मिले हुए।"** (परिमल, पृ॰ १९१)

रहस्यानुभूति के ऐसे विराट् चित्र अन्यत्र विरलता से ही मिलेंगे। 'अनामिका' की 'प्रेयसी' रचना में भी कवि ने प्रिय-प्रेयसी के लौकिक प्रतीक द्वारा परमात्मा-आत्मा की अद्वैतावस्था का बड़ा ही भाव-पूर्व वर्णन उपस्थित किया है। 'प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गई' में कवि उस अद्वैत की स्थिति का ही भाव प्रेषित करने का प्रयत्न करता है जिस स्थिति का अनुभव योगी को मधुमती भूमिका में होता है। कवि कहता है—

"मिले तुम एकाएक
देख मैं रुक गई
चलपद हुए अचल
आप ही अपल दृष्टि
फैला समष्टि में खिच स्तब्ध मन हुआ
दिए नहीं प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गए
दूर थी,
खिचकर समीप ज्यों मैं हुई
अपनी ही दृष्टि में,
जो था समीप विश्व
दूर दूर तट दिखा।
मिली ज्योति छवि से तुम्हारी,
ज्योति छवि मेरी
नीलिमा जो मेरी
प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गई।" (अना॰, पृ॰ ३-४)

---

१. ऋग्वेद ४,५८ की श्री अरविन्द की व्याख्या : वेद रहस्य, भाग १।

इस वर्णन में निराला की दृष्टि स्पष्टतः उस अनुभूति पर टिकी हुई है जो किसी रहस्य-द्रष्टा की होती है और जिसका उल्लेख वेद और उपनिषद् में उपलब्ध होता है। उपनिषदें स्पष्ट शब्दों में कहती हैं कि उस स्थिति में पहुँचकर द्रष्टा को इस विश्व-प्रपंच का द्वैत नहीं भासता, केवल मात्र अद्वैत रह जाता है। व्यक्तित्व की संकुचित सीमाएँ टूट जाती हैं, वह असीम और विराट् रूप हो जाता है।

'जुही की कली' कविता में भी निराला की रहस्यानुभूति सुन्दर काव्यात्मक परिवेश में अभिव्यक्त हुई है। कवि कहता है कि 'कली पत्रांक शय्या पर दृग बन्द किए सोई हुई थी। नायक पवन ने उसे जगाने का प्रयत्न किया, पर वह नहीं जागी और न उठकर अपनी चूक की क्षमा ही माँगी। नायक के द्वारा जोर से झकझोर दिए जाने पर ही वह जाग पाई।' कविता में प्रतीक-रूप से सुप्ति के बाद जागरण का भाव प्रकाशित हुआ। कवि ने जहाँ कली तथा मलयानिल के रूप में प्रकृति में राग-तत्त्व पर आधारित एक छोटा-सा शृंगारी चित्र प्रस्तुत किया है, वहाँ लौकिक शृंगार में एक स्वस्थ प्रेम-क्रीड़ा की सुन्दर अभिव्यंजना भी हुई है। साथ ही आध्यात्मिक स्तर पर माया में फँसी हुई सुषुप्त आत्मा का माया से ऊपर उठ जाने पर उसके परमात्म साक्षात्कार का आनन्द भी वर्णित है।

**"चौंक पड़ी युवती—**
**चकित चितवन निज चारों ओर फेर,**
**हेर प्यारे को सेज-पास**
**नम्र मुखी हँसी—खिली**
**खेल रंग प्यारे संग।"** (पृ० १७२-७३)

यह पूर्ण मुक्ति का चित्र है और निराला के शब्दों में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की काव्य में उतरी हुई तस्वीर। यहाँ सुप्ति से तात्पर्य तम का है और प्रिय के साक्षात्कार से ज्योतिस्वरूप ईश्वर का। कली की सुप्ति से लेकर जागरण और मिलन की वर्णित स्थितियों में आत्मा की रहस्यानुभूति की विभिन्न अवस्थाओं का अन्तर्भाव निराला ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है।

एक अन्य कविता 'शेफालिका' में निराला ने अविद्या-ग्रस्त जीवात्मा के माया के बन्धनों से मुक्त होकर परम सत्ता से मिलने का प्रतीकात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। 'पल्लव पर्यंक पर सोती हुई शेफालिका की कंचुकी के 'बन्द' को यौवन के उभार ने प्यार के साथ खोल दिया।'

**"बन्द कंचुकी के खोल दिए प्यार से**
**यौवन उभार ने**
**पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।**
**मूक-आह्वान भरे लालसी कपोलों के**
**व्याकुल विकास पर**
**[illegible]ते हैं शिशिर से चुम्बन गगन के।"** (परि० १७५)

यहाँ कंचुकी-बन्द और पल्लव-पर्यंक पर सोती हुई शेफाली माया-ग्रस्त जीवात्मा का प्रतीक है, गगन के शिशिर से चुम्बन परमात्मा के स्पर्श का प्रतीक है। जिस प्रकार पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफाली गगन से झरने वाले शीतल विन्दुओं के स्पर्श से प्रभात में तरोताजा होकर खिल उठती है उसी प्रकार अविद्या-माया ग्रस्त जीवात्मा ज्योतिर्मय प्रभु के कर स्पर्श से, इस शोक और दुःख-सन्तप्त नश्वर संसार की क्षुद्र सीमाओं को तोड़कर, सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर, अमर-विराम के सप्तम सोपान को प्राप्त होती है जहाँ अमर-प्रेम-धाम है।

> **"जागती प्रिया के नक्षत्र-दीप कक्ष में**
> **वक्ष पर सन्तरण—आश आकाश है**
> **पार करना चाहता**
> **सुरभिमय समीर-लोक**
> **शोक-दुःख जर्जर इस नश्वर संसार की**
> **क्षुद्र सीमा**
> **पहुंचकर प्रणय-छाये**
> **अमर विराम के**
> **सप्तम सोपान पर।**
> **पाती अमर-प्रेम-धाम**
> **आशा की प्यास एक रात में भर जाती है।"** (वही, १७५-७६)

निराला का सप्तम सोपान से तात्पर्य सत्य-लोक अथवा आनन्दमय कोश से है, जहाँ पहुँचकर जीवात्मा के माया के पाश कट जाते हैं और आत्मा अपने शुद्ध-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।[1] इस प्रकार 'शेफालिका' जीवात्मा के माया के बन्धनों से मुक्त होकर आनन्दमय कोश में स्थित होने का एक सुन्दर रहस्यमय काव्यात्मक वर्णन है।

निराला की यह रहस्यानुभूति औपनिषदिक अद्वैतवाद की पीठिका पर आधारित है इसमें कोई संदेह नहीं है। साथ ही दर्शन और काव्य का कितना सुन्दर समन्वय निराला ने 'जुही की कली' और 'शेफालिका' में किया है यह भी द्रष्टव्य है।

निराला के काव्य में आवाहन, निवेदन और विनय के चित्र भी कम आकर्षक नहीं हैं। 'वासन्ती' शीर्षक रचना में कवि 'प्रियतम परमात्मा से नील गगन के सागर को पार करके तथा तिमिर के बन्धनों को काटकर जग में अवतरित होने के लिए आवाहन करता है, ताकि पग-पग नव स्पन्दन से भर जाए' (पृ० ७१)। 'विस्मृत भोर' की अन्तिम पंक्तियों में कवि निश्चय ही उस अद्वैत की स्थिति की आकांक्षा कर रहा है जहाँ न आशा की हिलोर उठकर चित्त को चंचल करती है और न कामनाओं के कीट ही जीवन-वृक्ष को काट-काट कर खोखला करते हैं। वह तो आत्म-बोध की, अविरल शान्ति की स्थिति की कामना करता है, कवि कहता है—

---

१. देखिए, मुण्डकोपनिषद् २,२,८।

"स्वप्न प्रबल विज्ञान, धर्म, दर्शन,
तम सुप्ति शान्ति, हा भोर
कहां जहां आशाओं ही की
अन्तहीन अविराम हिलोर ?
मेरी चाहें बदल रहीं नित आहों में
क्या चाहूं और ?
मुझे फेर दो प्रभो, हेर दो,
इन नयनों में भूला भोर।" (परिमल, पृ० १५२)

जिस प्रकार जीवन की प्रबल उमंग सांसारिक सीमाओं को पार कर असीम प्रियतम से मिलने को विह्वल है उसी प्रकार निराला की प्रकृति भी उस अज्ञात की ओर जाने के लिए उत्सुक दिखाई देती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार जब सब कुछ ब्रह्ममय है तब प्रकृति भी उस व्याप्ति से कहाँ बच पाती है। अतः जो मानव का गन्तव्य है वही प्रकृति का भी। जब प्रपात अपने गन्तव्य को पहचान लेता है तो मुस्करा कर उसी ओर चल पड़ता है—

"उसे जब लेते हो पहचान
समझ जाते हो उस जड़ का सारा अज्ञान
फूट पड़ती है ओठों पर तब मुस्कान,
बस अजान की ओर इशारा कर चल देते हो
भर जाते हो उसके अन्तर में अपनी तान।" (वही, पृ० १५३)

निराला ने स्पष्टतः यहाँ प्रकृति में ब्रह्म की व्याप्ति तथा प्रकृति द्वारा अपने गन्तव्य, ब्रह्म की ओर अग्रसरित होने का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। जब प्रपात ने अपने लक्ष्य को पहचान लिया तो वह क्यों न निर्भय होकर उसकी ओर बढ़े ? इसी प्रकार जब मानव अपने गन्तव्य ब्रह्म को पहचान लेता है तो यह स्वयं भी उसी दिशा में बढ़ने लगता है।

**साधनात्मक रहस्यवाद**—उपनिषदों में अद्वैतानुभूति और आत्मबोध के लिए साधन के रूप में ज्ञान, कर्म और भक्ति के अतिरिक्त योग की भी चर्चा आई है। आत्म-सिद्धि के लिए उसी योग-साधना का विकास मध्य-युगीन सिद्धों और नाथों के सम्प्रदाय में हुआ। कबीर आदि निरगुनियाँ सन्तों पर भी योग-साधना का पर्याप्त प्रभाव देखने को मिलता है और जायसी ने भी उसका उल्लेख किया है। आधुनिक रहस्यकाव्य में मध्य-युगीन यौगिक-प्रक्रियाओं का प्रायः अभाव-सा ही है तदपि निराला के काव्य में उसके एक-दो उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं। आधुनिक रहस्यकाव्य मुख्यतया भावात्मक स्वरूप लिए हुए है। पर निराला की निम्न पंक्तियों में साधनात्मक रहस्यवाद का भी प्रभाव देखा जा सकता है—

"अमृत सन्तान ! तीव्र
भेदक

शोकहरी । पहुंचे थे वहां
जहां आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार ।"　　(परिमल, पृ० १८१)

सहस्रार योग-साधना का प्रमुख पारिभाषिक शब्द है। मनुष्य के अन्दर यह वह स्थान है जिसके खुल जाने पर साधक योगी दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, जहाँ पहुँचकर सारे रूप उस सत्य नीलिमा में लय हो जाते हैं, जो अमृत स्वरूप है और तब केवल 'मैं' का ज्ञान अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध-मात्र रह जाता है—'केवल मैं केवल ज्ञान' की अनुभूति रह जाती है (पृ० ८५)।

मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जब प्राणायाम द्वारा जगकर सुषुम्ना नाड़ी में से होकर ऊर्ध्व-मुखी होती हुई मस्तिष्क-प्रदेश में स्थित सहस्रार चक्र में पहुँचती है तब उसकी बन्द पंखुरियाँ खुलकर साधक को आनन्द के रस से सराबोर कर देती हैं, वहाँ केवल आत्म-ही-आत्म रह जाता है। साधनात्मक रहस्यवाद का एक अन्य उदाहरण 'परिमल' की 'जागरण' शीर्षक कविता में आया है। कवि ऊर्ध्व स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है—

"सच है, तब प्रकृति उसे सर्व शक्ति देती है—
अष्ट सिद्धियाँ वह
सर्व शक्तिमान होता,
इसे भी जब छोड़ता वह,
पार करता रेखा जब समष्टि-अहंकार की—
चढ़ता है सप्तम सोपान पर
प्रलय तभी होता है
मिलता वह अपने सच्चिदानन्द रूप से ।"　(परिमल, पृ० २३९)

साधक-योगी योग-साधना में ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता जाता है उसे अणिमा, गरिमा, महिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती जाती है, जिनकी प्राप्ति से वह शक्ति-सम्पन्न होता जाता है। पर जब साधक सिद्धियों के आकर्षण में फंसकर यहीं रुक जाता है तब आत्म-साक्षात्कार की दृष्टि से उसका पतन अवश्यम्भावी है । सच्चा बोध प्राप्त करने के लिए इन आकर्षणों से ऊपर उठना पड़ता है। वह जब सारे सांसारिक और सिद्धियों के आकर्षण और साधना के मार्ग की बाधाओं को पार कर सप्तम सोपान अर्थात् सहस्रार-चक्र में, चेतना के सर्वोच्च शिखर पर अथवा आनन्दमय कोश में स्थित हो जाता है तभी प्रलय अर्थात् सांसारिक तृष्णा-मोह का नाश हो जाता है और तब वह शुद्ध सच्चिदानन्दी चेतना को प्राप्त कर लेता है। उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं कि वह परम-तत्व महत् और अव्यक्त से भी श्रेष्ठ है—"अव्यक्तात्तु परः पुरुषो" (कठ० ६,८) । साधक-योगी सप्तम सोपान पर सत्यलोक में पहुंच इसी परम पुरुष के दर्शन करता है । तब उसे वहाँ कोई भय-बाधा नहीं रह जाती । वहाँ वह 'क्रम-क्रम से अपने ही भीतर सूर्य-चन्द्र-ग्रह तारे और अगणित ब्रह्माण्ड-भाण्ड के दर्शन करता है ।' (पृ० २२८)

**ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध**—वैदिक-दर्शन में समवेत स्वर से एक परम-सत्ता के अस्तित्व की ही स्वीकृति है, और सैद्धान्तिक दृष्टि से परमात्म और आत्म-तत्व की एकता की भी प्रतिष्ठा है। एकता की यह स्थिति साधक को साधना के अंतिम छोर पर ही मिलती है जिसे कोई समाधिस्थ योगी ही अनुभूत कर सकता है अथवा कोई समत्वद्रष्टा ही सब को अपने में और अपने को सब में देख सकता है। यह दर्शन की शब्दावली में अद्वैत की स्थिति है। व्यावहारिक दशा में जब द्वैतावस्था में पड़ी जीवात्मा उस परम तत्व की ओर उन्मुख होती है और उससे अपने तथा समष्टि के बीच एक तारतम्य का अनुभव करती है तब अन्य लौकिक सम्बन्धों की भाँति उस परम सत्ता से भी अनेक प्रकार के सम्बन्ध के सूत्र बुन लेती है। वैदिक ऋषियों ने उस सत्ता के साथ अपने हृदय का तादात्म्य स्थापित कर अनेक श्रद्धासूचक सम्बन्ध जोड़े हैं। उसे कभी अपना पिता, कभी माता, कभी स्वामी और कभी मित्र या बन्धु कहकर सम्बोधित किया है। ब्रह्म से जीव के इन निकट के सम्बन्धों की परम्परा हमें सन्त-साहित्य में भी देखने को मिलती है। कबीर आदि सन्तों ने उसे कभी अपना स्वामी, कभी पति और भरतार कह कर नैकट्य का परिचय दिया है। सगुणोपासक कवि भी इस दृष्टि से अपवाद-स्वरूप नहीं है। ब्रह्म से जीव का यह सम्बन्ध सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुआ था। इसके अतिरिक्त दार्शनिक-दृष्टि से भी सन्तों और कवियों ने ब्रह्म और जीव के बीच सम्बन्ध की कल्पना की है—यथा अंशांशी भाव, अंगांगी भाव, बिम्बप्रतिबिम्ब भाव। तुलसी ने "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" कहकर ईश्वर को अंशी और जीव को उसके अंश-रूप में स्वीकार किया है। तुलसी की ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध की यह कल्पना रामानुज के विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित है जिसका मूल भाव उपनिषदों में सुरक्षित है। छायावादी कवियों ने उपरोक्त आधार पर ब्रह्म और जीव बीच के दार्शनिक आधार पर विभिन्न सम्बन्धों की काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठा की है। निराला की 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में इन दोनों के सम्बन्ध पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला गया है। निराला कहते हैं—

> **"तुम तुंग—हिमालय-शृंग**
> **और मैं चंचल गति सुर-सरिता**
> **तुम विमल हृदय उच्छ्वास**
> **और मैं कान्त-कामिनी-कविता।"** (परिमल, पृ० ८०)

इस उद्धरण में आत्मा को परमात्मा के अंश-रूप में चित्रित किया गया है। परमात्मा यदि हिम-गिरि की उच्च चोटी है तो आत्मा उससे उत्पन्न होने वाली गंगा की धारा, यदि परमात्मा कवि-हृदय का उच्छ्वास है तो आत्मा उससे उत्पन्न काव्य। इसी प्रकार आगे भी कहा है कि—'यदि परमात्मा वृक्ष है तो आत्मा उसी का अंश शाखा, यदि परमात्मा प्रेम है तो आत्मा उससे उत्पन्न शांति, परमात्मा सितार तो आत्मा उससे उत्पन्न रागिनी, यदि परमात्मा पथ तो आत्मा उसी की रेणु, यदि परमात्मा नृत्य तो आत्मा नूपुर की ध्वनि। इस स्थल पर निराला आत्मा-

परमात्मा के बीच अंशांशी-भाव को स्वीकार करते हैं जो उपनिषदों पर आधारित है। उपनिषदों में यह सम्बन्ध अग्नि और उससे उत्पन्न चिनगारियों के दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है कि जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि में से उसी के सदृशरूप वाली सहस्रशः चिनगारियाँ नाना प्रकार से प्रकट होती हैं उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं—

> **"तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाक्षरा द्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते···।"** (मु०उ० २,१,१)

निराला ने इन दोनों के बीच के सम्बन्ध को अन्य प्रकार से भी वर्णित किया है यथा—

> **"तुम दिनकर के खर किरण-जाल,**
> **मैं सरसिज की मुस्कान।"** (वही, पृ० ८०)

यदि परमात्मा सूर्य की किरण है तो आत्मा कमल की मुस्कान, यदि परमात्मा बाल-इन्दु है तो आत्मा निशीथ का माधुर्य, यदि परमात्मा मधुमास तो आत्मा कोकिल का मधुर स्वर।

निराला ने ऐसे उपमानों द्वारा भी इस सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है जो अभिन्नता के द्योतक हैं—

> **"तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म**
> **मैं मनो मोहिनी माया**
> × × ×
> **तुम शिव हो मैं हूं शक्ति।"** (वही, पृ० ८१)

जिस प्रकार ब्रह्म और माया, शिव और शक्ति तथा मनमोहन और राधा, प्रकृति और पुरुष, राम और सीता एक-दूसरे से अभिन्न हैं उसी प्रकार परमात्मा और आत्मा अभिन्न है। इस प्रकार जीव ब्रह्म से अभेद-भाव से सम्बद्ध है। यह सम्बन्ध उपनिषदों के अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन करता है। निराला को इन दोनों के मध्य यह सम्बन्ध मूलतः अभीष्ट है।

**मोक्ष : त्रिगुणातीतावस्था**—भारतीय धर्म और संस्कृति में पुरुषार्थ चतुष्टय का बड़ा महत्त्व है। पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को स्वीकार किया गया है। अर्थ और काम सामाजिक जीवन की सिद्धि के लिए और धर्म व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को व्यवस्थित और कर्तव्य-परायण बनाए रखने के लिए अनिवार्य माने गए, पर आर्य-जीवन में चौथा और अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष माना गया जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। मोक्ष के स्वरूप पर पीछे विस्तार से विचार हो चुका है, यहाँ इतना भर कह देना पर्याप्त होगा कि मोक्ष का अर्थ है—जीवात्मा का सांसारिक सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से, प्रकृतिगत त्रिगुणात्मकता से छुटकारा और अपने वास्तविक रूप में अवस्थान। ये दोनों अवस्थाएँ एक-दूसरे की पर्याय हैं। द्वन्द्वातीत हुए बिना स्वरूप में अवस्थान असंभव है और स्वरूप में अवस्थित होते ही जीवात्मा द्वन्द्वों से परे चला जाता है। शुद्ध आत्मा चैतन्य और ज्योति-रूप हो जाता है, अमृत और आनन्द रूप हो जाता है, फिर उसे जन्म-मरण के चक्र की परिधि में

नहीं आना पड़ता। यह जीवात्मा की सर्वोच्चावस्था है जिसमें मन, बुद्धि और अहंकार सब कुछ लीन हो जाता है। निराला के काव्य में इस अवस्था के सूचक पर्याप्त संकेत मिलते हैं। उनका कथन है—

**"मन, बुद्धि और अहंकार का लय प्रलय है।"** (परिमल, पृ० २२७)

मुक्तावस्था में जीवात्मा के मन, बुद्धि और अहंकार का नाश हो जाता है, तब मन संकल्प-विकल्पों में नहीं उलझता, बुद्धि विभाजन और द्वैत के खेल को त्याग देती है, अहंकार संकीर्णता को त्याग कर विराट् रूप धारण कर लेता है तथा सच्चिदानन्दी स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है—

**"पार कर रेखा जब समष्टि अहंकार की**
**चढ़ता है सप्तम सोपान पर,**
**प्रलय तभी होता है**
**मिलता वह अपने सच्चिदानन्द रूप से।"** (वही, पृ० २२९)

सच्चिदानन्दी रूप को प्राप्त करके फिर आवागमन के चक्र से परे हो जाता है, फिर लौट कर नहीं आता—"स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।"[1] निराला भी यही कहते हैं—

**"मुक्त जो हो जाता है**
**फिर नहीं वह लौटता।"** (वही, पृ० २२९)

मुक्ति के सम्बन्ध में विवेकानन्द जी ने कहा है—"कि तब तुम जन्म के अतीत हो गए, अतएव तुम मृत्यु के भी पार जा चुके। तब तुम्हारा सुख भी दूर हो गया, अतएव तुम दुःख से भी अलग हो गए। उसी समय तुम सर्वातीत, अव्यक्त, अविनाशी आनन्द के अधिकारी हुए। यहाँ जिसे हम सुख और कल्याण कहते है वह उसी अनन्त आनन्द का कण-मात्र है। वही अनन्त आनन्द हमारा लक्ष्य है।[2]

**मोक्ष का साधन**—मोक्ष मानव-जीवन का साध्य है, यह तथ्य आर्य-संस्कृति की दृष्टि से निर्विवाद है। पर इस साध्य की सिद्धि कैसे हो। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए वैदिक दर्शन में कर्म, ज्ञान और भक्ति (उपासना) के समन्वित रूप का साधना की दृष्टि से उल्लेख है। जब तक चित्त शुद्ध न हो, सद् ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। और जब तक वास्तविकता का ज्ञान न हो, उस पर न चिन्तन हो सकता है न भक्ति और न प्रेम-भाव ही जागृत हो सकता है और न योग की साधना ही सध सकती है। ज्ञान के लिए चित्त की निर्मलता, मन की पवित्रता अपेक्षित है और चित्त की निर्मलता आधारित है—निष्काम कर्म-योग पर। अंतः स्पष्ट है कि परम तत्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान जितना अपेक्षित है उतना ही कर्म भी और उतनी ही उपासना भी। कर्म, ज्ञान और भक्ति (उपासना) ये सभी साधन समन्वित रूप से

---

१. कठ० उ० १, ३, ८, छा० उ० ८, १५, १, श्वे० उ० ६, १५।
२. भारत में विवेकानन्द, पृ० ३६।

आत्म-ज्ञान के लिए वेद और उपनिषदों में आवश्यक कहे गए हैं। यजुर्वेद में कोरे कर्म को अन्धकार में ले जाने वाला कहा गया है और इसी प्रकार कर्म-विहीन ज्ञान भी अनुपयोगी कहा गया है। जिसका उल्लेख पीछे आ चुका है।[1] दोनों का समन्वित रूप ही तत्व-दर्शन में सहायक सिद्ध होता है।[2] श्वे० उ० में कर्म '(निष्काम कर्म), उपासना और ज्ञान तीनों साधनों की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है।

> **"आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।**
> **तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥** (श्वे० ६,४)
> **आदिः स संयोग निमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।**
> **तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥** (श्वे० ६, ५)
> **स वृक्ष कालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्।**
> **धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥"** (श्वे० ६, ६)

इन श्रुतियों में प्रथम में 'कर्म', द्वितीय में 'उपासना', और तृतीय में 'ज्ञान' का प्रतिपादन हुआ है। स्वयं रामकृष्ण देव ने आत्म-साक्षात्कार में कर्म, ज्ञान, भक्ति, उपासना, योग सभी साधनाओं की उपयोगिता का प्रत्यक्ष अनुभव किया था। निराला भी मोक्ष-प्राप्ति के लिए सभी साधनों के समन्वय की बात कहते हैं—

> **"भक्ति - योग - कर्म - ज्ञान एक ही है,**
> **यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं।"** (परिमल, २३०)

सभी साधनों को एक मानते हुए और सब की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी निराला की दार्शनिकता ज्ञानी सन्तों की भाँति निवृत्ति-मुखी न होकर प्रवृत्ति-मुखी है, क्योंकि उन्होंने मुक्ति के स्थान पर भक्ति का आवाहन किया है। यही कारण है कि निराला माता या आदिशक्ति के प्रति समर्पण की भावना से प्रेरित होकर कहते हैं कि जिस प्रकार सलिल-प्रवाह में बहता हुआ गृहहीन, लक्ष्यहीन, यन्त्र-तुल्य शैवाल-जाल परमात्मा की प्रेममयी प्रेरणा से अन्त में असीम महासागर में मिल जाता है उसी प्रकार—

> **"मैं भी त्यों त्याग कर सुखाशाएँ—**
> **घर—द्वार—, धन—जन,**
> **बहता हूं माता के चरणामृत-सागर में,**
> **मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।"** (वही, पृ० २२०)

निराला आनन्दमय बन जाने की अपेक्षा आनन्द का पाना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं, इसीलिए मोक्ष के स्थान पर ईश्वर से भक्ति की ही कामना करते हैं—

> "कामना रहे तो एक
> भक्ति की बनी रहे।" (वही, २२१)

---

१. देखिये, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० २३७।
२. यजुर्वेद ४०, ११।

भक्ति द्वैत-भाव पर आधारित है और द्वैत-भाव को उपनिषदों में भ्रम कहा है। श्रुतियों का कथन है 'नेह नानास्ति किंचन'। मृत्योः मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।'[1] इसमें नानात्व कुछ भी नहीं है जो इसमें नाना के समान देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। अथवा 'एकमेवाद्वितीयमस्ति' मंत्र भी इसी तथ्य को प्रमाणित करता है (छ० उ० ६, २, १)। निराला भी इसका समर्थन करते हैं—

"एक ही है, दूसरा नहीं है कुछ
द्वैत-भाव ही है भ्रम।" (परिमल, पृ० २३०)

पर यह भी सत्य है कि निर्भ्रम होने के लिए भ्रम में से ही होकर मार्ग जाता है, अद्वैत की अनुभूति के लिए आरंभ में द्वैत-भाव भी आवश्यक है। द्वैत-भाव न हो तो विरह-मिलन की अनुभूति कैसे संभव हो सकती है, जिज्ञासा का प्रश्न कैसे उठ सकता है। हां, द्वैत ही सब कुछ नहीं है, यह यात्रा का आरम्भ है और समाप्ति होती है अद्वैत पर। महादेवी ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"रहस्य-भावना के लिए द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनुभूति असंभव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।"[2] यद्यपि निराला के काव्य में विरह की दशा का वर्णन विरल ही है तदपि भक्ति के लिए द्वैत-भाव अपेक्षित है। स्वयं निराला कहते हैं—

"तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।" (वही, पृ० २३०)

इसीलिए मनुष्य के हृदय की गति जानने वाले द्रष्टा ऋषि-मुनियों ने द्वैत-भाव पर आधारित भक्ति की भावना को ही भावुकों के लिए उचित समझकर उसका प्रति-पादन किया था तथा प्रेम के पिपासुओं को सेवाजन्य प्रेम का, जो अति पवित्र है उपदेश दिया था।

"मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
सोच ली थी पहले ही।
इसलिए द्वैत-भाव-भावुकों में
भक्ति की भावना भरी—
प्रेम के पिपासुओं को
सेवाजन्य प्रेम का
जो अति ही पवित्र है
उपदेश दिया।" (परिमल, पृ० २३०)

---

१. बृह० उ० ४, ४, १९।
२. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृ० १०६।

निराला कर्म-योग को प्रेम शब्द द्वारा अभिव्यक्त करते हैं और उसे सेवा-जन्य प्रेम की अभिधा देते हैं। इस प्रेम के सम्बन्ध में निराला कहते हैं—

**"प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है**
**सदा ही निस्सीम भू पर**
**प्रेम की महोर्मि-माला तोड़ देती क्षुद्र ठाट,**
**जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग**
**तृण सम बह जाते हैं।"** (वही, पृ० २१५)

प्रेम का ऐसा व्यापक रूप सम्पूर्ण प्राणी-मात्र के प्रति समानता का भाव दृढबद्ध करने के बाद जागृत होता है, जिस प्रेम-पयोधि में समस्त संसारिक विषय तिनके की भाँति बह जाते हैं। यह प्रेम वस्तुतः लोक-सेवा का प्रेरक है। इससे चित्त की शुद्धि होती है और निर्मल चित्त में ही प्रेम का अंकुर उगता है। यदि चित्त निर्मल नहीं तो वह प्रेम व्यर्थ है, क्योंकि वासनात्मक प्रेम मनुष्य को पशुता की ओर धकेल देता है। (पृ० २३१)

वेदों में तो कर्म को प्रतिष्ठा मिली ही है, उपनिषदों में भी उसका समर्थन किया गया है। ऊपर जिस प्रेम की चर्चा हुई है वह साधक को कर्मयोग की ओर प्रवृत्त करता है। इसी आधार पर निराला लोक-सेवा को मोक्ष की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं। अपने किसी दुःखी भाई के प्रति समवेदना और सहानुभूति प्रदर्शित करने के कारण यदि निराला का अधिवास (मोक्ष) छूटता है तो उन्हें इसकी चिन्ता नहीं—

**"देखा दुखी एक निज भाई**
**दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे**
**झट उमड़ वेदना आई,**
**उसके निकट गया मैं धाय,**
**लगाया उसे गले से हाय।**

× × ×

उसकी अश्रु भरी आँखों पर मेरे करुणांचल का स्पर्श,
करता मेरी प्रगति अनन्त किन्तु तो भी है नहीं विमर्ष।

× × ×

**छूटता है यद्यपि अधिवास**
**किन्तु फिर भी न मुझे कुछ त्रास।"** (वही, पृ० ११८)

निराला की इन पंक्तियों में इनका मानवतावादी और लोकोन्मुखी दृष्टिकोण स्पष्ट प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ भी निराला अध्यात्म की उस विचारधारा का समर्थन नहीं करते हैं जो बुद्ध और शंकर के बाद कर्मों के संन्यास पर आधारित है। वे तो वेद की उस कर्म-पद्धति के पथ का अनुसरण करते हैं जो शताधिक वर्ष-पर्यन्त स्वस्थ

रहकर कर्म करने का उपदेश देती है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः।'[१] उनका समस्त जीवन एक कर्मठ-योधा का जीवन रहा है जिसने व्यावहारिक क्षेत्र में रोगियों की परिचर्या भी की है और अकाल-पीड़ितों के लिए सहयोग भी दिया है। उनकी समवेदना और सहानुभूति इस सीमा तक बढ़ जाती है कि नया से नया तन का वस्त्र भी किसी विपन्न की विपदा को दूर करने के लिए निस्संकोच भाव से दे दिया जाता है। उनकी आध्यात्मिकता लौकिकता से विमुख होकर कल्पना के क्रोड़ में नहीं पलती प्रत्युत जीवन में खुलकर भाग लेती है। इस दृष्टि से देखने पर निराला केवल अध्यात्मवादी दर्शन के पुरस्कर्ता ही नहीं हैं, वरन् वे अशेष मानवतावादी भूमिकाओं पर गए हैं।"[२] उनकी अनामिका की सेवा-प्रारंभ कविता भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

इस प्रकार निराला ने कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि से सम्बन्धित सभी भूमिकाओं पर संचरण किया है और उन सबका समन्वित रूप ही उन्हें अभीष्ट है। उनका यह ज्ञान, कर्म, भक्ति-सम्बन्धी दृष्टिकोण भारतीय वेदान्त (उपनिषदों) की शिक्षा के अतिशय अनुरूप है।

**कर्म का सिद्धान्त**—वैदिक-दर्शन के अनुसार जीवात्मा नित्य, शाश्वत और अविनाशी तत्व है। भौतिक तत्वों से निर्मित शरीर के क्षीण हो जाने पर आत्मा जीर्ण और नष्ट नहीं होती।[3] अतः मृत्यु जीवन का अन्त नहीं प्रत्युत नव-जीवन में प्रविष्ट होने का सिंह-द्वार है। जीवन की अविरल धारा न जाने कब से सतत प्रवहमान होती हुई निरन्तर-वृद्धि को प्राप्त होती जा रही है, मृत्यु तो बीच में सोपान-मात्र है। जब जीव देह के साथ मरता नहीं तब फिर वह जाता कहाँ है? श्रुतियाँ इसका उत्तर देती हैं कि वह अपने द्वारा किए गए कर्मो के अनुसार विभिन्न योनियों में जन्म लेती है। जीवात्मा का वर्तमान स्वरूप वैदिक-दर्शन के अनुसार पूर्व-जन्म के कर्मो के अनुरूप है और उसका भावी जीवन वर्तमान जन्म में किए गए कर्मो द्वारा निश्चित होता है। साथ ही क्रियमाण कर्मो का फल अवश्यंभावी है, उनके फलों को भोगे बिना वह बच नहीं सकता। किए गए कर्म, जिनका फल भोगना अभी शेष है, उस कर्म-समूह को 'भाग्य' अथवा 'प्रारब्ध' अथवा 'अदृष्ट' कहा गया है। कर्मवाद का यह विधान वैदिक-ऋत का ही नैतिक रूप है जो प्राकृतिक जगत् की भाँति सामाजिक जगत् में नियम-बद्धता और व्यवस्था बनाए रखता है। जिस पर पीछे दर्शन और 'प्रसादजी' से सम्बन्धित प्रकरण में यथास्थान प्रकाश डाल आए हैं। वैदिक-श्रुतियाँ उपरोक्त कथन का समर्थन करती हैं। बृह० उ० का कथन है कि—"वह जैसा कर्म करने वाला और जैसे आचरण वाला होता है, वैसा ही हो जाता है! शुभ कर्म करने वाला शुभ होता है।

---

१. यजुर्वेद, ४०, २।
२. नन्ददुलारे वाजपेयी : कवि निराला, पृ० १४८।
३. दे०, कठ० उ० २,१८।

और पापकर्मा पापी···(वह) जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है।"[1] कठोपनिषद् में भी स्पष्ट कहा है—

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथाश्रुतम्॥
(३,२,७)

(जिसका जैसा कर्म होता है अथवा जिसकी जैसी भावना होती है उन्हीं के अनुसार कितने ही जीवात्मा तो नाना प्रकार की जंगमयोनियों को और कितने ही स्थावर-भाव का अनुसरण करते हैं।) निराला भी वैदिक कर्म-सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं वे कहते हैं—

"मैं प्रातः पर्यटनार्थ चला
लौटा, आ पुल पर खड़ा हुआ।
सोचा—'विश्व का नियम निश्चल
जो जैसा उसको वैसा फल
देती यह प्रकृति स्वयं सदया
सोचने को न कुछ रहा नया।" (अनामिका, पृ० २३)

जीवन के मूलबद्ध और दृढ़ संस्कार, जो कर्मों का ही सूक्ष्मरूप हैं, नवीन संसार के जनक बनते हैं। इन्हीं के द्वारा विश्व की अचलता में प्राणों का स्पन्दन प्रारंभ होता है। प्रकृति के गुणों से प्रेरित होने के कारण जीवात्मा कर्म में संयुक्त होता है, पर अहंकार से विमोहित होने के कारण कर्मों का कर्त्ता अपने-आप को मान बैठता है। बस ये ही सकाम कर्म उसके आगामी जीवन के लिए सामग्री तैयार कर देते हैं। इन्हीं के कारण उत्थान और पतन भी दृष्टिगोचर होते हैं, इन्हीं के कारण सभी प्रकार की सुकृतियों (दया, हर्ष, सुख, ज्ञान) और विकृतियों (भय, क्रोध, अभिमान, दुःख, तृष्णा, अज्ञान) से सम्पृक्त रहने के कारण चंचल और अस्थिर रहता है। स्पष्टतः कर्म का चक्र ही संसार का प्रवर्तन कर रहा है। (परिमल, पृ० १०६)।

**मानवैक्य की अनुभूति**—पहले ही कहा जा चुका है कि अद्वैतवाद के सिद्धांत से प्रभावित निराला सामाजिक धरातल पर मानव-मानव की एकता और समानता में विश्वास रखते हैं। जब सभी में वही आत्म-तत्व व्याप्त है तो फिर भेदभाव कैसा, घृणा-द्वेष किससे। सब उसके अपने ही रूप हैं। देश और काल की कृत्रिम सीमाएँ भी मानव-मानव की समानता में व्याघात उत्पन्न नहीं कर सकतीं, ऐसा निराला का विश्वास है। वे इसी विश्वास के बल पर कहते हैं—

"मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय; हो श्वेत कृष्ण अथवा
वह नहीं विलन्न;
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर।" (अनामिका, पृ० १९)

---

१. बृह० उ० ४,४,५।

मानवैक्य के उद्घोषक निराला की उपरोक्त पंक्तियों पर पश्चिम की मानवतावादी दृष्टि का प्रभाव ढूंढना व्यर्थ है। उनका यह दृष्टिकोण शुद्ध वेदान्तिक अध्यात्मवाद पर आधारित है, जहाँ जीव और ब्रह्म तथा जीव और जीव में कोई तात्विक भेद नहीं माना गया है। 'अनामिका' की 'प्रकाश' कविता में निराला ने इसी आधार पर प्रकारान्तर से उल्लेख करते हुए स्पष्ट कहा है कि जिसे चेतन का आभास है वह क्या कभी किसी को दास देख सकता है? कदापि नहीं। (पृ० १८६) निराला यहाँ मानव को दास बनाकर उसके नैतिक शोषण की प्रवृत्ति को प्रश्रय नहीं देते, वे सब की स्वतन्त्रता और समानता का समर्थन करते हैं। उनका यह दृष्टिकोण वेदांत की आत्मवादी विचार-धारा पर प्रतिष्ठित है।

**गीति काव्य**—निराला एक ओर मुक्त छन्द के पुरस्कर्ता हैं जिसमें उन्होंने तुकान्त, अतुकान्त सभी प्रकार की रचनाएँ लिखी है, तो दूसरी ओर वे विद्यापति, सूर, मीरा आदि श्रेष्ठ गीतकारों की श्रेणी में भी आते है। उनकी गीतिका के गीत कविता-कामिनी के कण्ठ में पड़ी हुई गीतों की किसी भी सुन्दर प्रसून माला से कम सुन्दर नहीं हैं। ये सभी गीत परिष्कृत, स्वस्थ और पुष्ट मस्तिष्क की उपज हैं। इन गीतों में बुद्धि, राग और कल्पना-तीनों तत्वों का समुचित समावेश है। काव्य और संगीत का अद्भुत सम्मिश्रण इन गीतों की विशेषता है। दर्शन और सौन्दर्यानुभूति का जैसा सुन्दर उन्मेष इन गीतों में है, वैसा अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। उनका वेदांत दर्शन अनुभूति का विषय बन कर आया है और उनकी मधुर प्रौढ कल्पनाएँ पति-परायण-पत्नी की भाँति भावों की अनुवर्त्तिका होकर व्यक्त हुई है। उनके चित्रों में इतना अधिक प्रकाश है कि पाठक का हृदय उनकी आभा से चमत्कृत हुए बिना नहीं रहता। परोक्ष की रहस्यानुभूति तो उनके समस्त गीतों में अन्तःसलिला की भाँति सर्वत्र प्रवाहित रही है। श्रृंगार के मोहक चित्र भी रहस्य के आकर्षक रंगों से रँग कर ही अभिव्यक्ति पा सके हैं।

सभी रहस्यवादी कवियों व सन्तों की रचनाओं का मुख्य आधार सृष्टि का सृजक सद्रूप ब्रह्म ही रहा है, पर जब वह काव्य के धरातल पर अनुभूति का विषय बनकर आता है तब साहित्य में रहस्यवादी काव्य की प्रतिष्ठा होती है। तब दार्शनिक विचार बुद्धि की अपेक्षा मानस से सम्पृक्त होकर निःसृत होते हैं। हमें निराला की गीतिका का इसी भूमिका पर अध्ययन करना है। निराला के प्रारम्भिक काव्य की विवेचना करते समय हम वैदिक-दर्शन की सापेक्षता में उनकी अध्यात्म और रहस्य-भावना-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का अध्ययन कर आए हैं। वहाँ यह बात स्पष्टतः दिखा आए हैं कि निराला अध्यात्मवादी हैं और उनका अध्यात्मवाद उपनिषदों की अद्वैत-भावना और उससे जुड़ी-मिली अनेक मान्यताओं पर आधारित है। उनका गीति-काव्य भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाता है। अन्तर यदि कुछ देखने को मिलता है तो वह इतना ही कि गीतिका में आकर उनकी आध्यात्मिकता की यत्किंचित् बौद्धिक शुष्कता हृदय का संयोग पाकर रस-सिक्त हो गई है, साथ ही अभिव्यंजना को मधुरता और कोमलता से समाविष्ट है।

कामना प्रकट नहीं करते। वे तो उस किरण के इच्छुक हैं जो शुद्ध और पवित्र है। स्वयं निराला इस आत्म-तत्व को ज्योतिर्मय कह ही आए हैं, वे इसी तत्व की प्राप्ति की कामना करते हैं।

**जगत्**—वैदिक-दर्शन के अनुसार यह चराचर जगत् परम तत्व से उद्भूत है और उसी पर आश्रित भी है। वह परमतत्व सभी पदार्थों में व्याप्त है—ऐसा भी कहा गया है। पर जगत् का बाह्य रूप जीवात्मा की दृष्टि को जगत् के पर्दे के पीछे छिपे परमतत्व तक पहुँचने में बाधा उत्पन्न करता है। यह अपने बाह्य-सौन्दर्य से जीव की अविद्या माया-मयरूप में उलझाए रखता है। इस प्रकार जगत् के सम्बन्ध में उपनिषदों में दो दृष्टिकोण आए हैं—(१) जगत् की सभी वस्तुएँ उसी का परिचय देती हैं, क्योंकि सभी रूपों में वही अरूप समाया हुआ है। इसलिए यह जगत् सत्य है। (२) जगत् की सभी वस्तुएँ अपने मोहक रूप से जीवात्मा को भ्रम में डालकर भ्रमित करती हैं इसलिए जगत् भ्रममय, मायामय और अविद्या-मय कहा गया है। पहली दृष्टि भावात्मक है और दूसरी दृष्टि ज्ञानात्मक। दोनों दृष्टिकोणों का अपनी-अपनी दृष्टि से विशेष महत्त्व है। जगत्-सम्बन्धी ये दोनों ही दृष्टियाँ उपनिषद्-सम्मत हैं। राम कृष्णदेव ने भी जगत् को दोनों दृष्टिकोणों से देखा है। एक स्थल पर वे कहते हैं—"ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है।"[1] एक अन्य स्थल पर वे कहते हैं—"मैं नित्यता और लीला दोनों मानता हूँ, संसार को माया कहकर मैं उसका अस्तित्व लोप नहीं करता।"[2] प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार जगत् जीवात्मा को अपने रूप-रंग के जाल में फंसाए रखता है, द्वैत भाव उत्पन्न करता है, स्वार्थ और अहंकार के बीज अंकुरित करता है, उसका अविद्यामय स्वरूप जीव को परमात्मा के दर्शन करने में बाधा उपस्थित करता है, इस दृष्टि से उसे मिथ्या कहा गया है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार वह तत्व सबमें समाया हुआ है, सभी में उस अरूप का आभास मिलता है, अतः उसे माया कह कर उसके अस्तित्व का लोप नहीं किया गया।

निराला ने भी जगत् को इन दोनों दृष्टि-विन्दुओं से देखा है और उन दोनों दृष्टिकोणों के अनुरूप उनके काव्य में अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। जहाँ वे ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से जगत् के सम्बन्ध में चिन्तन करते हैं तो उसे धोखा कहते हैं—

> **'रे, कुछ न हुआ, तो क्या ?**
> **जग धोका, तो रो क्या ?**
> **सब छाया से छाया**
> **नभ नीला दिखलाया,** (वही, पृ० ५४)
> **व्यर्थ हुआ जीवन यह भार,**

---

१. श्रीरामकृष्णवचनामृत, भाग १, पृष्ठ ३५।
२. वही, भाग २, पृष्ठ ५४४।

देखो संसार, वस्तु
वस्तुतः असार,
भ्रम में जो दिया, ज्ञान में ले लो तुम गिन गिन।'
(वही, पृ० ५६)

यहाँ शंकर के जगत्-सम्वन्धी दृष्टिकोण का प्रभाव भी देखा जा सकता है। पर जब वे भावात्मक दृष्टिकोण से जगत् पर दृष्टि-निक्षेप करते हैं तो उन्हें प्रकृति में उसी अपरोक्ष की झाँकी देखने को मिलती है—

"रहो आज मन में,
वह शोभा जो देखी थी वन में।
उमड़े ऊपर नव घन, घूम-घूम अम्बर,
नीचे लहराता वन, हरित श्याम सागर,
× × ×
गीत-मुखर तुम नव-स्वर विद्युत ज्यों घन में।"
(वही, पृ० १०१)

'गाने दो प्रिय, मुझे भूल कर अपना अपना पन-अपार जग सुन्दर' (पृ० १३) में भी कवि इस चराचर जगत् में उसी अरूप की छाया देखता है।

**ब्रह्म का निवास: हृदय-गुहा**—उपनिषदों में परम-तत्त्व का निवास कहीं अन्यत्र न बताकर हृदय-गुहा में बताया है—'आत्मा गुहायाँ निहितोऽस्यजन्तोः।'[1] निराला ने इस तथ्य को निम्न प्रकार से कहा है—

"पास ही रे हीरे की खान
खोजता कहाँ और नादान ?
कहीं भी नहीं सत्य का रूप,
अखिल जग एक अंध-तम-कूप,
ऊर्मि-घूर्णित रे, मृत्यु महान्
खोजता कहाँ यहाँ नादान !" (वही, पृ० २७)

हीरे की खान अर्थात् परमत्तत्व का वास-स्थान समीप ही है, वह मनुष्य की हृदय-गुहा में रहता है। मूर्ख अज्ञानी उसे इस मृत्यु का ग्रास बन जाने वाले अविद्यामय संसार में खोजता फिरता है। पर वह यहाँ कहाँ। कवीर ने भी यही कहा था—'कस्तूरी कुण्डल वसै मृग ढूँढै वन माँहि।' इस प्रपंच का समस्त विस्तार मनुष्य में निहित आत्म-तत्व द्वारा ही तो सम्पन्न हो रहा है। अतः निराला कहते हैं—

"तुझी में सकल सृष्टि की शान
खोजता और कहाँ नादान। (वही, पृ० २८)

पर उसे वाहर ढूंढने के प्रयत्न में वह 'अविद्या' से ग्रस्त हो जाता है और फिर अपने

---

१. श्वे० उ० ३,२०।

ही द्वारा निर्मित माया-जाल में ऐसा उलझ जाता है कि उससे निकलने के लिए विह्वल होकर सहायतार्थ किसी अन्य को पुकारता है। वह उस सत्य को भूल जाता है कि संसार का सारा आदान-प्रदान इसी हृदयस्थ आत्म-तत्व की सत्ता से सम्पन्न हो रहा है फलतः कष्ट भोगता है (पृ० २८)। वस्तुतः आत्म-तत्व अमल और अपार है। वह एक ऐसी स्पर्श-मणि है जिसका जड़ से सम्पर्क होने पर रूपात्मक संसार का प्रसार होने लगता है, वह व्यष्टि में सकल सृष्टि के रूप में विद्यमान है, उसे अन्यत्र खोजने की आवश्यकता ही नहीं—

"स्पर्श-मणि तू ही, अमल, अपार
रूप का फैला पारावार,
व्यष्टि में सकल सृष्टि का सार
× × ×
खोजता कहाँ उसे नादान।" (वही, पृ० २९)

'लखोगे, उर-कुंज में निज कंज पर निर्भर' (वही, पृ० ४८) में भी निराला ने इसी तथ्य को व्यक्त किया है।

**द्वैत में अद्वैत**—वैदिक-तत्व-चिन्तन के अनुसार परमतत्व एक ही है और वही सब में ओत-प्रोत है। उसी की सत्ता से सब सत्तावान हैं। वह परमतत्व अद्वितीय है। यह बात पीछे श्रुतियों का प्रमाण देकर कह आए हैं अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। निराला उपरोक्त वैदिक-चिन्तन से शत-प्रतिशत सहमत हैं। अनेक में एक की व्याप्ति का अति सुन्दर उल्लेख निराला के निम्न गीत में मिलता है—

"जग का एक देखा तार।
कण्ठ अगणित, देह सप्तक,
मधुर स्वर झंकार।
बहु सुमन, बहु रंग निर्मित एक सुन्दर हार,
एक ही कर से गुंथा उर एक शोभा-भार।
गंध-शत अरविन्द-नन्दन विश्व-वन्दन सार,
अखिल उर-रंजन निरंजन एक अनिल उदार।
सतत सत्य, अनादि निर्मल सकल-सुख-विस्तार,
अयुत अधरों में सुसंचित एक किंचित प्यार।
तत्त्व-नभ-तम में सकल भ्रम शेष, श्रम-निस्तार।
अलक-मण्डल में यथा मुख-चन्द्र निरलंकार।" (वही, पृ० २४)

समस्त संसार की वन्दना का सार, सभी के अन्तर में रमण करने वाला, वायु की भाँति उदार और व्रणहीन, ब्रह्म, जो श्रुतियों में सतत सत्य, अनादि, निर्मल आदि लक्षणों से अभिहित किया गया है, एक ऐसा सूत्र है जो समस्त भूतों को एक तारतम्य में बाँधे हुए है, जिसकी विद्यमानता से अगणित कण्ठों से मधुर स्वर झंकृत हो रहा है। सम्पूर्ण द्वैत उसी एक अद्वितीय के अस्तित्व से ही सत्तावान होकर विभिन्न रूप,

रंग और आकार ग्रहण किए हुए। गीता में भी श्रीकृष्ण ने यही कहा है—

**"मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥"** (७,७)

हे धनंजय ! मेरे सिवाय किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में सूत्र के मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। यही बात निराला ने परिमल की 'करण' कविता की प्रारम्भिक पंक्तियों में भी व्यक्त की है।

**रहस्य-भावना**—रहस्य-भावना का आरम्भ द्वैत से होता है और उसकी चरम परिणति अद्वैत में होती है। ब्रह्म की सत्ता में विश्वास रहस्य-भावना का प्रथम चरण है। जिज्ञासा, उत्सुकता, विरह-मिलन की सतरंगी अनुभूतियाँ रहस्य-भावना के आगे के चरण हैं जिसमें प्रभु के प्रति विनय, निवेदन, आत्म-समर्पण और उपालम्भ आदि से सम्बन्धित अभिव्यक्तियों का भी समान महत्त्व है। आत्मा के परमात्मा के प्रति प्रणय-निवेदन में न्यूनाधिक रूप से उपरोक्त सभी दशाएँ आ जाती हैं।

निराला छाया-युग के प्रमुख रहस्यवादियों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं उनके रहस्य-काव्य में आस्था, मिलन, आत्मानुभूति और समर्पण चित्र जितने अधिक मिलेंगे उतने जिज्ञासा और विरह के नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि निराला ने अपनी काव्य-साधना की श्रीगणेश ही अद्वैत के परिवेश में किया था जहाँ आत्मा-परमात्मा की एकता पर आरम्भ से ही बल दिया जाता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म की सत्ता में संशय और जिज्ञासा के लिए स्थान होता ही नहीं। तदपि रहस्य से सम्बन्धित उपरोक्त सभी स्थितियाँ उनके काव्य में विद्यमान हैं।

**परमसत्ता में विश्वास**—कठोपनिषद् ६,१२ में कहा है 'कि वह परमसत्ता अवश्य है' इस प्रकार कहने वाले के अतिरिक्त दूसरे को प्राप्त नहीं हो सकता। "नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा, अस्तीतिब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।" वह आस्तिकता और प्रगाढ आस्था से ही उपलब्ध होता है। निराला प्रारम्भ से ही उस पर-सत्ता पर प्रगाढ आस्था रखते हैं। गीतिका की निम्न पंक्तियाँ उस सत्ता पर उनकी निष्ठा के भाव को द्योतित करती हैं—

**"लिखती सब, कहते,**
× × ×
**होते यदि तुम नहीं**
**लिखती मैं क्यों कहो ?"** (वही, पृ० २३)

वे को यहाँ तक विश्वास है कि उसकी समस्त क्रियाओं का प्रेरक तत्व भी वही है—

**"मैं लिखती या, बहती**
**स्रोत पर तुम्हारे, ही रहती** (वही)

ग्री कवियों को छोड़कर हिन्दी के सभी रहस्यवादी कवियों ने अपनी आत्मा को ी-रूप में ही स्वीकार किया है। कबीर आदि सन्त-कवियों ने तो अपने को स्पष्टतः ाम की बहुरिया' कहकर आत्मा के स्त्रीत्व को स्वीकार किया है। मीरा और

महादेवी आदि कवयित्रियाँ तो सौभाग्य से नारियाँ हैं ही, अतः उनका अपनी आत्मा का परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण सहज और स्वाभाविक था। पर कबीर, प्रसाद, निराला आदि पुरुष कवियों द्वारा आत्मा को स्त्री-रूप में ग्रहण करना एक विशिष्ट बात है। पर आत्मा को नारी-रूप में चित्रित करने का भी वैदिक-आधार है अथर्ववेद १०,८,२६ में उसे स्पष्टतः स्त्रीलिंगी रूप में वर्णित किया है—इयं कल्याण्यजरा मूर्तस्यामृतागृहे—(यह कल्याणी, कभी जीर्ण न होने वाली और मरणशील शरीर में अमृता नित्य है)। इस प्रकार वैदिक-चिन्तन के आधार पर आत्मा का नारी-रूप में ग्रहण भारतीय दार्शनिक परम्परा के अनुरूप है। वल्लभ-सम्प्रदाय में तो केवल कृष्ण ही पुरुष माने जाते हैं और शेष तो नारी-रूप ही है। निराला पर इस प्रकार प्राचीन वैदिक परम्परा का स्पष्ट प्रभाव विद्यमान है। वे अपनी अधिकाँश रहस्यवादी कविताओं में आत्मा को नारी-रूप में चित्रित करते हैं जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है।

**जिज्ञासा**—रहस्य-भावना के अन्तर्गत ब्रह्म के प्रति बड़ी अनूठी जिज्ञासाएँ वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती हैं। अथर्ववेद के दशम काण्ड 'स्कम्भ' को सम्बोधित ८वाँ सूक्त पूरा का पूरा जिज्ञासात्मक है। ऋग्वेद और उपनिषदों में भी बड़ी मनोहर जिज्ञासाएँ आई हैं जिनका उल्लेख नीचे हो चुका है।[1] यह प्रभाव छायावादी कवियों पर भी विद्यमान है। निराला के काव्य में भी यत्र-तत्र उनकी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इस दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> **हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी ?**
> **हुई ज्योत्स्नामयी अखिल मायापुरी,**
> **लीन स्वर-सलिल में मैं बन रही मीन।**
> **स्पष्ट ध्वनि आ, धनि सजि यामिनी भली,**
> **मन्द-पद आ बन्द कंज उर की गली।"** (वही, पृ० १०४)

कवि प्रश्न करता है कि वह कौन है ? जिसने हृदय में आकर बांसुरी का ऐसा मोहक स्वर छेड़ दिया कि अन्तर की माया-नगरी एक दिव्य प्रकाश से उज्ज्वल हो उठी और मन जल में मछली की भाँति उस मोहक स्वर-लहरी में लीन हो गया, उसकी स्पष्ट ध्वनि ने ऐसा चमत्कारी परिवर्तन किया कि अविद्या की रात्रि विद्या के दिवस में परिवर्तित हो गई और हृदय-प्रदेश की समस्त ऋतु ही बदल गई। कवि की जिज्ञासा काव्य का कितना मोहक लिबास पहनकर आई है कि देखते ही बनता है।

> **"खुल गया रे अब अपना पन,**
> **रंग गया जो वह कौन सुमन ?**
> × × ×
> **सहस्रों के सुख, दुख अनुराग**
> **पिरोए हुए एक ही ताग**

---

१. देखिए, इसी शोध-प्रबन्ध का पृ० ८७ और पृ० ५३।

कौन यह मधुर मौन मख याग
खुला जो, रहा एक जीवन ?" (वही, पृ० ८७)

इन पंक्तियों में भी कवि ने उस सत्ता के विषय में जिज्ञासा की है जिसके स्पर्श से जीवन का अपनापन खुल जाता है, कवि पूछता है वह कौन तत्व है जिसने मन को रंगों से रंग दिया है जिससे सारा भण्डार भरा दिखाई देता है, कहीं भी रिक्तता प्रतीत नहीं होती और जीवन के सुख-दुःख एक ही अनुराग-ताग में पिरोए-से प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार 'चाहते हो किसको सुन्दर' गीत में भी सुन्दर जिज्ञासाएँ आई हैं। 'वह रूप जगा उर में बजी मधुर वीणा किस सुर में ?' पंक्ति से आरम्भ होने वाले गीत में कवि ने अपने हृदय की उस अवस्था का वर्णन किया है जब उसे प्रथम बार अज्ञात-रूप की अनुभूति हुई, पर उस अज्ञात-रूप से परिचित होने के कारण अन्तर्मन उसका ठीक-ठीक निश्चय नहीं कर पाया कि वस्तुतः वह किसका रूप था पर शनैः-शनैः चेतना में उठते हुए उसके रूप से परिचय मिलने पर निश्चय होने लगता है और कवि कह उठता है—

वे ही क्या, मेरे उर की लता
हिल उठती जिन्हें देख उर में—
वह रूप जगा सुर में।" (वही, पृष्ठ ३७)

उस अज्ञात प्रियतम का, उस अनुरूप का हृदय में रूप जगते ही, अन्तरात्मा को उसकी अनुभूति होते ही हृदय की वीणा का स्वर बदल जाता है, मन और आत्म ऊर्ध्वमुखी होने लगते हैं और चेतना-रूपी शतदल की सभी पंखुरियाँ उसके कर-स्पर्श से खिल उठती हैं (वही, पृ० ३७)।

**मिलन**—जब वह प्रिय हृदय के मधुपुर में जब-तब आने-जाने लगता है तं शनैः-शनैः परस्पर परिचय बढ़ता है और एक क्षण वह आता है जब परिचय कं प्रगाढ़ता प्रेम में परिवर्तित हो जाती है। आत्मा परमात्मा के निर्मल अगाध प्यार सागर में डूब जाती है और जब उसकी गति अज्ञात प्रियतम की ओर प्रसरित हो लगती है तब यह संसार, इसके माया-मोह, इसका रूपाकर्षण, इसकी समस्त छलन वह जाती है, सब कुछ पीछे छूट जाता है, जीत और हार का भी कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। आत्मा आध्यात्मिक-प्रेम की उर्मियों में ऊब-डूबने लगती है, आत्मा व इस स्थिति का अंकन निराला की निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"प्यार करती हूं अलि, इसलिए मुझे भी करते हैं वे प्यार।
वह गई हूं अजान की ओर, तभी यह वह जाता संसार।
रुके नहीं धनि, चरण घाट पर,
देखा मैंने मरण बाट पर
टूट गए सब आठ ठाठ, घर
छूट गया परिवार। (वही, पृ० ३८)

× × ×

**नहीं याद कुछ कि क्या किया था**
**हुई जीत या हार।"**

**तल्लीनता**—निराला ने अज्ञात प्रियतम के दर्शन चिन्मयी परा-शक्ति के रूप में भी किए हैं, वह ज्योतिर्मय वस्त्र धारण किए हुए हैं तथा गगन, घन-विटपी, सुमन, नक्षत्र आदि सभी पदार्थों से उसी की आभा फूट रही है। ऐसी उस पराशक्ति के ध्यान में लीन होते ही समस्त सांसारिक अज्ञान विलीन हो गया—

**"रहा तेरा ध्यान,**
**जग का गया सब अज्ञान।**
**गगन घन-विटपी सुमन नक्षत्र-ग्रह नव ज्ञान।**
**बीच में तू हंस रही ज्योत्स्ना वसन परिधान॥"** (वही, पृ० ६४)

आत्मा और परमात्मा के मिलन की झाँकी माता और पुत्र के रूपक द्वारा "प्रातः तव द्वार पर आया, जननि नैश अन्ध पथ पार कर" इस पंक्ति से आरम्भ होने वाले गीत में हुई है। कवि मार्ग की बाधाओं का वर्णन करते हुए कहता है कि 'रात्रि से भरे हुए मार्ग को पार कर पुत्र प्रभात में जननि के द्वार पर पहुँच गया। प्रभात में माता के दर्शन हो जाने पर मार्ग के कंटक और पत्थर कमल जैसे कोमल प्रतीत हुए; रात्रि-भर माता की स्मृति में अपने आप को डुबोए हुए प्रातः जब उनके द्वार पर गया तो दर्शनों से विस्मय भी हुआ और प्रसन्नता भी। मलिन-मन, भीरु, तेजहत निशाचर प्रभात में माता के दर्शनों से उत्पन्न आनन्द की स्थिति को क्या समझ सकेंगे जो उन चरणों की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ने का उपक्रम करते हैं वे ही उनके अमर-पद को प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ 'जननि' शब्द परम सत्ता के लिए प्रयुक्त हुआ है, नैश अन्ध पथ, अज्ञानता से भरे संसार का प्रतीक है। उगल कंटक-मार्ग की बाधाएँ हैं जिन्हें परमेश्वर के पथ पर चलने वाली जीवात्मा को पार करनी होती है। उसके दर्शन कर लेने पर अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है, उस अनुभूति को मलिन-मन, तेजहत आत्माएँ प्राप्त नहीं कर सकतीं। यह सम्पूर्ण वर्णन उपनिषद्-सम्मत है

निराला के काव्य में प्रतीक्षा, अभिसार, विरह और निवेदन के चित्र भी आए हैं। प्रतीक्षा करती हुई आत्मारूपी प्रेयसी की परमात्मा रूप प्रियतम से मनुहार और आत्मसमर्पण का भाव 'कब से मैं पथ मैं देख रही, प्रिय', गीत में वर्णित हुआ है। कवि की आत्मा 'असमय समय न करो, खड़ी, प्रिय!' कहकर अपने प्रियतम से अब और अधिक विलम्ब न करने के लिए कातर स्वर में निवेदन करती है, क्योंकि वह अपने जीवन-धन के प्रभा-तन पर पहले ही स्वयं को समर्पित कर चुकी है (पृ० ४१)।

**अभिसार**—प्रतीक्षा करते-करते जब साधिका-आत्मा निराश हो गई तो शृंगार से सज्जित हो अपने प्रियतम से मिलने के लिए चल पड़ी, पर अपनी लज्जा में ही स्वयं हार रही—

**"मौन रही हार,**
**प्रिय-पथ पर चलती**
**सब कहते शृंगार।"** (वही, पृ० ८

वह आभूषणों के बजने से लज्जित होकर लौट पड़ती है, लौट पड़ने पर उसकी पायल और अधिक शब्दायमान हो उठती है ताकि प्रिय को उसके लौटने की बात ज्ञात हो जाए। अब खड़े होते ही उसके हृदय के तार झंकृत होने लगे। आत्मारूपी अभिसारिका सोचती है, यदि प्रिय ने अलंकारों के शब्द को सुन लिया तो अब उनके चरणों को छोड़कर अन्यत्र जाने का प्रश्न उठता ही नहीं—

**"शब्द सुना हो तो अब**
**लौट कहाँ जाऊँ**
**उन चरणों को छोड़, और**
**शरण कहाँ पाऊँ ?"** (वही, पृ० ८)

लौकिक-शृंगार के द्वारा अलौकिक-मिलन का कितना हृदयग्राही वर्णन है। प्रिय से क्षणिक मिलन के बाद उसके चले जाने की शंका प्रेयसी के मन में विरह का भाव जगा देती है—'हुआ प्रात, प्रियतम, तुम जाओगे चले ?' (पृ० ९६) में यही शंका व्यक्त की गई है। और 'प्राण-धन को स्मरण करते, नयन झरते-नयन झरते' (पृ० ४७) में परमात्मा का स्मरण करते ही कवि की आत्मा कातर क्रन्दन कर उठती है, यही दशा इस गीत में व्यक्त की गई है। एक अन्य गीत में विरह-विधुरा आत्मा परमात्मा से उपालम्भ करती हुई कहती है, यदि तुम्हारे दर्शनों के अभाव में विरहाधिक्य से अपना अस्तित्व बनाए रख सकने में समर्थ न हो सकी तो इस संसार का सारा मंगल-कलरव विलीन हो जायेगा, ऐसी आशंका प्रकट करती है —

**"मैं न रहूंगी जब, सूना होगा जग,**
**समझोगे तब, यह मंगल-कलरव सब**
**था मेरे ही स्वर से सुन्दर जगमग,**
**चला गया सब साथ।"** (पृ० ३०)

उपरोक्त पंक्तियों में दार्शनिक-तथ्य अनुस्यूत है। सारे इस दृशयमान संसार का कलरव और जग की विविधरूपता एक आत्म-सत्ता के बल पर ही तो आश्रित है, वह सत्ता जड़-पदार्थ के सम्पर्क से पृथक् होकर अमूर्त सूक्ष्म रूप ग्रहण कर ले तो इस विश्व के उपवन का सारा सौन्दर्य ही समाप्त हो जाए। उपनिषदों में स्पष्ट कहा है कि 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' सद्रूप आत्मा के आधार पर ही इस समस्त विश्व की सत्ता है। यदि वह न हो तो यह प्रपंच अस्तित्व में ही न आ सके। अतः आत्मा के आविर्भाव के साथ ही यह जग भी है, इसके विलीन होते ही संसार भी विलीन हो जाता है। इस प्रकार कवि की आत्मा प्रकारान्तर से प्रभु के दर्शनों की प्रबल आकांक्षा प्रकट करती है ताकि वह अपने अस्तित्व को बनाए रख सके। विरह-विधुरा आत्मा की यह उक्ति कथन की वक्रता के सौन्दर्य को लिए हुए है जिसमें वैदिक-चिन्तन के तथ्य को सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है।[1]

---

१. छा० उ० ६, २, १।

निराला के काव्य में वैदिक-कवियों की भाँति विनय और निवेदन से सम्बन्धित अनेक सुन्दर गीत भी उपलब्ध होते हैं। कवि कहता है—

"तुम्हें खोजता मैं निर्जन में
भटकूं जब घन जीवन-वन में
भेद गहन तम मनो गगन में
ज्योतिर्मयि उतरो।

× × ×

ज्योत्स्नामयि, तम को किरणासव
पिला, मिला उर लो।" (पृ० १८)

जिस प्रकार वैदिक ऋषियों ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कहकर अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलने के लिए आकांक्षा प्रकट की थी, उसी प्रकार निराला भी तम को, किरणासव अर्थात् प्रकाश-रूपी अमृत पिलाकर उसे रूपान्तरित करने के लिए निवेदन करते हैं ताकि दोनों के अविद्या से विच्छिन्न हृदय पुनः मिलकर एकरस हो जायें।

**उपनिषदों का अविद्या तत्व**—उपनिषदों में द्वैतभाव को अविद्या कहा है। वहाँ विद्या से अविद्या का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—

"दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसंमन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धे नैव नीयमाना यथान्धाः॥"[1]

(ये अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देने वाले हैं तथा परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। तुम (नचिकेता) को मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूँ क्योंकि तुम को बहुत से भोग नहीं लुभा सके। अविद्या के भीतर स्थिर होकर भी स्वयं को बुद्धिमान् और विद्वान् मानने वाले वे मूर्ख लोग नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए, ठीक उसी प्रकार ठोकर खाते हुए भटकते रहते हैं जैसे अन्धे मनुष्य के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे। अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं।) यमराज के इस कथन से स्पष्ट है कि भोग में लिप्त जीवात्माओं को अविद्या से ग्रस्त कहा गया है। जीवात्मा की यह स्थिति भेद-दर्शन पर आधारित है और यह भेद-बुद्धि नाना कष्टों की जननी है। इस प्रकार व्यावहारिक स्थिति में जीवात्मा अविद्याग्रस्त रहने के कारण अनेक कष्ट उठाता है और इसके प्रभाव से जीवन में द्वन्द्व और कोलाहल निरन्तर बढ़ता रहता है, जीवन की सच्ची शांति जैसे लुट-सी जाती है, शरीर शक्तिहीन होकर निश्चल हो जाता है। इसी अविद्या के उत्पात का चित्रण निराला की निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

---

१. कठोपनिषद् १, २, ४-५।

"बढ़ा भेद सुख छेदन—
तम रे जागर-भेदन,
आये वे निर्वेदन
दिशि दिशि से निशि के ठग ।
उठा आज कोलाहल,
गया लुट सकल सम्बल,
शक्ति हीन तन निश्चल,
रहित रक्त से रग-रग ।" (परिमल, पृ० ८१)

यह भेद-दर्शन, जो जीवात्मा के अविद्याजनित अंधकार पर आधारित है, मनुष्य की स्वयं की अपनी देन है, इसके लिए वही उत्तरदायी है, क्योंकि उसने ज्ञान-प्रकाश आने के जितने भी द्वार हैं उन सब को बन्द कर रखा है। ऐसी स्थिति में अविद्या-जनित अंधकार कैसे दूर हो—

"कर लिए बन्द तूने अपार
उर के सौरभ के सरण द्वार,
है तभी मरण रे अन्धकार
घेरता तुझे आ क्षण-क्षण ।" (वही, पृ० ५३)

अतः द्वैतावस्था से ऊपर उठने के लिए उपनिषदें 'अविद्या' से मुक्त होने की आवश्यकता पर बल देती हैं। अतः निराला भी इस अवस्था से मुक्त होने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि 'कलि के आत्मा को सीमित करने वाले सभी बन्धन टूट जायें, पवित्रता की गन्ध निर्मुक्त होकर बहने लगे, चेतना के उच्च शिखर से प्रकाश की रुद्ध निर्झर-धारा झरने लगे, शून्य रन्ध्रों में मधुरता का कलरव परिपूरित हो जाए, प्रकाश की किरणें जीवन में व्याप्त तिमिर के तोम को छिन्न-भिन्न कर दें।'

"टूटे सकल बन्ध
कलि के, दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गंध।
रुद्ध जो धार रे
शिखर निर्झर झरे
मधुर कलरव भरे
शून्य शत शत रन्ध्र ।
रश्मि ऋजु खींच दें
चित्र शत रंग के,
वर्ण-जीवन फले,
जागे तिमिर अन्ध ।" (परिमल, पृ० ७५)

निराला की इन सभी प्रार्थनाओं के पीछे दर्शन का प्रौढ चिन्तन अनुस्यूत है जो काव्य के धरातल पर विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठित हुआ है। सीमित बन्धनों का टूट— पवित्रता की गन्ध का प्रवाहित होना, चेतना के उच्च शिखर से प्रकाश का

निराला के काव्य में वैदिक-कवियों की भाँति विनय और निवेदन से सम्बन्धित अनेक सुन्दर गीत भी उपलब्ध होते हैं। कवि कहता है—

"तुम्हें खोजता मैं निर्जन में
भटकूं जब घन जीवन-वन में
भेद गहन तम मनो गगन में
ज्योतिर्मयि उतरो।

× × ×

ज्योत्स्नामयि, तम को किरणासव
पिला, मिला उर लो।" (पृ० १८)

जिस प्रकार वैदिक ऋषियों ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' कहकर अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलने के लिए आकांक्षा प्रकट की थी, उसी प्रकार निराला भी तम को, किरणासव अर्थात् प्रकाश-रूपी अमृत पिलाकर उसे रूपान्तरित करने के लिए निवेदन करते हैं ताकि दोनों के अविद्या से विच्छिन्न हृदय पुनः मिलकर एकरस हो जायें।

**उपनिषदों का अविद्या तत्व**—उपनिषदों में द्वैतभाव को अविद्या कहा है। वहाँ विद्या से अविद्या का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है—

"दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसंमन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धे नैव नीयमाना यथान्धाः॥"[1]

(ये अविद्या और विद्या नाम से प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देने वाले हैं तथा परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। तुम (नचिकेता) को मैं विद्या का ही अभिलाषी मानता हूँ क्योंकि तुम को बहुत से भोग नहीं लुभा सके। अविद्या के भीतर स्थिर होकर भी स्वयं को बुद्धिमान् और विद्वान् मानने वाले वे मूर्ख लोग नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए, ठीक उसी प्रकार ठोकर खाते हुए भटकते रहते हैं जैसे अन्धे मनुष्य के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे। अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं।) यमराज के इस कथन से स्पष्ट है कि भोग में लिप्त जीवात्माओं को अविद्या से ग्रस्त कहा गया है। जीवात्मा की यह स्थिति भेद-दर्शन पर आधारित है और यह भेद-बुद्धि नाना कष्टों की जननी है। इस प्रकार व्यावहारिक स्थिति में जीवात्मा अविद्याग्रस्त रहने के कारण अनेक कष्ट उठाता है और इसके प्रभाव से जीवन में द्वन्द्व और कोलाहल निरन्तर बढ़ता रहता है, जीवन की सच्ची शांति जैसे लुट-सी जाती है, शरीर शक्तिहीन होकर निश्चल हो जाता है। इसी अविद्या के उत्पात का चित्रण निराला की निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

---

१. कठोपनिषद् १, २, ४-५।

"बढ़ा भेद सुख छेदन—
तम रे जागर-भेदन,
आये वे निर्वेदन
दिशि दिशि से निशि के ठग।
उठा आज कोलाहल,
गया लुट सकल सम्बल,
शक्ति हीन तन निश्चल,
रहित रक्त से रग-रग।" (परिमल, पृ० ८१)

यह भेद-दर्शन, जो जीवात्मा के अविद्याजनित अंधकार पर आधारित है, मनुष्य की स्वयं की अपनी देन है, इसके लिए वही उत्तरदायी है, क्योंकि उसने ज्ञान-प्रकाश आने के जितने भी द्वार हैं उन सब को बन्द कर रखा है। ऐसी स्थिति में अविद्या-जनित अंधकार कैसे दूर हो—

"कर लिए बन्द तूने अपार
उर के सौरभ के सरण द्वार,
हैं तभी मरण रे अन्धकार
घेरता तुझे आ क्षण-क्षण।" (वही, पृ० ५३)

अतः द्वैतावस्था से ऊपर उठने के लिए उपनिषदें 'अविद्या' से मुक्त होने की आवश्यकता पर बल देती हैं। अतः निराला भी इस अवस्था से मुक्त होने के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि 'कलि के आत्मा को सीमित करने वाले सभी बन्धन टूट जायें, पवित्रता की गन्ध निर्मुक्त होकर बहने लगे, चेतना के उच्च शिखर से प्रकाश की रुद्ध निर्झर-धारा झरने लगे, शून्य रन्ध्रों में मधुरता का कलरव परिपूरित हो जाए, प्रकाश की किरणें जीवन में व्याप्त तिमिर के तोम को छिन्न-भिन्न कर दें।'

"टूटे सकल बन्ध
कलि के, दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गंध।
रुद्ध जो धार रे
शिखर निर्झर झरे
मधुर कलरव भरे
शून्य शत शत रन्ध्र।
रश्मि ऋजु खींच दें
चित्र शत रंग के,
वर्ण-जीवन फले,
जागे तिमिर अन्ध।" (परिमल, पृ० ७५)

[नि]राला की इन सभी प्रार्थनाओं के पीछे दर्शन का प्रौढ चिन्तन अनुस्यूत है जो [का]व्य के धरातल पर विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठित हुआ है। सीमित बन्धनों का टूट[ना], पवित्रता की गन्ध का प्रवाहित होना, चेतना के उच्च शिखर से प्रकाश का

पत्नी पर अत्यधिक आसक्त थे। उनकी यह आसक्ति पत्नी की खीझ का कारण बनी। उस खिन्नावस्था में रत्नावली के मुख से जो कटु शब्द तुलसी के प्रति निकले उन शब्दों ने तुलसी के जीवन की दिशा को जो मोड़ दिया वह हिन्दी के पाठकों से छिपा नहीं है। वे राम के सर्वाधिक प्रिय भक्त बने। निराला के 'तुलसीदास' की लम्बी कविता इसी नींव पर आधारित है। कवि के 'तुलसीदास' की विशिष्टता इस दिशा में अप्रतिम है कि उन्होंने तुलसी के मानस-जगत् में उठने वाली वृत्तियों के घात-प्रतिघात का ऐसा सूक्ष्म अंकन किया है जो एक साथ मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक एवं दार्शनिक भूमिकाओं को स्पर्श करता है। आकार में छोटा होते हुए भी (केवल १०० पद) ऐसा काव्य हिन्दी में दुर्लभ ही है, और अपने प्रकार का अकेला काव्य है।

'तुलसीदास' के आरम्भ के सात पद-बन्धों में निराला ने मुगल-साम्राज्य में भारत की सांस्कृतिक अधोगति का चित्र प्रस्तुत किया है। इसी वातावरण में तुलसी का जन्म होता है। एक दिन वे अपने मित्रों के साथ चित्रकूट घूमने जाते हैं। वहाँ उन्हें प्रकृति के दर्शन से यह अनुभूति होती है कि चेतन के स्पर्शाभाव से सारा भारत जड़वत् हो गया। वहाँ उन्हें उस सत्य का आभास होता है जो मायाच्छन्न है। इस संकेत के मिलते ही तुलसीदास का मन ऊर्ध्व-मुखी होकर मनोगमन के विभिन्न स्तरों को पार करता हुआ एक ऐसे स्तर पर आकर ठहर जाता है जहाँ से वे भारतीय संस्कृति के पतन का चित्र स्पष्टतः देख लेते हैं। वे देखते हैं कि मुस्लिम-संस्कृति लहर की भाँति भारतीय-संस्कृति को आक्रांत किए हुए है। इसी विदेशी सभ्यता की लहर के ऊपर वह आलोकमय सत्य का लोक है जो इस समय हिन्दुओं से छिपा हुआ है। इस मुस्लिम-संस्कृति के अन्धकार को पार किए बिना भारतीय संस्कृति के सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। 'तुलसी' इस अज्ञानान्धकार को छिन्न-भिन्न करने के लिए कृतसंकल्प हो उठते हैं। तभी नभःप्रदेश में उन्हें अपनी पत्नी रत्नावली दृष्टिगोचर होती है। मन में मोह का संचरण होने पर उनका ऊर्ध्वगामी मन निम्न स्तर पर उतर आता है। सारी प्रकृति उन्हें पत्नी के सौन्दर्य से रंजित-सी प्रतीत होती है, इसी मोह को सत्य मानकर वे घर लौट आते हैं।

इसी समय अपनी पत्नी के भाई को घर आया देख उन्हें बाजार जाना पड़ता है। वे बाजार से लौट भी नहीं पाते कि उनकी पत्नी अपने भाई के साथ नैहर चली जाती है। वे भी ससुराल पहुँचते हैं। रात्रि के एकान्त में तुलसी अपनी प्रिया के दर्शन करते हैं सर्वथा नवीन रूप में, ऐसे रूप में जिसे तुलसी का आसक्त मन सहन नहीं कर पाता। पत्नी का "धिक्! धाए तुम यों अनाहूत, धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म-धूत, राम के नहीं, काम के सूत कहलाए' (पृष्ठ ५३)। यह कथन उनकी अन्तरात्मा में ऐसा पैठा कि तुरन्त प्रबल संस्कार की तीक्ष्ण अग्नि में काम तत्काल जलकर भस्म हो गया। जड़ता के स्थान पर चेतना और अज्ञान के स्थान पर ज्ञान छा गया। उन्हें अपनी पत्नी बोध उत्पन्न करने वाली सरस्वती के रूप में दृष्टिगोचर हुई (पृष्ठ ५४)। फलतः उनका मन चेतना के ऊर्ध्व स्तरों पर संचरण करने लगा और

एक ऐसे शून्य प्रदेश में पहुँच गया जहाँ चन्द्र और तारे डूब-से रहे थे, जहाँ सभी सीमाएँ मिटती-सी जान पड़ती थीं, जहाँ आनन्द की दशा में पहुँचने से जीवन के द्वन्द्व-बन्धनादि सब मिट गए (पृष्ठ ५५)। ज्ञान के चक्षु अनावृत हो गए थे, उनकी सम्पूर्ण प्राण-शक्ति अपना असीमता में स्थित थी और उनकी गति इस समय बाधा-विरोधहीन थी (पृष्ठ ५६)।

तुलसीदास की जागृति का प्रभाव विश्व पर भी पड़ा। समस्त प्रकृति में भी जैसे नव-जीवन का संचार हो गया। तुलसीदास ने अनुभव किया कि अज्ञान की रात बीतने पर उदयगिरि पर ज्ञान का सूर्य उदित हो चुका है, अतः भारत के ज्ञान-गौरव का अब प्रसार आरम्भ होने वाला है (पृष्ठ ५७)। जड़ और चेतन के साथ अब भयानक संघर्ष होगा। इस संग्राम में एक ओर सरस्वती है और दूसरी ओर मायावी जीवन के सब कौशल। जीवन के खण्डित दलों को कवि की नवीन कला जोड़ेगी। कवि की कला लोभ, मोह आदि से ग्रस्त मानवों को ज्ञान की ओर प्रेरित करेगी (पृ० ५८)। अपनी असीम सुन्दरता के बोध से सम्पन्न तुलसी की चेतना जाग्रत हो गई है, अतः समाज को निर्जीव करने वाली राग-द्वेषादि की रागनियाँ सो जायेंगी। अज्ञानान्धकार में डूबी हुई संसार की वीणा पर अब ज्ञान का प्रकाश पड़ेगा। अब उसमें से नव वसन्त के स्वर निकलेंगे। तुलसीदास के प्राणों में इस समय साधना का भाव जाग्रत था तभी उन्होंने विश्व-संगीत की निरुपम सौन्दर्य वाली प्रतिमा रत्नावली को अपने सामने देखा जिसको आँखों में जल भरा था। उन्होंने अपनी पत्नी से अन्तिम विदाई ली और धीरे से घर से बाहर आ गए। रत्नावली की सुन्दर मूर्ति को उन्होंने इस समय विश्व को आश्रय देने वाली गौरवमयी प्रतिमा के रूप में देखा, फिर सरस्वती और लक्ष्मी-रूप में उसके दर्शन किए और अन्त में अनुभव किया कि उस मूर्ति का प्रकाश सूर्य की सुन्दर रेखा के रूप में पूर्व से फूट रहा है।

**तुलसीदास का रूपकत्व और उसका दार्शनिक आधार**—प्रसादजी की 'कामायनी' की भाँति निराला के 'तुलसीदास' की कथा एक ओर ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है तो दूसरी ओर उसका मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधार भी है। जिस प्रकार कामायनी की ऐतिहासिक कथा वैदिक-काल से सम्बद्ध है उसी प्रकार तुलसीदास की कथा मुगल-काल से सम्बन्धित है। जिस प्रकार कामायनी में मनु और श्रद्धा के माध्यम से जीव के अन्नमयकोश से लेकर आनन्दमयकोश तक का यात्रा का वर्णन है उसी प्रकार तुलसीदास में तुलसी और रत्नावली के माध्यम से जीव के ऊर्ध्व-गमन की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। आनन्दवाद 'कामायनी' का और ऊर्ध्व-गमन 'तुलसीदास' का प्रतिपाद्य है। दोनों का आधार भी मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनक है। अन्तर केवल इतना ही है कि कामायनी में कथा-सूत्र के विकास के लिए पर्याप्त स्थान है, पर 'तुलसीदास' में कथा-सूत्र के विकास के क्षेत्र का प्रायः अभाव ही है। इसलिए तुलसीदास में जीवन की विभिन्न स्थितियों का चित्रण

नहीं हो सका।

कामायनी का रूपकत्व उपनिषदों के मनोवैज्ञानिक चिन्तन पर आधारित है, जिसकी चर्चा हम पीछे कर आए हैं। तुलसीदास का ऊर्ध्वगमन भी उपनिषदों की मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित है। वस्तुतः अद्वैतवादी साधकों ने जिस अन्तः-साधना द्वारा ब्रह्म से अभेद की स्थिति की कल्पना की है उसे ही निराला ने मन की ऊर्ध्व गति कहा है और ब्रह्म के अभेद से अभिप्राय है—सत्य की प्राप्ति से। इस साधना में मानव-मन पार्थिक चेतना का विस्मरण कर संस्कारों और वासनाओं से ऊपर उठता हुआ आत्म-दर्शन करता है। इस मुक्तावस्था में सीमाओं का अवसान हो जाता है। यह अवस्था वैदिक-दर्शन की आनन्दावस्था है जिसमें द्वैत और संघर्ष का अन्त हो जाता है। 'तुलसीदास' में आनन्दवाद की यह अवस्था शुद्ध भाव मूलक है जो चेतना के ऊर्ध्व-गमन पर आधारित है। इसी ऊर्ध्व-गमन के आधार पर कवि को आत्म-साक्षात्कार होता है।

कामायनी के रूपकत्व पर औपनिषदिक-सिद्धांत की सापेक्षता में प्रकाश डालते हुए हम यह बता आए हैं कि किस प्रकार जीव चिन्तन की निम्नतम स्थिति अर्थात् आनन्दमयकोश से प्रारम्भ करके प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों में से होकर अतिक्रमण करता हुआ अन्त में आनन्दमयकोश में जाकर स्थित हो जाता है। जहाँ जाकर उसके समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। 'तुलसीदास' के ऊर्ध्व-गमन की कल्पना का भी यही आधार है।

'तुलसीदास' में मुस्लिम-संस्कृति माया (अविद्या लोक) का प्रतीक है। भारत पर मुस्लिम-संस्कृति के छा जाने से भारतीय-संस्कृति का प्रभापूर्ण सांस्कृतिक सूर्य डूब गया, परिणामस्वरूप दिशाओं में सर्वत्र अन्धकार की तुरही बजने लगी। कवि कहता है—

> **"भारत के नभ का प्रभापूर्य**
> **शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य**
> **अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्मण्डल।"** (पृ० ११)

यहाँ भारतीय संस्कृति सत्य-लोक का प्रतीक है। कल्पना यह है कि जिस प्रकार अविद्या-माया का अन्धकार फैल जाने से सत्य का सूर्य दृष्टि-पथ से ओझल हो जाता है उसी प्रकार मुस्लिम-संस्कृति के छा जाने से भारतीय-संस्कृति का गौरव अस्त हो गया। एक ओर यह भारतीय-संस्कृति की संध्या के विषादमय चित्र से कविता का आरम्भ है और दूसरी ओर यह वर्णन माया-अविद्या के अन्धकारमय राज्य का प्रतीक भी हो सकता है, ऐसे अंधकारमय वातावरण में 'तुलसी' का जन्म हुआ। तुलसीदास यहाँ जीव के प्रतीक हैं। तुलसीदास एक दिन चित्रकूट (विज्ञानमय-कोश का प्रतीक) जाते हैं। वहाँ प्रकृति द्वारा उन्हें मुसलमान सभ्यता (अविद्यान्धकार) में पड़े भारतीयों (अन्य जीवों) का संकेत मिलता है। यहाँ उन्हें अनुभव हुआ कि कामदेव के केश के शरों से झरने वाली रज से पृथ्वी और आकाश अनुरंजित

हो रहे थे। फलतः उससे शोभाकर प्रतिमानस-सर आवृत था (पृष्ठ २१)। आध्यात्मिक क्षेत्र में कवि के इस वर्णन से अभिप्राय चारों ओर छाये माया के राज्य से है। यह माया जागरण-सी लगती है, परन्तु है वस्तुतः सुप्ति का विराम जिसके प्रभाव से जीव अपनी चेतना खो बैठता है और अमावस्था में पड़ा रहता है—

"छिप रहे उसी से वे प्रियतम
छवि के निश्छल देवता परम,
जागरणोपम यह सुप्ति-विरम भ्रम-भ्रम भर।" (पृ० २१)

तुलसीदास (जीव) का मन प्रकृति का संदेश सुनकर, अपनी पार्थिवता त्यागकर, ध्यान-लीन होकर ऊपर उठने लगा और शनैः-शनैः अपने संस्कार-रूप रंगों को छोड़ने लगा। अगोचर सत्य उन रंगों से परे है, अतः उस तत्व की खोज में तुलसी का मन ऊपर उठने लगा और सजे हुए संस्कारों की सतहों को पार करता हुआ उन्हें नीचे छोड़ चला—

"दूर, दूरतर, दूरतम, शेष
कर रहा पार मन नभो देश,
सजता सुवेश, फिर फिर सुवेश जीवन पर
छोड़ता रंग, फिर-फिर सवार
उड़ती तरंग ऊपर अपार
सन्ध्या-ज्योतिः ज्यों सुविस्तार अंबर तर।" (वही, पृ० २३)

मन की इस उड़ान में 'तुलसी' को (जीवात्मा को) भारतीय-सभ्यता (विद्या-लोक) का पूरा आभास मिल गया। उन्हें लगा इस्लाम की शक्ति (माया की शक्ति) भारतीय-जीवन (सत्य-लोक) को पूरी तरह व्याप्त किए हुए है (पृ० २६)। इस स्थल पर निराला ने एक ओर राष्ट्र के जीर्ण-जीवन का चित्र अंकित किया है और दूसरी ओर उन्हें आध्यात्मिक-धरातल पर अविद्या-ग्रस्त जीवात्माओं की दुर्दशा का वर्णन भी अभिप्रेत है—

इस छाया के भीतर है सब
है बंधा हुआ सारा कलरव
भूले सब इस तम का आसव पी-पीकर
इसके भीतर रह देश-काल
हो सकेगा न रे मुक्त-भाल,
पहले का सा उन्नत विशाल ज्योतिःसर। (पृ० ३१)

इस पद में कवि 'तम के आसव' को जहाँ एक ओर इस्लामी सभ्यता के लिए प्रयुक्त करता है और ऐतिहासिक दृष्टि से यह धारणा प्रकट करता है कि जब तक हम पर इस्लामी सभ्यता का प्रभाव है, हम अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकते, ज्योतिःसर में विचरण नहीं कर सकते, अपना पहले जैसा भाल उन्नत नहीं कर सकते, वहाँ दूसरा अर्थ आध्यात्मिक क्षेत्र में भी घटित होता है। तम अर्थात् अविद्या-

माया का आसव पीकर हम मदहोश पड़े हुए हैं, हमें वास्तविकता का ज्ञान ही नहीं रह गया है। जब तक जीवात्मा इस माया-राज्य से छुटकारा प्राप्त नहीं कर लेता तव तक विशाल ज्योतिःसर में, सत्ता के आनन्दमय कोश में विचरण कर सकना संभव नहीं। उपरोक्त समस्त वर्णन उपनिषदों के अविद्या-तत्व के आधार पर खड़ा किया गया है जिसका सम्बन्ध जीवात्मा के अन्न, प्राण और मनोमय कोशों से है और जो विद्या से स्पष्टतः भिन्न है।[1] इसीलिए निराला ने पार्थिव ऐश्वर्य को 'पीड़ाकर अन्धकार' कहा है (पृ०२७)।

इस्लामी-संस्कृति से राष्ट्रीय जीवन की मुक्ति के दूर होने के रूपक द्वारा, आत्मा की मुक्ति-पवन के सदृश वहने वाली अदृश्य छाया से परे है—ऐसा निराला ने कहा है। इस छाया के ऊपर किरणों का घर है अर्थात् सत्य का लोक इस छाया से परे है—

> "इस अनिल-वाह के पार प्रखर
> किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
> रविकुल-जीवन-चुम्वन कर मानस-धन जो।" (पृ० ३३)

निराला का यह वर्णन वेद के स्वर्लोक के वर्णन के अधिक निकट है। वेद की तीन व्याहृतियों में 'भू' पार्थिव लोक का, 'भुवा' अन्तरिक्ष लोक का और 'स्वः' बृहत द्यौ का अभिप्राय व्यक्त करता है। वायु के प्रवाह से परे अन्तरिक्ष (भुवः) लोक के पार ही द्यौ का, सत्य के सूर्य का लोक विद्यमान है जहाँ इस सूर्य की किरणों के स्पर्श से अमरत्व एवं मुक्ति प्राप्त होती है।[2] यह मुक्ति पार्थिव चेतना वाले 'भूः लोक' से बहुत परे है—

> "है वही मुक्ति का सत्य रूप,
> यह कूप-कूप भव अन्ध कूप
> वह रंक यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे।" (पृ० ३४)

यह पार्थिव चेतना वाला भूलोक अन्ध-कूप है। अविद्या के अन्धकार से आच्छादित है। अतः यहाँ के भूप को भी निराला रंक कहते हैं। सत्य के सूर्य की किरणों वाला लोक, स्वर्लोक, ही आत्मा का वास्तविक लोक है। अन्धकार और अविद्या से युक्त नीचे के दोनों लोक भूः और भुवः (उपनिषदों के अन्न, प्राण और मनोमय कोशों के पर्याय हैं—इनको) को पार कर के ही आत्मा स्वर्लोक तक, चेतना के ऊर्ध्व स्तर तक (उपनिषदों के विज्ञान और आनन्दमय कोशों तक) उठ जाता है जहाँ परम व्योम में सम्पूर्ण देवता और सभी ऋचाएँ निवास करती कही गई हैं।[3] स्वर्लोक के वैदिक विचार की सापेक्षता में निराला का निम्न वर्णन द्रष्टव्य है—

---

१. इसी अध्याय की पृ० संख्या ३१६।
२. देखिये, शोध-प्रबन्ध का पृ० ६२।
३. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन यस्मिन्देवाधिविश्वे निषेदुः। ऋ० वे०, १,१६४,३६।

"करना होगा यह तिमिर-पार
देखना सत्य का मिहिर-द्वार
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर,
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर
जाना भिन्न भी देह निज घर निःशंसय (परिमल, पृ० ३५)

स्वर्लोक ही चेतन आत्मा का निश्चित घर है, वही सबका गन्तव्य है जहाँ मनुष्य का अपना शरीर भी अपना नहीं रहता।

चेतना के ऊर्ध्व स्तरों पर चढ़ते-चढ़ते अचानक ही जब मोह-रूप पार्थिव चेतना जीव को अभिभूत कर लेती है, तब जीव फिर निचले स्तरों पर आ जाता है और वह शक्ति जो उसने ऊर्ध्व सोपानों पर चढ़ते समय प्राप्त की थी, अदृष्ट हो जाती है।

तुलसीदास को अपनी ऊर्ध्व-यात्रा में अपनी पत्नी की प्रतिमा दृष्टिगोचर हुई जिसके दर्शन से उनका ऊर्ध्व-गमन रुक गया। यहाँ निराला ने उस सत्य की ओर संकेत किया है कि ज्यों ही साधक साधना के पथ पर अग्रसर होता है, मोह और आसक्ति उसके मार्ग में आकर बाधा के रूप में खड़ी हो जाती है—वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम (पृ०२९)। पार्थिव चेतना से सम्पृक्त होते ही जीव पुनः माया की परिधि में बंध जाता है, प्रकृति मोहक और आकर्षक लगने लगती है (पृ० ३१)। यहाँ तक निराला ने 'तुलसी' के माध्यम से जीव का उत्थान दिखाकर वासनाओं के जग जाने से आसक्ति के कारण पुनः पतन दिखाया है। जीवात्मा एक बार विज्ञान-मय कोश से पुनः मनोमय और प्राण, अन्नमयकोशों की ओर लौट पड़ा है और माया जन्य प्रभाव से असत् भी सत् जैसा प्रतीत होने लगता है—

"जिस शुचि प्रकाश का सौर-जगत्
रुचि-रुचि में खुला, असत् भी सत्
वह बंधा हुआ है एक महत् परिचय से" (वही पृ० ३५)

भ्रम में निमग्न जीवात्माओं को तो सृष्टि का बाह्य रूप ही दृष्टिगोचर होता है जो नश्वर है, अमर ज्ञान बाहर नहीं भीतर है—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' (यजु० ४०,१५) इस वैदिक श्रुति ही की तो काव्यात्मक अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में हुई है—

'अविनश्वर वही ज्ञान भीतर,
बाहर भ्रम भ्रमरों को भास्वर,
वह रत्नावली सूत्रधर पर आशय से।' (वही पृ० ३५)

रत्नावली के नेत्रों के मायामय बाह्य सौन्दर्य के प्रभाव से 'तुलसी' का सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया, क्योंकि जीव से संयुक्त उस माया ने उनकी चेतना को विज्ञानमय-कोश से हटाकर प्राणमय कोश में लाकर स्थिर कर दिया—

"करना होगा यह तिमिर-पार
देखना सत्य का मिहिर-द्वार
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय—
लड़ना विरोध से द्वन्द्व-समर,
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर निर्भर
जाना भिन्न भी देह निज घर निःशंसय (परिमल, पृ० ३५)

स्वर्लोक ही चेतन आत्मा का निश्चित घर है, वही सबका गन्तव्य है जहाँ मनुष्य का अपना शरीर भी अपना नहीं रहता।

चेतना के ऊर्ध्व स्तरों पर चढ़ते-चढ़ते अचानक ही जब मोह-रूप पार्थिव चेतना जीव को अभिभूत कर लेती है, तब जीव फिर निचले स्तरों पर आ जाता है और वह शक्ति जो उसने ऊर्ध्व सोपानों पर चढ़ते समय प्राप्त की थी, अदृष्ट हो जाती है।

तुलसीदास को अपनी ऊर्ध्व-यात्रा में अपनी पत्नी की प्रतिमा दृष्टिगोचर हुई जिसके दर्शन से उनका ऊर्ध्व-गमन रुक गया। यहाँ निराला ने उस सत्य की ओर संकेत किया है कि ज्यों ही साधक साधना के पथ पर अग्रसर होता है, मोह और आसक्ति उसके मार्ग में आकर वाधा के रूप में खड़ी हो जाती है—वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम (पृ०२९)। पार्थिव चेतना से सम्पृक्त होते ही जीव पुनः माया की परिधि में बंध जाता है, प्रकृति मोहक और आकर्षक लगने लगती है (पृ० ३१)। यहाँ तक निराला ने 'तुलसी' के माध्यम से जीव का उत्थान दिखाकर वासनाओं के जग जाने से आसक्ति के कारण पुनः पतन दिखाया है। जीवात्मा एक बार विज्ञान-मय कोश से पुनः मनोमय और प्राण, अन्नमयकोशों की ओर लौट पड़ा है और माया जन्य प्रभाव से असत् भी सत् जैसा प्रतीत होने लगता है—

"जिस शुचि प्रकाश का सौर-जगत्
रुचि-रुचि में खुला, असत् भी सत्
वह बंधा हुआ है एक महत् परिचय से" (वही पृ० ३५)

भ्रम में निमग्न जीवात्माओं को तो सृष्टि का वाह्य रूप ही दृष्टिगोचर होता है जो नश्वर है, अमर ज्ञान बाहर नहीं भीतर है–'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' (यजु० ४०,१५) इस वैदिक श्रुति ही की तो काव्यात्मक अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में हुई है—

'अविनश्वर वही ज्ञान भीतर,
बाहर भ्रम भ्रमरों को भास्वर,
वह रत्नावली सूत्रधर पर आशय से।' (वही पृ० ३५)

रत्नावली के नेत्रों के मायामय वाह्य सौन्दर्य के प्रभाव से 'तुलसी' का सारा जीवन ही व्यर्थ हो गया, क्योंकि जीव से संयुक्त उस माया ने उनकी चेतना को विज्ञानमय-कोश से हटाकर प्राणमय कोश में लाकर स्थिर कर दिया—

**'जो ज्ञान दीप्ति, वह दूर, अजर,**
**विश्व के प्राणों के भी ऊपर,**
**माया वह, जो जीव से सुघर संयुक्ता ।' (पृ० ३९)**

जब आत्मा पर से कलुष का कषाय उतरने लगता है तब चेतना पुनः स्थूल स्तरों से सूक्ष्म स्तरों की ओर प्रसरित होने लगती है । शनैः-शनैः अन्न, प्राण, मन के कोशों का अतिक्रमण कर विज्ञान और अन्ततोगत्वा आनन्दमय कोश में जाकर स्थिर हो जाती है ।[1] अपने ऊपर से सर्प की भाँति सारी कषाय की केंचुल को उतार फेंककर देते है तब सारे द्वन्द्व मिट जाते हैं, सब बन्धन कट जाते हैं, आत्मा मुक्त हो जाता है और चारों ओर शान्ति ही शान्ति छा जाती है, आनन्द ही आनन्द रह जाता है। वैदिक तत्व-ज्ञान में जीवात्मा की, बन्धनों से मुक्त होकर, जिस आनन्दमय स्थिति का वर्णन आया है, निराला का चेतना के ऊर्ध्व-गमन की स्थिति का वर्णन उससे भिन्न नहीं है । वहाँ कहा गया है कि वह परमात्मा रसरूप है अतः मनुष्य का जीवात्मा रसरूप परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होता है—'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।' (तै० उ० २,७) कवि भी उस स्थिति का वर्णन करते हुए कहता है—

**'आभा भी क्रमशः हुई मन्द,**
**निस्तब्ध व्योम-गति रहित छन्द,**
**आनन्द रहा, मिट गए द्वन्द्व, बन्धन सब ।' (पृ० ५५)**

मुक्तावस्था में जीवात्मा अपनी असीमता का अनुभव करने लगता है । उसके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं—

**'थे मुंदे नयन, ज्ञानोन्मीलित,**
**कलि में सौरभ ज्यों चित्त में स्थित,**
**अपनी असीमता में अवसित प्राणाशय ।' (वही, पृ० ५६)**

आत्मा की गति बाधा-हीन हो जाती है—'रह निर्विरोध, गति हुई रोधप्रतिकूला' (पृ०,५६) । अज्ञान की रात्रि व्यतीत हो जाने पर ज्ञान का प्रभात उदित होने लगता है और तब चेतना के ऊर्ध्व-शृंग से ज्योति का निर्झर झरने लगता है (पृ० ५७) ।

ऊर्ध्व-चेतना के स्पर्श से पुलकित तुलसीदास ने यह अनुभव किया कि अब शीघ्र ही भारतीय-संस्कृति पर से (सत्यलोक पर से) इस्लामी संस्कृति का (मायान्धकार का) राज्य दूर हो जायेगा और पुनः हम अपने वास्तविक गौरव को (चैतन्य के अमर धाम को) प्राप्त करेंगे ।

निराला के तुलसीदास का यह उपक्रम वैदिक ऋषियों की भाँति भारतीयों का अन्धकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर और असत् से सत् की ओर ले जाने का उपक्रम है । ज्ञान का प्रकाश जब उदित हो जाता है, तब अज्ञान के अन्धकार को टिकने के लिए अवकाश कहाँ—

---

१. देखिये, तै० उ० ३,४-६ ।

'तम के आमार्ज्य रे तार-तार
जो उन पर पड़ी प्रकाश धार
जग वीणा के स्वर के बाहर रे, जागो।' (पृ० ५९)

और उसी वैदिक सत्य को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए निराला के तुलसी पत्नी से जीवन-भर बहने का वरदान लेकर चल पड़ते हैं।

स्पष्ट है कि निराला के 'तुलसीदास' का मुख्य प्रतिपाद्य है-पार्थिव चेतना के ऊर्ध्व-गमन द्वारा सत्य की उपलब्धि, आनन्दमय लोक के मधु के आस्वादन की चाह, स्वर्लोक में सत्य के सूर्य की किरणों में अवगाहन करने की कामना। 'ऊर्ध्व-गमन का यह क्षेत्र विशुद्ध दार्शनिक और आध्यात्मिक है, वह भारतीय आध्यात्मिकता के अनुकूल है।'[1] डा० रामविलास शर्मा जैसे प्रगतिवादी आलोचकों ने भी निराला के 'तुलसीदास' की प्रशंसा करते हुए लिखा है—'तुलसीदास' सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर चिन्तन-प्रधान दार्शनिक काव्य है—ऐसा निर्माण-सौन्दर्य नई हिन्दी कविता के लिए अद्भुत था...निस्सन्देह छायावादी कला को उसने यहाँ अत्यन्त पुष्ट और विकसित रूप में दिखाया है।'[2]

**राम की शक्ति-पूजा**—'तुलसीदास' के बाद 'राम की शक्ति-पूजा' निराला की एक दूसरी लम्बी कविता है जिसका कथानक 'तुलसीदास' की भाँति लघु होते हुए भी प्रबन्ध-काव्य के औदात्य को लिए हुए है। इसका कथानक पौराणिक-सांस्कृतिक होते हुए भी दर्शन के पुट से संपृक्त है।

राम-रावण का युद्ध भारत के सांस्कृतिक इतिहास में सर्वाधिक लोकप्रिय घटना है। निराला ने इन दोनों के बीच हुए इस युद्ध को एक नवीन मौलिक रूप में प्रस्तुत किया। भारतीय संस्कृति के अनुसार राम को रावण पर विजय तो निश्चित है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' तो हमारी संस्कृति का आदर्श-वाक्य है। इसी आदर्श के अनुरूप निराला ने भी राम की रावण पर विजय दिखाई है, पर वह विजय तुलसी के राम की विजय से भिन्न है। राम की सेना की तुलना में रावण की सेना अपार तो है ही, साथ ही शक्ति भी रावण के पक्ष में होने से राम के शस्त्र और उनका क्षात्र-बल युद्ध-भूमि में विफल हो जाता है। राम का मन कभी-कभी रावण की अप्रत्याशित विजय की कल्पना से शंकाकुल हो जाता है। उनके मानस-जगत् में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क और पूर्व की मोहक-प्रेरक स्मृतियाँ उभरने लगती हैं। भावी अनिष्ट के भय से उनके नेत्र से अश्रु टपकने लगते हैं। उनकी चिन्तित मुद्रा सभी को एक बार उदासी की छाया से आवृत कर लेती है। उन्हें इस बात पर आश्चर्य होता है कि शक्ति असत् का समर्थन कर रही है। तभी भल्ल-पति जामवन्त राम को शक्ति की आराधना का परामर्श देते हुए राम से कहते हैं—"शक्ति की करो मौलिक

---

१. धनंजय वर्मा : निराला : काव्य और कृतित्व, पृ० १६८।
२. निराला, पृ० १३५।

कल्पना, करो पूजन' ('अनामिका' पृ०, १६३)। परामर्श सुनते ही राम ने शक्ति के समाराधन की क्रिया प्रारम्भ कर दी, इष्ट के चरण में उनका मन स्थिर होने लगा। पाँच दिन की पूजा के बाद उनका मन ऊर्ध्वगामी होकर विभिन्न चक्रों को पार करता हुआ ऊपर उठने लगा।

"चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस,
× × ×
आठवाँ दिवस, मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि, शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्माण्ड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गए दग्ध जीवन के तप के, समारब्ध,
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता-पार
प्राय: करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार।" (वही, १६६-६७)

सिद्धि की उपलब्धि होने ही वाली थी कि दुर्गा ने पूजा का इन्दीवर उठा लिया। राम को पहले तो इस अचानक आ पड़ी बाधा पर क्षोभ हुआ, पर ज्यों ही यह स्मरण हुआ कि 'माता मुझे सदा राजीव नयन कहती थी' तुरन्त उन्होंने अपना ब्रह्म-शर संभाल कर लक्ष्य बींधना ही चाहा कि तत्काल दुर्गा साकार हो गई और बोली—

"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन
कह महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।" (पृ० १६९)

राम की उपरोक्त साधना योगमार्ग के अनुरूप हुई है—"चक्र से चक्र मन चढ़ता गया-ऊर्ध्व निरलस में उसी का प्रभाव लक्षित है। योगी का मन जब इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना को पार करता हुआ सहस्रार तक पहुंचता है तब सिद्धि की प्राप्ति होती है। निराला ने षष्ठ दिवस जिस आज्ञा-चक्र पर राम का मन समाहित होने की बात कही है और त्रिकुटी पर ध्यान एकाग्र होकर देवी के पद पर साधना के पहुँचने का उल्लेख किया है वह सब यौगिक क्रियाओं के अनुरूप है। आज्ञा-चक्र पर चिन्तन करने से ऊँची से ऊँची सफलता मिलती है।"[1]

प्रश्न उठता है कि यौगिक क्रिया का यह वर्णन वैदिक है या अवैदिक ? वेद और उपनिषदों में अमरत्व की प्राप्ति और शक्ति का अर्जन तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए साधन-रूप में ज्ञान, कर्म और उपासना के अतिरिक्त एक चौथे मार्ग का उल्लेख भी है—वह है योग-मार्ग। कठोपनिषद् में यम ने नचिकेता को योग-धारणा के द्वारा मन और इन्द्रियों को रोककर परमात्मा को प्राप्त करने के साधना का स्पष्ट उपदेश दिया है।[2] श्वेताश्वरोपनिषद् में योग-साधना की प्रक्रिया पर भी प्रकाश

---

१. देखिये, शिव-संहिता : पंचम पटल, श्लोक ९८।
२. यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

डाला है।[1] नाड़ी-चक्र का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में आया है।[2] उपनिषदों में षट् चक्रों का वर्णन अवश्य नहीं मिलता, वह बाद की कल्पना है। पर योग-साधना का जो मूलाधार है कि परब्रह्म और उसकी शक्ति मनुष्य के अन्दर निवास करती है,[3] इसके जाग्रत हो जाने पर आत्मा अमर हो जाता है, वह कल्पना उपनिषदों में सुरक्षित है। यदि इस कल्पना को हटा लिया जाए तो यौगिक प्रक्रिया का सारा आधार ढह जाता। इस विवेचन से स्पष्ट है कि योग-साधना का मौलिक आधार भी उपनिषदें ही हैं। निराला ने भी इसी आधार पर शक्ति-पूजा द्वारा राम में आन्तरिक शक्ति को जागृत कराने की चर्चा की है। उस शक्ति के राम में बिलीन हो जाने का भी यही अभिप्राय है। यह वेदान्त के अतिशय अनुरूप है। अद्वैतवादी वेदान्ती समस्त शक्ति का संचयन आत्मा में ही मानते हैं। उपनिषदों में आत्म-परमात्म-तत्व की एकता के जिस मौलिक सिद्धान्त पर चिन्तन हुआ है, योग-साधना उसको व्यावहारिक पीठिका प्रदान करती है। उस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान कर जीवन में उसकी सत्यता हृदयगंम कराने में सहायक सिद्ध होती है, अतः हम कह सकते हैं कि 'राम की शक्ति-पूजा' योग-मार्ग पर आधारित है जिसके आधारभूत ग्रन्थ उपनिषदें हैं।

## निराला का परवर्ती काव्य :

निराला के परवर्ती काव्य 'कुकर मुत्ता', 'अणिमा', 'वेला', 'नये पत्ते', 'अर्चना', 'आराधना' और 'गीतगुंज' में 'कुकुर मुत्ता' सशक्त और ओजस्वी शैली में लिखी गई एक लम्बी व्यंग-परक कविता है। यहाँ निराला पूंजीवाद के विरोध और साम्यवाद के पक्ष में अपना अभिमत प्रकट करते हैं, पर उनकी यह साम्य-भावना मार्क्सवादियों के साम्यवाद की कल्पना से भिन्न वेदांत पर आश्रित है। 'नये पत्ते' नामक संग्रह में 'देवी सरस्वती' नामक कविता को छोड़कर सभी रचनाएँ व्यंग्यात्मक हैं। ये व्यंग्य सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत सभी धरातलों का स्पर्श करते हैं। इन व्यंग्यों में निराला ने समाजगत कुत्साओं पर तीखे प्रहार किए हैं। जहाँ तक समाजवाद के दार्शनिक पक्ष का प्रश्न है, उन्होंने भौतिक-दर्शन को कहीं भी नहीं अपनाया है। उनकी सामाजिक दृष्टि परिनल-काल से ही मानवतावादी रही है।

---

तां योगमितिमन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तास्तदाभवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ कठोपनिषद् ६, १०-११।

१. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणिमनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।
प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्त चेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत्।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥' श्वे०, २, ८-९।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ८, ७, ६।

३. हृदि ह्येप आत्मा, प्र० उ० ३, ६।

उनकी 'भिक्षुक', 'वह तोड़ती पत्थर', 'विधवा' आदि रचनाएँ हमारे इस दृष्टि-कोण का पोषण करती हैं। वास्तव में वे आरम्भ से ही आदर्श और यथार्थ, अध्यात्म और समाज दोनों को अपने काव्य की भूमि पर एक साथ समवेत रूप से लेकर चले हैं। उनका आदर्श, यथार्थ से विरोध करके कहीं नहीं चलता प्रत्युत उसको व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। इस दृष्टि से वे एक छोर पर अध्यात्मवादी हैं तो दूसरे छोर पर मानवतावादी।

आध्यात्मिक क्षेत्र में भी वे प्रारम्भ से ही ज्ञान और भक्ति को साथ-साथ लेकर चले हैं। उनका ज्ञान अद्वैत-दर्शन में प्रतिफलित हुआ है और भक्ति-भावना द्वैत की भूमिका पर चरितार्थ हुई है। विनय, प्रार्थना, आत्मनिवेदन, आत्मसमर्पण, आदि की भावानाएँ द्वैत की भूमिका से ही सम्बद्ध है। इस दृष्टि से हम निराला के पूर्ववर्ती (परिमल, अनामिका, गीतिका, तुलसीदास) और परवर्ती (अणिमा, वेला, अर्चना, आराधना) काव्य की भूमिकाओं में किंचित् अन्तर देखते हैं। पूववंर्वी काव्य में निराला ज्ञान के धरातल पर प्रतिष्ठित होकर अद्वैत-चिन्तन को मुखरित करते हैं और उसी भूमिका पर वे 'अहम्' का विस्तार कर 'भूमा' के ऐसे विराट् चित्र प्रस्तुत करते हैं जो ढूंढे से ही विश्व-साहित्य में मिल सकें। 'जागो फिर एक बार' और 'जागरण' आदि कविताएँ इसी कोटि की हैं। पर भक्ति और विनय का स्वर वहाँ भी विद्यमान है यद्यपि वह प्रमुख नहीं है। परवर्तीकाल की रचनाओं में यदि हम व्यंग्यात्मक रचनाओं को छोड़ दें तो अधिकांश कविताएँ और गीत विनय, आत्मसमर्पण, प्रार्थना, ईश-स्तुति, शरणागति, दीनता और प्रपत्ति से ही सम्बद्ध हैं। इन कविताओं का मुख्य स्वर भक्ति-समन्वित है जो द्वैत की भूमिका पर प्रसरित होता है। किन्तु दार्शनिक-चिन्तन और अद्वैतानुभूति का यहां भी सर्वथा अभाव नहीं है। पर प्रधानता भक्ति की ही है। यहां एक बात ध्यातव्य है, कि इन भक्ति-परक रचनाओं का द्वैत-भाव मध्वाचार्य के द्वैतवाद से सर्वथा भिन्न है जो आत्मा-परमात्मा के आत्यन्तिक भेद पर आधारित है। इसी प्रकार वह सांख्य-दर्शन के द्वैतवाद से भी मेल नहीं खाता जिसमें प्रकृति पुरुष के चिर द्वैत को स्वीकार किया गया है। निराला का द्वैत-भाव अद्वैत का पूर्व चरण और अभेद-दर्शन का ही पोषक है। स्थूल रूप से हम उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं को उपनिषद्-तत्व चिन्तन के अधिक समीप पाते हैं और उनकी परवर्ती रचनाओं को वेद की भक्ति-भावना के अधिक निकट अनुभव करते हैं। पूर्ववर्ती रचनाएँ यदि उनका ज्ञानकाण्ड है तो परवर्ती रचनाएँ भक्ति-काण्ड। ज्ञान और भक्ति में वैसे भी कोई तात्विक अन्तर नहीं है। निराला इनकी एकता का पहले ही समर्थन कर आए हैं।[1] तदपि धरातल का अन्तर तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। ज्ञान की धारा बौद्धिक-धरातल पर से प्रसरित होती है और भक्ति का उत्स हृदय से फूटता है। भक्ति में परम सत्ता के प्रति

---

१. देखिये, परिमल का पंचवटी-प्रसंग, ४।

विश्वास और आस्था का भाव प्रगाढ हो जाता है, उस तत्व से निकटता और परिचय में भी परिपक्वता आ जाती है। दर्शन यहाँ भावात्मक रूप ग्रहण कर एकरस, एक रूप हो जाता है। दर्शन की बौद्धिक खरखरता तरल, मधुर बनकर कोमल और मृदुल बन जाती हैं।

निराला के परवर्ती-काव्य में हम दर्शन का यही रूप पाते हैं। वह भक्ति में पर्यवसित होकर तरल-मधुर बन गया है। ज्ञान का भक्ति में पर्यवसान का यह क्रम ठीक भी है। ज्ञान जब हृदय का अंग बन जाता है तभी उसमें जीवन को शान्त और शीतल बना देने की शक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार निराला के काव्य में विनय और भक्ति की जो मन्दाकिनी वही है वह वेद-विहित है। वैदिक ऋषियों ने अग्नि, इन्द्र, वरुणादि परमसत्ता की विभिन्न शक्तियों की अनेक प्रकार से स्तुति की है, विनय और आत्मसमर्पण की भावनाएँ अभिव्यक्त की हैं जिसकी चर्चा हम पीछे प्रसादजी के प्रसंग मे कर आए हैं।[1] उपनिषदों में भी प्रार्थनाएँ हैं पर थोड़ी ही। बृहदारण्यकोपनिषद् का ऋषि—'असतो मा सद् गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्मामृतंगमय', 'कहकर असत् से सत्, अन्धकार से प्रकाश और मृत्यु से अमृत की ओर ले चलने की प्रार्थना करता है।[2] ईशोपनिषद् के १५वें से १८वें तक के मन्त्रों में प्रार्थना का भाव देखा जा सकता है। निराला के इधर के काव्य में इसी प्रकार की प्रार्थनाओं और विनय-गीतों का बाहुल्य है। एक स्थल पर निराला का भक्त अविद्या-जन्य अंधकार को दूर करने हेतु ज्ञान-सूर्य के प्रकाश के लिए प्रार्थना करते हुए कहता है—

"तिमिर दारण मिहिर दरसो
ज्योति के कर अन्ध-कारा-
गार जग का सजग परसो
हो गया जीवन हमारा,
अन्धता से गत सहारा,
गात के सम्पात पर उत्थान
देकर प्राण बरसो।
क्षिप्रतर हो गति हमारी
खिले प्रति-कलि-कुसुम-क्यारी,
सहज सौरभ से समीरण पर
सहस्रों किरण हरसो।" (अर्चना, गीत १६)

उपरोक्त गीत बृहदारण्यकोपनिषद् की 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की भावना के कितने निकट है यही सहज ही द्रष्टव्य है। अब हम उन स्थलों की चर्चा करेंगे जहाँ दार्श-

---

१. देखिए, इसी शोध-प्रबन्ध का पृ० ६६-१००।
२. बृह० उ० १,३,२८।

निकता का समावेश है ।

अद्वैत की दृष्टि से निराला का निम्न गीत अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करता है जो इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि उनके परवर्ती-काव्य में भी दार्शनिक प्रवृत्ति बिल्कुल क्षीण नहीं हो गई है। कवि कहता है—

"बाहर मैं कर दिया गया हूं। भीतर पर, भर दिया गया हूं
ऊपर वह बर्फ गली है, नीचे यह नदी चली है
सख्त तने के ऊपर नर्म कली है,
उसी तरह हर दिया गया हूं।
भीतर बाहर, बाहर भीतर, देखा जब से, हुआ अनश्वर,
माया का साधन यह सस्वर
ऐसे ही धर दिया गया हूं। बाहर मैं कर दिया गया हूं।" (बेला ३५)

कवि ने अत्यन्त सरल भाषा में समाज और जीवन से अपनी निष्कृति की बात कही है। वह समाज और जीवन से बाहर कर दिया गया है, पर भीतर से आध्यात्मिक भाव-सम्पत्ति से भर दिया गया है। निराला इस गीत में अद्वैत-चिन्तन के चरम शिखर पर विद्यमान हैं जहाँ से निस्संगता का हिम प्रसरित होकर नीचे कर्म-जगत् में करुणा की सरिता के रूप में प्रवाहित हो रहा है। कवि को अपनी इस स्थिति पर आश्चर्य होता है। वह सोचता है कि उसके व्यक्तित्व के कठोर तने पर यह कोमल भावना की कली कैसे फूटी ? उसे प्रतीति होती है कि वह अद्वैत साधना के क्षेत्र से हटकर बाहर कर्म-क्षेत्र में दे दिया गया है। जो उसके भीतर है वह अब बाहर आ गया है और बाहर जो माया का प्रसार है वह अद्वैत तत्व में परिणत होकर भीतर पहुँच गया है। माया उसके लिए अमरत्व का वरदान दे गई है। कवि को अपने ऊँचे धर दिए जाने पर गर्व है। निराला का यह गीत अद्वैत-साधना का उत्कृष्टतर और सुन्दरतर प्रकाशन है।

अद्वैतानुभूति के अनेक सुन्दर चित्र निराला ने परवर्ती-काव्य में भी दिए हैं। कवि कहता है कि जब से उस ज्योतिस्वरूप परमात्मा की छवि में नयनों ने अवगाहन किया है तब से संसार के समस्त बाह्य रूप बह गए, स्वजनों का साथ भी छूट गया जिस पुर से (दिव्य लोक से) आए थे उसी पुर की ओर लौट पड़ने के लिए मन उमड़ पड़ा, 'कण्ठ नए स्वर से क्या फूटकर खिला कि आँखें ही बदल गई' विश्व का आकर्षक रूप और मिथ्या के भास पता नहीं कहाँ समा गए—

"नयन नहाए
जब से उसकी छवि में रूप बहाए
साथ छूटा स्वजनों का पाँख फिर गई
उमड़ा उर चलने को जिस पुर आए।
कंठ नए स्वर से क्या फूट कर खिला
बदल गई आँख, विश्व रूप वह धुला
मिथ्या के भास सभी, कहाँ समाए।" (अर्चना, गीत २३)

अद्वैत की अनुभूति से सम्बन्धित यह वर्णन उपनिषदों की भावना के अतिनिकट है अद्वैत के दर्शन होते ही मिथ्या के भास, द्वैत की प्रतीति सर्वथा विलुप्त हो जाती है।[1] अर्चना के अन्य गीतों में भी अद्वैत के ऐसे मोहक-चित्र वर्णित हुए हैं जो स्वानुभूति पर आधारित हैं। मुँदे नयन, मिले प्राण हो गया निशावान।' गीत में भी अद्वैत की अनुभूति का सुन्दर वर्णन हुआ है। कवि का अर्न्तमन ज्ञानसूत्र से मिलकर स्वर्ग से भी ऊपर चढ़ गया जहाँ केवल सुन्दरता ही सुन्दरता का विधान है (यही ८०)। उस दिव्य अनुभूति के स्पर्श से सम्पूर्ण कालुष्य और सारे छिद्र दूर हो गए। तथा सृष्टि का सम्पूर्ण रहस्य भी उद्‌घाटित हो गया (वही गीत २८)। इसी प्रकार की अनुभूति 'अर्चना के नव तन कनक-किरण फूटी है' और 'तुम से जो नयन मिले दूर हो दुरित-शयन' पंक्तियों से आरम्भ होने वाले गीतों में वर्णित हुई है। कवि ने आराधना के एक गीत में स्पष्ट कहा है कि प्रभु से नाता जोड़ने पर मन की सारी बासी चेतना का लोप हो गया तथा मुक्ति की उपलब्धि हो गई। वस्तुतः उपनिषदों में मोक्ष के लिए जिन-जिन दोषों से मुक्ति की बात अनिवार्यतः कही गई है निराला के गीत उन सभी शर्तो को पूरा करते हैं। प्रभु के दर्शनों से उनके ज्ञान-चक्षु खुल गए, सभी दोषों का निराकरण हो गया, समस्त कामनाएँ क्षीण हो गईं, फलतः संशय की गाँठें भी खुल गईं। (अर्चना १०) उस पार ज्योतिर्मय पुरुष के दर्शन भी हो गए (आराधना पृ० १५) और "जननि मोहमयी तमिस्रा दूर मेरी हो गई है। विश्व की विविधता एकता में खो गई है।" में उन्हें एकतत्व की अनूभूति भी उपलब्ध हो गई है जो उपनिषदों का चरम प्रतिपाद्य है। यही उनकी सिद्धि की अवस्था है और उनका काव्य सिद्धसन्त का काव्य है। निराला ने जीवन-पर्यन्त समत्व की साधना की है और उसकी चरम परिणति हुई है आनन्द में। उनका परवर्ती काव्य इस बात का साक्षी है। जीवन के अन्तिम क्षण तक ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी में वे अवगाहन करते हुए उस तत्व का साक्षात्कार कर सके हैं, जो प्राचीन ऋषि-मुनियों का साध्य रहा है। उन्होंने हमें समाधि की विशुद्ध चेतना के दर्शन बार-बार कराये हैं। समाधि-चेतना की भावभूमि से उतर कर ही निराला हमें अपना सर्वश्रेष्ठ देते हैं परन्तु वह जानते हैं कि काव्य और साहित्य का सारा रस एक ही चैतन्य महासागर की ओर धावमान होता है, क्योंकि वही एक आनन्द का अथ-इति है।"[2] कवि के शब्दों में—

"नूपुर के सुर मन्द रहे,
जब न चरण स्वच्छन्द रहे।
उतरी नभ से निर्मल राका
पहले जब तुमने हंस ताका,
बहुविध प्राणों को झंकृत कर

---

१. बृ० उ० २,४,१४।
२. रामरतन भटनागर : निराला और नव जागरण, पृ० २१५।

वजे छन्द जो वन्द रहे ।
नयनों के ही साथ फिरे वे,
मेरे घर नहीं घिरे वे,
तुम से चल तुम में ही पहुंचे
जितने रस आनन्द रहे ।" (वही, गीत १९४१)

उपसंहार :

निराला ने काव्य और जीवन दोनों में वेदान्त की साधना की है। आदर्श और यथार्थ दोनों ही दृष्टियों से निराला ठोस अद्वैतवाद की भूमिका पर ही संचरण करते हैं। उनका आत्म-संग्रह लोक-संग्रह से भिन्न नहीं है। उन्होंने आत्म-संग्रह को लोक-संग्रह में उँड़ेल दिया है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से 'स्व' और 'पर' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। हम जो वाहर देखते हैं वह हमारे अन्तर का ही प्रसाद है, इसलिए अद्वैतवादी के निकट अपने से भिन्न कुछ भी नहीं है और जगत् के प्रति निस्संग और अनासक्त रहकर भी वह करुणा और मानवतावादी दृष्टिकोण से अपने को परिवद्ध पाता है—देखिए, 'वाहर मैं कर दिया हूँ, भीतर से भर दिया गया हूँ' (वेला गीत ३५)। इसलिए निराला के काव्य की भूमि को हम वड़ा विस्तृत पाते हैं। एक ओर हम उन्हें आत्मदर्शन और प्रभु-दर्शन की चर्चा करते पाते हैं तो दूसरी ओर लोक-संग्रह की भूमिका पर 'दीन', 'करण', भिक्षुक' आदि के चित्र प्रस्तुत करते देखते हैं। उन्होंने इस प्रकार लौकिक से आध्यात्मिक और और आध्यात्मिक से लौकिक भूमिका पर समान रूप से संचरण किया है। उन्होंने लोक और परलोक को एक ही सूत्र से निवद्ध कर दिया है। वे परलोक की चर्चा करते समय भी नारी और प्रेम को नहीं भूलते, प्रकृति और जीवन से पलायन नहीं करते। डा० रामरतन भटनागर ने ठीक ही कहा है कि "उनका वेदान्त-दर्शन गद्यात्मक, आत्मिक सौन्दर्य माधुर्य-करुणा के आयामों से पुष्ट तथा जीवन की चिन्मयता, शक्तिमत्ता और आनन्दमयता से ओत-प्रोत परिपूर्ण मानव-संस्कृति है।"[1]

---

१. रामरतन भटनागर : निराला और नव जागरण, पृ० १४

सप्तम अध्याय

# पन्त के काव्य पर वैदिक दर्शन का प्रभाव

## पंत और उनका वैदिक दर्शन से सम्पर्क

प्रकृति की सुरम्य स्थली कौसानी (अलमोड़ा) के रमणीक एवं मनोमुग्धकारी वातावरण में पलने वाले कविवर पंत का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ जो अपनी उदारता, साधु-सेविता एवं धार्मिक-प्रवृत्ति के कारण जन-प्रसिद्ध था। अपने पिताजी की धार्मिक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने एक बार 'मानव'जी से इन्टरव्यू देते समय कहा था—"पिताजी धार्मिक वृत्ति के उदार व्यक्ति थे। प्रातःकाल चार बजे से आठ बजे तक पूजा-पाठ में लगे रहते थे।"[1] ऐसे धर्म-प्राण पिता का बालक पंत पर प्रभाव न पड़ता—यह असंभव था। उनके सम्बन्ध में तो यहाँ तक प्रसिद्ध है कि एक बार वे उत्तर की ओर जाने वाले किसी साधु के साथ गेरुआ वस्त्र धारण कर साधु-रूप में जाने को भी तैयार हो गए थे।[2] पर परिवार के सदस्यों के आग्रह से उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। यदि ऐसा हो जाता तो हिन्दी को उसका पंत कहाँ से मिलता ? हाँ, यह घटना इस बात पर अवश्य प्रकाश डालती है कि पंतजी आरम्भ से ही साधु-प्रकृति के थे। उनकी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चाहे वे लोक-दृष्टि से साधु-वेश में न रहे हों, पर जीवन-पर्यन्त अपरिग्रही रह कर उन्होंने अपनी उस प्रवृत्ति का परिचय अवश्य दिया है। पंतजी को प्रकृति से असीम अनुराग था। पहली बार जब अपनी आँखें खोलीं तो उन्होंने अपने चारों ओर प्रकृति का राशि-राशि वैभव बिखरा पाया। हिममंडित हिमालय के गिरि-शृंग अपनी उच्चता, उज्ज्वलता और मूकता का मौन-संदेश हमारे कवि के मन पर अज्ञात रूप से छोड़ जाते थे।[3] उन्हें सर्वप्रथम कविता करने की प्रेरणा भी प्रकृति से ही मिली। आधुनिक कवि, भाग-२ के पर्यालोचन में उन्होंने स्वयं कहा है

१. सुमित्रानन्दन पंत : विश्वम्भर 'मानव', पृष्ठ ४।
२. देखिये, श्री बच्चन : पल्लविनी की भूमिका, पृष्ठ २६।
३. हिमगिरि प्रांतर था दिग् हर्षित
प्रकृति क्रोड़ ऋतु शोभा कल्पित। वाणी, पृष्ठ १३६।

"कविता करने की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली, जिसका श्रेय मेरी जन्म-भूमि 'कूर्मांचल प्रदेश' को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, मैं घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण मेरे भीतर एक अज्ञात सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखें मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्य-पट चुपचाप मेरी आँखों के सामने घूमा करता था।"[१] एक ओर प्रकृति-दर्शन और दूसरी ओर हिमालय की तपोभूमि में गुंजित थे रामकृष्णदेव, विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के अद्वैत-दर्शन सम्पृक्त सप्राण वचन और उपदेश से दोनों ने मिलकर पंतजी के प्रारम्भिक व्यक्तित्व और मानस-जगत् का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। १५ वर्ष की अवस्था से ही उन्होंने रामायण, महाभारत, गीता आदि का पढ़ना भी प्रारम्भ कर दिया था। इन ग्रंथों के अध्ययन से उनकी धार्मिक-वृत्ति को और पोषण मिला। दूसरी ओर वे दर्शन-शास्त्र के अध्ययन की ओर झुके। उन्होंने स्वयं कहा है—"स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक-दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई। 'परिवर्तन' में इस विचारधारा का काफी प्रभाव है।"[२] 'आत्मिका' में भी उन्होंने इस प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा है—

> "रामकृष्ण और रामतीर्थ के
> वचनामृत से थी भू-प्लावित,
> पुनर्जागरण का युग था वह
> भारतीय-दर्शन का जग हित
> × × ×
> गरज रहे थे अन्तर उर्वर
> दीप्त विवेकानन्द वचन घन।" (वाणी, पृ० १४४)

पुनर्जागरण का वह युग था ही और इस जागरण-काल में भारतीय-संस्कृति के उन शाश्वत और प्राचीन मूल्यों के, जो समय के प्रभाव से मध्य-युग में अपना महत्त्व खो बैठे थे, पुनर्जीवन और पुनः-संस्थापन के लिए समवेत प्रयत्न किए गए थे जिसका उल्लेख पीछे नव-जागरण से सम्बन्धित अध्ययन में हम कर आए हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक नव-जागरण से उत्पन्न वातावरण का प्रभाव अन्य छायावादी कवियों की भाँति पंतजी पर भी पड़ा। इसी समय सन् १९१३ में रवीन्द्र की 'गीतांजलि' भी नोबुल पुरस्कार से पुरस्कृत हुई थी। उसकी लोक-प्रियता ने भी हमारे इन कवियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। 'गीतांजलि' के गीत उपनिषद्-दर्शन से प्रभावित थे और पंतजी की रुचि के अनुकूल थे। अतः पंतजी ने गीतांजलि और उपनिषदों दोनों का अध्ययन किया। उन्होंने आधुनिक कवि-२ के पर्यालोचन में

---

१. आधुनिक कवि, भाग-२, पर्यालोचन, पृष्ठ ७-८।
२. वही, पृष्ठ १०।

रवीन्द्र के प्रभाव को भी स्वीकार किया है[१] और 'आत्मिका' में उसकी चर्चा इस प्रकार की है—

"भारत आत्मा को कर भूषित
कवि रवीन्द्र ने स्वर्ण पंख स्वर
श्रवणों में रहते मधु गुंजित ।"[२]

उपनिषदों के अध्ययन ने तो उनके चिन्तन की दिशा ही बदल दी थी। उनका कथन है कि—"दर्शन शास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे राग-तत्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरे निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई।...जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी, वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर... इस क्षण-भंगुरता के बुद्बुदों के 'संसार' में परिवर्तन ही एकमात्र चिरन्तन सत्ता जान पड़ने लगी।" जहाँ एक ओर उपनिषद्दर्शन के अध्ययन ने पंतजी को कुछ समय के लिए उदासीनता के वातावरण में भटकाया है, वहाँ दूसरी ओर उसके विधेयात्मक पक्ष से प्रसन्न भी हुए हैं—"किन्तु दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार ने जहाँ जीवन के नाम-रूप-गुण के छिलके उतार कर मन को शून्य की परिधि में भटकाया है वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसे सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनन्द से मुग्ध और विस्मित कर देती है।"[3] उपनिषद्-दर्शन के प्रभाव का उल्लेख उन्होंने आत्मिका में भी किया है।[४]

पंत के भावुक मन और मानस पर युग के जिन द्रष्टाओं का प्रभाव पड़ा उनमें गांधी और मार्क्स के नाम भी लिए जा सकते हैं। पंतजी पर जब हम मार्क्स के प्रभाव की बात कहते हैं तो उससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि पंतजी ने भौतिकवाद स्वीकार कर लिया था। भौतिकता को 'वाद' के रूप में उन्होंने न तब स्वीकार किया था और न इससे पूर्व और न बाद में ही। 'भौतिकता' की उनकी अपनी व्याख्या थी जिसका उन्होंने गांधी के 'अध्यात्मवाद' से समन्वय कर दिया था। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त—"कि मुख्य तत्व पदार्थ (जड़) है उसी से जीवन (चेतना) का विकास हुआ है, आत्मा-परमात्मा

---

१. आधुनिक कवि-२, पृष्ठ १६ ।
२. वाणी, पृष्ठ १४७ ।
३. आधुनिक कवि-२, पृष्ठ १०-११ ।
४. उपनिषदों के मंत्र श्रवण कर
अन्तर होता रहता झंकृत,
ब्रह्म, सत्य शाश्वत ईश्वर क्या—
जिज्ञासा पूछा करती नित । —वाणी, पृष्ठ १४५ ।

जैसी कोई वस्तु नहीं है" उनके आस्तिक मन को कभी भी स्वीकार नहीं हो सका। साथ ही सामाजिक-राजनीतिक धरातल पर हिंसात्मक-क्रांति के पक्ष का भी उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। वे उस दर्शन की ऐतिहासिक व्याख्या को अवश्य स्वीकार करते थे और जगत् की भौतिकता की सत्ता में भी विश्वास रखते थे। साथ ही उन्होंने मध्य-युगीन भारतीय-दर्शन के अभावात्मक विचारों यथा जीवन का मिथ्या-पन, संसार की असारता, मायावाद, प्रारब्धवाद, आदि पर जो जग-जीवन के चतुर्दिक् विकास में बाधक सिद्ध होते हैं, अत्यधिक क्षोभ प्रकट किया।[1] उन्होंने न तो भारतीय-दर्शन के परवर्ती संकीर्ण व्यक्तिवाद को ही प्रश्रय दिया और न भौतिकता-वादी नास्तिकता को ही। उन्होंने दोनों दर्शनों के लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष को अवश्य ग्रहण किया है। उन्होंने कहा है—"मानवता और सर्वभूत-हित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी।"[2] इस प्रकार पंतजी अध्यात्म और भौतिक दोनों दर्शनों के सिद्धांतों से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने कहा कि—"भारतीय-दर्शन की सामंत-कालीन परिस्थितियों के कारण जो एकांत परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत् एवं ऐहिक जीवन की माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उप-संहार-मात्र हैं) और मार्क्स के दर्शन की पूंजीवादी परिस्थितियों के कारण जो वर्ग-युद्ध और रक्त-क्रांति में परिणति हुई है—"ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।"[3] अतः उन्होंने इन दोनों अतिछोरों को अस्वीकार कर दिया। स्पष्ट है कि पंतजी की वैदिक-दर्शन की मान्यताओं और सिद्धांतों पर आस्था कभी खण्डित नहीं हुई। वे आरम्भ से अब तक अध्यात्मवादी ही बने रहे हैं। मार्क्स के प्रभाव को भी उन्होंने बड़े सीमित और आंशिक रूप में ग्रहण किया है। वैदिक-दर्शन के प्रति उनकी आस्था श्री अरविन्द से सम्पर्क के कारण और भी अधिक प्रगाढ हो गई। पंतजी ने श्री अरविन्द की वेद और उपनिषद्-सम्बन्धी व्याख्याओं को आधुनिक-युग के परिवेश में उपयोगी जानकर पर्याप्त सीमा तक स्वीकार कर लिया जो उनके ग्राम्या (१९४०) के बाद के समस्त काव्य (स्वर्ण-काव्य) का मेरु-दण्ड बन गई। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। ज्योत्स्ना-काल से ही पंतजी ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। 'ज्योत्स्ना' में उन्होंने कहा था कि—"जो सत्य मानव-जीवन और मानव-जाति के लिए कल्याणकारी नहीं, जो उसकी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं लौकिक उन्नति का समग्र रूप से पोषक नहीं, वह सत्य मानवी सत्य नहीं हो सकता .....जिस प्रकार समस्त जीवन सत्य पर अवलम्बित है, उसी प्रकार समस्त सत्य जीवन पर, सत्य जीवन के बाहर

---

१. आधुनिक कवि—२, पृ० ३०।
२. वही, २, पृ० ३०।
३. वही, पृ०, ३०-३१।

नहीं मिल सकता।......मानव-जीवन का सत्य सापेक्ष है। त्याग और भोग एक दूसरे को सार्थक करते हैं।"[१] पर वे अपने इस दृष्टिकोण के पोषण के लिए दर्शन की ठोस आधार-भूमि चाहते थे और वह उन्हें आगे चलकर मिली थी अरविन्द से। श्री अरविन्द से सम्पर्क की चर्चा करते हुए पंतजी ने कहा—"१९४१-४२ की बात है जब श्री अरविन्द के सेक्रेटरी श्री ए० बी० पुराणी की कन्या श्री उदय शंकर के केन्द्र में शिक्षा पाने आई थीं। वे प्राय: श्री अरविन्द के दार्शनिक विचारों की चर्चा करती थीं। उसी समय से उनके साहित्य के अध्ययन की ओर मेरी अभिरुचि हुई। अलमोड़े में ही एक प्रसिद्ध अमरीकन चित्रकार मि० ब्रूस्टर रहते थे जो श्री अरविंद के बड़े भक्त थे। उन्होंने उनकी 'दि लाइफ डिवाइन' भेंट की। १९४५-४६ में मैं आश्रम में गया ही और वहां श्री अरविन्द के दर्शन हुए।"[२] इस प्रकार पंतजी पर अरविन्द के विचार और दर्शन का गहरा प्रभाव पड़ा। जिसने उन्हें नूतन रहस्यवादी कवि होने का गौरव प्रदान किया है। वेद और उपनिषद् मानव-जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करते हैं। श्री अरविन्द ने वैज्ञानिक और दार्शनिक धरातल पर वैदिक-विचारों की समन्वयात्मक दृष्टि से व्याख्या की और पंत ने उन्हें अपनी रुचि के अनुकूल ग्रहण कर काव्य के परिधान से सुसज्जित कर दिया। आज भी वे उन्हीं विचारों से प्रभावित होकर काव्य-रचना में संलग्न हैं।

ऊपर उन सभी स्रोतों की ओर संकेत किया गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पंतजी के भाव-जगत् के निर्माण में सहयोग दिया है। मार्क्स को छोड़कर अन्य सभी स्रोत भारतीय और वैदिक हैं जो किसी-न-किसी रूप में वैदिक सिद्धांतों और मान्यताओं की ही व्याख्या करते हैं। पंतजी ने पश्चिमी दर्शन का भी अध्ययन किया था और भारतीय दर्शन के साथ उसकी तुलना करते हुए उन्होंने कहा था—'सहस्रों वर्षों से अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म-सूक्ष्मतम झंकारों से रहस मौन निनादित भारत के एकान्त मनोगगन में मार्क्स तथा एंगिलस के विचार-दर्शन की गूंजें बौद्धिकता के शुभ्र अन्धकार के भीतर से रेंगने वाले झींगुरों की रुंधी हुई झंकार से अधिक स्पन्दन पैदा नहीं करतीं। एंगिलस के शाश्वत सत्य की व्याख्या, जिसके उदाहरण-स्वरूप, नेपोलियन ५ मई को मरा है, तथा हीगेल का 'विचार का निरपेक्ष' जो कण-कण जोड़कर विकसित होता है तथा ऐसे इतर सिद्धांतों की दुहाई देकर द्वन्द्व-तर्क तथा भौतिकवाद का महत्त्व दिखाना भारतीय-दर्शन के लिए हास्यास्पद दार्शनिक तुतलाहट से अधिक अर्थ-गौरव नहीं रखती।' पंतजी का उपरोक्त कथन भी उनके भारतीय-दर्शन के प्रति अनुराग[३] की सशक्त अभिव्यक्ति है। संक्षेप में पंतजी को वैदिक-दर्शन की ओर प्रेरित करने वाले स्रोत निम्न हैं—

---

१. ज्योत्सना, पृ० ६९।
२. 'मानव' : सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ७ से उद्धृत।
३. उत्तरा की भूमिका, पृ० २०।

(१) रवीन्द्र की गीतांजलि का अध्ययन ।
(२) स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ का व्यावहारिक-वेदान्त दर्शन ।
(३) दर्शन शास्त्र और उपनिषदों का अध्ययन ।
(४) श्री अरविन्द की वेद और उपनिषद्-सम्बन्धी व्याख्याएँ और उनका अध्ययन ।

इन स्रोतों में भी पंतजी सीधे उपनिषदों के अध्ययन और उपनिषदों पर विवेकानन्द और अरविन्द की व्याख्याओं को अधिक महत्त्व देते थे । इसका प्रमुख कारण यह था कि इन दोनों महापुरुषों ने उपनिषदों के सिद्धान्तों को व्यावहारिक धरातल पर स्वीकार कर जीवन के लिए ग्रहणीय और स्पृहणीय बना दिया था तथा औपनिषदिक अद्वैतवाद को सामाजिक धरातल पर स्वीकार करके मानव-मानव की एकता और समानता का स्वर गुंजित किया था । इनकी व्याख्याओं में किसी भी प्रकार के भेद-भाव को तनिक भी स्थान नहीं था । पंत को यही अभीष्ट था अतः उन्होंने इनकी मान्यताओं को अपनी समग्र चेतना के साथ स्वीकार कर लिया । व्यक्तिगत धरातल पर पंतजी चिंतन भी करते थे । शिवचन्द्र नागर ने पंतजी से पूछा था—'क्या आप पूजा भी करते हैं ?' इसके उत्तर में उन्होंने कहा—'पूजा किसी की नहीं, नहाने के बाद 'मेडीटेशन' (ध्यान) करता हूँ ।' और 'पंतजी के प्रतिदिन के मेडिटेशन' का अर्थ अपनी समस्त चेतना का केन्द्रीकरण कर इसमें दिव्यता की अनुभूति होता है ।'[1] वस्तुतः कवि पंत के पीछे एक दिव्य संत और संत के पीछे एक सरस कवि बैठा हुआ है । उन्होंने अपनी काव्य-साधना प्रकृति-सौन्दर्य से प्रारम्भ की और उसका पर्यवसान हुआ मानवतावाद और नवचेतनावाद में । इन दो आयामों के भीतर कविवर पंत ने समग्र जीवन और दर्शन को काव्य की उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया है ।

हम अपने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पन्तजी के काव्य को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) प्रारम्भिक काव्य—वीणा, पल्लव, गुंजन, ज्योत्स्ना और युगान्त ।
(२) मध्यवर्ती काव्य—युगवाणी और ग्राम्या ।
(३) परवर्ती काव्य (स्वर्णकाव्य)—युगान्तर, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, उत्तरा आदि रचनाएँ ।

## पंतजी की प्रारम्भिक रचनाएँ

**वीणा**—'वीणा' पन्तजी की भाव-प्रधान रचना है जिसमें उनका प्रकृति के प्रति सौन्दर्यमूलक दृष्टिकोण प्रकट हुआ है । पर कवि की दृष्टि प्रकृति के केवल बाह्य रूप पर अटक कर नहीं रह जाती, वे उसके पीछे आरम्भ से ही एक विराट्

१. सुमित्रानन्दन पंत : काव्य कला और जीवन दर्शन : सम्पादिका शचीरानी गुर्टू,

सत्ता के दर्शन करते हैं। पन्तजी ने वीणा-पल्लव-काल की रचनाओं के विषय में अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए कहा—" 'वीणा' और 'पल्लव' विशेषतः मेरे प्राकृतिक साहचर्य काल की रचनाएँ हैं। तब प्रकृति की सत्ता पर मुझे विश्वास था और उसके व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास मिलता था। वह मेरी सौन्दर्य-लिप्सा की पूर्ति करती थी, जिसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नही थीं।"[1] इसी समय पन्तजी का विवेकानन्द और रामतीर्थ के अद्वैत-दर्शन और रवीन्द्र की 'गीतांजलि' से परिचय हुआ जिसके परिणामस्वरूप उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में भी दार्शनिकता समाविष्ट[2] हो गई। किन्तु उनकी यह दार्शनिकता बुद्धि के धरातल से काव्य में अवतीर्ण नहीं हुई है प्रत्युत हृदय के रस से सिक्त होकर आई है। अतः उनकी इस रचना में दार्शनिक ऊहापोह कम तथा भावमग्नता एवं रसमग्नता अधिक है। वीणा की अधिकांश रचनाएँ भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से सरस, सरल, निश्छल और परमसत्ता से भावात्मक-सम्बन्ध स्थापित करने के कारण रहस्य-भावना से संवलित हैं। रहस्यवादी का ब्रह्म जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है निर्गुण होता है, पर उसके भावभूमि पर अवतरित होते ही सहृदय रहस्य-द्रष्टा उस पर अनेक गुणों का आरोप कर देता है और उसे सम्बन्ध की विभिन्न भूमियों से सम्बोधित करने लगता है। यह प्रवृत्ति न्यूनाधिक रूप से सभी रहस्यवादियों में देखने को मिलती है चाहे वे मध्य युगीन कबीर आदि सन्त हों अथवा प्रसाद आदि आधुनिक छायावादी कवि। पन्त में भी यह प्रवृत्ति आरम्भ से ही विद्यमान है।

**परमसत्ता : ब्रह्म**—पन्तजी ने 'वीणा' की रचनाओं में उस परमसत्ता को, जिसका वेद में विभिन्न प्रकार से गुणगान हुआ है, अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न सम्बोधनों से सम्बोधित किया है। वेद और उपनिषदों में उस परमसत्ता को उसका भावात्मक और विधेयात्मक परिचय देने के लिए 'ज्योतिर्मय' कहा है।[3] पन्तजी इसी आधार पर उसे 'उज्ज्वल' (१२) उज्ज्वलतर (२५), छविमय (२६) छविमान (३२) सुवर्णमय आदि सम्बोधनों से पुकारते हैं। वह सत्ता नित्य और अमर कही गई है। इसी आधार पर उसे 'अमर' (२६), पावन (२६), अनन्तगति (३३) आदि कहा है। ब्रह्म और जीव की सापेक्षता के आधार पर उसे कभी प्रियतम(३२), कभी 'प्रिय' (३३), और कभी प्राण (पृ० ३३) कहा है। इसी प्रकार माता, पुत्र अथवा पुत्री के लौकिक सम्बन्ध के आधार पर उसे माँ, मात और जननि आदि भी कहा है। 'वीणा' की आधी से अधिक रचनाएँ उस माँ को निवेदित हैं जो इस विराट् संसार की जननी है तथा जो ब्रह्म (परमसत्ता) की ही पर्याय है।[4] श्रीरामकृष्णदेव और स्वामी विवेकानन्द की 'काली' और निराला की 'जननि' भी इतनी विराट् हैं

---

१. आधुनिक कवि, भाग २, पर्यालोचन, पृ० १०।
२. देखिए, उत्तरा की भूमिका, पृ० १६।
३. मु० उ० ३,१,५।
४. देखिए, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ७६।

जो समस्त सृष्टि के सृजन और संहार की शक्ति संचित किए हुए हैं। पंतजी ने अनेक स्थलों पर उसे सुजान (३२), करुणावान् (३३), शिव, सुन्दर (५४), कर्णाधार आदि कहकर उसका विभिन्न गुणों के निधान-रूप में उल्लेख किया है। यह उसका सगुण रूप है, भक्तों के साकार रूप से भिन्न।

उसके निर्गुण निराकार रूप का उल्लेख करते हुए उसे द्रौपदी के दुकूल-सा अप्रमेय और अज्ञात है (पृ० ७६) ऐसा भी कहा है।

वैदिक-तत्व-ज्ञान के अन्तर्गत कहा गया है कि सृष्टि के समस्त रहस्यों के पीछे एक ही शक्ति है, 'वह शक्ति इतनी प्रबल है कि सब उसी से उत्पन्न होते हैं, उसी में आश्रित हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं।' उसे जानकर ही हम सब जान पाते हैं। पन्तजी ने निम्न पंक्तियों में यही भाव वर्णित किया है कि हम उस परमसत्ता को जाने बिना इस संसार को नहीं जान सकते, क्योंकि वही एक इस सृष्टि के सारे रहस्यों के पीछे शक्ति-रूप में विद्यमान है—

> "वैसे ही तेरा संसार
> अति अपार यह पारावार
> नहीं खोलता है मा ! अपने
> अद्भुत रत्नों का भण्डार।
> × × ×
> चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
> इसके जल को हिला अपार
> दिखलाई देती तब इसकी
> विश्व मूर्ति अति, सदय उदार।" (गीत ४३)

प्रेम की दृढ पतवार के संचालन से जब इस भव-सागर का अपार जल आन्दोलित हो उठता है तब विश्व का सम्पूर्ण रहस्य स्पष्ट होने लगता है। इसलिए कवि प्रेम की आकांक्षा करता है। एक अन्य कविता में कवि उस सत्ता को 'माँ' रूप में स्तवन करते हुआ प्रश्न करता है कि वह शुभ दिन कब आएगा जब उस छविमान की छवि के दर्शन हो सकेंगे जिसका प्रतिबिम्ब, जग के इस निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है। (गीत ३६) वस्तुतः यहाँ कवि प्रकारान्तर से माँ-रूप में ब्रह्म की सर्व-व्यापकता का वर्णन कर रहा है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु में वह परमतत्व विद्यमान है। उपनिशदें 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' कहकर इसी दृष्टिकोण का समर्थन करती हैं।

**संसार का आध्यात्मिक स्वरूप**—पन्तजी की 'वीणा' यद्यपि माधुर्य भाव से मण्डित है तदपि ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं जो भावात्मक धरातल तक नहीं पहुँच पातीं। उनमें कवि की चिन्तन-वृत्ति की प्रधानता रहती है। 'वीणा' की 'श्रूयते हि पुरा लोके' रचना में पन्तजी ने जगत् के मायात्मक स्वरूप पर चिन्तन प्रकट किया है और कहा है कि छवि के मंजुल उपवन को (ब्रह्मलोक को) इसी मरु से, मायात्मक संसार में से होकर मार्ग जाता है। कवि के अनुसार मनुष्य एक पथिक

है, यह संसार एक पथ है और इस जग के परे सौन्दर्य और आनन्द का एक लोक है जो इस पथिक का गन्तव्य है। परन्तु जैसे मृगमरीचिका में मृग भटक जाता है वैसे ही जीवात्मा ही पथ में भी भटक कर रह जाता है—कवि कहता है—

"उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है
बालु का प्रतिकरण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरिता की धार।" (गीत ४०)

उपनिषदों में जगत् को 'सत्य' और ब्रह्म को सत्यस्यसत्यम्' कहा है। जगत् सत्य है, पर निम्न कोटि का और ब्रह्म सत्य का भी सत्य है,[1] अर्थात् सर्वोच्च सत्य है, उससे परे कुछ भी नहीं है, वही जीव और प्रकृति सभी का गन्तव्य है। पर उसका वास्तविक स्वरूप अमर सत्य के प्रकृति के माया के पर्दे से आच्छादित है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्,' से भी यही भाव ध्वनित होता है। स्पष्ट है कि ब्रह्म का स्वरूप मायामय (अविद्या रूप) प्रकृति के आवरण में आवृत है, उसके स्वरूप को देखने के लिए इस आवरण को दूर करना आवश्यक है। पर क्योंकि उस छवि के मंजुल उपवन का मार्ग इसी अविद्यामय प्रकृति में से ही होकर जाता है इसलिए उसका अपलाप तो नहीं किया जा जकता, पर यही सब कुछ नहीं है यह सत्य है। यदि हमारी दृष्टि विश्व के, प्रकृति के, मोहक रूप तक ही उलझी रह जाती है और हम अविद्या के आवरण को छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करते तो निश्चय ही हम मृगमरीचिका में भटक गए हैं। जगत् के प्रति उपनिषदों का यही दृष्टिकोण है और पन्तजी भी यही कहते हैं।

सर्ववाद—उपनिषदों में सर्वत्र ब्रह्म की व्यापकता का उपाख्यान हुआ है। वह सब में समाया हुआ है, क्या जड़ और क्या चेतन उसकी व्याप्ति से कुछ भी शेष नहीं बचा है। इस सम्बन्ध में पीछे उपनिषदों से उद्धरण देकर पर्याप्त प्रकाश डाल आए हैं।[2] पन्तजी को भी अन्य छायावादी कवियों की भाँति उसकी व्यापकता पर आरम्भ से ही विश्वास है। उन्होंने परमसत्ता की सर्वव्यापकता का अनेक प्रकार से उल्लेख किया है। कवि कहता है—

"खिले थे जब तुम बनकर फूल
भ्रमर बन प्राण! लगाने धूल

---

१. बृह० उ० २,३,६।
२. इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ६२।

जो समस्त सृष्टि के सृजन और संहार की शक्ति संचित किए हुए हैं। पंतजी ने अनेक स्थलों पर उसे सुजान (३२), करुणावान् (३३), शिव, सुन्दर (५४), कर्णधार आदि कहकर उसका विभिन्न गुणों के निधान-रूप में उल्लेख किया है। यह उसका सगुण रूप है, भक्तों के साकार रूप से भिन्न।

उसके निर्गुण निराकार रूप का उल्लेख करते हुए उसे द्रौपदी के दुकूल-सा अप्रमेय और अज्ञात है (पृ० ७६) ऐसा भी कहा है।

वैदिक-तत्व-ज्ञान के अन्तर्गत कहा गया है कि सृष्टि के समस्त रहस्यों के पीछे एक ही शक्ति है, 'वह शक्ति इतनी प्रबल है कि सब उसी से उत्पन्न होते हैं, उसी में आश्रित हैं और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं।' उसे जानकर ही हम सब जान पाते हैं। पन्तजी ने निम्न पंक्तियों में यही भाव वर्णित किया है कि हम उस परमसत्ता को जाने बिना इस संसार को नहीं जान सकते, क्योंकि वही एक इस सृष्टि के सारे रहस्यों के पीछे शक्ति-रूप में विद्यमान है—

"वैसे ही तेरा संसार
अति अपार यह पारावार
नहीं खोलता है मा! अपने
अद्भुत रत्नों का भण्डार।
× × ×
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल को हिला अपार
दिखलाई देती तब इसकी
विश्व मूर्ति अति, सदय उदार।" (गीत ४३)

प्रेम की दृढ पतवार के संचालन से जब इस भव-सागर का अपार जल आन्दोलित हो उठता है तब विश्व का सम्पूर्ण रहस्य स्पष्ट होने लगता है। इसलिए कवि प्रेम की आकांक्षा करता है। एक अन्य कविता में कवि उस सत्ता को 'माँ' रूप में स्तवन करते हुआ प्रश्न करता है कि वह शुभ दिन कब आएगा जब उस छविमान की छवि के दर्शन हो सकेंगे जिसका प्रतिबिम्ब, जग के इस निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित हो रहा है। (गीत ३६) वस्तुतः यहाँ कवि प्रकारान्तर से माँ-रूप में ब्रह्म की सर्व-व्यापकता का वर्णन कर रहा है। इस संसार की प्रत्येक वस्तु में वह परमतत्व विद्यमान है। उपनिशदें 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' कहकर इसी दृष्टिकोण का समर्थन करती हैं।

**संसार का आध्यात्मिक स्वरूप**—पन्तजी की 'वीणा' यद्यपि माधुर्य भाव से मण्डित है तदपि ऐसी रचनाएँ भी उपलब्ध हो जाती हैं जो भावात्मक धरातल तक नहीं पहुँच पातीं। उनमें कवि की चिन्तन-वृत्ति की प्रधानता रहती है। 'वीणा' की 'श्रूयते हि पुरा लोके' रचना में पन्तजी ने जगत् के मायात्मक स्वरूप पर चिन्तन प्रकट किया है और कहा है कि छवि के मंजुल उपवन को (ब्रह्मलोक को) इसी मरु से, मायात्मक संसार में से होकर मार्ग जाता है। कवि के अनुसार मनुष्य एक पथिक

है, यह संसार एक पथ है और इस जग के परे सौन्दर्य और आनन्द का एक लोक है जो इस पथिक का गन्तव्य है। परन्तु जैसे मृगमरीचिका में मृग भटक जाता है वैसे ही जीवात्मा ही पथ में भी भटक कर रह जाता है—कवि कहता है—

"उस छवि के मंजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है
बालु का प्रतिकण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरिता की धार।" (गीत ४०)

उपनिषदों में जगत् को 'सत्य' और ब्रह्म को सत्यस्यसत्यम्' कहा है। जगत् सत्य है, पर निम्न कोटि का और ब्रह्म सत्य का भी सत्य है,[1] अर्थात् सर्वोच्च सत्य है, उससे परे कुछ भी नहीं है, वही जीव और प्रकृति सभी का गन्तव्य है। पर उसका वास्तविक स्वरूप अमर सत्य के प्रकृति के माया के पर्दे से आच्छादित है। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्,' से भी यही भाव ध्वनित होता है। स्पष्ट है कि ब्रह्म का स्वरूप मायामय (अविद्या रूप) प्रकृति के आवरण में आवृत है, उसके स्वरूप को देखने के लिए इस आवरण को दूर करना आवश्यक है। पर क्योंकि उस छवि के मंजुल उपवन का मार्ग इसी अविद्यामय प्रकृति में से ही होकर जाता है इसलिए उसका अपलाप तो नहीं किया जा जकता, पर यही सब कुछ नहीं है यह सत्य है। यदि हमारी दृष्टि विश्व के, प्रकृति के, मोहक रूप तक ही उलझी रह जाती है और हम अविद्या के आवरण को छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ने का प्रयत्न नहीं करते तो निश्चय ही हम मृगमरीचिका में भटक गए हैं। जगत् के प्रति उपनिषदों का यही दृष्टिकोण है और पन्तजी भी यही कहते हैं।

**सर्ववाद**—उपनिषदों में सर्वत्र ब्रह्म की व्यापकता का उपाख्यान हुआ है। वह सब में समाया हुआ है, क्या जड़ और क्या चेतन उसकी व्याप्ति से कुछ भी शेष नहीं बचा है। इस सम्बन्ध में पीछे उपनिषदों से उद्धरण देकर पर्याप्त प्रकाश डाल आए हैं।[2] पन्तजी को भी अन्य छायावादी कवियों की भाँति उसकी व्यापकता पर आरम्भ से ही विश्वास है। उन्होंने परमसत्ता की सर्वव्यापकता का अनेक प्रकार से उल्लेख किया है। कवि कहता है—

"खिले थे जब तुम बनकर फूल
भ्रमर बन प्राण! लगाने धूल

---

१. बृह० उ० २,३,६।
२. इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ६२।

**पास आया मैं चुपके, शूल**
**चुभाए तुमने मेरे गात।"** (गीत १६)

इस स्थल पर वह तत्व फूल और काँटा दोनों में समान रूप से व्याप्त कहा गया है। सरिता 'कलकल' की ध्वनि-रूप में उसी का गीत गाती हुई बहती है (गीत २८)। एक अन्य रचना में कवि यही भाव प्रकट करते हुए कहता है कि 'लतिका के कंपित अधरों पर उसी का मृदु अस्फुट गान फूट रहा है। वही मन्द मारुत रूप में बहकर ध्यान आकर्षित कर रहा है। प्रकृति की समग्र शोभा में वही तो विद्यमान है जो अपनी चपल उँगलियों से छूकर हृत्तन्त्री के तारों को झंकृत कर देता है। (गीत ३९) वह सत्ता रूप में सर्वत्र विद्यमान है। (गीत २३) ऐसे व्यापक ब्रह्म के, उस अरूप के रूप-वर्णन में भी कवि किसी प्रकार का संकोच नहीं करता। वह कहता है—

**"जिसकी छवि सुन्दर ऊषा है,**
**नव वसन्त जिसका शृंगार,**
**तारे हार किरीट सूर्य-शशि,**
**मेह केश, स्नेहाश्रु तुषार,**
**मलयानिल मुख-वास जलधि मन**
**लीला लहरों का संसार।"** (गीत १२)

ऋग्वेद दशम मण्डल के पुरुष-सूक्त में वैदिक कवि ने परमसत्ता का नराकार रूप में अंकन किया है। यथा निम्न ऋचाओं में—

**"चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत**
**मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत**
**नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत**
**पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।"** (१०,९०,१३-१४)

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पन्तजी ने प्रकृति के रंगीन चित्रों में उस दिव्य चिरन्तन विराट् रूप के दर्शन किए हैं जिसका वर्णन वैदिक वाङ्मय में सुदूर अतीत में हो चुका है।

**रहस्य-भावना**—रहस्यवृत्ति के लिए जिस भावना की सर्वाधिक अपेक्षा है वह है जिज्ञासा की वृत्ति की। वैदिक-वाङ्मय से लेकर इधर के अब तक के सम्पूर्ण रहस्यवादी साहित्य में यह वृत्ति अखण्ड रूप से विद्यमान है जिस पर पीछे विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है।[1] वेदान्त दर्शन का आरम्भ ही जिज्ञासा से होता है, 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' कहकर जिज्ञासा प्रकट की गई है कि वह ब्रह्म कौन है? तदन्तर दर्शन का प्रारम्भ होता है। इस प्रकार प्रत्येक दर्शन के मूल में भी जिज्ञासा की वृत्ति ही सक्रिय है। आधुनिक छायावादी कवि इसके अपवाद नहीं हैं। पन्तजी में जिज्ञासा का स्वर अन्य सभी छाया-कवियों की अपेक्षा अधिक मुखर है? महत्त्व के

---

१. देखिये, इसी प्रबन्ध का पृ० ८७, प्रसाद की रहस्य-भावना।

प्रति आत्मसमर्पण और सुन्दर के प्रति आकर्षण ये दो वृत्ति ऐसी हैं जो रहस्यवादी बनने में सहायक होती हैं। पन्तजी में ये दोनों वृत्तियाँ आरम्भ से ही विद्यमान हैं।

जिज्ञासा—कवि एक अज्ञेय सत्ता में दृढ़ विश्वास रखता है, उसकी सर्वव्यापकता से उसका परिचय भी है, पर उसके गुण और स्वरूप के सम्बन्ध में वह अनभिज्ञ है। इसी स्थिति से सम्बन्धित अनेक जिज्ञासाएँ उनके प्रारम्भिक काव्य में विद्यमान हैं। कवि एक रचना में पुष्प अथवा नक्षत्रों को मधुरिमा के मृदु-हास कहकर प्रश्न करता है कि तुम में ऐसे कौन से अदृश्य-गुण निहित हैं जो चुपचाप मेरी आत्मा को अपने निकट खींच लेते हैं। (गीत-४२) इसी गीत में कवि की आत्मा व्याकुल होकर पूछती है—

'कहाँ हो मेरे कर्णधार
लघु लहरों में खेल रही है
मेरी हलकी नाव।
न तुम से है प्रिय! तनिक दुराव
जानते हो सब मन के भाव।' (वही ४२)

यहाँ जिसके सम्बन्ध में जिज्ञासा की गई है वह कवि की आत्मा के इतने निकट है जिससे कुछ भी नहीं छिपा है, जो मन के सभी भावों से परिचित है। क्योंकि वह स्वयं जीवात्मा के हृदय-देश में प्रतिष्ठित है और साक्षी की भाँति सब कुछ देखता रहता है। उससे कुछ भी ऐसा नहीं जो अविज्ञात हो। परमेश्वर की सर्वज्ञता का यह वर्णन उपनिषदों के अनुसार ही हुआ है। यजुर्वेद में कहा है कि वह अन्तर्यामी होने के कारण सब की बात जानता है—'तदन्तरस्य सर्वस्य।' उससे कुछ भी छिपा नहीं है।[१]

जिज्ञासा का भाव 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना? कहाँ-कहाँ हे बाल विहंगिनि पाया तूने यह गाना?' पद से आरम्भ होने वाले ५८वें गीत में भी सशक्त रूप से व्यक्त हुआ है। 'चमक कर मेरे पथ में प्रात आँख अटकाती है—यह कौन?' (गीत-५०) पंक्तियों में भी कवि उस अज्ञात शक्ति को जानने के लिए उत्सुक है जो अन्धकारमय पथ में अचानक चमक कर कवि की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है।' मा! तू क्या लघु कण में भी है?' गीत-४९ में उपनिषदों के 'अणोरणीयान्' की ध्वनि स्पष्टतः श्रुतिगोचर होती है। वहं कण-कण में व्याप्त कहा गया है और पन्तजी भी प्रकारान्तर से वही बात कहते हैं—

'तेरी ही छवि प्रतिबिम्बित सी
मुझको उसमें मिली महान्
मा! तू क्या लघु कण में भी है?
तब क्या मैं ही थी अज्ञान?' (गीत ४९)

वीणा में पन्तजी की रहस्य-वृत्ति जिज्ञासा के स्वर तक ही सीमित नहीं रह

---

१. यजु० ४०,५।

गई है उसमें अनुभूति की प्रगाढ़ता भी है। एक स्थल पर कवि कहता है कि प्रभु के रहस्यमय स्पर्श से निद्रा और सुख-स्वप्न आदि के सभी वन्धन एक साथ टूट गए—

"वह निद्रा सुख स्वप्न सजाने ! वे
एक साथ ही सब छूटे।
एक-एककर हृदय हार के
वन्धन अब मेरे टूटे।" (गीत ३०)

उपनिषदें भी स्पष्ट कहती हैं कि उस परमेश्वर को जान लेने पर समस्त वन्धनों का नाश हो जाता है—'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः'।[१] जीवात्मा को यह स्थिति मन की उच्चावस्था में ही उपलब्ध होती है जिसका उल्लेख सभी प्राचीन और अर्वाचीन रहस्य-कवियों में देखने को मिलता है। पन्तजी के अन्य गीतों में भी इस अवस्था का वर्णन हुआ है (देखिये गीत २५)।

'वीणा' में उस प्रियतम से अविच्छिन्न सम्वन्ध की अभिव्यक्ति भी हुई है जो अद्वैत को लेकर चली है। कवि कहता है कि मैं तुम से सब प्रकार से एक हूँ, पर इस अभिन्नता के सम्वन्ध को कैसे स्पष्ट करूँ, कौन से उपमान जुटाऊँ? कुछ भी सही, कवि ने उस सम्वन्ध को निम्न पंक्तियों में स्पष्ट करने की चेष्टा अवश्य की है—

"जलद हूं मैं, यदि तुम हो स्वांति
तृषा तुम यदि मैं चातक-पांति।" (गीत २६)

कवि को आत्मा-परमात्मा की एकता का ज्ञान प्रारम्भ से ही था, तभी पन्तजी यह कह सके—

"जव मैं थी अज्ञात-प्रभात
मा ! तव मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात।
तव तो यह भारी अन्तर
एकमेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति वन कर सुन्दर।" (वही १३)

ज़व आत्मा परमात्मा से विच्छिन्न नहीं हुई थी तव वे दोनों एक थे, उस समय दोनों में कोई अन्तर नहीं था, एक सुन्दर ज्योति रूप में दोनों में अभिन्नता थी। पर अव संसार में आते ही, अविद्या से सम्पर्क होने पर दोनों में पर्याप्त दूरी हो गई प्रतीत होती है। अब उस अन्तर को दूर करने के लिए अभिन्नता के ज्ञान का प्रकाश पुनः आवश्यक हो गया है। उस प्रकाश के प्रज्ज्वलित होते ही मोह की छाया छिन्न-भिन्न होकर उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करेगी (वही)। इसीलिए कवि की आत्मा उस विराट् 'मां' की गोदी में सोने की आकांक्षा प्रकट करती है ताकि दोनों के मध्य का अन्तर और अधिक न वढ़ जावे। वह सबसे छोटी होकर उसकी महती शक्ति के साथ

१. श्वे० उ० १,११।

उसी प्रकार रहना चाहती है जिस प्रकार शिशु अपनी माता का अंचल पकड़कर सदा उसी के साथ रहता है तथा निःस्पृहता और निर्भीकता का अनुभव करता है (गीत-२१)। यहाँ भी उपनिषदों के विचारों की स्पष्ट छाया विद्यमान है। जीवात्मा जब परमात्मा के सतत सम्पर्क में रहने लगता है तब वह निःस्पृह और निर्भय हो जाता है। तब उसे कोई बाधा नहीं सताती, कोई आकांक्षा पीड़ित नहीं करती।[1]

रहस्यवादी कवियों ने रहस्य-भावना के अन्तर्गत लौकिक प्रणय की भाँति आतुरता, विरह-व्याकुलता आदि की भावनाएँ भी व्यक्त की हैं, यह बात हम पहले कह आए हैं। विरहानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ फारसी-काव्य में अधिकांश रूप से हुई हैं। हिन्दी के सूफी काव्य में भी इस प्रकार की अभिव्यक्तियों की अधिकता है और वह फारसी का प्रभाव माना जाता है। सन्त-काव्य में भी यह विरहानुभूति सूफी काव्य के माध्यम से आई है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। छायावादी कवियों में विरहानुभूति की इतनी अधिक तीव्रता महादेवी को छोड़कर अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती, पर उसका अन्य कवियों के काव्य में नितान्त अभाव भी नहीं है। 'प्रसाद' और 'निराला' के काव्य की चर्चा करते समय रहस्यभावना के प्रसंग में हम इस वृत्ति की ओर संकेत कर आए हैं। पन्तजी में भी यह वृत्ति विद्यमान है किन्तु वह वीणा-काल की रचनाओं तक ही सीमित है। आगे के काव्य में क्रमशः इस वृत्ति का अभाव होता चला गया है। यहाँ इस सन्दर्भ में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रभु के प्रति आतुरता एवं विरह-व्याकुलता का वैदिक साहित्य में नितान्त अभाव नहीं है। ऋग्वेद की वरुण के प्रति ऋषि वसिष्ठ द्वारा निवेदित स्तुतियाँ इतनी मार्मिक हैं कि सीधे हृदय को स्पर्श करती हैं। दो-एक ऋचाएँ देखिये—

**अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविद ज्जरितारम्। मृला सुक्षत्र मृलय।**'[2]

अर्थात् जलों के मध्य बैठा हुआ भी मैं प्यास से मरा जा रहा हूँ। अतृप्ति से व्याकुल हो रहा हूँ। हे प्रभु, तुम्हारी दया मेरे ऊपर कब होगी। हे दयालु दया करो! दया करो।

**'उत स्वया तन्वा सं वदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।**
**किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभिख्यम्॥'**[3]

प्रभु के दर्शनों के लिए, उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए वैदिक ऋषि विह्वल होकर पूछता है—'मैं वरुण के पास कब ठहर सकूंगा, वे मेरे हव्य को स्वीकार करेंगे क्या? मैं सुन्दर मतवाला होकर उन सुखप्रद वरुण को कब देख पाऊँगा।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों की स्तुतियों में जहाँ विनय, निवेदन और तादात्म्य की आकांक्षा प्रकट हुई है, वहाँ विरह-विह्वलता और

---

१. बृह० उ०, ४,४,७।
२. ऋग्वेद ७,८६,४।
३. वही, ७,८६,२।

गई है उसमें अनुभूति की प्रगाढता भी है। एक स्थल पर कवि कहता है कि प्रभु के रहस्यमय स्पर्श से निद्रा और सुख-स्वप्न आदि के सभी बन्धन एक साथ टूट गए—

"वह निद्रा सुख स्वप्न सजाने ! वे
एक साथ ही सब छूटे।
एक-एककर हृदय हार के
बन्धन अब मेरे टूटे।" (गीत ३०)

उपनिषदें भी स्पष्ट कहती हैं कि उस परमेश्वर को जान लेने पर समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है—'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः'।[1] जीवात्मा को यह स्थिति मन की उच्चावस्था में ही उपलब्ध होती है जिसका उल्लेख सभी प्राचीन और अर्वाचीन रहस्य-कवियों में देखने को मिलता है। पन्तजी के अन्य गीतों में भी इस अवस्था का वर्णन हुआ है (देखिये गीत २५)।

'वीणा' में उस प्रियतम से अविच्छिन्न सम्बन्ध की अभिव्यक्ति भी हुई है जो अद्वैत को लेकर चली है। कवि कहता है कि मैं तुम से सब प्रकार से एक हूँ, पर इस अभिन्नता के सम्बन्ध को कैसे स्पष्ट करूँ, कौन से उपमान जुटाऊँ ? कुछ भी सही, कवि ने उस सम्बन्ध को निम्न पंक्तियों में स्पष्ट करने की चेष्टा अवश्य की है—

"जलद हूं मैं, यदि तुम हो स्वाति
तृषा तुम यदि मैं चातक-पांति।" (गीत २६)

कवि को आत्मा-परमात्मा की एकता का ज्ञान प्रारम्भ से ही था, तभी पन्तजी यह कह सके—

"जब मैं थी अज्ञात-प्रभात
मा ! तब मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात।
तब तो यह भारी अन्तर
एकमेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बन कर सुन्दर।" (वही १३)

जब आत्मा परमात्मा से विच्छिन्न नहीं हुई थी तब वे दोनों एक थे, उस समय दोनों में कोई अन्तर नहीं था, एक सुन्दर ज्योति रूप में दोनों में अभिन्नता थी। पर अब संसार में आते ही, अविद्या से सम्पर्क होने पर दोनों में पर्याप्त दूरी हो गई प्रतीत होती है। अब उस अन्तर को दूर करने के लिए अभिन्नता के ज्ञान का प्रकाश पुनः आवश्यक हो गया है। उस प्रकाश के प्रज्ज्वलित होते ही मोह की छाया छिन्न-भिन्न होकर उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करेगी (वही)। इसीलिए कवि की आत्मा उस विराट् 'मां' की गोदी में सोने की आकांक्षा प्रकट करती है ताकि दोनों के मध्य का अन्तर और अधिक न बढ़ जावे। वह सबसे छोटी होकर उसकी महती शक्ति के साथ

---

१. श्वे० उ० १,११।

उसी प्रकार रहना चाहती है जिस प्रकार शिशु अपनी माता का अंचल पकड़कर सदा उसी के साथ रहता है तथा निःस्पृहता और निर्भीकता का अनुभव करता है (गीत-२१)। यहाँ भी उपनिषदों के विचारों की स्पष्ट छाया विद्यमान है। जीवात्मा जब परमात्मा के सतत सम्पर्क में रहने लगता है तब वह निःस्पृह और निर्भय हो जाता है। तब उसे कोई बाधा नहीं सताती, कोई आकांक्षा पीड़ित नहीं करती।[1]

रहस्यवादी कवियों ने रहस्य-भावना के अन्तर्गत लौकिक प्रणय की भाँति आतुरता, विरह-व्याकुलता आदि की भावनाएँ भी व्यक्त की हैं, यह बात हम पहले कह आए हैं। विरहानुभूति की मार्मिक अभिव्यक्तियाँ फारसी-काव्य में अधिकांश रूप से हुई हैं। हिन्दी के सूफी काव्य में भी इस प्रकार की अभिव्यक्तियों की अधिकता है और वह फारसी का प्रभाव माना जाता है। सन्त-काव्य में भी यह विरहानुभूति सूफी काव्य के माध्यम से आई है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। छायावादी कवियों में विरहानुभूति की इतनी अधिक तीव्रता महादेवी को छोड़कर अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती, पर उसका अन्य कवियों के काव्य में नितान्त अभाव भी नहीं है। 'प्रसाद' और 'निराला' के काव्य की चर्चा करते समय रहस्यभावना के प्रसंग में हम इस वृत्ति की ओर संकेत कर आए हैं। पन्तजी में भी यह वृत्ति विद्यमान है किन्तु वह वीणा-काल की रचनाओं तक ही सीमित है। आगे के काव्य में क्रमशः इस वृत्ति का अभाव होता चला गया है। यहाँ इस सन्दर्भ में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रभु के प्रति आतुरता एवं विरह-व्याकुलता का वैदिक साहित्य में नितान्त अभाव नहीं है। ऋग्वेद की वरुण के प्रति ऋषि वसिष्ठ द्वारा निवेदित स्तुतियाँ इतनी मार्मिक हैं कि सीधे हृदय को स्पर्श करती हैं। दो-एक ऋचाएँ देखिये—

**अपां मध्ये तस्थिवाँसं तृष्णाविद ज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय।**'[2]

अर्थात् जलों के मध्य बैठा हुआ भी मैं प्यास से मरा जा रहा हूँ। अतृप्ति से व्याकुल हो रहा हूँ। हे प्रभु, तुम्हारी दया मेरे ऊपर कब होगी। हे दयालु दया करो! दया करो।

**'उत स्वया तन्वा सं वदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।**
**किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥'**[3]

प्रभु के दर्शनों के लिए, उससे तादात्म्य स्थापित करने के लिए वैदिक ऋषि विह्वल होकर पूछता है—'मैं वरुण के पास कब ठहर सकूँगा, वे मेरे हव्य को स्वीकार करेंगे क्या? मैं सुन्दर मतवाला होकर उन सुखप्रद वरुण को कब देख पाऊँगा।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक ऋषियों की स्तुतियों में जहाँ विनय, निवेदन और तादात्म्य की आकाँक्षा प्रकट हुई है, वहाँ विरह-विह्वलता और

---

१. बृह० उ०, ४,४,७।
२. ऋग्वेद ७,८६,४।
३. वही, ७,८६,२।

व्याकुलता की अभिव्यक्तियाँ भी विद्यमान हैं। इस प्रकार यदि हम इन छायावादी कवियों की विरह-भावना पर, जो वैदिक-साहित्य से विभिन्न माध्यमों से सम्बद्ध रहे हैं, सूफी कवियों की ही विरह-भावना का एकांत प्रभाव मान लें तो यह दुराग्रह ही होगा।

वीणा में कवि की आत्मा की अव्यक्त प्रिय के लिए व्यक्त विरहानुभूति उपरोक्त कथन की सापेक्षता में द्रष्टव्य है जो सहज ही मार्मिक बन पड़ी है। कवि की आत्मा वृक्ष की छाया को सम्बोधित करके कहती है—

> **"अहा ! अभागिन हो तुम मुझसी**
> **सजनि ! ध्यान में अब आया,**
> **तुम इस तरुवर की छाया हो**
> **मैं उनके पद की छाया।"** (गीत ११)

तरुवर की छाया तो रात्रि के नीरव अन्धकार में वृक्ष से आलिंगित हो तदाकार होकर मिलन के सुख का अनुभव भी कर लेती है परन्तु कवि की आत्मा को तो मनमोहन की वह वंशी की ध्वनि भी श्रुतिगोचर नहीं होती फलतः उसे निशि-दिन वन-वन रोते हुए भटकना फिरना पड़ता है। (वही ११) इस अवतरण में जहाँ एक ओर ब्रह्म के विरह-वियोग में विह्वल आत्मा की करुण अभिव्यक्ति हुई है वहाँ दूसरी ओर उनके पद की छाया' कहकर पन्तजी ने ब्रह्म और जीव के मध्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के दार्शनिक सिद्धांत को भी मूर्तिमान कर दिया है।

इसी प्रकार वीणा के एक अन्य गीत—'मिले तुम राकापति में आज पहन मेरे दृग जल का हार' में कवि की आत्मा चकोर बनकर अज्ञात प्रियतम के लिए अविरल जलधार बहाती रही है। इस पर भी जब वह नहीं आता तो खीझ कर उसे उपालम्भ देने में भी नहीं चूकती। (गीत-१६) यहाँ भी कवि के कथन में इतनी निश्छलता है कि सीधे मर्म को स्पर्श करती है।

वीणा में सुन्दर प्रार्थनाएँ भी विद्यमान हैं जो वैदिक-ऋषियों की प्रार्थनाओं एवं स्तुतियों के समान ही हृदय की पवित्रता, निर्मलता, और व्याकुलता आदि गुणों से संवलित हैं। एक गीत में कवि अपने शिव ! और सुन्दर ! को सम्बोधित करते हुए उसे आमन्त्रित करता है और कहता है कि—

> **'मुझे सौंपने दो तुमको**
> **अपनी वांछाएँ रज-कण सी**
> **होने दो निश्चिन्त निडर।'** (गीत ४१)

यहाँ भी पन्तजी उस औपनिषदिक सत्य की ओर संकेत करते हैं कि 'जब तक जीवात्मा के हृदय में आश्रित सम्पूर्ण कामनाएँ नष्ट नहीं हो जातीं तब तक यह मरणधर्मा अमृत नहीं होता।' यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समुश्नत इति' (बृह० उ० ४,४,७)। इसी हेतु वे सम्पूर्ण मनोगत तुच्छ कामनाओं को प्रभु को समर्पित कर निश्चिन्त और निडर हो जाना चाहते हैं।

अन्यत्र भी कवि 'सूची से भी अधिक कृशतर' अंग वाले तथा 'रजततार से शुचि रुचिमय' परमेश्वर से अपनी सत्ता की लघु कुटिया में व्याप्त अविद्या-जन्य अन्धकार को चीर कर भंग कर देने के लिए प्रार्थना करता है (गीत-२०) और चाहता है कि उसके अपने मान-सरोवर में भी अमर पद-पद्म विकसित हो जायें। कवि यहाँ दिव्य-जीवन की प्राप्ति की कामना करता है।

पन्तजी केवल अपनी ही कुटिया के तिमिर-भंजन के लिए प्रार्थना नहीं करते अपितु जग के अन्धकार और भय को दूर करने के लिए भी प्रभु से प्रकाश की याचना करते हैं, वे कहते हैं—

> 'तेरी आभा को पाकर मा !
> जग का तिमिर त्रास हर दूं--
> नीरव रजनी में निर्भय।' (गीत २)

इस अवतरण में कवि ने एक ओर 'माँ' रूप विराट् सत्ता से अपने लिए प्रकाश और ज्ञान की आकांक्षा व्यक्त की है तो दूसरी ओर यहाँ कवि लोक-मंगल की भावना से भी प्रेरित है, और विवेकानन्द के उपदेशानुसार लोक-सेवा के लिए उस अनन्त, अपार शक्तिमयी 'माँ' से आभा के कण की याचना भी करता है। लोक-मंगल की यह भावना, जो अद्वैत पर आधारित है, पन्त के काव्य में उत्तरोत्तर विस्तृत और परिष्कृत होकर दृढता के साथ प्रतिष्ठित होती गई है। जिस पर प्रसंगानुकूल विचार करेंगे। 'वीणा' के कतिपय गीतों में हम पन्तजी को प्रभु से तादात्म्य की इच्छा से प्रेरित हुआ पाते हैं। 'मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में मज्जित कर लो अपने साथ' (गीत-२०) अथवा 'रंग रहित होकर छिप रहना मुझको भी बतला दो प्राण।' (गीत-२०) आदि इन पंक्तियों से आरम्भ होने वाले गीतों में कवि का यही भाव व्यक्त हुआ है। वह चाहता है कि उसका तुच्छ अस्तित्व प्रभु के ज्योतिर्मय स्वरूप में विलीन होकर एक हो जाए। एक स्थल पर कवि की निस्संग-वृत्ति के भी दर्शन होते हैं। वह जग के सुख-दुःख जग को ही देकर स्वयं द्वन्द्वातीत बन जाने की भावना प्रकट करता है। (गीत-४) यही स्थिति आगे चल कर स्थितप्रज्ञता की अवस्था में जाकर प्रतिष्ठित हो जाती है।

**पल्लव**—'पल्लव' प्रारम्भिक रचनाओं का दूसरा संग्रह है। पल्लव की 'उच्छ्वास' और 'आँसू' शीर्षक रचनाएँ पंतजी की प्रेम-भावना से सम्बन्धित उत्कृष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं। इन दोनों रचनाओं का आधार कवि की आत्मानुभूति है। इन रचनाओं से पूर्व 'ग्रंथि' में कवि का रागात्मक हृदय प्रेम के क्षेत्र में मधुर-कटु अनुभूतियां प्राप्त कर चुका था। ये दोनों रचनाएँ एक प्रकार से 'ग्रंथि' की ही भावनाओं का विकास हैं। इन रचनाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पंतजी को प्रेम के क्षेत्र में प्रसादजी की ही भाँति सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। प्रेम की असफलता के कारण ही प्रसादजी का 'आँसू' और पंत की ये तीनों रचनाएँ बड़ी मार्मिक और मर्मस्पर्शी बन सकी हैं। पल्लव के कवि का दूसरा विषय है—प्रकृति और उसका

सौन्दर्य-चित्रण। वह अभी 'द्रुमों की मृदु छाया और प्रकृति से सम्बन्ध तोड़कर किसी बाला के बाल-जाल में अपने लोचन उलझाने' को प्रस्तुत नहीं है। 'पल्लव' में 'वीचि-विलास', 'विश्ववेणु', 'नक्षत्र-गान', 'निर्झरी' आदि कल्पना-प्रधान और मोह, विसर्जन', 'मुस्कान' आदि भाव-प्रधान रचनाएँ हैं। इस संग्रह में कतिपय चिंतन-प्रधान रचनाएँ भी हैं जिसमें उनका दर्शन-पक्ष अधिक सबल हो गया है।

कवि की माँ! के प्रति रागात्मिका वृत्ति पर आधारित सहज और सरल रहस्य-भावना जो 'वीणा' की रचनाओं की विशेषता थी 'पल्लव' की रचनाओं में उसका अभाव है। यह कोमल भाव उन्हीं रचनाओं में विद्यमान है जो 'वीणा'-काल की ही हैं। जिज्ञासा का स्वर यहाँ भी मुखर है, पर वह जिज्ञासा तक ही सीमित रह गया है परमसत्ता के प्रति रागात्मक सम्बन्ध में पर्यवसित नहीं हो सका, उसका स्थान चिंतन और दर्शन ने ले लिया है।

**ब्रह्म**—परमसत्ता-सम्बन्धी चिंतन यहाँ 'वीणा' की अपेक्षा दार्शनिक विचारों से अधिक पुष्ट होकर आया है। ब्रह्म के सम्बन्ध में चिंतन करते हुए कवि कहता है—

> "तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
> हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार,
> तुम्हीं में निराकार साकार,
> मृत्यु जीवन सब एकाकार।
> अहे महांबुधि लहरों-से शत लोक, चराचर,
> क्रीड़ा करते सतत् तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
> तुंगतरंगों से शत युग, शत-शत कल्पान्तर
> उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर,
> शत सहस्र रवि शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण,
> जलते बुझते हैं स्फुलिंग से तुम में तत्क्षण,
> अचिर विश्व में अखिल, दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
> तुम्हीं चिरन्तन
> अहे विवर्तन हीन विवर्तन।" (पल्लव, १६३-६४)

'परिवर्त्तन' नामक कविता के अन्तिम बन्धों में पन्तजी ने अपने प्रखर चिंतन और कल्पना-शक्ति के बल पर 'परिवर्तन' का ब्रह्म की शक्ति अथवा उसके पर्याय रूप में वर्णन प्रस्तुत किया है। परमसत्ता-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन उपनिषदों की ब्रह्म-सम्बन्धी कल्पना के नितान्त अनुकूल है। वहाँ ब्रह्म को समस्त क्रियाओं का प्रेरक, शतशत सृष्टि का भर्त्ता और हर्त्ता कहा गया है।[1] वह एक नित्य और चिरन्तन तत्त्व है। पंतजी भी उस एक चिरन्तन तत्त्व को सृष्टि के अशेष व्यापारों का प्रेरक मानते हैं, असंख्यों ग्रह, उपग्रह उसके कटाक्ष-मात्र से सागर में बुद्-बुद् की भाँति बनते-

---

१. देखिये, तै० उ० ३,१ छा० उ० ३,४,१।

बिगड़ते रहते हैं। सृष्टि की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, पर वह स्वयं अपरिवर्तनीय है। वह प्रकृति नृत्तकी का भी सूत्रधर है—

'प्रकृति नृत्तकी सुघर
अखिल में व्याप्त सूत्रधर।' (वही १६३)

वही एक विश्व के रंग-मंच पर नाना रूपों में अभिनय करता है—

'अभिनय करते विश्व मंच पर तुम मायाकर।' (वही, पृ० १६२)

× × ×

'अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य भयंकर,
इन्द्रजाल सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर।

× × ×

अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्र चापवर
अहे तुम्हारी भीम भृकुटि पर
अटका निर्भर।' (वही १६२)

यह 'रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव'[1] का ही तो भावानुवाद मात्र है।

जगत् (प्रकृति)—पन्तजी ने 'पल्लव' में जगत् की अनित्यता के सम्बन्ध में तनिक विस्तार से चर्चा की है। वे इस समय तक वेदान्त (उपनिषद्) के सम्पर्क में आ चुके थे और उनका जगत् के सम्बन्ध में उपनिषदों के निषेधात्मक दृष्टिकोण से भी परिचय हो चुका था। उपनिषदों में जहाँ जगत् में (प्रकृति में) ब्रह्म की सर्व-व्यापकता का उपाख्यान कर उसकी सत्यता पर प्रकाश डाला है वहाँ दूसरी ओर ब्रह्म सत्य अथवा ज्ञान की सापेक्षता में तुलनात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए उसकी अनित्यता की ओर भी संकेत किया है। उपनिषदों में कहा है ब्रह्म के, आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ आर्त है, नाशवान् है।[2] कठोपनिषद् का कथन है—

'श्वोभावा यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव वर्वं ·····।'[3]

यहाँ भोग्य संसार और उसकी समस्त सामग्री को स्पष्टतः नाशवान् कहा है; क्योंकि वह इन्द्रियों का तेज हरण करने वाली है, बहुत बड़ी आयु भी अल्प ही कही गई है इसीलिए नचिकेता ने सभी भोग्य वस्तुओं का प्रत्याख्यान बड़े प्रबल शब्दों में किया है। पर यहाँ यह संकेत-मात्र था। बौद्ध-दर्शन में उपनिषदों से सूत्र पकड़कर जगत् की अनित्यता पर पर्याप्त विस्तार से चिन्तन किया गया है। पंतजी पर भी यह प्रभाव उनके प्रारम्भिक काव्य में विद्यमान है जो निम्न अवतरणों में देखा जा सकता है। पन्तजी कहते हैं—

---

१. कठोपनिषद् ६,९-१०।
२. बृह० उ० ३,४,२।
३. कठ० उ० १,२६।

'हाय सब मिथ्या बात।—
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस।' (पृ० १४७)

'पन्त के दार्शनिक को यह जान कर बड़ा कष्ट हुआ कि आज का सौरभ का मधुमास (वसन्त ऋतु) कल शिशिर रूप में परिवर्तित होकर नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार प्रभात का स्वर्णिम संसार सन्ध्या की ज्वाला में जल कर कालिमा का रूप ग्रहण कर लेगा, यौवन का आकर्षक रूप-रंग अस्थियों का कंकाल-मात्र रह जायेगा और बचपन के कोमल गात के स्थान पर जरा का पीला पत्र मात्र शेष रह जायेगा।' जीवन को मृत्यु के कराल गाल में जाकर अपना अस्तित्त्व समाप्त करते देख, और उत्सव के हास-विलास को अवसाद, अश्रु और उच्छ्वास में पर्यवसित होते देख कवि के कोमल मन पर बड़ा आघात पहुँचा। वह जगत् में सर्वत्र अचिरता, नश्वरता और असारता के ही दर्शन करने लगा। (पृ० १५३) जगत् की अनित्यता के उद्घाटन से पन्तजी को कोई प्रसन्नता नहीं हुई। प्रत्युत इस दार्शनिक-चिन्तन ने उनके राग-तत्त्व में एक प्रकार का मन्थन उत्पन्न कर दिया, जिससे उनके मन में थोड़े समय के लिए निराशा और उदासीनता छाई रही। परिवर्तन ही उन्हें एकमात्र चिरन्तन सत्ता दिखाई देने लगी। पन्तजी पर इस चिन्तन से उत्पन्न निराशाजनित अवसाद का प्रभाव थोड़े समय तक ही रहा। दर्शन के अध्ययन ने उन्हें सत्य के संश्लेषणात्मक रूप के दर्शन भी कराए जिसके आलोक से उनका हृदय-कमल खिल उठा और सर्वत्र उसी एक सत्ता की व्याप्ति का आभास पाने लगा। परिणाम-स्वरूप वे निराशावादी होने से बच गए। उन्होंने कहा—

**'नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग, जग व्यावर्तन,
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्व पूर्ण दर्शन।' (वही, पृ० १५७)**

उन्हें शनैः-शनैः यह प्रतीत होने लगा कि यह अनित्य संसार उस एक और नित्य का ही नर्तन है। इस अचिर में वह चिर ही विद्यमान है, उसी की खोज विश्व का तत्त्व-पूर्ण दर्शन है। यह दर्शन का विधेयात्मक पक्ष है जिसे हृदयंगम कर पन्तजी इस बिन्दु से उस एक की खोज में प्रयत्नशील रहने लगे।

पन्तजी के जगत्-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण पर भी उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। 'सदेव सौम्य इदमेकैवाग्रासीत्' कहकर उपनिषदें एक मूल सत्ता का प्रतिपादन करती हैं। यही मूल सत्ता समस्त परिवर्तनों का आधार है। सृष्टि में दृष्टिगोचर समस्त परिवर्तन इसी के आधार पर होते हैं, पर यह स्वयं परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होती।[1] यह चिर और शाश्वत अव्यय और अनन्त है।[2] सृष्टि इसी

---

१. कठ० उ० ५,११।
२. वही, ३,१५।

के आधार पर टिकी हुई है और प्रलयावस्था में इसी में विलीन भी हो जाती है।

**जीवात्मा**—वैदिक-वाङ्मय में सर्वत्र आत्मा की नित्यता और अमरत्व का प्रतिपादन हुआ है जिसका उल्लेख पिछले अध्यायों में उद्धरण-सहित कर आए हैं।[1] पंतजी भी आत्मा के वैदिक-दर्शन-सम्मत विचारों से पूर्णतः प्रभावित हैं। जीवात्मा के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए कहते हैं—

> **'हमारे काम न अपने काम,**
> **नहीं हम, जो हम ज्ञात,**
> **अरे निज छाया में उपनाम**
> **छिपे हैं हम अपरूप,**
> **गँवाने आये हैं अज्ञात**
> **गँवा कर पाते स्वीय स्वरूप।'** (वही, पृ० १६०)

जीवात्मा जो भी कार्य करता है वह उसका अपना कार्य नहीं होता, वह अपने-आप कुछ नहीं करता प्रत्युत त्रिगुणात्मिका प्रकृति से प्रेरित होकर करता है, प्रकृति उसे स्वयं कर्म में नियोजित करती है।[2] हम जो कुछ वाह्य दृष्टि से प्रतीत होते हैं वस्तुतः हम वैसे हैं नहीं। वाह्यतः हम जन्म लेते हुए, वाल्यावस्था से युवावस्था में पदार्पण करते हुए प्रतीत होते हैं, रोगी और वृद्ध होते हुए, दुःख-सुख से पीड़ित और हर्षित होते हुए और अन्ततोगत्वा मृत्यु के कराल गाल में जाते हुए प्रतीत होते हैं। क्या हम यही हैं जो कुछ ऊपर कहा गया है ? दर्शन इसका नकारात्मक उत्तर देता है। वह बताता है कि हम 'आत्मा' हैं और आत्मा न जन्मता है न मरता है, वह अज, नित्य और शाश्वत है। यह जो कुछ विकृत और परिवर्तित होता दृष्टिगोचर होता है वह शरीर का धर्म है। हम नाम और रूप की छाया में छिपे हुए आत्मरूप हैं। हमारा लक्ष्य है इस वाह्य नाम-रूप को क्षीण करके अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति, आत्मवोध, वा आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार करना। पंतजी ने उपरोक्त दार्शनिक तथ्य को बड़ी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है।

**सर्ववाद**—'पल्लव' में आकर पन्तजी का सर्ववादी दृष्टिकोण और अधिक पृष्ठभूमि पर अभिव्यक्त हुआ है। उस सत्ता की उपस्थिति की अनुभूति कवि को जड़ और चेतन में समान रूप से होती है। उड़ते पत्तों में भी उसे उसके अपने सुकुमार दर्शन दे जाते हैं और लहरों से भी उसे परमेश्वर का निमन्त्रण प्राप्त हो जाता है। (पृ० १००) 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'[3] और 'रूप रूपं प्रति रूपो बभूव'[4] उपनिषदों की इन श्रुतियों के आधार पर एक ही ब्रह्म

---

१. इसी शोध-प्रवन्ध का पृ० ६३-६५।

२. गीता ३,५।

३. श्वे० ६,११।

४. कठ० उ० ६,६-१०।

की सर्व व्यापकता की कितनी सुन्दर काव्यात्मक अभिव्यक्ति पन्तजी की निम्न पंक्तियों में हुई है—

'एक छवि के असंख्य उडुगण,
एक ही सब में स्पन्दन,
एक छवि के विभात में लीन
एक विधि के आधीन।' (पृ० १५७)

कवि का कथन है कि एक ही परमतत्त्व असंख्य रूपों में शोभायमान हो रहा है, सभी प्राणियों में वही एक स्पन्दन, धड़कन के रूप में विद्यमान और वस्तुओं का अधिष्ठाता भी एक ही ब्रह्म है। उपनिषदें उसे 'सर्वाध्यक्षः' भी कहती हैं।[१] स्पष्टतः वह सब का शासक और नियामक भी है। यहाँ तक कि मानव-जीवन के सुख-दुःख, प्रकृति की रात्रि और प्रभात, सृष्टि और विनाश उस एक ही परमतत्त्व की चंचल चेतना-लहर के दो छोर हैं। (वही) एक ही असीम उल्लास विश्व में नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है—

'एक ही तो असीम उल्लास
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास,
शांत अम्बर में नील विकास।' (वही, पृ० १५८)

इस प्रकार कवि दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन से इस परिणाम पर पहुँचता है कि एक ही असीम आनन्द सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और विश्व में प्रकट विविध रूप उसी एक के हैं। जलधि की हरीतिमा, नभ की नीलिमा, हृदय का प्रेमोच्छ्वास-काव्य का रस, फूलों की सुगन्धि, तारों की झलमलाहट, लहरों का लास, प्रज्ञा का सत्य, लोचनों का अनूप लावण्य, और लोक-सेवा में अविकार शिव सब में वही एक शक्ति है।

'वही उर उर में प्रेमोच्छ्वास,
काव्य में रस, कुसुम में वास,
अचल तारक पलकों में हास,
लोल लहरों में लास
विविध द्रव्यों में विविध प्रकार
एक ही मधुर मर्म झंकार।' (वही, पृ० १५८)
'वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप
लोक सेवा में शिव अविकार।' (वही)

दर्शन की भूमिका पर पन्त का उपरोक्त सर्वात्मवादी वर्णन बड़ा ही भावपूर्ण और

---

१. श्वे० उ० ६:११।

विचारोत्तेजक बन पड़ा है। 'पल्लव' की मौन-निमन्त्रण कविता में भी कवि का सर्व-वादी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है।

**रहस्य-भावना**—'पल्लव' में 'वीणा'-जैसी रहस्य-भावना के दर्शन नहीं होते, क्योंकि कवि अब दर्शन और चिन्तन की ओर झुक गया है। तदपि जिज्ञासा और निवेदन के स्वर अभी भी क्षीण नहीं हुए हैं। इस दृष्टि से पल्लव की मौन निमन्त्रण कविता महत्त्वपूर्ण है।

**जिज्ञासा**—कवि उस अज्ञात तत्त्व के जानने को लिए उत्सुक है जो उसे नक्षत्रों के माध्यम से मौन-निमन्त्रण भेजा करता है, तडित् की चंचलता के द्वारा उसे मौन संकेत देता है, जो उसे लहरों की उंगलियों से अपने समीप बुलाया करता है तथा जो कवि के अलसाये पलक-दलों को खोल दिया करता है। कवि उस अज्ञात सत्ता के रहस्य को हृदयंगम कर लेना चाहता है जो रात्रि के अन्धकार में खद्योतों के रूप में चमक कर मौन-रूप से पथ का प्रदर्शन किया करती है—

'तुमुल तम में जब एकाकार
ऊंघता एक साथ संसार
भीरु-झींगुर कुल की झनकार
कंपा देती तन्द्रा के तार,
न जाने खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन।' (वही, पृ० ९१)

उस रहस्यमय के प्रति कवि में न केवल जिज्ञासा वृत्ति ही विद्यमान है अपितु एक प्रकार की अनुभूति भी है। यह अनुभूति कितनी ही सूक्ष्म हो, कितनी ही अनिर्दिष्ट हो, पर अस्पष्ट नहीं है। कवि की आत्मा उसका परिचय पुरुष-रूप में देती हुई कहती है—

"न जाने कौन, अये द्युतिमान।
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो पथ अनजान,
फूंक देते तुम छिद्रों में गान,
अहे सुख दुःख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!" (वही, पृ० ९२)

कवि की आत्मा को अनुभव होता है कि कोई शक्ति ऐसी अवश्य है जो उसे अबोध और अज्ञानी समझकर अज्ञात पथ सुझाया करती है और कर्ण-कुहरों में दिव्य स्वर छेड़ा करती है तथा सुख और दुःख सभी सम-विषम परिस्थितियों में मौन मित्र की भाँति सहयोग देती रहती है। कवि को उसकी स्पष्ट अनुभूति है।

'जीवन-यान' शीर्षक रचना में कवि अपने ध्रुव, द्युतिमान, और पथ-प्रदर्शक! से पूछता है कि वे दूरी का पर्दा हटाकर कब दर्शन प्रदान करेंगे (पृ० १२७)। 'पल्लव' की कतिपय रचनाओं में समर्पण का भाव भी विद्यमान है।

कवि की आत्मा ने जो कुछ अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ संचित करके रख छोड़ा है, उसे माँ के चरणों में समर्पित कर देना चाहती है। भक्तों की एक इच्छा होती है कि वे अपना शुभ ही प्रभु के चरणों में अर्पित करें, अशुभ नहीं। पर पन्तजी तो न शुभ ही अपने पास रखना चाहते हैं और न अशुभ ही। जिस प्रकार वे रति और कृति, व्रत और आचार को 'माँ' का अलंकार और पूजन की सामग्री समझते हैं उसी प्रकार अपनी पराजय और अपने जीवन के दुःखों को भी 'मा' की इच्छा का फल समझकर अपने पास नहीं रखना चाहते। यहाँ कवि का विराट् 'माँ' के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव विद्यमान है (पृ० ७५)। यह समर्पण का भाव वैदिक-चिन्तन के अतिशय अनुरूप है। यजु० ४०, १ में 'तेन त्यक्तेन भुँजीथा' कहकर कर्म-फल के त्याग का ही सन्देश दिया गया है। किन्तु गीता में पूर्ण समर्पण के भाव का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि 'जो कुछ तुम करते हो, खाते हो, हवन करते हो, देते हो अथवा तपस्या करते हो—वह सब कुछ मुझे अर्पित कर दो।'[1] इस समर्पण-भाव से प्राणी निर्भय हो जाता है। पन्तजी उसी निर्भीकता और निष्कलुपता की अवस्था की उपलब्धि के लिए अच्छा-बुरा सभी कुछ विराट् 'मा' को समर्पित करते हैं और उस 'माँ' से निवेदन करते हैं कि यदि उन्हें कुछ देना है तो अन्य को दें, उन्हें स्वयं को किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। कवि का यह निष्काम-भाव निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

> "मैं न चाहती तव वह हार
> करे जननि ! मेरा शृंगार,
> पर मैं चातकिनी बनकर
> तुझे पुकारूँ बारम्बार,
> हरने जग का ताप अपार।" (पृ० १३८)

निष्काम-भाव लोक-संग्रह की दृष्टि से वैदिक-संस्कृति की अपनी सम्पत्ति है। यह धर्म की अपेक्षा अध्यात्म के अधिक निकट है और इस भावना का दार्शनिक आधार भी है—जीव-जीव की एकता, आत्म-परमात्म तत्त्व की मौलिक अभिन्नता। वैदिक तत्त्व-चिन्तन में जीवात्मा को उच्चता की ओर उठने के लिए, 'भूमा' का सुख प्राप्त करने के लिए, इसकी साधना सोपान-रूप में कही गई है। पन्तजी अध्यात्मवादी हैं और इसीलिए मानवतावादी भी। उनका यह मानवतावादी दृष्टिकोण पश्चिम के दृष्टिकोण से भिन्न है, वहाँ यह धर्म के क्षेत्र की वस्तु है और दया, करुणा आदि गुणों पर आधारित है, पर यहाँ यह अद्वैत की पुष्ट आधार-शिला पर स्थित है।

## गुंजन और ज्योत्स्ना :

गुंजन और ज्योत्स्ना पंतजी की काव्य-माला के दो पुष्पित प्रसून हैं जिनकी

---

१. गीता ९, २७।

कवि की आत्मा ने जो कुछ अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ संचित करके रख छोड़ा है, उसे माँ के चरणों में समर्पित कर देना चाहती है। भक्तों की एक इच्छा होती है कि वे अपना शुभ ही प्रभु के चरणों में अर्पित करें, अशुभ नहीं। पर पन्तजी तो न शुभ ही अपने पास रखना चाहते हैं और न अशुभ ही। जिस प्रकार वे रति और कृति, व्रत और आचार को 'माँ' का अलंकार और पूजन की सामग्री समझते हैं उसी प्रकार अपनी पराजय और अपने जीवन के दुःखों को भी 'मा' की इच्छा का फल समझकर अपने पास नहीं रखना चाहते। यहाँ कवि का विराट् 'माँ' के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव विद्यमान है (पृ० ७५)। यह समर्पण का भाव वैदिक-चिन्तन के अतिशय अनुरूप है। यजु० ४०, १ में 'तेन त्यक्तेन भुँजीथा' कहकर कर्म-फल के त्याग का ही सन्देश दिया गया है। किन्तु गीता में पूर्ण समर्पण के भाव का उल्लेख है। वहाँ कहा गया है कि 'जो कुछ तुम करते हो, खाते हो, हवन करते हो, देते हो अथवा तपस्या करते हो—वह सब कुछ मुझे अर्पित कर दो।'[1] इस समर्पण-भाव से प्राणी निर्भय हो जाता है। पन्तजी उसी निर्भीकता और निष्कलुषता की अवस्था की उपलब्धि के लिए अच्छा-बुरा सभी कुछ विराट् 'मा' को समर्पित करते हैं और उस 'माँ' से निवेदन करते हैं कि यदि उन्हें कुछ देना है तो अन्य को दें, उन्हें स्वयं को किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। कवि का यह निष्काम-भाव निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

> "मैं न चाहती तव वह हार
> करे जननि ! मेरा शृंगार,
> पर मैं चातकिनी बनकर
> तुझे पुकारूँ बारम्बार,
> हरने जग का ताप अपार।" (पृ० १३८)

निष्काम-भाव लोक-संग्रह की दृष्टि से वैदिक-संस्कृति की अपनी सम्पत्ति है। यह धर्म की अपेक्षा अध्यात्म के अधिक निकट है और इस भावना का दार्शनिक आधार भी है—जीव-जीव की एकता, आत्म-परमात्म तत्त्व की मौलिक अभिन्नता। वैदिक तत्त्व-चिन्तन में जीवात्मा को उच्चता की ओर उठने के लिए, 'भूमा' का सुख प्राप्त करने के लिए, इसकी साधना सोपान-रूप में कही गई है। पन्तजी अध्यात्मवादी हैं और इसीलिए मानवतावादी भी। उनका यह मानवतावादी दृष्टिकोण पश्चिम के दृष्टिकोण से भिन्न है, वहाँ यह धर्म के क्षेत्र की वस्तु है और दया, करुणा आदि गुणों पर आधारित है, पर यहाँ यह अद्वैत की पुष्ट आधार-शिला पर स्थित है।

### गुंजन और ज्योत्स्ना :

गुंजन और ज्योत्स्ना पंतजी की काव्य-माला के दो पुष्पित प्रसून हैं जिनकी

---

१. गीता ९, २७।

सुगन्ध से हिन्दी-कविता-कानन के प्रान्तर आज भी सुरभित हो रहे हैं। कवि ने गुंजन को 'अपने प्राणों का उन्मन गुंजन मात्र' कहा है। 'पल्लव' में प्रकृति के बिखरे वैभव से विस्मयान्वित होने वाले पंत का कवि गुंजन में आत्मा के चिरधन की खोज में निकल पड़ा है, अतः स्वभावतः इसमें भावावेश की न्यूनता और चिन्तन एवं मनन की मुख्यता है। 'ज्योत्स्ना' में यह चिन्तन और मनन एक पग और आगे बढ़ गया है। यहाँ उन्होंने प्रकृति की पृष्ठभूमि पर समन्वित दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। यह रूपक होते हुए भी काव्य का-सा आनन्द प्रदान करता है।

'गुंजन' की कविताओं का विषय प्रेम, प्रकृति और दर्शन है। कुछ कविताएँ सुख-दुःख में समन्वय प्रस्तुत करती हैं, कुछ प्रेयसी के प्रति प्रेम-निवेदन हैं और कुछ प्रकृति से सम्बन्धित हैं। दार्शनिक कविताएँ भी पर्याप्त सरस हैं, प्रेम के क्षेत्र में भी कवि वाह्य सौन्दर्य का गायक न होकर अन्तःसौन्दर्य का उद्भावक बन गया है। अन्त में कवि की समस्त भावनाओं का पर्यवसान लोक-मंगल की भावना में हुआ है।

कवि के आस्थावादी मन में परम-सत्ता के प्रति कभी भी अविश्वास नहीं हुआ है। उसकी ईश्वर पर निष्ठा दृढ़ और अखण्ड रही है। कवि कहता है—

**"जग-जीवन में उल्लास मुझे,**
**नव आशा, नव अभिलाप मुझे,**
**ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे।"** (गुंजन, पृ० २६)

पर कवि का ईश्वर धार्मिकों का ईश्वर नहीं है। वह अध्यात्म का ब्रह्म है जो 'सच्चिदानन्द' है, चिन्मय-प्रकाश से युक्त है। वह उपनिषदों की परम सत्ता है।

ब्रह्म—ब्रह्म उपनिषदों की परम-सत्ता है जिस पर सृष्टि का सृजन, सिंचन, संहार सब कुछ आधृत है। जिससे सब कुछ उदय होता है जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है।[1] कवि उपनिषदों के आधार पर 'ब्रह्म' पर चिन्तन करते हुए कहता है—

**"चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय**
**चिन्मय प्रकाश में विकसित, लय।**
**रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह, तारा-चय**
**अग-जग प्रकाशमय है निश्चय॥"** (ज्योत्स्ना-५७)

चिन्मय प्रकाशवान् सत्ता से समस्त विश्व का उदय और उसी में रवि, शशि आदि ग्रहों का विकास और लय आदि कहा गया है। यह चराचर जगत् उसी के प्रकाश से प्रकाशित है, उसी की शक्ति जगत् की जननी है, जिसमें सृष्टि के सृजन और प्रलय का अभिनय होता रहता है (ज्योत्स्ना पृ०, ५८), वही अग-जग का आत्मा है।

**"चित् शक्ति एक रे जगज्जननी**
**धृत ज्योति योनि में लोकाशय**

---

१. देखिये, तै० उ० ३, १।

पलते उर में नव जगत सतत
होते जग जीर्ण उदर में क्षय ।
× × ×
चिर महानन्द के पुलकों से
झर झर नित अगणित लोक-निचय,
नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत-शत सौर चक्र निर्मय ।
× × ×
वह विश्वात्मा रे अग-जग का
यह अखिल चराचर का समुदय ।" (ज्योत्स्ना, पृ० ५७-५८)

पन्तजी की ब्रह्म-विषयक इस कल्पना पर वैदिक-विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव विद्यमान है। 'ज्योत्स्ना' के ही 'लहरों का गीत' शीर्षक कविता की—'फिर-फिर असीम से उठ-उठ कर फिर-फिर उसमें हो-हो ओझल' पंक्ति में भी प्रकारान्तर से ब्रह्म में ही सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव का उल्लेख है जो उपनिषदों में आए ब्रह्म-सम्बन्धी विचार से पूर्णरूपेण मेल खाता है।[1]

'गुंजन' की 'चाँदनी' शीर्षक कविता में चाँदनी की चर्चा करते-करते कवि ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन पर आ जाता है और उपनिषदों के अनुसार उसकी अनिर्वचनीयता और सर्वव्यापकता का वर्णन करने लगता है जिसमें सभी जीवाशय विद्यमान हैं। कवि कहता है—

"वह है, वह नहीं अनिर्वच,
जग उसमें वह जग में लय,
साकार चेतना सी वही,
जिसमें अचेत जीवाशय।" (गुंजन, पृ० ९१)

यहाँ कवि ने ब्रह्म के सत्-असत् दोनों पक्षों का उल्लेख किया है तथा यह भी कहा है कि सारा संसार उसी में आश्रित है और वह स्वयं सत्ता-रूप में जग के समस्त पदार्थों में लीन है, व्यापक है। गुंजन की ही एक अन्य रचना में कवि ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों रूपों की चर्चा करते हुए उसे " 'लघु-लघु गात' नील नभ के निकुंज में लीन, नित्य नीरव, निःसंग और नवीन, निखिल छवि की छवि ! तथा स्वयं छविहीन एवं अप्सरी सी अज्ञात," कहता है ! आगे भी उसे विश्व के हृत्-शतदल पर एकान्त रूप से निवास करने वाला', 'अखिल जगजीवन जिसका हास-विलास है तथा जो अदृश्य, अस्पृश्य एवं अज्ञात् अजन्मा है' ऐसा कहा है (पृ० ७८)। पन्तजी का ब्रह्म-सम्बन्धी यह वर्णन उपनिषदों के निम्न मंत्र से कितना मेल खाता है यह द्रष्टव्य है—

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्······।" (कठोपनिषद् ३, १५)

---

१. इस शोध-प्रबन्ध का पृ०, ६०-६१ और तैत्तिरीय उपनिषद् ३, १।

निम्न पंक्तियों में भी पन्तजी ने परम सत्ता का बड़ा ही भावमय वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि कहता है—

"छोड़ निर्जन का निभृत निवास,
नीड़ में बंध जग के सानन्द
भर दिये कलरव से दिशि आस
गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद,
रिक्त होते जब जब तरु-वास
रूप धर तू नव-नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास
विश्व के अक्षय वट की डाल।" (वही, ८२-८३)

यहाँ औपनिषदिक 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय'[1] इति इस श्रुति के आधार पर एकाकी ब्रह्म से जगत्-प्रपंच के विकास और विस्तार का काव्यमय वर्णन प्रस्तुत किया गया है। वही ब्रह्म नित नव-नव रूप धारण कर विश्व के अक्षयवट की डाल को अपने कलरव से नित्य निनादित रखता है। अखिल उरों में उसी के गान मुखरित हो रहे हैं। 'एक तारा' शीर्षक कविता की—'एकाकीपन का अन्धकार दुस्सह, है इसका मूक भार, इसके विषाद का रे न पार।' पंक्तियों में भी 'एक हूँ बहुत हो जाऊँ' की ध्वनि प्रतिध्वनित हो रही है। एकाकी नक्षत्र की भाँति ब्रह्म भी एकाकीपन के भार से व्याकुल हो गया। तभी उसने 'बहुस्याम' की कामना की, फलतः जग का आँगन घनी कुन्द-कलियों से (शतरंगी रूप-आकार वाले प्राणियों से) लद गया—

'जग-मग-जग-मग जग का आँगन लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जगदर्शन।' (वही, ८५,८६)

इस प्रकार पन्तजी का ब्रह्म-सम्बन्धी चिन्तन अभिव्यक्ति की दृष्टि से मौलिक होते हुए भी तथ्य एवं सिद्धांत के प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषद्-सम्मत है।

**जीवात्मा**—पन्तजी के 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में जीवात्मा-सम्बन्धी विचार भी स्फुट रूप से आए हैं और उसका स्वरूप-वर्णन भी उपनिषद्-दर्शन के अनुरूप ही हुआ है। उपनिषदें आत्म-तत्व की अमरता, जीवन की शाश्वतता और देह की नश्वरता का प्रतिपादन करती हैं। वहाँ स्पष्ट कहा गया है—

"न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥"[2]

(यह आत्म-तत्व न जन्मता है न मरता है, यह न किसी का कार्य है न कारण है, यह अजन्मा नित्य, शाश्वत, पुरातन, तथा शरीर के नष्ट हो जाने पर भी स्वयं अविनाशी है।) पन्तजी भी आत्मा के अमरत्व की घोषणा करते हुए कहते हैं—

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ६, २।
२. कठोपनिषद् २, १८।

"निश्चय आत्मा है अक्षय
निश्चय मृन्मय तन नश्वर ।—(ज्योत्स्ना ७७)
यह जीवन चक्र चिरन्तन,
× × ×
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो
चिर आदि और चिर अभिनव ।" (गुंजन, पृ० ३६)

'ज्योत्स्ना' के एक अन्य गीत में भी कवि ने यही तथ्य व्यक्त किया है। वहाँ कवि कहता है कि हम (जीवात्माएँ) मृन्मय दीपक में (नश्वर शरीर में) शाश्वत प्रकाश की सुन्दर शिखा हैं (चिन्मय तत्व)। हम एक ही ज्योति के अखिल दीप हैं जिनसे इस जग का आँगन ज्योतित हो रहा है।[1] (पृ० ६०)

आत्मा की अमरता एवं शाश्वतता के आधार पर ही उपनिषदें और कवि भी मानव को निर्भीकता का पाठ पढ़ाते हैं। कवि पन्त मानव को पृथ्वी पर निर्भीक होकर विचरने की शिक्षा देते है। वे कहते हैं कि आत्मा पर निर्भर रहने वाला मानव किसी भी स्थिति में विघ्नों से विचलित नहीं होता। उसमें अविचल धैर्य का गुण विकसित हो जाता है (ज्यो० पृ० ७७)। पश्चिमी क्षितिज में उदित 'एक तारा' शीर्षक कविता के माध्यम से आत्मा का स्वरूप-वर्णन वैदिक-दर्शन के अनुरूप है। वहाँ कवि ने उसको अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन तथा 'अपने स्वरूप में चिर नवीन रूप से स्थित' कहा है। केवल यही नहीं प्रत्युत उसे निष्कंप शिखा-सा निरुपम कहकर उसके ज्योतिर्मय स्वरूप का परिचय भी दिया है जो जगत् और जीवन के तम का भंजन करता है। वह शुक्र और प्रबुद्ध शुद्ध तथा सम है। यह उसका तात्विक स्वरूप है।

"वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन।
निष्कंप शिखा-सा वह निरुपम भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध प्रबुद्ध शुक्र वह सम।" (गुंजन, पृ० ८६)

मौलिक रूप में मनुष्य का आत्म-तत्व निरंजन और निर्लेप है जो वैदिक चिन्तन के अनुकूल है।

जगत् (प्रकृति)—'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में आकर पंतजी का स्वर जगत् के प्रति आशावादी और अधिक विधेयात्मक हो गया है। 'पल्लव' की परिवर्तन रचना के पूर्वार्द्ध में कवि ने जगत् की अनित्यता और असारता के दर्शन किए थे जिसके परिणामस्वरूप कवि ने कोमल मानस में थोड़े समय के लिए क्षोभ और निराशा का भाव उत्पन्न हो गया था। इस रचना के उत्तरार्द्ध में ही कवि का स्वर परिवर्तित-सा प्रतीत होने लगा और उसे जगत् की समस्त वस्तुओं में एक ही असीम

१. एकं रूपं बहुधा यः करोति। कठोपनिषद् ५, १२।

उल्लास के दर्शन होने लगे। यह कवि का आशावादी स्वर था जो 'पल्लव' के बाद की समस्त रचनाओं में विद्यमान है। 'पल्लव' में कवि 'सर्वोभावा मर्त्यस्य' के निराशावादी दर्शन से प्रभावित था और अब वह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के आशावादी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर जगत् में सर्वत्र आनन्द और उल्लास के दर्शन करता है। चराचर विश्व में एक ही ब्रह्म की व्याप्ति के कारण कवि को अब इसके तृण, तरु, पशु, पक्षी, नर, सुर वर सभी सुन्दर प्रतीत होने हैं। (गुंजन, पृ० २५) कवि को रज का तन, सुख-दुःख-समन्वित मन, शैशव और यौवन, वाणी का विभ्रम, कर्मों का उपक्रम, जन्म और मरण, दिशा और अंचल, पुरातन और नूतन, इस संसार का सब कुछ सुन्दर लगता है, क्योंकि इन सबमें इसका अपना सुन्दरतम विद्यमान है जिसकी सत्ता से कुछ सुन्दर प्रतीत होता है। (वही पृ० २६) जीवन और जगत् की शाश्वतता पर कवि को पूर्ण विश्वास हो चला है। उसका कथन है—

"इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास।" (वही, पृ० १०४)

जिस प्रकार मानव-जीवन-धारा चिर व्यापी, चिरन्तन एवं शाश्वत है उसी प्रकार प्रकृति भी। वेदों में ब्रह्म, जीव और प्रकृति ये तीनों सत्ताएँ शाश्वत मानी गई हैं। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' से आरम्भ होने वाला ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र[1] तीनों की सत्ता का पृथक्-पृथक् उल्लेख करता है। व्यावहारिक धरातल पर वह ठीक भी है। हाँ, उपनिषदों में इन तीनों की उच्च प्रज्ञात्मक धरातल पर अभिन्नता का प्रतिपादन हुआ है। वहाँ ब्रह्म और जीव की अभिन्नता ब्रह्म और प्रकृति की एकता का निर्वचन है, पूर्ण अद्वैत की प्रतिष्ठा है। पर व्यवहार के धरातल पर वहाँ भी इनके त्रैत को स्वीकार किया गया है। श्वे० उपनिषद् में कहा है—

"अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।" (४, ५)

इस मन्त्र में त्रिगुणात्मिका प्रकृति, अज्ञानी जीव, और परमेश्वर इन तीनों को अज अर्थात् शाश्वत कहा है। पन्तजी ने भी यही विश्वास प्रकट किया है। ब्रह्म तो नित्य और शाश्वत है ही, जीवन की धारा (जीवात्मा) भी शाश्वत है और 'नभ का नीला विकास' (प्रकृति) भी। इनकी शाश्वतता के कारण ही कवि को अब सब कुछ सुन्दर और आकर्षक लगने लगा है। तभी कवि जीवन की लहरों से खेलने और जीवन के अन्तस्तल में डूबने की बात कहता है—

"जीवन की लहर-लहर से
हंस खेल-खेल रे नाविक

---

१. ऋग्वेद १, १६४, २०।

जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड बूड रे भाविक।" (गुंजन, पृ० १८)

जीवन सत्य है और उसकी गहराई में विद्यमान ब्रह्म भी सत्य है। जीवन को भी भोगो, और ब्रह्म को भी ढूँढो, क्योंकि लक्ष्य वही हैं।

कवि को आत्मा के जीवन की श्रेष्ठता की अनुभूति प्राप्त है। यद्यपि जग का जीवन भी चिरन्तन है, पर आत्मा के जोवन की अपेक्षा वह निकृष्ट कोटि का है। उसका सम्बन्ध प्रेय से है, लौकिक जीवन के अभ्युदय से है, किन्तु यही सब कुछ नहीं है, इससे ऊपर आत्मा का जीवन है जिसका सम्बन्ध पारलौकिक निःश्रेयस से है, यही श्रेष्ठ है, यही काम्य है और वैदिक चिन्तन में इसी को वरेण्य कहा गया है। हाँ, लौकिक उन्नति से भी पराङ्मुख नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि वह भी आवश्यक है, पर श्रेय के जीवन के साधन व सोपान रूप में ही। वैदिक ऋषि अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहता है—'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्'[1] 'हे अग्नि देव ! तुम हमें धन के लिए नेकी के मार्ग से ले चलो। यह धन लौकिक भी है और आध्यात्मिक भी, यह लोक का सम्पादक भी है और परलोक का भी। यहाँ वैदिक ऋषि की इस प्रार्थना में सन्तुलित दृष्टिकोण विद्यमान है। उपनिषदों में अवश्य प्रेय की अपेक्षा श्रेय को श्रेष्ठ कहा है— 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दोयोगक्षेमाद्वृणीते ॥'[2] (अर्थात् श्रेय और प्रेय ये दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं, बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनों के स्वरूप पर भली-भाँति विचार करते हुए उनमें से भोग-साधनों की अपेक्षा परम कल्याण को ही श्रेष्ठ समझकर उसे ही ग्रहण करता है और मन्द बुद्धि वाला प्रेय (लौकिक-भोगों) को ही अपनाता है।) पर यहाँ भी श्रेय का सर्वथा तिरस्कार नहीं है। ब्रह्मापि याज्ञवल्क्य और राजा जनक के जीवन-चरित से यह तथ्य प्रमाणित होता है। बृह० उ० के प्रमुख वक्ता याज्ञवल्क्य एक ओर तत्व-वेत्ता एवं आत्मद्रष्टा ज्ञानी हैं तो दूसरी ओर अपार धन-सम्पत्ति के स्वामी भी। धन के स्वामी होते हुए भी अनासक्त और निस्पृह भी। यही राजा जनक के सम्बन्ध में भी सत्य है। औपनिषदिक-काल में धन का सम्मान है अवश्य किन्तु साधन-रूप में। साध्य तो ब्रह्म की प्राप्ति, तत्व का दर्शन ही है। इसीलिए मुमुक्षु नचिकेता ने समस्त सांसारिक वस्तुओं को क्षणिक सुखदायी समझकर सारे प्रलोभन त्याग दिये थे। यह चिन्तन पन्तजी की निम्न पंक्तियों में प्रतिफलित हुआ है। वे कहते हैं—

"अस्थिर है जग का सुख दुख
जीवन ही सत्य चिरन्तन
सुख दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।" (गुंजन, पृ० २०)

---

१. यजु० ४०, १८।
२. देखिये, कठोपनिषद् २, २।

यही बात पन्तजी ने सन्तुलित दृष्टि से निम्न पंक्तियों में भी कही है—

> "मत हो विरक्त जीवन से
> अनुरक्त न हो जीवन पर
> जग परिधि मात्र जीवन
> स्थिर केन्द्र अमर उर भीतर।" (ज्योत्स्ना, पृ० ७७)

वे संन्यासियों की भाँति न तो जीवन से विरक्त हो जाने की बात कहते हैं और न भोगियों की भाँति विषय-वासनाओं से चिपटे रहने में ही विश्वास रखते हैं। वे वैदिक ऋषियों की भाँति प्रेय को स्वीकार करते हुए भी श्रेय में ही उसका पर्यवसान चाहते हैं, क्योंकि जीवन का अमर केन्द्र उर के भीतर ही विद्यमान है। अतः स्थित केन्द्र की ओर अभिमुख होने के लिए लौकिकता के प्रति अपने दृष्टिकोण को सीमित करना ही होगा। इन्द्रियों के प्रवाह को अन्तर्मुखी बनाना ही होगा। पर यहाँ इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि वे लौकिकता से बिल्कुल विमुख हो जाने के पक्ष में नहीं हैं। वे दोनों का समन्वय चाहते है। उनका यह समन्वित दृष्टिकोण आगे के काव्य में दर्शन की पृष्ठभूमि पर और भी अधिक पुष्ट होकर आया है जिसकी चर्चा प्रसंगानुकूल करेंगे।

**रहस्य-भावना**—जीव का ब्रह्म के प्रति राग-तत्व पर आधारित रहस्य-भावना का स्वर 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना'-काल की रचनाओं में प्रायः मन्द ही पड़ गया है। कारण स्पष्ट है कि कवि भावक की अपेक्षा चिन्तक और विचारक अधिक बनता जा रहा है। अतः ब्रह्म के प्रति रागात्मक भावना का मन्द होते जाना स्वाभाविक ही है। तदपि संस्कार-रूप में कवि की जिज्ञासा के स्फुट स्वर अभी भी बिखरे मिलते हैं। कवि जिज्ञासु की भाँति पूछता कि 'शान्त सरोवर का उर किस इच्छा से लहरा कर चंचल हो उठता है।' कवि इस सत्य को जान लेने के लिए भी अत्यधिक उत्कंठित है 'कि जगती के अखिल चराचर किसके बल से इस प्रकार मौन-मुग्ध हो रहे हैं।' (गुंजन, पृ० १२)

निम्न पंक्तियों में जिज्ञासा के साथ-साथ उस प्रकाशमय के तड़ाग में डूब जाने की मधुर अनुभूति भी है। कवि प्रश्न करता है—

> "किस स्वर्ण किरण की करुण कोर
> कर गई इन्हें सुख से विभोर ?
> किन नव स्वप्नों की सजग भोर ?
> हँस उठे हृदय के ओर छोर
> जग जग खग करते मधुर रोर
> मैं रे प्रकाश में गया बोर।
> × × ×
> चिर मुंदे मर्म के गुहा-द्वार
> किस स्वर्ग-रश्मि ने आर-पार

छू दिया हृदय का अन्धकार
यह रे किस छवि का मधुर तीर ?
मधु मुखर प्राण का पिक अधीर
डालेगा क्या उर चीर-चीर।" (गुंजन, पृ० ३२)

कवि ने यहाँ प्रभात में सूर्य की किरणों के विकास के माध्यम से आन्तरिक जगत् में ज्ञान-प्रकाश की किरणों द्वारा रूपान्तरित किए गए मानसिक उल्लास का वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि कहता है 'जिस प्रकार प्रभात की स्वर्णिम किरण दिङ्-मण्डल में प्रसरित होकर नव-जीवन और नया उल्लास विकरित कर देती है, पक्षी उस किरण के स्पर्श से जग कर भाँति-भाँति से कलरव करने लगते हैं उसी प्रकार अध्यात्म के सूर्य की प्रसरित किरणों से हृदय-गगन में नव भावनाएँ जागृत हो उठती हैं तथा मनुष्य की भौतिक सत्ता चेतना के समुद्र में डूबकर उज्जवलतरा हो जाती है। चिरकाल से आवृत, रहस्य के गुप्त द्वार खुल पड़ते हैं, फलतः अविद्या-जनित अन्धकार ज्ञान के प्रकाश में रूपान्तरित हो जाता है। प्राणों में एक प्रकार का नवीन उद्वेग संचरित होकर उसे रस से सरावोर कर देता है।' इस प्रकार का वर्णन कोई रहस्य-वादी कवि ही प्रस्तुत कर सकता है। पन्त के इस वर्णन और महादेवी की 'रश्मि' शीर्षक कविता के 'चुभते ही तेरा अरुण वान' में व्यक्त रहस्यानुभूति में पर्याप्त समानता के दर्शन होते हैं।

**मुक्ति का विचार**—उपनिषदों में मुक्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हुआ है। वहाँ कर्म के बन्धन से मुक्ति भी मुक्ति है[1] और परमात्मा का दर्शन भी मुक्ति ही है।[2] ब्रह्म को जानकर ब्रह्म-स्वरूप हो जाना भी मुक्ति कहा गया[3] और भूमा के आनन्द की अनुभूति भी जीवात्मा की मुक्तावस्था कही गई है।[4] परम समता की स्थिति भी जीव की मुक्तावस्था है।[5] पर इस स्थिति में व्यक्तित्व की पृथक् सत्ता की किंचित् प्रतीति वनी रहती है। आनन्द-रूप हो जाना और आनन्द का अनुभव करना दोनों अवस्थाओं में थोड़ा अन्तर है। आनन्द रूप हो जाने में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी विलुप्त हो जाती है और आनन्द का अनुभव करने में उसकी स्वयं की सत्ता वनी रहती है, प्रथम अद्वैत की पूर्णावस्था है और द्वितीय अद्वैत का पूर्व रूप, एक में व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है, दूसरी अवस्था में वना रहता है। उपनिषदों में अनुभूति के तारतम्य के आधार पर मुक्ति की सभी अवस्थाओं का उल्लेख आया है। पर अन्तिम स्थिति में आत्मा परमात्मा से मिलकर उसी प्रकार समरस हो जाती है

---

१. श्वे० उ० ६, ४।
२. श्वे० उ० ६, ६।
३. मु० उ० २, ३, ६।
४. छा० उ० ७, २३-२४।
५. मु० उ० ३, १, ३।

जिस प्रकार नदी नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती है। "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैतिदिव्यम्।" (मुण्डकोपनिषद् २, ३, ८) अर्थात् 'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नामरूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं वैसे ही ज्ञानी महात्मा नामरूप से विमुक्त होकर दिव्य परमात्म-स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।' स्पष्ट है कि इस समरसता की स्थिति में व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है।

ऐसी मुक्ति जिसमें व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाए पन्तजी को अभीष्ट नहीं, वे उस मुक्ति को बन्धन समझते है जो एकान्त-सेवी वैरागियों और सन्यासियों की साधना का परिणाम है। वे तो गन्धहीन बनने की अपेक्षा गन्धयुक्त बनना अधिक पसन्द करते हैं। उनका कथन है—

"तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन
गन्ध हीन तू गन्ध युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन,
मूर्तिमान बन, निर्धन।" (गुंजन, पृ० ११)

ज्योत्स्ना में भी उन्होंने—'अविराम प्रेम की बाहों में है मुक्ति, यही जीवन बन्धन' (पृ० ६०) तथा 'मत हो विरक्त जीवन से, अनुरक्त न हो जीवन पर' (७७) कहकर अपने उपरोक्त दृष्टिकोण का ही पोषण किया है।

पन्तजी एक स्थल पर स्पष्ट कहते हैं कि जीवन की तह में जो मुक्ति-रूपी परमार्थ-तत्व छिपा हुआ कहा जाता है जिसे पकड़ने और जिसमें लीन होने के लिए बहुत-से लोग अन्तर्मुख होकर गहरी-गहरी डुबकियाँ लगाया करते हैं, मुझे अभीष्ट नहीं। मुझे तो उसके तट पर खड़े होकर उसके व्यक्त आभास की किलोलों के दर्शन ही अधिक रुचिकर हैं।

'सुनता हूं, इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल जल-माली।' (गुंजन, पृ० ७१)

पन्तजी का दार्शनिक इस बात से भयभीत हैं कि जब आत्मा-परमात्मा का महामिलन होगा तो उस आनन्द का उपभोक्ता कौन रह जायेगा। इसलिए अपनी व्यक्तिगत सत्ता को ब्रह्म में निमज्जित करते हुए उन्हें भय-सा लगता है। रत्नाकर की गोपियों को भी यही भय था। इसलिए उन्होंने भी यही कहा कि—

"जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की।"[1]

कवीन्द्र रवीन्द्र और महादेवी का भी मुक्ति के सम्बन्ध में यही विचार है। रवीन्द्र ने

---

१. जगन्नाथ दास रत्नाकर : रत्नाकर कवित्त-३८ (२००३)।

नैवेद्य में बन्धन और मुक्ति पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है—

> "वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय
> असंख्य बन्धन माँझे महानन्दमय
> लभिव मुक्तिर स्वाद।
> एइ वसुधार
> मृत्तिकार पात्र खानि भरि बारम्बार
> तोमार अमृत ढालि दिवे अविरत
> नाना वर्ण गंध मय।"

वैराग्य-साधन से उपलब्ध मुक्ति को रवीन्द्रनाथ नहीं चाहते, असंख्य बन्धनों में रहकर महानन्दमय मुक्ति के ही इच्छुक हैं। पन्तजी भी अपने प्रारम्भिक काव्य में ऐसी ही मुक्ति चाहते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी भले ही व्यक्तित्व का लोप कर देने वाली मुक्ति की आकांक्षा न करते हों, पर इतना स्पष्ट है कि वे मुक्ति-सम्बन्धी वैदिक-कल्पना से पूर्णतः सहमत हैं।

**सुख-दुःख विचार**—पन्तजी जीवन को उसकी समग्रता और पूर्णता में ग्रहण करते हैं। एकांगी दृष्टिकोण उन्हें कभी भी अभीष्ट नहीं रहा। अतः जहाँ एक ओर जीवन के आन्तरिक विकास के लिए उन्होंने अध्यात्म को स्वीकार करने की आवश्यकता पर बल दिया तो दूसरी ओर जीवन के बाह्य विकास के लिए सामाजिकता को भी स्पृहणीय माना है। इसलिए एक ओर उन्होंने ब्रह्म, जीव और जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक चर्चा करते हुए आन्तरिक जीवन के उन्नयन की बात कही तो दूसरी ओर सामाजिक जीवन से सम्बद्ध दुःख-सुखादि विषयों पर भी चर्चा की है। पन्तजी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे बुद्धि और हृदय, अध्यात्म और व्यवहार सबको साथ लेकर चले हैं और जीवन को उसकी समग्रता की पीठिका पर अभिव्यक्ति दी है।

'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में उनका दर्शन-चिन्तन पक्ष जितना सबल है उतना ही सामाजिक-पक्ष भी, उससे सम्बद्ध सुख-दुःख, अश्रु-हास, प्रेम-विरह भी। क्योंकि वे उस सत्य को सत्य ही नहीं मानते जो मानव-जाति की आत्मिक उन्नति के साथ लौकिक उन्नति का पोषण नहीं करता। वे जीवन और सत्य, सत्य और जीवन को परस्पर सापेक्ष मानते हैं।[1]

पन्तजी ने इसी आधार पर सुख-दुःख के समन्वय की 'पल्लव'-काल से ही ही कहनी प्रारम्भ कर दी थी। वहाँ उन्होंने कहा था—

> "बिना दुःख के सब सुख निस्सार,
> बिना आँसू के जीवन भार।" (पल्लव, पृ० १६०)

'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना'-काल में उनका यह चिन्तन उपनिषद्-दर्शन से संपुष्ट होकर आया है। गीता में भी श्री कृष्ण ने अर्जुन को जीवन के उन्नयन के लिए सुख-दुःख

---

१. ज्योत्स्ना पृ० ६७,६६; गीता २,३८; २,४८।

हानि-लाभ, जय-पराजय सभी स्थितियों में समान भाव से रहने की शिक्षा दी थी।[1] इस प्रकार उन्होंने दोनो ही स्थितियो में समन्वय का दृष्टिकोण उपस्थित किया था। यह समत्व योग ही मनुष्य के लौकिक-जीवन का सफल बनाने के साथ-साथ अलौकिकता की ओर ऊपर उठाता है। पन्तजी का सुख दुख सम्बन्धी-चिन्तन उपरोक्त विचारधारा पर ही आधारित है। उनका कथन है कि जीवन में दुःख और सुख दोनों की अति हानिप्रद हैं। दोनों की अतिशयता जीवन को विकृत और अशांत बना देती है। इसीलिए पन्तजी कहते है कि 'संसार जितना अति दुःख से पीड़ित है उतना ही अति सुख से भी। अतः वे मानव-जग में सुख-दुःख दोनों के बंट जाने की बात कहते हैं (गुंजन पृ० १६)। वे न तो अति सुख के आकांक्षी है और न अति दुःख के इच्छुक; उन्हें दोनों का समन्वित रूप ही रुचिकर है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

> **"मैं नहीं चाहता चिर सुख,**
> **मैं नहीं चाहता चिर दुःख,**
> **सुख-दुख की आंख मिचौनी**
> **खोले जीवन अपना मुख।"** (गुंजन, पृ० १५)

"जीवन की अति इच्छाएँ भी मनुष्य को पीड़ित करती हैं', उसके कल्याण के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करती है, अतः पन्तजी इच्छाओं के समन्वय के भी समर्थक हैं। वे कहते हैं—"साधन भी इच्छा ही है सम-इच्छा ही रे साधन' (गुंजन पृ० २४)।

इच्छा का मानव-जीवन में बड़ा महत्त्व है। कारण, मनुष्य इच्छामय है। उपनिषदें कहती हैं—" 'काममय एवायं पुरुष' इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।"[2] वह जैसी इच्छा करता है वैसे ही संकल्प वाला होता है। तदनुसार वैसे ही कर्म-प्रवृत्त होकर उसी के अनुरूप फल भी प्राप्त करता है। विषम इच्छाएँ जीवन को विषमता की ओर ले जाती हैं और सम-इच्छाएँ जीवन को समत्व की ओर। पन्तजी जिस जीवन को प्रमुख मानते हैं, वह मन का, आत्मा का जीवन है जो इच्छा और सुख-दुःखादि मनोविकारों से ऊपर है।[3]

इस प्रकार पन्तजी के इच्छा सुखदुःखादि के चिन्तन पर उपनिषद् और गीता के समत्व-योग का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

**मृत्यु और जन्मान्तरवाद**—वैदिक-दर्शन में जीवन की शाश्वतता का बड़ी निष्ठा से समर्थन किया गया है। हमारे यहाँ मृत्यु, इस्लाम अथवा क्रिश्चियनिटी की भाँति जीवन का विराम नहीं मानी गई प्रत्युत उसे अपर जीवन में प्रवेश का द्वार कहा गया है। मृत्यु श्रमित जीव के लिए विश्रामदायिनी रात्री की भाँति सुखकर कही गई है। अतः जीव जब तक कर्म के वन्धन से मुक्त नहीं हो जाता तब तक निरन्तर

---

१. सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ २,३८।

२. बृह० उ० ४,४,५।

३. गुँजन, पृ० २०।

नैवेद्य में बन्धन और मुक्ति पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है—

> **"वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय**
> **असंख्य बन्धन माँझे महानन्दमय**
> **लभिव मुक्तिर स्वाद।**
> **एइ वसुधार**
> **मृत्तिकार पात्र खानि भरि बारम्बार**
> **तोमार अमृत ढालि दिबे अविरत**
> **नाना वर्ण गंध मय।"**

वैराग्य-साधन से उपलब्ध मुक्ति को रवीन्द्रनाथ नहीं चाहते, असंख्य बन्धनों में रहकर महानन्दमय मुक्ति के ही इच्छुक हैं। पन्तजी भी अपने प्रारम्भिक काव्य में ऐसी ही मुक्ति चाहते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी भले ही व्यक्तित्व का लोप कर देने वाली मुक्ति की आकांक्षा न करते हों, पर इतना स्पष्ट है कि वे मुक्ति-सम्बन्धी वैदिक-कल्पना से पूर्णतः सहमत हैं।

**सुख-दुःख विचार**—पन्तजी जीवन को उसकी समग्रता और पूर्णता में ग्रहण करते हैं। एकांगी दृष्टिकोण उन्हें कभी भी अभीष्ट नहीं रहा। अतः जहाँ एक ओर जीवन के आन्तरिक विकास के लिए उन्होंने अध्यात्म को स्वीकार करने की आवश्यकता पर बल दिया तो दूसरी ओर जीवन के बाह्य विकास के लिए सामाजिकता को भी स्पृहणीय माना है। इसलिए एक ओर उन्होंने ब्रह्म, जीव और जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक चर्चा करते हुए आन्तरिक जीवन के उन्नयन की बात कही तो दूसरी ओर सामाजिक जीवन से सम्बद्ध दुःख-सुखादि विषयों पर भी चर्चा की है। पन्तजी की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वे बुद्धि और हृदय, अध्यात्म और व्यवहार सबको साथ लेकर चले हैं और जीवन को उसकी समग्रता की पीठिका पर अभिव्यक्ति दी है।

'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में उनका दर्शन-चिन्तन पक्ष जितना सबल है उतना ही सामाजिक-पक्ष भी, उससे सम्बद्ध सुख-दुःख, अश्रु-हास, प्रेम-विरह भी। क्योंकि वे उस सत्य को सत्य ही नहीं मानते जो मानव-जाति की आत्मिक उन्नति के साथ लौकिक उन्नति का पोषण नहीं करता। वे जीवन और सत्य, सत्य और जीवन को परस्पर सापेक्ष मानते हैं।[1]

पन्तजी ने इसी आधार पर सुख-दुःख के समन्वय की 'पल्लव'-काल से ही कहनी प्रारम्भ कर दी थी। वहाँ उन्होंने कहा था—

> **"बिना दुःख के सब सुख निस्सार,**
> **बिना आँसू के जीवन भार।"** (पल्लव, पृ० १६०)

'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना'-काल में उनका यह चिन्तन उपनिषद्-दर्शन से संपुष्ट होकर आया है। गीता में भी श्री कृष्ण ने अर्जुन को जीवन के उन्नयन के लिए सुख-दुःख

---

१. ज्योत्स्ना पृ० ६७,६६; गीता २,३८; २,४८।

हानि-लाभ, जय-पराजय सभी स्थितियों में समान भाव से रहने की शिक्षा दी थी।[1] इस प्रकार उन्होंने दोनों ही स्थितियों में समन्वय का दृष्टिकोण उपस्थित किया था। यह समत्व योग ही मनुष्य के लौकिक-जीवन को सफल बनाने के साथ-साथ अलौकिकता की ओर ऊपर उठाता है। पन्तजी का सुख दुख सम्बन्धी-चिन्तन उपरोक्त विचारधारा पर ही आधारित है। उनका कथन है कि जीवन में दुःख और सुख दोनों की अति हानिप्रद हैं। दोनों की अतिशयता जीवन को विकृत और अशान्त बना देती है। इसीलिए पन्तजी कहते हैं कि 'संसार जितना अति दुःख से पीड़ित है उतना ही अति सुख से भी। अतः वे मानव-जग में सुख-दुःख दोनों के बंट जाने की बात कहते हैं (गुंजन पृ० १६)। वे न तो अति सुख के आकांक्षी हैं और न अति दुःख के इच्छुक; उन्हें दोनों का समन्वित रूप ही रुचिकर है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

> **"मैं नहीं चाहता चिर सुख,**
> **मैं नहीं चाहता चिर दु.ख,**
> **सुख-दुख की आँख मिचौनी**
> **खोले जीवन अपना मुख।"** (गुंजन, पृ० १५)

"जीवन की अति इच्छाएँ भी मनुष्य को पीड़ित करती हैं', उसके कल्याण के मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करती हैं, अतः पन्तजी इच्छाओं के समन्वय के भी समर्थक हैं। वे कहते हैं—"साधन भी इच्छा ही है सम-इच्छा ही रे साधन' (गुंजन पृ० २४)।

इच्छा का मानव-जीवन में बड़ा महत्त्व है। कारण, मनुष्य इच्छामय है। उपनिषदें कहती हैं—" 'काममय एवायं पुरुष' इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।"[2] वह जैसी इच्छा करता है वैसे ही संकल्प वाला होता है। तदनुसार वैसे ही कर्म-प्रवृत्त होकर उसी के अनुरूप फल भी प्राप्त करता है। विषम इच्छाएँ जीवन को विषमता की ओर ले जाती हैं और सम-इच्छाएँ जीवन को समत्व की ओर। पन्तजी जिस जीवन को प्रमुख मानते हैं, वह मन का, आत्मा का जीवन है जो इच्छा और सुख-दुःखादि मनोविकारों से ऊपर है।[3]

इस प्रकार पन्तजी के इच्छा सुखदुःखादि के चिन्तन पर उपनिषद् और गीता के समत्व-योग का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

**मृत्यु और जन्मान्तरवाद**—वैदिक-दर्शन में जीवन की शाश्वतता का बड़ी निष्ठा से समर्थन किया गया है। हमारे यहाँ मृत्यु, इस्लाम अथवा क्रिश्चियनिटी की भाँति जीवन का विराम नहीं मानी गई प्रत्युत उसे अपर जीवन में प्रवेश का द्वार कहा गया है। मृत्यु श्रमित जीव के लिए विश्रामदायिनी रात्री की भाँति सुखकर कही गई है। अतः जीव जब तक कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता तब तक निरन्तर

---

१. सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
 ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवापस्यसि ॥ २,३८।

२. बृह० उ० ४,४,५।

३. गुंजन, पृ० २०।

कर्मानुसार एक योनि से दूसरी योनि में जन्मता और मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। 'तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा···'[1] पन्तजी भी मृत्यु को जीवन का अन्त नहीं मानते तथा वैदिक जन्मान्तरवाद में विश्वास रखते हैं। ज्योत्स्ना में उन्होंने कहा है—

"जीवन शाश्वत वसन्त
जय जगजीवन अनन्त।
जन्म-मरण आस-पास,
जीवन रे मृत्यु-ग्रास।
जीवन चिर मुक्त द्वार
जन्म-मरण चल किवार
आवागमन-मुक्त-पाश
जीवन अग जग प्रकाश।" (पृ० १०५)

**लोक-मंगल की भावना और मानवतावाद**—पन्तजी के 'गुँजन' और ज्योत्स्ना में लोक-मंगल के पक्ष को भी सबल अभिव्यक्ति मिली है। मानव, मानव की एकता और समानता का स्वर यहाँ पहली बार श्रुतिगोचर होता है। गुँजन से पूर्व कवि का क्षेत्र रहस्य, प्रकृति और प्रेम रहा है। यहाँ आकर वह मानव की ओर झुका और उसने मानव की महानता तथा श्रेष्ठता को अनुभव किया। अध्यात्म की भूमिका पर कवि ने मानव की अभिन्नता के दर्शन किए और खड़ी ओजस्वी वाणी में कहा—

"सब मानव मानव हैं समान,
× × ×
बन्धुत्व भाव ही विश्व मूल
सब एक राष्ट्र के उपादान।" (ज्योत्स्ना, पृ० ७१)

यही कारण है कि कवि समाज के सभी नर-नारियों को भाई और बहिन रूप में ग्रहण करता है। (वही, पृ० १०५) इन स्थलों से स्पष्ट है कि पन्तजी विश्व-बन्धुत्व अथवा मानवता की भावना को आदर्श रूप में ग्रहण करते हैं।

इसके अतिरिक्त लोक-मंगल की साधना की दृष्टि से कवि जग के उर्वर आँगन में ज्योतिर्मय जीवन की वर्षा करने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है उसकी दृष्टि से 'लघु लघु तृण और तरु भी' उपेक्षित नहीं हो सके हैं।'[2] यहाँ कवि अपनी विशालता में न केवल चेतन दृष्टि को ही बाँधता है अपितु जड़ प्रकृति भी उसकी उदारता की सीमा के अन्तर्गत समाविष्ट हो गई है।

लोक-हित की साधना के हेतु कवि स्वयं अपने मन को विश्व-वेदना में गला-गलाकर अकलुष, उज्ज्वल और कोमल बनाने की अभिलाषा प्रकट करता है।

---

१. बृह० उ० ३,६,२८, छान्दोग्य उपनिषद् ५, १०,७।
२. गुंजन, पृ० ७६।

(गुं० पृ० २१) तथा जीवन की उज्ज्वलता के लिए श्रद्धा और सुन्दर विश्वासों की आवश्यकता का भी अनुभव करता है (गुंजन, पृ० २८); साथ ही कर्म-पथ पर पग धरने की स्वयं को शिक्षा देने में संकोच नहीं करता। वह कहता है—

> **"नित्य कर्म-पथ पर तत्पर धर,**
> **निर्मल कर अन्तर,**
> **पर-सेवा का मृदु पराग भर।**
> **मेरे मधु संचय में।"** (गुंजन, पृ० ८०)

इस विवरण से स्पष्ट है कि पन्तजी लोक-मंगल की भावना से स्पष्टतः प्रभावित रहे हैं जो 'आत्मवाद' की पीठिका पर आधारित है।

युगान्त :

पन्तजी की प्रारम्भिक रचनाओं मे युगान्त उनकी अन्तिम कृति समझी जाती है। कतिपय विद्वानों ने इस रचना द्वारा छायावादी-युग के अन्त के दर्शन किए हैं। कुछ भी सही इतना तो सत्य है कि इसमें पन्तजी ने 'नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है।'[1] यह नवीन क्षेत्र है मानव-वाद और समाजवाद का, जिसे वे 'गुंजन' और बाद में 'ज्योत्स्ना' में पहले ही वाणी दे चुके थे। यहाँ इन्हीं विचारों की विस्तृत भूमिका पर स्थापना हुई है। और यह भी सत्य है कि इस रचना में उन का दर्शनिक चिन्तन और मनन अपेक्षाकृत अधिक उभर कर आ सका है। जीव और जगत्-सम्बन्धी चिन्तन को इस संकलन मे गम्भीर अभिव्यक्ति मिली है।

**जीव**—जीवात्मा के सम्बन्ध में पन्तजी ने उन्हीं मान्यताओं को स्वीकार किया है जो उपनिषद-सम्मत हैं और जिनका पीछे उल्लेख आ चुका है। कवि ने कहा है कि मानव (जीवात्मा) दिव्य और चिरन्तन स्फुलिंग है। वह भौतिक शरीर के समान नश्वर नहीं और देश-काल का बन्धन भी उसे वास्तविक बन्धन नहीं है। क्योंकि वह अपने मूल रूप में देश-कालादि के बन्धनों से सर्वथा अतीत तत्व है—

> **"मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,**
> **वह न देह का नश्वर रजकण।**
> **देश काल है उसे न बन्धन।"** (युगान्त, पृ० १७)

इसी प्रकार 'खद्योत' शीर्षक कविता में कवि जीवात्मा को उसके प्रकाश-स्वरूप होने के कारण जीवन के घने अंधकार में प्रकाश का कण कहता है, जिसकी उपस्थिति से मानस के गुह्य कुंज ज्योतित हो जाते हैं (वही, पृ० ५१)।

**जगत् (प्रकृति)**—पन्तजी 'युगान्त' में सृष्टि के विकास पर तार्किकों की भाँति तर्क न करके, एक भावुक कलाकार की भाँति उसके विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं। वे मिट्टी के गहरे अंधकार में पड़े एक छोटे-से बीज की शक्ति

---

१ देखिये, युगान्त के 'दो शब्द'।

कर्मानुसार एक योनि से दूसरी योनि में जन्मता और मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। 'तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा...'[1] पन्तजी भी मृत्यु को जीवन का अन्त नहीं मानते तथा वैदिक जन्मान्तरवाद में विश्वास रखते हैं। ज्योत्स्ना में उन्होंने कहा है—

**"जीवन शाश्वत वसन्त**
**जय जगजीवन अनन्त।**
**जन्म-मरण आस-पास,**
**जीवन रे मृत्यु-ग्रास।**
**जीवन चिर मुक्त द्वार**
**जन्म-मरण चल किवार**
**आवागमन-मुक्त-पाश**
**जीवन अग जग प्रकाश।"** (पृ० १०५)

**लोक-मंगल की भावना और मानवतावाद**—पन्तजी के 'गुंजन' और ज्योत्स्ना में लोक-मंगल के पक्ष को भी सबल अभिव्यक्ति मिली है। मानव, मानव की एकता और समानता का स्वर यहाँ पहली बार श्रुतिगोचर होता है। गुंजन से पूर्व कवि का क्षेत्र रहस्य, प्रकृति और प्रेम रहा है। यहाँ आकर वह मानव की ओर झुका और उसने मानव की महानता तथा श्रेष्ठता को अनुभव किया। अध्यात्म की भूमिका पर कवि ने मानव की अभिन्नता के दर्शन किए और खड़ी ओजस्वी वाणी में कहा—

**"सब मानव मानव हैं समान,**
× × ×
**बन्धुत्व भाव ही विश्व मूल**
**सब एक राष्ट्र के उपादान।"** (ज्योत्स्ना, पृ० ७१)

यही कारण है कि कवि समाज के सभी नर-नारियों को भाई और बहिन रूप में ग्रहण करता है। (वही, पृ० १०५) इन स्थलों से स्पष्ट है कि पन्तजी विश्व-बन्धुत्व अथवा मानवता की भावना को आदर्श रूप में ग्रहण करते हैं।

इसके अतिरिक्त लोक-मंगल की साधना की दृष्टि से कवि जग के उर्वर आँगन में ज्योतिर्मय जीवन की वर्षा करने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है उसकी दृष्टि से 'लघु लघु तृण और तरु भी' उपेक्षित नहीं हो सके हैं।'[2] यहाँ कवि अपनी विशालता में न केवल चेतन दृष्टि को ही बाँधता है अपितु जड़ प्रकृति भी उसकी उदारता की सीमा के अन्तर्गत समाविष्ट हो गई है।

लोक-हित की साधना के हेतु कवि स्वयं अपने मन को विश्व-वेदना में गला-गलाकर अकलुष, उज्ज्वल और कोमल बनाने की अभिलाषा प्रकट करता है।

---

१. बृह० उ० ३,६,२८, छान्दोग्य उपनिषद् ५, १०,७।
२. गुंजन, पृ० ७६।

(गुं० पृ० २१) तथा जीवन की उज्ज्वलता के लिए श्रद्धा और सुन्दर विश्वासों की आवश्यकता का भी अनुभव करता है (गुंजन, पृ० २८); साथ ही कर्म-पथ पर पग धरने की स्वयं को शिक्षा देने में संकोच नहीं करता। वह कहता है—

> **"नित्य कर्म-पथ पर तत्पर धर,**
> **निर्मल कर अन्तर,**
> **पर-सेवा का मृदु पराग भर।**
> **मेरे मधु संचय में।"** (गुंजन, पृ० ८०)

इस विवरण से स्पष्ट है कि पन्तजी लोक-मंगल की भावना से स्पष्टतः प्रभावित रहे हैं जो 'आत्मवाद' की पीठिका पर आधारित है।

युगान्त :

पन्तजी की प्रारम्भिक रचनाओं में युगान्त उनकी अन्तिम कृति समझी जाती है। कतिपय विद्वानों ने इस रचना द्वारा छायावादी-युग के अन्त के दर्शन किए हैं। कुछ भी सही इतना तो सत्य है कि इसमें पन्तजी ने 'नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है।'[1] यह नवीन क्षेत्र है मानव-वाद और समाजवाद का, जिसे वे 'गुंजन' और बाद में 'ज्योत्स्ना' में पहले ही वाणी दे चुके थे। यहाँ इन्हीं विचारों की विस्तृत भूमिका पर स्थापना हुई है। और यह भी सत्य है कि इस रचना में उन का दर्शनिक चिन्तन और मनन अपेक्षाकृत अधिक उभर कर आ सका है। जीव और जगत्-सम्बन्धी चिन्तन को इस संकलन मे गम्भीर अभिव्यक्ति मिली है।

**जीव**—जीवात्मा के सम्बन्ध में पन्तजी ने उन्हीं मान्यताओं को स्वीकार किया है जो उपनिषद-सम्मत हैं और जिनका पीछे उल्लेख आ चुका है। कवि ने कहा है कि मानव (जीवात्मा) दिव्य और चिरन्तन स्फुलिंग है। वह भौतिक शरीर के समान नश्वर नहीं और देश-काल का बन्धन भी उसे वास्तविक बन्धन नहीं है। क्योंकि वह अपने मूल रूप में देश-कालादि के बन्धनों से सर्वथा अतीत तत्व है—

> **"मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,**
> **वह न देह का नश्वर रजकण।**
> **देश काल है उसे न बन्धन।"** (युगान्त, पृ० १७)

इसी प्रकार 'खद्योत' शीर्षक कविता में कवि जीवात्मा को उसके प्रकाश-स्वरूप होने के कारण जीवन के घने अंधकार में प्रकाश का कण कहता है, जिसकी उपस्थिति से मानस के गुह्य कुंज ज्योतित हो जाते हैं (वही, पृ० ५१)।

**जगत् (प्रकृति)**—पन्तजी 'युगान्त' में सृष्टि के विकास पर तार्किकों की भाँति तर्क न करके, एक भावुक कलाकार की भाँति उसके विकास की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं। वे मिट्टी के गहरे अंधकार में पड़े एक छोटे-से बीज की शक्ति

---

[1] देखिये युगान्त के 'दो शब्द'।

पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि किस प्रकार उसके छोटे उर में शत-शत डाल-पात और स्कन्ध मूल, तथा पत्रों का गहरी हरीतिमा एवं नाना प्रकार के रंग-विरंगे पुष्प और फल छिपे हुए थे। वह किस प्रकार अपनी मुट्ठी में बट के पादप का महाकार बन्द करके रख सका। कवि कहता है—

**"वह है मुट्ठी में बन्द किए**
**बट के पादप का महाकार !"**

अगली पंक्तियों में संसार की विचित्रता पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहता है—

**"संसार एक ! आश्चर्य एक।**
**वह एक बूंद, सागर अपार।"** (युगान्त, पृ० ५२)

इस स्थल पर कवि ने बीज द्वारा वृक्ष के विकास के वर्णन द्वारा प्रकारान्तर से वहु-रूप रंगमयी सृष्टि के विकास का वर्णन प्रस्तुत किया है जिसे पढ़कर ऋग्वेद के दशम मण्डल के उस सूक्त का (नासदीय-सूक्त १०,१२६ का) स्मरण हो आता है जिसमें अंधकार से आच्छादित अंधकार में पड़े हुए 'मनसोरेतः' कामरूप बीज द्वारा सृष्टि के विकास का बडा ही मनोरम वर्णन हुआ है। वहाँ कहा गया है कि आरम्भ में केवल काम ही था जिसमें सारा विश्व-प्रपंच अपने सम्पूर्ण विस्तार को छिपाए पड़ा था।[1] उसके क्रियाशील होते ही सारा पसारा जैसे फैल-फूटकर एक महावृक्ष के रूप में उपस्थित हो गया। उसकी एक बूंद आज अपार सागर का रूप धारण किए हुए है।

कवि इस नाम-रूपात्मक जगत् को सत्य मानता है इसका मुख्य कारण यह है कि इस में 'अनन्त' का निवास है, सब कुछ इसी से व्याप्त हो रहा है (पृ० ५३)।

**माया**—युगान्त में 'माया' के आध्यात्मिक स्वरूप की भी थोड़ी सी चर्चा पन्तजी ने की है। कवि का विश्वास है कि ब्रह्म है, पर वह दृष्टिगोचर नहीं होता, वह अज्ञेय है। कवि ब्रह्म और जीव की तात्विक एकता में भी विश्वास रहता है किन्तु यह एकत्व, यह अभिन्नत्व माया के कारण जीव की अनुभूति का विषय नहीं बन पाता। जीव और ब्रह्म के मध्य से यदि यह माया का, अविद्या का आवरण हट जाये तब फिर एकत्वानुभूति में विलम्ब नहीं होता। कवि ने इसी दार्शनिक तथ्य को 'छाया' शीर्षक कविता में अत्यन्त सहज भाव से व्यक्त किया है। कवि कहता है कि सत्य पर अपार अंधकार की ऐसी पर्तें चढ़ी हुई हैं कि अनेक पर्तों के अनावृत हो जाने पर भी सत्य-तत्व का ओर-छोर नहीं मिल सका। वह माया की तहों को छील-छील कर हार गया फिर भी अंतिम सत्य के रहस्य का उद्‌घाटन नहीं हो सका कि वास्तविक सत्ता 'मैं' (आतमा) है अथवा 'तुम' (परमात्मा) है अथवा ये दोनों के बल पर आधृत है ?

**"पट पर पट केवल तम अपार,**
**पट पर पट खुले, न मिला पार।**

---

१. देखिए, प्रसाद के प्रकरण में 'काम' का स्वरूप-वर्णन, पृ० २०२-३।

सखि, हटा अपरिचय, अन्धकार
खोलो रहस्य के मर्म-द्वार।
मैं हार गया तह छील छील,
आँखों से प्रिय छवि लील लील,
मैं हूं या तुम ? यह कैसा छल।
या हम दोनों दोनों के बल। (पृ० ४८)

× × ×

हम दो भी हैं या नित्य एक
तब कोई किसको सके देख ?" (वहीं)

इसी का निश्चय न हो सकना ही तो माया की मायात्मकता है। यदि इसका निश्चय हो गया तब फिर माया कहाँ ठहर पाती है। (पृ० ४८) माया के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए कवि कहता है—

**"चिर अवचनीय, आश्चर्य पाश।**
**तुम अतल गर्त, अविगत, अकूल,**
**फैली अनन्त में बिना मूल।**
**अज्ञेय, गुह्य अग जग, छाई,**
**माया मोहिनी संग-संग आई।**
**तुम कुहुकिनी जग की मोह निशा,**
**मैं रहूं सत्य, तुम रहो मृषा।"** (युगान्त, पृ० ४९)

इस अवतरण में पन्तजी ने 'माया' का अनेक नामों से परिचय देने का प्रयत्न किया। उसे शंकर की भाँति अवचनीय तथा उपनिषदों के आधार पर उसे 'आश्चर्य-पाश' और 'जग की मोह-निशा' भी कहा है। ऐसा क्यों ? इसका कारण है—

बृहदारण्यकोपनिषद् के प्रमुख वक्ता याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्म-तत्व समझाते हुए कहा कि 'हे मैत्रेयी! आत्मा स्वयं द्रष्टा है, ज्ञाता है, और यही ब्रह्म है, फिर इस ज्ञाता को कोई कैसे जान सकता है—'विज्ञातारं केन विजानीयात्।' 'आत्मा' और 'ब्रह्म' दो पृथक् तत्व नहीं हैं, सिद्धि की चरमावस्था में आत्मा ही ब्रह्म रूप हो जाता है, अत: जब द्वैत ही नहीं तब कौन किसे देखे। पर यह अद्वैतावस्था द्रष्टा की दृष्टि से तब तक ओझल रहती है, जब तक वह अविद्या-माया के आवरण को अनावृत्त नहीं कर देता। पन्तजी ने भी जिस 'अपार तम के पटों का उद्घाटन करने की बात कही है और वह जिन 'तहों को छीलते-छीलते हार गया' वे अविद्या माया की ही तो तहें हैं। ज्यों ही साधक जीवात्मा इस रहस्य के मर्म-द्वार को खोल लेता है तब नित्य एक के ही सर्वत्र दर्शन होने लगते हैं। स्पष्ट है कि माया अपने मोहित कर लेने वाले स्वभाव से जीवों को द्वैत-जनित भेद-भाव के जाल में उलझाए रखती है। इसीलिए कवि ने इसे 'पाश' और 'जग की मोह निशा' कहा है। ये माया के पाश हैं जो जीव को बन्धन में जकड़े रखते हैं, उसे द्वैतावस्था में उलझाए रखते

हैं—जिसने इस पाश को काट दिया, उसके लिए सर्वत्र अद्वैत ही अद्वैत रह गया।

पन्तजी के उपरोक्त अवतरण में मोह-जनित अविद्या-माया और उसके अपवारण से अद्वैत सिद्धि की स्थिति का जो वर्णन आया है वह औपनिषदिक अद्वैत भावना से निष्पन्न होकर आया है। इसीलिए उस तत्व को जो विश्व में भेद उत्पन्न करता है पन्तजी ने माया कहा है—

**"जग नाम रूप मय अन्धकार**
**मैं चिर प्रकाश, मैं मुक्ति द्वार।" (युगान्त, पृ० ३४)**

में भी कवि ने जगत् को नाम-रूप-मय अंधकार कह कर उसकी मायात्मकता की घोषणा की है तथा आत्मा को प्रकाशमान् तत्व कह कर उसके मुक्त स्वरूप का प्रतिपादन किया है। इस संसार के दिशि-पल के तम को इन्द्रजाल कहा है जो अनेक भेदों का जनक और संसार के समस्त कष्टों का कारण है। (पृष्ठ ३५)

उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं कि—

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं रसयते तदितर इतरमभिवदति·· ···तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं रसयेत्···" (बृह० उ० ४,५,१५) यहाँ द्वैत-भाव को ही विषमता की जड़ कहा है और यही अविद्या की स्थिति है। इसके विपरीत साम्यावस्था विद्या की स्थिति है, परम ज्ञान की अवस्था है। यह द्वैत भाव ही 'अविद्या' और 'माया' है।

इस विवेचन की सापेक्षता में स्पष्ट है कि कवि की चिन्तन-धारा उपनिषदों के अविद्या के सिद्धान्त से प्रभावित है जिसकी व्याख्या आधुनिक युग में श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्दजी पहले ही कर चुके थे।[1] आचार्य शंकर भी जगत को मायात्मक कह आए हैं, और स्वामीजी भी जगत् को मायामय कहते हैं, पर दोनों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त अन्तर है। शंकर का 'मायावाद' 'विवर्तवाद' का पर्याय है जो जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करता है उसे असार कहकर जागतिक जीवन की शाश्वत धारा पर तीव्र कुठाराघात करता है, और जीवन के प्रति निष्ठा को कम कर निष्कर्मता की ओर प्रेरित करता है। विवेकानन्द का 'मायावाद' जगत् को नाम-रूप-मय कहता हुआ भी जीवों में जगत् के प्रति निष्ठा को कम नहीं करता प्रत्युत जीवों में परस्पर स्नेह और सहानुभूति को उत्पन्न करता है, समाज के प्रति सेवा-भाव को जाग्रत करता है, निष्कर्मता के स्थान निष्काम-कर्म योग की प्रतिष्ठा करता है। स्वामीजी का जीवन-दर्शन निवृत्ति-परक न होकर प्रवृत्ति-मूलक है।

पन्तजी का मायावादी दृष्टिकोण इस दृष्टि से शंकर का अनुवर्त्ती न होकर स्वामीजी का अनुकरण करता है। और यही दृष्टिकोण उपनिषदों की भावना के अधिक निकट है।

---

१. देखिये, इस शोध-प्रबन्ध का पृष्ठ २७४-७५।

अद्वैतवाद—जगत् को मायामय अथवा नामरूपात्मक मानने वाला चिन्तक अथवा साधक सैद्धान्तिक दृष्टि से अद्वैतवादी अवश्य होता है। शंकर, 'परमहंस', विवेकानन्द, रामतीर्थ, अरविन्द सभी मायावादी थे और सभी अद्वैतवादी भी (चाहे उनकी मायावाद की व्याख्या भिन्न ही क्यों न रही हो)। पन्तजी भी इस विचार-धारा के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सके। उनके काव्य में आदि से अन्त तक दार्शनिक विचारों की विविधता और अनेकरूपता होते हुए भी उनका जगत् और जीवन के प्रति अद्वैतवादी दृष्टिकोण कभी खण्डित नहीं हुआ। जिस तत्व की एकता प्राचीन ज्ञान द्वारा सिद्ध थी उसे आज प्रकारान्तर से विज्ञान द्वारा सत्य प्रमाणित किया जा रहा है। पन्तजी कहते हैं—

"विज्ञान, ज्ञान का अन्वेषण
सब एक, एक सब में प्रकाश। (वही, पृ० ५६)

× × ×

हम दो भी हैं या नित्य एक ?
तब कोई किसको सके देख ?" (वही, पृ० ४९)

उपरोक्त अवतरणों से पन्तजी का अद्वैतवादी दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित होता है। ब्रह्म और जीव जब एक ही हैं तब कौन किसको देख सकता है। अद्वैत-चिन्तन के अनुसार वह परमतत्व मानव के हृदय में प्रतिष्ठित कहा गया है। पन्तजी भी उस तत्व को हृदय-गुहा में प्रतिष्ठित मानते हैं—

'वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर।' (वही, पृष्ठ ५८)

भूमा[1]—पन्तजी के इस काव्य में भूमा के भी एक-दो चित्र मिलते हैं। कवि ने अपने अहं का विकास इस सीमा तक कर लिया प्रतीत होता है कि उसका विश्व-जीवन से सहज ही तादात्म्य स्थापित हो जाता है। कवि कहता है—

'सुन्दरता का आलोक स्रोत
है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात
होगा फिर जग के आंगन में।
मेरा स्वर होगा जग का स्वर,
मेरे विचार जग के विचार,
मेरे मानस का स्वर्ग-लोक
उतरेगा भू पर नई बार।

× × ×

होगा पल्लवित रुधिर मेरा
बन जग के जीवन का वसंत,
मेरा मन होगा जग का मन,
औ' मैं हूंगा जग का अनन्त।' (युगान्त, पृ० ३६)

---

१. दे०, शोध-प्रबन्ध का पृष्ठ ८३ व २८०।

व्यक्तित्व के प्रसारण की इस अनुभूति से प्राप्त सुख कितना विराट् होगा, कितना महान् होगा यह तो कोई उस रस का आस्वादन करने वाला ही जान सकता है—काव्य के कटोरे में तो उसकी आंशिक अभिव्यक्ति ही छलक कर आती है। कवि वस्तुतः अध्यात्म की उदात्त भूमि पर खड़ा जग से अपने सहज तादात्म्य की बात कितने सरल शब्दों में कह गया है यह द्रष्टव्य है। 'जग के शव को अपने जीवन से जीवित' करने की बात भी कवि के विराट् व्यक्तित्व की घोषणा करती है—

> **"कल्पित सुख-दुख के अस्थिर पग,**
> **मेरे जीवन से हो जीवित**
> **यह जग का शव है।**
> **नव है!" (वही, पृ० ४१)**

पंत के इन चित्रों में 'निराला' के चित्रों की जैसी विराटता यद्यपि देखने को नहीं मिलती फिर भी उसमें कवि के व्यक्तित्व के प्रसारण का भाव तो निहित है ही।

**श्रद्धा-विश्वास**—जीवन के लोकोत्तर सत्य के साक्षात्कार के लिए वैदिक-साधना-प्रणाली में ज्ञान और कर्म के साथ-साथ श्रद्धा और विश्वास को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वयं ईश्वर का अस्तित्व भी आस्था पर ही आधारित है। एक विराट् सत्ता में आस्था ही तो आस्तिकता है। वेद-उपनिषद् से लेकर आज तक के महापुरुषों ने विश्वास के महत्त्व को स्वीकार किया है। पन्तजी कहते हैं कि 'सुख-दुख की लहरों के सिर पर पगधर कर यह भव-सागर पार करो तथा निःश्रेयस के पथ पर विश्वासपूर्वक चरण रखकर आगे बढ़ते चलो'। (पृष्ठ २८) 'इस भव से लोकोत्तर की ओर अग्रसर होने में तर्क सहयोग नहीं देता, बुद्धिवाद जीवन की दुस्तर लहर को और अधिक बढ़ा देता है।' (वही) उपनिषदें भी यही कहती हैं—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्या न मेधया न बहुना श्रुतेन।' अतः विश्वास ही एक ऐसी शक्ति है जिसके सहारे मार्ग की बड़ी से बड़ी बाधाओं को साधक पार कर जाता है—

> **'यदि विश्वास हृदय में अणुभर**
> **देंगे पथ तुम को गिरि सागर।' (युगान्त पृ० २८)**

**लोक-मंगल की भावना**—लोक-कल्याण की भावना युगांत में भी विद्यमान है। कवि की यदि कोई व्यक्तिगत अभिलाषा भी है तो यही कि 'जग जीवन में जो चिर महान् सत्य—प्राण और सौन्दर्यपूर्ण है' तथा जिसमें मानव का समान हित निहित है वह उसी का प्रेमी बने। कवि इस प्रकाश की कामना करता है जिससे जीवन में शक्ति मिले, तथा भय, संशय और अन्ध-भक्ति आदि अविद्याजन्य विकार नष्ट हो जाएँ फलतः मानव-मात्र के प्रति अभिन्नता का भाव प्रतिष्ठित हो। (वही, पृ० ३३)

## मध्यकालीन रचनाएँ :

**युगवाणी और ग्राम्या**—ये दोनों रचनाएँ पन्तजी की काव्य-साधना का दूसरा चरण हैं। इन रचनाओं का धरातल सामाजिक होने के कारण पूर्ववर्ती रचनाओं से

किंचित भिन्न तो है ही और इसीलिए कतिपय आलोचकों ने इन दोनों रचनाओं की गणना प्रगतिवादी साहित्य के अन्तर्गत की है। पर वास्तविकता यह है कि पन्तजी उन अर्थों में कभी प्रगतिवादी रहे ही नहीं जिन अर्थों में तथाकथित प्रगतिवादी 'प्रगतिवाद' को ग्रहण करते है। 'वाद' के रूप में प्रगतिवादियों की 'प्रगति' के सिद्धान्त मार्क्स के 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की नीव पर आधारित है और उनकी सामाजिक मान्यताएँ इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या पर जिसमें आर्थिक दृष्टि की प्रमुखता है। पन्तजी न तो मार्क्स-दर्शन की नास्तिकता और पदार्थ से चेतना के विकास के सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं। और न सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए वर्ग-संघर्ष वा हिंसात्मक क्रांति की बात को ही मानते हैं। उनके साम्यवाद की व्याख्या प्रगतिवादियों के साम्यवाद की व्याख्या से भिन्न है। वह भौतिकवादी दर्शन पर आधारित न होकर उपनिषदों के अद्वैत-चिन्तन एवं स्वामी विवेकानन्द की लोक-कल्याण की भावनाओं पर आधारित हैं। इन दोनों रचनाओं में भौतिकता और सामाजिकता का स्वर तीव्र हो जाने पर भी कवि ने अपने मानस में संचित आध्यात्मिक संस्कारों को कभी भी नहीं त्यागा है। यह बात दूसरी है कि उनके आध्यात्मिक संस्कार इस काव्य में पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती रचनाओं की भाँति अधिक उभर कर नहीं आ सके हैं, पर उनकी आस्तिकता का स्वर क्षीण कभी भी नहीं हुआ है। उनकी रचनाओं के संबंध में एक बात और ध्यातव्य है वह यह कि उनकी आध्यात्मिकता निरपेक्ष नहीं रही है वह सदैव ही सामाजिक भावना से सम्पृक्त होकर आई है। ज्योत्स्ना में ही उनसे अध्यात्म और भौतिक मान्यताओं के समन्वय के प्रयत्न प्रारम्भ हो गए थे। हाँ, इतना सत्य है कि इन रचनाओं में भौतिक-सामाजिक पक्ष अधिक प्रबल है, आध्यात्मिक पक्ष गौण। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है कि—'ज्योत्स्ना में मैंने जीवन की जिन वहिरन्तर मान्यताओं के समन्वय करने का प्रयत्न किया है तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपान्तरित होने की ओर संकेत किया है 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं वहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्स-वाद का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है।'[1] इस प्रकार पन्तजी ने इन रचनाओं में 'ऊर्ध्व' मानों को सम-धरातल पर समन्वित किया है। इस दृष्टि से उनकी आस्तिकता पर कहीं भी आँच नहीं आती। वे आद्योपान्त भारतीय संस्कृति के गायक के रूप में एक अध्यात्मवादी कवि रहे हैं जिन्होंने आध्यात्मिकता के साथ-साथ सामाजिकता के अंचल को भी कभी हाथ से नहीं खिसकने दिया है।

कविवर पन्त की इन रचनाओं में भी ब्रह्म और जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन विद्यमान है जो उन्हें ठेठ प्रगतिवादी कवियों की पंक्ति में खड़े होने से पृथ रखता है।

---

१. उत्तरा की भूमिका, पृ० २।

ब्रह्म तत्त्व—कवि युगवाणी की 'संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति' शीर्षक रचना में ब्रह्म की सर्वातीतता का वर्णन करते हुए कहता है—

**'बहिरन्तर, आत्मा भूतों से है अतीत वह तत्त्व।**
**भौतिकता, आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल।**
**व्यक्ति-विश्व से स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य का मूल।'** (पृ० ४८)

यहाँ पन्तजी के ब्रह्म-तत्त्व के चिन्तन पर 'तदु सर्वस्यास्यबाह्यतः' (यजु०४०,५) इस श्रुति का स्पष्ट प्रभाव लक्षित है। वह तत्त्व सभी भूतों से अतीत है तथा व्यक्ति विश्व, स्थूल-सूक्ष्म सब से परे है। उससे परे अन्य कुछ नहीं है। इसी प्रकार कवि अन्यत्र ब्रह्म का 'वाणी' (शब्द ब्रह्म) रूप में वर्णन करते हुए उस तत्त्व का जन्म-मरण, तमप्रकाश सबसे अतीत कहकर परिचय देता है। (वही, पृ० ११७)

उसी परम-तत्त्व को जहाँ वैदिक-दर्शन में सर्वातीत कहा है वहाँ वह सर्वव्यापी भी कहा गया है—'तदन्तरस्यसर्वस्य' (यजु०४०,५)। इसी श्रुति के आधार पर पन्तजी ने उसकी व्याप्ति का वर्णन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'वह असीम ही सीमाओं में व्याप्त है, 'वह नाना रूपों में नित एक रूप' में विद्यमान है। कलुषित, दूषित में चिर पवित्र रूप में, कुत्सित कुरूप में सुन्दर रूप में, खंडित कुण्ठित में पूर्ण रूप में, क्षणभंगुर पदार्थों में नित्य और शाश्वत रूप में वही एक निहित है। कवि और आगे कहता है—

**'तुम पतित क्षुद्र में चिर महान्,**

× × ×

**तुम बाधा विघ्नों में हो बल**
**जीवन के तम में चिर भास्वर।**

× × ×

**तुम जीवों में ही हो ईश्वर।'** (युगवाणी, पृ० ११६)

परम तत्त्व के व्यापकत्व का इससे अधिक स्पष्ट वर्णन और क्या हो सकता है।

जगत्—युगवाणी की 'रूप पूजन' और 'ग्राम्या' की 'खिड़की' कविताओं में सृष्टि-सम्बन्धी चिन्तन भी हुआ है। पन्त के दार्शनिक को पूर्ण विश्वास है कि यह सृष्टि ब्रह्म की शक्ति से ही आविर्भूत है। कवि का कथन है कि 'ब्रह्म की सम्पूर्ण शक्ति ही नाना रूप-पाशों में बँध कर सृष्टि-रूप में नृत्य कर रही है और शत-शत रवि, शशि, उडुगन रूप की परिधि में ही मुक्त रूप से प्रकाशित हो रहे हैं।' (युग० पृ० ५७) वह शक्ति जो सृष्टि का सृजन किया करती है उसे उपनिषदों में 'प्रकृति' अथवा 'माया' कहा गया है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति की, जब ब्रह्म की इच्छा द्वारा साम्यावस्था खण्डित होती है तभी सृष्टि-कार्य प्रारम्भ हो जाता है। अतः कवि कहता है—

**'प्रकृति रूप-इच्छा से उन्मद**
**करती सृजन सनातन।'** (वही, पृ० ५७)

ग्राम्या में तो कवि ने और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है—

> 'एक शक्ति से, कहते, जग प्रपंच यह विकसित,
> एक ज्योति कण से समस्त जड़ चेतन निर्मित,
> सच है यह आलोक पाश में बंधे चराचर
> आज आदि कारण की ओर खींचते अन्तर।' (पृ० ६९)

एक शक्ति ही समस्त जगत्-प्रपंच के विकास का मूल कारण है, एक ज्योति कण से ये सभी दृश्यमान जड़ और चेतन पदार्थ निर्मित हुए हैं जो उस आदि कारण की ओर संकेत करते हैं। ब्रह्म और जगत्-सम्बन्धी प्रस्तुत वर्णन उपनिषदों से प्रभावित होकर आया है।

**रहस्य-भावना**—पन्तजी की मध्यकालीन रचनाओं में भी उनकी रहस्य-वृत्ति निरन्तर सक्रिय रही है। जिज्ञासा, स्पर्शानुभूति, विनय और उसके प्रति निवेदन के भाव यहाँ भी विद्यमान हैं। पर यह रहस्य-वृत्ति 'वीणा' की रहस्य-वृत्ति की तुलना में हृदय की रागात्मिका-वृत्ति की अपेक्षा क्रमशः उत्तरोत्तर बौद्धिक होती गई है और स्वर्ण-काव्य में तो वह विशुद्ध-बौद्धिक धरातल पर प्रतिष्ठित है।

इन रचनाओं में कवि जिज्ञासा करते हुए पूछता है कि वह कौन शक्ति है जो अखिल विघ्न-बाधाओं को पार कर तथा शीत-ताप आदि से सम्बन्धित प्रकोपों को सह कर भी जीवन का वासन्ती शृंगार सजाया करती है—

> **'कौन शक्ति सजती जीवन का वासन्ती शृंगार ?'** (युगवाणी, पृ० ८५)

उसी शक्ति का जीवन-स्पर्श प्राप्त करने के हेतु सभी जन चंचल और व्याकुल-मन हो रहे हैं। यहाँ तक कि प्रकृति के उपकरण भी उस रहस्यमय की प्रतीक्षा करते-करते उदास होकर लौट जाते हैं। (वही, पृ० ४५)

ऐसे महान् अज्ञात, अव्यक्त प्रभु के प्रति तन्मयता का भाव भी यहाँ विद्यमान है। कवि कहता है कि 'जन्म की और युग-युगान्तर की सभी श्रेष्ठ साधें तुम में तन्मय होने के कारण सार्थक हो गईं।' अब कुछ जानने को, पाने को शेष नहीं रह गया—

> **'निखिल ज्ञान विज्ञान तर्क
> औ' जन्म मरण प्रश्नोत्तर
> सार्थक सब हो गए, पूर्ण
> तन्मय प्रिय तुममें होकर।'** (युगवाणी, पृ० ११५)

स्पष्ट है कि कवि का उपनिषदों की मान्यताओं पर आधारित आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन इन रचनाओं में भी विद्यमान है।

**कर्म और जन्मान्तरवाद**—पन्तजी के मानस पर वैदिक कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रभाव इन रचनाओं में भी देखने को मिलता है। कवि को विश्वास है कि कर्मों की सकामता मन का बन्धन बनती है इसलिए पन्तजी जीवन के क्षेत्र में वैदिक निष्काम कर्म-योग की उपयोगिता को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

'इनके साथ बढ़ो, मानव ।
जड़ प्रकृति तुम्हारी अवयव ।
सहन करो चुपचाप
द्वन्द्वों के आघात
जीवन से होओ न विमुख
बढ़ो वृक्ष-से अनायास
**तुम सीख राग, फल-त्याग ।' (युगवाणी, पृ० ७९)**

यह जीवन कर्म-क्षेत्र है, अत: जब तक जीवन है, कर्मों से विमुख नहीं हुआ जा सकता, पर कर्म किस प्रकार से करे ? वेद, उपनिषद् और गीता उत्तर देते हैं कि जो कुछ करो अनासक्त होकर, फल-त्याग करके, निष्काम भाव से प्रेरित होकर इस प्रकार आचरण करने से जीवात्मा कर्मों के बन्धन से नहीं बँधता ।[1]

**'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्य स्विद् धनम् ।** (४०,१)

× × ×

**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।'** (४०,२)

जीवन की शाश्वतता और जन्मान्तरवाद के सम्बन्ध में कवि का कथन है—

**'जन्म शील है मरण, अमर मर-मर कर जीवन ।**
**झरता निज प्राचीन, पल्लवित होता नूतन ।।'** (वही, पृ० ३०)

अर्थात् जन्म-शील की मृत्यु निश्चित है और मरण-धर्मा का जन्म भी अनिवार्य है। पन्तजी की इन पंक्तियों से गीता के इस श्लोक को मिलाइये—दोनों में कितनी समानता दृष्टिगोचर होती हैं ।

**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं जन्ममृतस्य च ।'** (२,२७)

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पन्त पर वैदिक दार्शनिकता का प्रभाव इन रचनाओं के सन्दर्भ में भी देखा जा सकता है जिन्हें प्रगतिवाद अपने 'संकुचित प्रगतिवाद' के चश्मे से देखने का प्रयत्न करते हैं और इस नाते पन्तजी की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हैं ।

**मानवतावाद और लोक-मंगल की भावना**—पन्तजी की इन रचनाओं में मानवतावाद और लोक-कल्याण की भावना अधिक सबल और प्रखर हो गई है। पीछे लोक-मंगल और मानवतावाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाल आए हैं और यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि भारतीय-संस्कृति में लोक-कल्याण की भावना जीव और ब्रह्म की एकता के दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है । सभी छायावादी कवियों ने इस दर्शन से प्रभावित होकर मानवैक्य की भावना की पुष्टि अभिव्यक्त की है । पन्त में यह स्वर, निराला को छोड़कर, सर्वाधिक प्रमुख है । वे व्यक्ति की अपेक्षा सामाजिक और सामूहिक मुक्ति में विश्वास रखते हैं । (युगवाणी, पृ० २०)

---

१. देखिये, यजु० ४०,२ एवम् गीता २,४७

वे उस दर्शन और विज्ञान को महत्त्व देते हैं जिससे मानवता का कल्याण हो, उस विश्वास को श्रेयस्कर समझते हैं जो सुदुस्तर भवसागर में चिर-ज्योति स्तूप का कार्य सम्पन्न करे। (वही, पृ० २३) पन्तजी उस सत्य को सत्य ही नहीं मानते जिसका समाज से सम्बन्ध न हो। (पृ० ४१) वे अन्तर के सत्य को बहिर्जगत् में प्रतिष्ठित होते देखना होता है। (पृ० ४२)

साम्यवाद ने युग-युग से निष्क्रिय, निष्प्राण पड़े अन्तर्मुख अद्वैत को जग में प्रतिष्ठित किया, उसने मानव के मूल्य की पुनःप्रतिष्ठापना की, जो पंतजी के मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुकूल पड़ती थी इसीलिए कवि ने उस भावना को वहाँ से ग्रहण करके अध्यात्म से समन्वित कर काव्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है। वे स्पष्ट कहते हैं—

**"क्यों न एक हो मानव-मानव सभी परस्पर,**
**मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर।"** (वही, पृ० ३४)

इस लोकोत्तर-मानवता के निर्माण-कार्य में स्वयं कवि सक्रिय भाग लेकर सहयोग देना चाहता है। कवि की आकांक्षा है कि वह घृणा उपेक्षा में भी अविचल रहकर स्वयं को उज्ज्वल और पवित्र बनाकर जनता-जनार्दन की सेवा करे। (पृ० १०६) कवि जग में जिस नवमानवता की स्थापना की आकांक्षा करता है वह पश्चिम के भौतिकवादी साम्यवाद पर आधारित न होकर आत्मा की महिमा और प्रेम-शक्ति पर आधारित है। भूतवाद को तो कवि उसका केवल सोपान-मात्र मानता है—

**'आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता ?**
**प्रेम शक्ति से चिर निरस्त हो जायेगी पाशवता ?**
× × ×
**भूतवाद इस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान।**
**जहाँ आत्म-दर्शन अनादि से समासीन अम्लान ॥'** (वही, पृ० १९)

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी पर विवेकानन्दजी की लोक-कल्याण की भावना का अत्यधिक प्रभाव है जो वैदिक-दर्शन की आत्मवादी पीठिका पर प्रतिष्ठित है। विवेकानन्द का कथन है कि "भूत मात्र को प्रेम-भरी दृष्टि से देखो।" और मेरा यह कहना विश्वात्मा की सर्वव्यापकता और समता-रूपी वेदांत के सिद्धांत पर स्थापित हुआ है।[1] अन्यत्र भी समानता का प्रचार करते हुए उन्होंने कहा—"जात-पांत का भेदभाव छोड़ कर, कमजोर और मजबूत का विचार छोड़कर हर एक स्त्री-पुरुष को प्रत्येक बालक-बालिका को, यह सन्देश सुनाओ और सिखाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और छोटे-बड़े सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है जो सर्वव्यापी है, इसलिये सभी लोग महान् और सभी लोक साधु हो सकते हैं"[2] स्पष्ट है कि 'लोक-

---

१. भारत में विवेकानन्द, पृष्ठ १२५।
२. वही, पृष्ठ १२२।

मंगल' और 'सर्वभूत हिते रत:' की इन सामाजिक भावनाओं का आधार वैदिक-दर्शन का आत्मवाद रहा है जिसका व्याख्यान १९वीं शती के अन्त में देश-देशान्तर में विवेकानन्दजी ने किया था तथा जिसका प्रभाव हमारे छायावादी कवियों विशेषकर निराला और पन्त पर पड़ा।

## पंत का स्वर्ण काव्य :

पंतजी आरम्भ से ही अध्यात्म तथा दर्शन के प्रति आकृष्ट रहे हैं। प्रकृति के उपरान्त दर्शन उनका दूसरा क्षेत्र रहा है जिसके प्रांगण में उन्मुक्त होकर विचरे हैं। वीणा में उनकी दार्शनिक रुचि रहस्य-भावना का रूप धारण करके आई थी, पल्लव की परिवर्तन कविता में यह प्रवृत्ति अधिक मूर्त्त रूप ग्रहण कर सकी, 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना में उसे मानवतावाद, और सुख-दुःख समन्वय की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठा मिली। मध्यकालीन रचनाओं में दार्शनिक उच्च आदर्श समदिक् धरातल पर अवतरित हुए। इन रचनाओं में सामाजिकता के चित्र अधिक होते हुए भी इनमें दार्शनिकता का नितान्त अभाव नहीं है जैसा कि उद्धरणों द्वारा पीछे स्पष्ट भी कर आए हैं। पंतजी की इधर की नूतन रचनाओं में उनकी यह प्रवृत्ति श्री अरविन्द के माध्यम से इतनी अधिक पुष्ट होकर आई है कि 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'कला और बूढ़ा चाँद' तक का सम्पूर्ण काव्य उसके प्रभाव से सप्राण है। यद्यपि पंत अपने युग की लगभग सभी दार्शनिक प्रवृत्तियों से न्यूनाधिक प्रभावित रहे हैं, पर उनके मानस-जगत् पर किसी भी प्रवृत्ति का इतना अधिक स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा जितना अरविन्द की वैदिक व्याख्याओं का। पंतजी ने उत्तरा की भूमिका में स्वयं स्वीकार किया है कि "वीणा-पल्लव-काल में मुझ पर कवीन्द्र रवीन्द्र का प्रभाव रहा तथा स्वामी विवेकानन्द का प्रभाव रहा, युगांत और वाद की रचनाओं में महात्माजी के व्यक्तित्व और मार्क्स के दर्शन का·· इन सब में जो एक परिपूर्ण एवं संतुलित अन्तर-दृष्टि का अभाव खटकता था, उसकी पूर्ति मुझे श्री अरविन्द के जीवन-दर्शन में मिली, और इस अन्तर्दृष्टि को मैं इस संक्रांति-काल के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अमूल्य समझता हूँ।"[1] और उनके इधर के काव्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि सन् १९४६-४७ से अब तक वे श्री अरविन्द की अन्तर्दृष्टि को अपने में रचा-पचा कर उसी के अनुसार काव्य-रचना में व्यस्त रहते आ रहे हैं। यहाँ तक कि उनके काव्य-रूपकों में भी इसी दृष्टि को स्थान मिला है।

श्री अरविन्द इस युग के एक महान् दार्शनिक और योगी थे। प्राचीन ऋषियों की परम्परा को जीवित रखते हुए उन्होंने योगावस्था में प्राप्त अन्तःप्रकाश द्वारा वैदिक-ऋचाओं और उपनिषद् मंत्रों पर नव प्रकाश डाला, और उन मंत्रों का अधिक से अधिक वही अर्थ निकालने का प्रयत्न किया जो उस समय वैदिक-

---

१. उत्तरा की भूमिका, पृष्ठ १९।

ऋषियों को अभीष्ट रहा होगा। उन्होंने वैदिक वाङ्मय का विशेषकर वेद और उपनिषदों का अध्ययन कर उन सूत्रों को टटोला जो उन मन्त्रों के प्रतीकात्मक शैली मे व्यंजित होने का प्रमाण प्रस्तुत करते थे। तदनन्तर उन्होंने विभिन्न सूक्तों की आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक व्याख्याएँ की जो वैदिक-ऋषियों के मानसिक वैभव का उद्घाटन करती हैं। नीचे हम संक्षेप में श्री अरविन्द के वेद-सम्बन्धी उन दार्शनिक विचारों का उल्लेख करेंगे जिनका पन्तजी के मानस-जगत के निर्माण से विशिष्ट सम्बन्ध रहा है।

## श्री अरविन्द-दर्शन

**वेदो में दो समुद्रों का विचार**—ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल के अन्तिम सूक्त में ऋषि वामदेव के दो समुद्रों का वर्णन करता है—'उपरले जल' और 'निचले जल'। उस का कथन है कि 'एक मधुमय लहर समुद्र से ऊपर को आरोहण करती है, और इस आरोहण करती हुई लहर से जो कि 'सोम' (अंशु) है, के द्वारा मनुष्य पूर्ण रूप से अमरता को पा लेता है वह लहर या वह सोम निर्मलता का गुह्य नाम है, जो देवताओं की जिह्वा है वह अमरता की नाभि है।[1] यह मधुमय लहर जहाँ से उठती है अरविन्द उसे 'अवचेतन का समुद्र' कहते है जो अंधकारमय और अभिव्यक्ति-रहित है, वह लहर जिस समुद्र की ओर आरोहण करती है अरविन्द उसे 'अति चेतन का समुद्र' कहते हैं जो प्रकाशमय, नित्य अभिव्यक्त और मानवमन से परे है। अरविन्द के अनुसार वामदेव का अभिप्राय यह है कि हमारे अन्दर जो अवचेतन की गहराइयाँ है उनमें से आनन्द की या सत्ता के विशुद्ध आह्लाद की एक मधुमय लहर उठती है और यह इसी आनन्द के द्वारा होता है कि हम अमरता तक पहुंच जाते है, यह आनन्द वह रहस्यमय सत्ता है, वह गुह्य वास्तविकता है, जो कि अपनी चमकती हुई निर्मलताओं से युक्त मन की क्रिया के पीछे छिपी हुई।"[2] अवचेतन के समुद्र को अरविन्द के अनुसार 'अन्यत्र भौतिक-सत्ता की पहाड़ी में छिपी हुई गुफा कहा है जहाँ उषा की गऊएँ पणियों द्वारा वन्द करके रख ली जाती हैं।'[3] उपरले समुद्र को आधिदैविक रूप में 'स्वर्लोक' और 'बृहत् द्यौ' कहा है जो परम व्योमन है, अमरता का क्षेत्र है। इसे ही आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक स्तर पर अरविन्द ने 'अतिचेतन' अथवा अतिमानस अथवा पराचेतन (सुपर माइन्ड) की संज्ञा से अभिहित किया है।[4]

श्री अरविन्द ने वैदिक देवताओं की भी आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। सभी वैदिक देवता उनके अनुसार मानव-मन की किसी-न-किसी आन्तरिक शक्ति के प्रतीक हैं। वेद का प्रमुख देवता 'इन्द्र' अरविन्द की व्याख्या के

---

१. देखिये, ऋग्वेद ४,५८,१।

२. वेद-रहस्य, भाग १, पृष्ठ १३३।

३. देखिये, वेद-रहस्य, भाग १, अध्याय १६ और २२।

४. देखिये, स्टडीज इन अरविन्दाज् फिलासफी, वाई एस० के० मैत्रेय, पृष्ठ ५।

अनुसार 'प्रकाश स्वरूप दिव्य मन' का प्रतीक है, 'सूर्य' ज्ञान के सत्य का, इसी प्रकार अन्य देवता भी मन की विभिन्न शक्तियों के रूप में व्याख्यात हैं। 'पणि' 'नमुचि', 'वृत्र' आदि दस्यु और असुर अंधकार की, अज्ञान की शक्तिओं के प्रतीक हैं।[1] श्री अरविन्द के उपनिषदों के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते समय जड़ और चेतन को परस्पर-विरोधी न मानकर एक ही सत्ता के दो पक्षों के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि मूल-चेतना ब्रह्म है उसने ही अपने को जड़ और चेतन-रूप में अभिव्यक्त किया है। अतः इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं है। जड़ तत्व चेतना का ही निम्नतम रूप है।[2] शंकर का केवल मात्र 'चेतन' पर आग्रह और मार्क्स का 'पदार्थ' मात्र के लिए आग्रह अतिवादी प्रवृत्तियाँ हैं।[3] वेद और उपनिषदें जगत् को सत्य मानती हैं। इन ग्रन्थों में कहा गया है 'पुरुष एवेदं सर्वं'[4] और 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'[5] यह दृश्यमान जगत् 'पुरुषमय' और 'ब्रह्ममय' है। अरविन्द कहते हैं कि अपने सीमित ज्ञान और अज्ञान के कारण प्राण-सत्ता (लाइफ़) व जड़-तत्व में विरोध दिखाई पड़ता है अन्यथा मन, जीवन और जगत् में एक ही सत्ता ने अपने को इन तीनों रूपों में व्यक्त किया है—

"When the dividing ignorance is cured which gives us a sense of a gulf between life and Matter, it is difficult to suppose that Mind, Life and Matter will be found to be anything else than one energy triply formulated, the triple world of Vedic Seers."
(The Life Divine, p. 15).

वे इस सृष्टि की उत्पादिका शक्ति को संकल्प अथवा इच्छामय मानते हैं और इच्छा चेतन की हो सकती है—

"The energy that creates the world can be nothing than a will and will is only consciousness applying itself to a work and result."
(Ibid, p. 15-16).

आगे उन्होंने कहा कि वेदांत के 'एकमेवाद्वितीयम्' के सूत्र को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सूत्र के प्रकाश में न पढ़े जाने कारण जगत् के सम्बन्ध में एकांगी दृष्टिकोण ही अपनाया गया, फलतः जगत् के मिथ्यात्व की घोषणा कर दी गई।[6]

अतः उपनिषदों की भावना के अनुसार अरविन्द सृष्टि को केवल विवर्तमात्र नहीं मानते, उसे ब्रह्म का ही एक रूप स्वीकार करते हैं।

---

१. देखिये, वेद-रहस्य, भाग ३, पृष्ठ ४२-४८।
२. दी लाइफ डिवाइन, पृष्ठ ८।
३. वही, पृष्ठ ६।
४. ऋग्वेद १०,६०,२।
५. छान्दोग्य उपनिषद् ३,१४,१।
६. दी लाइफ डिवाइन, पृष्ठ २४।

अरविन्द के अनुसार जीवन में देवत्व का अवतरण ही मानव का लक्ष्य है— To fulfil God in man's life is man's manhood. (Ibid, p. 37). और वेद तथा उपनिषदें भी अमृतत्व की प्राप्ति का उपदेश देती हैं।

सृष्टि के विकास की चर्चा करते समय अरविन्द ने कहा कि—मूल चेतन तत्व ब्रह्म अपनी शक्ति से स्वयं को जब जगत्-रूप में परिवर्तित करता है तो सर्व-प्रथम ऊर्ध्व चेतन (सुपर माइन्ड), तदन्तर चेतन मन (माइन्ड), प्राण सत्ता (लाइफ) और जड़ तत्व (मैटर) के रूप में बदलता है। 'जड़-तत्व' उस सत्ता का स्थूलतम रूप है और ऊर्ध्व चेतन सूक्ष्मतम। अरविन्द सृष्टि की इस प्रक्रिया को 'डिसेन्ट ऑर इन्वोल्यूशन (अवरोहण) कहते हैं।[1] 'जड़-तत्व' के ऊर्ध्व सोपानों पर रूपान्तर की स्थिति में यह क्रम उलट जाता है जिसे अरविन्द एसेण्ड आर इवोल्यूशन (ऊर्ध्व विकास) कहते हैं।[2] इस प्रकार चेतन और जड़ के बीच सोपानों की कल्पना करके अरविन्द ने इन दोनों के मध्य प्रतीयमान विरोध का परिहार कर दिया।

अरविन्द की जगत्-सम्बन्धी उपरोक्त व्याख्या तैत्तिरीयोपनिषद् 'भृगु वल्ली' में आई इस कथा पर आधारित है कि एक दिन वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता के समीप जाकर ब्रह्म-सम्बन्धी जिज्ञासा की कि 'मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये। पिता ने पुत्र को तप द्वारा उसे जानने का आदेश दिया। उसने आदेशानुशार तप किया और जाना कि अन्न ही ब्रह्म है। क्योंकि उसी से सब उत्पन्न होते हैं, उसी से जीते हैं और अन्त में उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं—'अन्नं ब्रह्मेति व्याजानात्। अन्नाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।' तै० ३,२, 'प्राणो ब्रह्मेति व्याजनात्'। ३,३, 'मनोब्रह्मेति व्याजनात्, ३,४, विज्ञानं ब्रह्मेति व्याजनात्', ३,५, आनन्दो ब्रह्मेति व्याजनात्, ३,६। इस प्रकार भृगु ने सर्वप्रथम ब्रह्म की अन्नमयता (जड़ता) का अनुभव किया और इसी प्रकार उत्तरोत्तर तप करते हुए उसने प्राण, मन, विज्ञान (अरविन्द के शब्दों में उर्ध्व चेतन) और अन्त मे आनन्द ही ब्रह्म है ऐसा जाना। यही मूल चेतना है जिससे सब उत्पन्न होते हैं और जिसमें सब विलीन हो जाते हैं। उपनिषदों की इस व्याख्या के अनुसार सब कुछ ब्रह्म है यह तथ्य स्पष्ट ही स्वीकार्य हो जाता है और अरविन्द की उपरोक्त व्याख्या का भी औचित्य प्रमाणित हो जाता है।

**ब्रह्म : मूल चेतना**—अरविन्द की ब्रह्म-सम्बन्धी कल्पना भी औपनिषदिक ही है। वे शक्ति-समन्वित सत्ता को ब्रह्म कहते हैं। वे इसके दो रूप मानते हैं एक स्थिर, दूसरा गत्यात्मक। एक विशुद्ध सत्ता और दूसरी विश्व-सत्ता का। अर्थात् सत्ता का सत्य और गति का सत्य। जो स्थिर है वह ही ब्रह्म है (अब्सोल्यूट)। यह उपनिषदों का निर्गुण ब्रह्म है। और यह विकासशील सत्य है, चेतन शक्ति—यह उसका सगुण

---

१. देखिये, दी लाइफ डिवाइन, पृष्ठ २३५।
२. वही, पृष्ठ १७४।

रूप है जिसमें सृष्टि के निर्माण की शक्ति निहित है। ये स्थिर और गतिशील दोनों रूप एक हैं। ब्रह्म और उसकी शक्ति का परस्पर-सम्बन्ध तंत्र-शास्त्र के शिव-शक्ति के अभेद की भाँति ही अभेद-परक हैं। इस प्रकार अरविन्द स्थिर सत्ता और चेतन शक्ति को एक मानते हैं।[1]

**ऊर्ध्व चेतना (सुपर माइन्ड)**—अरविन्द की व्याख्याओं में ऊर्ध्व चेतना का बड़ा महत्त्व है, यह ब्रह्म की शक्ति भी है, जिससे मन आदि तत्वों की सृष्टि भी होती है। अरविन्द कहते हैं कि वेदों में इसका वर्णन भी मिलता है। वहाँ दो बातें कही गयी हैं—(१) वह चेतना जो सत्य को पहचानती है (ट्रुथ कानशियसनैस), (२) वह चेतना जो किसी वस्तु का ज्ञान कराती है (नोलिज)।[2] इसमें प्रथम ऊर्ध्व चेतन है दूसरी जगत् का ज्ञान कराने वाली वृत्ति। ब्रह्म पहली के द्वारा अपने को व्यक्त करता है और इसके ही द्वारा अपने को सीमित करने तथा अपने को जीवों के रूप में रखने की क्रिया उसमें प्रारम्भ होती है। अरविन्द ऊर्ध्व चेतन की अवस्था को Super mental State कहते हैं जिसमें सत्-चित्-आनन्द एक प्रतीत होते हैं, सारे भेदभाव नष्ट हो जाते हैं—'सर्व खल्विदं ब्रह्म' का ज्ञान इसी अवस्था में होता है। यह स्थिति ब्रह्म से एक सोपान नीचे और भौतिक मन से ऊपर की है। अरविन्द की 'ऊर्ध्व चेतना'-सम्बन्धी कल्पना एक प्रकार से उपनिषदों के विज्ञानमय कोश की ही व्याख्या है।

**मन (माइन्ड)**—मन चेतना को नहीं समझ सकता, क्योंकि यह चेतना का वह भाग है जो अविभाज्य तत्व को विभाजित करके देखता है। अतः इस आदि चेतना को मन में अन्तर्हित चेतना की सुप्त शक्तियाँ ही समझ सकती हैं, जिसे अरविन्द 'प्रज्ञान'[3] कहते हैं। यह 'प्रज्ञान' ऊर्ध्व-चेतन से निम्न स्तर की बोध-वृत्ति है। अरविन्द ने मन के विभिन्न स्तरों की कल्पना की है जो उपनिषदों पर आधारित है—वे इसे पाँच भागों में विभाजित करते हैं—

(१) Surface mind or outer mind (बाह्य चेतन मस्तिष्क)—अन्नमय पुरुष।
(२) Subliminal mind (आन्तरिक मन)—प्राणमय पुरुष।
(३) चिन्तनात्मक मन—विचार व इच्छा की मनोभूमि—मनोमय पुरुष।
(४) मन से ऊपर की स्थिति विज्ञान की होती है, जिसे ऊर्ध्व-चेतन कहा जाता है, जहाँ एकता का बोध होता है। इसे विज्ञानमय पुरुष कहा गया है।
(५) इससे परे आनन्द की स्थिति है जिसे आनन्दमय पुरुष कहा गया है। जहाँ आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है।[4] अरविन्द के इस विभाजन को

---

१. देखिये, दी लाइफ डिवाइन, पृष्ठ १३० और २६४-२६५।
२. वही, पृष्ठ ११६।
३. वही, पृ० १५१-१५२।
४. वही, पृ० १५६-१५७।

औपनिषदिक वर्णन की सापेक्षता में इस प्रकार रखा जा सकता है—

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| १—ब्रह्म | → | आनन्दमय पुरुष | → | ब्रह्म में जीव का लय | |
| ↓ | | | | | |
| ऊर्ध्व चेतन | → | विज्ञानमय पुरुष | → | जीव ब्रह्म का सह अस्तित्व | विद्या माया |
| ↓ | → | | | | |
| मन | → | मनोमय पुरुष | | मानसिक एकता विभाजन की प्रवृत्ति, इच्छा, विचार | |
| ↓ | | | | | |
| आन्तरिक मन | → | प्राणमय पुरुष | → | शरीर से स्वतन्त्र होकर क्रिया का अनुशासक | अविद्या माया |
| ↓ | | | | | |
| वाह्यमन | → | अन्नमय पुरुष | → | शरीर से सम्बधित क्रिया | |

**माया**—अरविन्द ऊर्ध्व-चेतन से सम्बन्धित माया को जो भ्रांति उत्पन्न नहीं करती उच्च कोटि की माया कहते हैं (ट्रुथ आफ माया)। यह उच्च माया ऊर्ध्व चेतन का खेल है (Supra mental Play)[1] निम्नकोटि की माया जीव को ब्रह्म की ओर अथवा ऊर्ध्व चेतन की ओर उन्मुख नही होने देती, इसे अरविन्द अविद्या माया[2] या Mental Maya कहते हैं।

अरविन्द की माया-सम्बन्धी कल्पना रामकृष्ण 'परमहंस' और स्वामी विवेकानन्द जैसी ही है जो उपनिषदों की भावना के अनुकूल है। यह विद्या-माया ब्रह्म की वह शक्ति है जो जगत् की सृष्टि का मुख्य कारण है। यहाँ शंकर के माया-वाद से अरविन्द का स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है।

अरविन्द की जीवात्मा और प्रकृति सम्बन्धी कल्पना भी औपनिषदिक ही है। इस प्रकार अरविन्द-दर्शन की प्रमुख विशेषता है—प्रत्येक क्षेत्र के ज्ञानों में उपनिषद् के आधार पर समन्वय खोजने की प्रवृत्ति और चेतना के अनेक स्तरों की कल्पना। इस दृष्टि से विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का यह कथन कि—"अरविन्द-दर्शन प्राचीन उपनिषदों का आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार निर्मित संस्करण है।" उपयुक्त ही है।[3]

---

१. दी लाइफ डिवाइन, पृ० १०८ तथा पृ० २६१।
२. वही, पृ० २६१।
३. पंतजी का नूतन काव्य और दर्शन, पृ० २०१।

युगान्तर, स्वर्ण किरण और स्वर्णधूलि :

ब्रह्म तत्व—पन्त की इन रचनाओं में ब्रह्म जीव और जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन उनकी समस्त पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा विस्तृत और व्यापक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित हुआ है। कवि यहाँ ब्रह्म के निर्गुण-सगुण दोनों रूपों पर विस्तार से विचार प्रकट करता है। उसे 'जड़-चेतन से परे अगोचर' भी कहता है और 'जीवन का सनातन मूल भी मानता' है, अन्न, प्राण, मन आदि में ईश्वर की चिर व्याप्ति का उल्लेख भी करता हैं और साथ ही उस तत्व को 'मुक्त सच्चिदानन्द चिरन्तन' भी कहता है।[1] उसकी सर्वव्यापकता का उल्लेख करते हुए वह आगे कहता है कि 'जो चेतन में विकसित हो रहा है वही जड़ में भी तिरोहित है। वही एक तत्व मधु भी है और सुरभि भी। वही भ्रमर भी है और उसका गुंजन भी। ये तो केवल बाह्य भेद मात्र है अन्यथा वह चिर अमूर्त ही संसार में नाना रूपों में मूर्तित हो रहा है। वह अज्ञेय, स्वयंभू, एक और अखण्डित है। वही अधः, ऊर्ध्व, बाहर, भीतर सर्वत्र संचरित हो रहा है, वह सांत भी है अनन्त भी, वह एक होते हुए भी अनेक रूपों में विद्यमान है, वह मुख और वह शिख वाला है, वह सर्व भी है और सर्व से परे भी, वह परम और अनिर्वचनीय है।'

"वही तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित,
वही एक मधु सुरभि, वही मधुलिह् चिर गुंजित।
वस्तु भेद ये : चिर अमूर्त्त ही भव में मूर्त्तित,
वह अज्ञेय स्वतः संचालित एक, अखण्डित। (पृ० १३५)
अधः ऊर्ध्व बहिरन्तर उसके सृष्टि संचरण,
साँत, अनन्त, अनित्य नित्य का वह चिर दर्पण,
एक, एकता से न बद्ध, वह मुख शिख शोभन
सर्व, सर्व से परे, अनिर्वचनीय यह परम।" (पृ० १३६)

पन्तजी का ब्रह्म-सम्बन्धी प्रस्तुत वर्णन यद्यपि यजुर्वेद के 'तदन्तस्य सर्वस्य तदुसर्व स्यास्यवाह्यतः'[2] तथा ऋग्वेद के 'सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'[3] श्रुतियों का ही भावानुवाद है। श्वे० का ऋषि उस परमेश्वर को नमस्कार करता है जो—

"यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वंभुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः॥" (२,१७)

अग्नि में है, जलों में है, सम्पूर्ण भुवनों में है तथा ओषधियों एवं वनस्पतियों में है।' इस श्रुति में उस परम देव को स्पष्ट जड़ और चेतन सब में व्याप्त कहा गया है।

---

१. स्वर्ण किरण, पृ० १३३।
२. यजु ४०, ५।
३. ऋ० वे० १०, ६०, १।

इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा है कि वह सब जगह आँखों वाला, सब जगह मुख वाला, तथा सब जगह हाथ और पैर वाला है—'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुख विश्वतोबाहुरुत 'विश्वस्पात् (श्वे० ३, ३) और ब्रह्म के सम्बन्ध में अरविन्द की भी यही कल्पना है। वे जड़ और चेतन सब को ब्रह्ममय मानते हैं। ब्रह्म के सम्बन्ध में यह प्रभाव पंत पर पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। उनके अनुसार वह एक, अखण्ड और अज्ञेय तो है ही साथ ही वह चिर अमूर्त्त ही भव में मूर्तित हो रहा है। इस प्रकार पन्त श्री अरविन्द की भाँति ब्रह्म और जगत् के अभेद का प्रतिपादन करते हैं।[1]

उपनिषदें ब्रह्म में ही जगत् के आविर्भाव और तिरोभाव का वर्णन करती हैं। प्रकृति उसकी योनि है, शक्ति है जिसमें यह सब कुछ संभव है, अतः शक्ति-समन्वित ब्रह्म को विश्व-योनि कहकर उसका वर्णन करना समीचीन ही है। पन्तजी कहते हैं—

**"विश्व योनि, तुम में अनादि से जग के निखिल चराचर,**
**आते जाते जन्म मरण बहु, तन में शैशव यौवन।**

× × ×

**तुम में जगते दिशा काल, लय होते, देव परात्पर।**
**खोज निरन्तर तुम्हें अपरिमित महिमा से हो विस्मित,**
**नेति नेति कह बुद्धि मनुज की कब से प्रणत चमत्कृत।**
**हृदय सुलभ तुम, सहज कृपा कर देती उर तम ज्योतित,**
**ज्यों पारस का परस अयस का स्वर्ण रहस रूपान्तर।**
**सदसत् कारण-कार्य प्रकृति के केवल मात्र प्रयोजन,**
**देव तुम्हारी अमित दया से होता भव का पालन,**
**तुम से रहित अपूर्ण अचिर जग, तुम से से पूर्ण चिरन्तन,**
**तुम हो, भव है! शून्य एक के गुण से गणित निरन्तर।**

× × ×

**मानव के घट वासी, दो मानव को नव-जीवन वर।"**

(स्वर्णकिरण, पृ० १४५-४६)

विश्व-योनि ब्रह्म में अनादि काल से सृष्टि के निखिल चराचर शरीर में शैशव और यौवन की भाँति उदित और अस्त होते रहते हैं। समस्त दिशा और काल ब्रह्म में आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। पर मनुष्य की सीमित बुद्धि उसकी महिमा से चमत्कृत होकर उसके वास्तविक स्वरूप का ठीक-ठीक निरूपण कर सकने के कारण 'नेति-नेति' कहकर ही सन्तोष कर लेती है। उसी की दया पर यह सारा विश्व आधारित है। ब्रह्म-सम्बन्धी यह वर्णन उपनिषद्-सम्मत है। उपनिषदें उसे नेति-नेति कहती हैं—'य एवं वेदाथात आदेशो नेति-नेति न ह्यूत्स्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति।' बृह० २, ३, ६। पन्तजी भी उसके निर्गुण स्वरूप का इसी प्रकार

---

१. दे०, इसी अध्याय का पृ० ४०४-५।

परिचय देते हैं। वह निरपेक्ष होते हुए भी हृदय-सुलभ है, किन्तु उसकी यह सुलभता उसी की कृपा पर निर्भर है। 'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः' (मु० उ० ३, २, ३) कहकर उपनिषदें इसी तथ्य का समर्थन करती हैं। वह सद्रूप है, उसके अस्तित्व के बिना जगत् टिक ही नहीं सकता, संसार की पूर्णता उसी की पूर्णता से पूर्ण है। पन्तजी ने परम सत्ता को घटवासी कह कर भी उपनिषदों की मान्यता का ही समर्थन किया है, क्योंकि वहाँ स्पष्ट कहा गया है—कि जिस प्रकार तिलों में तेल, दधि में घृत, स्रोतों में जल, और अरणियों में अग्नि छिपी रहती है उसी प्रकार वह परमात्मा मानव के हृदय में छिपा हुआ है—

"तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मीगृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा यो ऽनुपश्यति ॥" (श्वे० १,१५)

वह ब्रह्म स्वयं मानव के अति निकट स्थित है और उससे अभिन्न भी है, पर विचित्रता यही है कि इतने अधिक निकट और अभिन्न होते हुए भी उसे देख नहीं पाते। पन्तजी उसका परिचय देते हुए कहते हैं—

"दिव्य पुरुष जो अति समीप, अन्तरतम में स्थित,
नहीं देख पाते उसको, वह अभिन्न नित।
देखो उसके दिव्य काव्य के संसृति-विस्तृत,
वह न कभी मरता न जीर्ण होता, वेदाऽमृत।" (स्वर्णधूलि, पृ० ६)

इस सम्पूर्ण अवतरण में वर्णन किया गया है कि 'यह विस्तृत संसार उसका दिव्य काव्य है जो न कभी मरता है न जीर्ण होता है,' अथर्व वेद के निम्न मंत्र का भावानुवाद है—

"अन्ति संतं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥" (अ०वे० १०,८,३२)

आत्म-तत्व—ब्रह्म-तत्व की भाँति आत्म-तत्व को भी उपनिषदों में अक्षर, अविनाशी, नित्य और अमरणधर्मा वाला कहा है। पन्तजी भी प्रारम्भ से ही आत्मा के नित्यत्व और अमरत्व पर विश्वास रखते हैं। इधर की रचनाओं में उनका यह विश्वास बहुधा व्यक्त हुआ है।

उपनिषदें जीवात्मा को—'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (कठोपनिषद् २, १८) कहकर शरीर की नश्वरता और आत्मा की चिरन्तनता का प्रतिपादन करती हैं। पन्तजी भी यही कहते हैं—

"क्षण भंगुर यह तन, आत्मा रे मुक्त चिरन्तन," (स्वर्णकिरण-१२६)

× × ×

मृत्युहीन रे यह पुकार मानव आत्मा की निश्चय।" (वही,२२)

अन्यत्र भी पन्तजी कहते हैं कि ऋषियों का वचन सत्य है कि मानव की आत्मा शुक्र-मय, भ्राजमान और ज्योतिर्मय है (वही, पृ० १४०)।

वेद और उपनिषदें आत्मा को लिंग-रहित कहती हैं। वह न पिता है न

पुत्र, न स्त्री है न कन्या, न शत्रु है न मित्र, न नर है न नारी—वह मुक्त तत्व है जिस योनि में चला जाता है वही रूप धारण कर लेता है।

"नैव स्त्री न पुमानेव न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥" (श्वे० ५,१०)

और पन्तजी ने भी निम्न पंक्तियों में यही बात कही है—

"लिंग मुक्त है आत्मा ! किसका पिता, पुत्र, या दार ?
किसका शत्रु मित्र वह, जो है एक अभिन्न अनन्य
उसी सर्वगत आत्मा का अस्तित्व, नहीं है अन्य।"
(स्वर्णधूलि, पृ० २२)

अपने शुद्ध रूप में आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है उपनिषदें इस तथ्य का स्पष्टतः प्रतिपादन करती हैं।[1] पन्तजी ने भी उसे उसी रूप में ग्रहण किया है—वे कहते हैं कि केवल मात्र आत्मा की ही सत्ता है वह ज्ञाता और चिर-निर्मुक्त है, वह नामरूप और चिह्न से भी रहित है, यह स्वयं परमात्मा रूप है। (वही पृ० २३) कठोपनिषद् आत्मतत्व को देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से परे बतलाता है जहाँ केवल मात्र सत् चित् आनंद का निवास रहता है।

"इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥" (१,३,१०)

पन्तजी की निम्न पंक्तियों में इसी तथ्य के दर्शन होते हैं। वे कहते हैं—

"इन्द्रियों की देह से ज्यों है परे मन,
मनो जग के परे त्यों आत्मा चिरन्तन,
जहाँ मुक्ति विराजती नित
डूब जाता हृदय क्रन्दन।" (वही, पृ० ७३)

कवि को आत्मा की सर्वशक्तिमत्ता पर भी विश्वास है, उसी के बल में सभी पोषण प्राप्त करते हैं। (स्वर्ण किरण, पृ० १३८)।

आत्मतत्व कहीं बाहर नहीं हमारे अन्तर में ही विद्यमान है। कवि का दार्शनिक इस औपनिषदिक तथ्य पर निरन्तर बल देकर कहता है—

"हम मात्र मूर्तियां हैं बाहर
चेतन प्रकाश कण भीतर है।" (युगपथ, पृ० १०५)

यही तथ्य उनकी विभिन्न रचनाओं में अनेक प्रकार से व्यक्त हुआ है। अन्तरतम में निहित मानव की आत्मा की दिव्यता कोई स्वप्न-कथा नहीं है वह मनुष्यत्व का सार-तत्व है जिसके अति-चेतन प्रकाश से शोभा सुषमा की सहस्रों दीप्त मरीचियाँ विभिन्न दिशाओं में प्रकाश विकरित कर उसकी महानता का प्रतिपादन कर रही हैं।

जगत (प्रकृति)—पन्तजी के स्वर्ण-काव्य में जगत् के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण

से विचार हुआ है। एक दार्शनिक दृष्टिकोण से दूसरे व्यावहारिक दृष्टि से।

दार्शनिक दृष्टि से यह जगत् ब्रह्म से ही आविर्भूत, उसी पर आधारित एवं उसी में लीन होने वाला है जिसका उल्लेख पीछे 'ब्रह्म-तत्व' पर विचार करते समय कह आए हैं।[1] वेद इस जगत् को ईश से आवासित मानता है तथा इसके भोगों को त्यागपूर्वक भोगने की दिशा देता है। यथा—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुँजीथा...।'[2] पन्तजी भी कहते हैं।

**'ईश्वर जग में व्याप्त त्याग से भोगो भव जन।'** (स्वर्णकिरण, पृ० १२६)

जगत् में ब्रह्म की व्याप्ति के कारण ही कवि उसे ब्रह्म का चिरदर्पण भी कहता है। निश्चय ही यह जग शाश्वत मुख का चिरदर्पण है। (वही, पृ० १२७) ब्रह्म ही स्वयं अपनी शक्ति द्वारा जगत् रूप में रूपान्तरित हो गया है इसीलिए कवि उसे एक दृष्टि से ईश्वर-रूप भी कह डालता है।[3]

**"परम दृष्टि से, परम रूप में यह है ईश्वर।"** (स्वर्णधूलि, पृ० ६०)

यह 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' की ध्वनि है।

व्यावहारिक दृष्टि से कवि इस जगत् को सुख-दुख, जन्म-मरण और जड़-चेतन आदि द्वन्द्वों का आशय कहता है—

**"इसमें सुख दुःख जरा मरण है, जड़ चेतन**
**संघर्ष शांति,—यह रे द्वन्द्वों का आशय।"** (वही, पृ० ६०)

जगत् के सम्बन्ध में यही तथ्य कवि ने स्वर्णधूलि की 'छायाभा' रचना में व्यक्त किया है। (पृ० ६७)।

**द्वैत में अद्वैत**—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' से आरम्भ होने वाला प्रसिद्ध वेद-मंत्र व्यावहारिक धरातल पर ब्रह्म, जीव और प्रकृति इन तीन सत्ताओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख करता है। वहाँ ब्रह्म को द्रष्टा, जीव को भोक्ता और प्रकृति को भोग्य कहा गया है। इसी प्रकार श्वे० उ० ४,५ के 'अजामेकां लोहित कृष्ण शुक्लां' वाले प्रसिद्ध मंत्र में तीनों सत्ताओं का पृथक्-पृथक् निर्देश हुआ है। यह व्यवहार दशा का वर्णन है। पर ज्ञान अथवा योग की उच्चावस्था में ब्रह्म, जीव और प्रकृति अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का त्रैत समाप्त हो जाता है। अद्वैतानुभूति की यह उपलब्धि साधक की साधनावस्था की सर्वोच्चदशा का परिणाम है जो किसी विरले साधक को ही सिद्ध होती है। पर इस जगत की दृश्यमान विविधता में एक अखण्ड अद्वैत तत्व की सतत् विद्यमानता एक दार्शनिक सत्य है। उपनिषदों में विविधता में एकता (द्वैत में अद्वैत) एवं केवल मात्र अद्वैतानुभूति दोनों ही स्थितियों का विस्तार से उल्लेख आया है। पन्तजी के काव्य में इन दोनों स्थितियों को अभिव्यक्ति मिली है। एक स्थल पर पन्तजी कहते हैं—

---

१. देखिए, इसी प्रबन्ध का पृ० ६०-६१।
२. यजु० ४०,१।
३. 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' ऋग्वेद १०,९०,२।

"यह व्यक्ति समाज जनित अन्तर
भू-मन का स्थूल विभाजन भर,
वह एक चेतना रे अकूल
जो बनी बिन्दु गुम्फित सागर।" (युगपथ, पृ० १३७)

वह एक चेतना सब में व्याप्त है कहकर कवि विविधता में एकता के सत्य का प्रतिपादन करता है। अन्यत्र "तुम हो मुझसे एक, एक तुम भूतों से, सत्र" (स्वर्णकिरण, पृ० ४७) में कवि ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों की एकता का प्रतिपादन करता है। यही तथ्य—"मैं हूँ सब से एक, एक रे मुझ से निखिल चराचर।" (वही, पृ० ६६) में व्यक्त किया है। इसी प्रकार स्वर्णधूलि के 'संन्यासी के गीत' शीर्षक कविता में कवि कहता है कि जब स्तावक और स्तुत्य, निन्द्य और निन्दक एक ही है तब निन्दा अथवा स्तुति का प्रश्न ही नहीं उठता। (पृ०२३) यह पूर्ण अद्वैत की स्थिति का चित्रण है।

रहस्यवाद—वेद और उपनिषद् वस्तुतः दर्शन की अपेक्षा रहस्य-भावना के ग्रंथ हैं। दर्शन तर्क के पट से चरण धरता है और रहस्य-भावना साधक की अन्तश्चेतना द्वारा प्राप्त सहज अनुभूति पर आधारित होती है। वैदिक-वाङ्मय में तर्क न्यून है उसके स्थान पर ऋषियों द्वारा समाधि अवस्था में प्राप्त अनुभवैकगम्य तथ्यों का बाहुल्य है। अरविन्द के अनुसार वेदों में वर्णित ऋषियों के अनुभव प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्त हुए हैं। ऋषि वामदेव अपने मंत्रों को 'नीथानि···निण्या वचांसि' (ऋग्वेद ४,३, १६) कहकर उनकी गुह्यता को द्योतित करता है। श्री अरविन्द ने वेद के अनेक स्थलों की परीक्षा करके उनके रहस्यमय एवं प्रतीकात्मक होने की बात को प्रमाण-सहित पुष्ट भी किया है, जिसकी चर्चा हम पीछे कर आए हैं। अरविन्द की दृष्टि में वैदिक-ऋचाएँ रहस्य-द्रष्टा कवियों की चेतना के ऊर्ध्व सोपानों पर आरोहण के गीत हैं।[1] उपनिषदों में ऋषियों की अनुभूतियाँ प्रतीकों के आवरण को अनावृत कर स्पष्ट भाषा में अभिव्यक्त हुई हैं। इस प्रकार वेद और उपनिषदों के मंत्र वैदिक रहस्यवादियों के श्रेष्ठतम काव्य के रूप में परिगणित कर लिए गए हैं तो यह उचित ही है।

रहस्यवाद क्या है ? इसको परिभाषा में बाँधते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि—"रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसका मूलाधार, किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट व निर्विशेष एकता वा परमात्मतत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किए जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन और विकासोन्मुखी भी हो जा सकता है।"[2] इस परिभाषा में पाँच ऐसी बातें समाविष्ट हो गई हैं जिनकी ओर संकेत कर देना आवश्यक हो गया है।

से विचार हुआ है। एक दार्शनिक दृष्टिकोण से दूसरे व्यावहारिक दृष्टि से।

दार्शनिक दृष्टि से यह जगत् ब्रह्म से ही आविर्भूत, उसी पर आधारित एवं उसी में लीन होने वाला है जिसका उल्लेख पीछे 'ब्रह्म-तत्व' पर विचार करते समय कह आए हैं।[1] वेद इस जगत् को ईश से आवासित मानता है तथा इसके भोगों को त्यागपूर्वक भोगने की दिशा देता है। यथा—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुँजीथा...।'[2] पन्तजी भी कहते हैं।

**'ईश्वर जग में व्याप्त त्याग से भोगो भव जन।'** (स्वर्णकिरण, पृ० १२६)

जगत् में ब्रह्म की व्याप्ति के कारण ही कवि उसे ब्रह्म का चिरदर्पण भी कहता है। निश्चय ही यह जग शाश्वत मुख का चिरदर्पण है। (वही, पृ० १२७) ब्रह्म ही स्वयं अपनी शक्ति द्वारा जगत् रूप में रूपान्तरित हो गया है इसीलिए कवि उसे एक दृष्टि से ईश्वर-रूप भी कह डालता है।[3]

**"परम दृष्टि से, परम रूप में यह है ईश्वर।"** (स्वर्णधूलि, पृ० ६

यह 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' की ध्वनि है।

व्यावहारिक दृष्टि से कवि इस जगत् को सुख-दुख, जन्म-मरण और ज‹ चेतन आदि द्वन्द्वों का आशय कहता है—

**"इसमें सुख दुःख जरा मरण है, जड़ चेतन**
**संघर्ष शांति,—यह रे द्वन्द्वों का आशय।"** (वही, पृ० ६०)

जगत् के सम्बन्ध में यही तथ्य कवि ने स्वर्णधूलि की 'छायाभा' रचना में व्यक्त किया है। (पृ० ६७)।

**द्वैत में अद्वैत**—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' से आरम्भ होने वाला प्रसिद्ध वेद-मंत्र व्यावहारिक धरातल पर ब्रह्म, जीव और प्रकृति इन तीन सत्ताओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख करता है। वहाँ ब्रह्म को द्रष्टा, जीव को भोक्ता और प्रकृति को भोग्य कहा गया है। इसी प्रकार श्वे० उ० ४,५ के 'अजामेकां लोहित कृष्ण शुक्लां' वाले प्रसिद्ध मंत्र में तीनों सत्ताओं का पृथक्-पृथक् निर्देश हुआ है। यह व्यवहार दशा का वर्णन है। पर ज्ञान अथवा योग की उच्चावस्था में ब्रह्म, जीव और प्रकृति अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का त्रैत समाप्त हो जाता है। अद्वैतानुभूति की यह उपलब्धि साधक की साधनावस्था की सर्वोच्चदशा का परिणाम है जो किसी विरले साधक को ही सिद्ध होती है। पर इस जगत की दृश्यमान विविधता में एक अखण्ड अद्वैत तत्व की सतत् विद्यमानता एक दार्शनिक सत्य है। उपनिषदों में विविधता में एकता (द्वैत में अद्वैत) एवं केवल मात्र अद्वैतानुभूति दोनों ही स्थितियों का विस्तार से उल्लेख आया है। पन्तजी के काव्य में इन दोनों स्थितियों को अभिव्यक्ति मिली है। एक स्थल पर पन्तजी कहते हैं—

---

१. देखिए, इसी प्रबन्ध का पृ० ६०-६१।

२. यजु० ४०,१।

३. 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्' ऋग्वेद १०,६०,२।

"यह व्यक्ति समाज जनित अन्तर
भू-मन का स्थूल विभाजन भर,
वह एक चेतना रे अकूल
जो बनी बिन्दु गुम्फित सागर।" (युगपथ, पृ० १३७)

वह एक चेतना सब में व्याप्त है कहकर कवि विविधता में एकता के सत्य का प्रतिपादन करता है। अन्यत्र "तुम हो मुझसे एक, एक तुम भूतों से, सब" (स्वर्ण-किरण, पृ० ४७) में कवि ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों की एकता का प्रतिपादन करता है। यही तथ्य—"मैं हूँ सब से एक, एक रे मुझ से निखिल चराचर।" (वही, पृ० ६६) में व्यक्त किया है। इसी प्रकार स्वर्णधूलि के 'संन्यासी के गीत' शीर्षक कविता में कवि कहता है कि जब स्तावक और स्तुत्य, निन्द्य और निन्दक एक ही है तब निन्दा अथवा स्तुति का प्रश्न ही नहीं उठता। (पृ०२३) यह पूर्ण अद्वैत की स्थिति का चित्रण है।

रहस्यवाद—वेद और उपनिषद् वस्तुतः दर्शन की अपेक्षा रहस्य-भावना के ग्रंथ हैं। दर्शन तर्क के पट से चरण धरता है और रहस्य-भावना साधक की अन्तश्चेतना द्वारा प्राप्त सहज अनुभूति पर आधारित होती है। वैदिक-वाङ्मय में तर्क न्यून है उसके स्थान पर ऋषियों द्वारा समाधि अवस्था में प्राप्त अनुभवैकगम्य तथ्यों का बाहुल्य है। अरविन्द के अनुसार वेदों में वर्णित ऋषियों के अनुभव प्रतीकात्मक शैली में अभिव्यक्त हुए हैं। ऋषि वामदेव अपने मंत्रों को 'नीथानि···निण्या वचांसि' (ऋग्वेद ४,३, १६) कहकर उनकी गुह्यता को द्योतित करता है। श्री अरविन्द ने वेद के अनेक स्थलों की परीक्षा करके उनके रहस्यमय एवं प्रतीकात्मक होने की बात को प्रमाण-सहित पुष्ट भी किया है, जिसकी चर्चा हम पीछे कर आए हैं। अरविन्द की दृष्टि में वैदिक-ऋचाएँ रहस्य-द्रष्टा कवियों की चेतना के ऊर्ध्व सोपानों पर आरोहण के गीत हैं।[1] उपनिषदों में ऋषियों की अनुभूतियाँ प्रतीकों के आवरण को अनावृत कर स्पष्ट भाषा में अभिव्यक्त हुई हैं। इस प्रकार वेद और उपनिषदों के मंत्र वैदिक रहस्यवादियों के श्रेष्ठतम काव्य के रूप में परिगणित कर लिए गए हैं तो यह उचित ही है।

रहस्यवाद क्या है ? इसको परिभाषा में बाँधते हुए परशुराम चतुर्वेदी ने कहा है कि—"रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसका मूलाधार, किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट व निर्विशेष एकता वा परमात्मतत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किए जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन और विकासोन्मुखी भी हो जा सकता है।"[2] इस परिभाषा में पाँच ऐसी बातें समाविष्ट हो गई हैं जिनकी ओर संकेत कर देना आवश्यक हो गया है।

---

१. देखिए, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ८५-८६।
२. परशुराम चतुर्वेदी : रहस्यवाद, पृ० २५।

(१) रहस्यवाद को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करना।
(२) विश्वात्मक सत्ता के स्वरूप का किसी-न-किसी प्रकार निर्धारण करना।
(३) परम-तत्व की प्रत्यक्ष-अनुभूति का परिचय देना।
(४) ऐसे अनुभव की अनिर्वचनीयता पर विचार करना।
(५) ऐसे रहस्यवादी व्यक्ति के व्यवहार का निरूपण करना जो स्वाभाविक रूप से अपने संकुचित अहं की परिधि को लाँघ कर व्यापक और विश्वात्मक हो जाया करता है।

वैदिक रहस्यवादियों के काव्य में रहस्य-भावना से सम्बन्धित उपरोक्त सभी बातें न्यूनाधिक रूप में विद्यमान हैं। प्राचीन सिद्धों और संतों के काव्य में भी उपरोक्त सभी बातों के अतिरिक्त जिज्ञासा और विरह-मिलन की स्थितियाँ भी देखने को मिलती हैं, यथा सूफियों की रहस्य-भावना में प्रकृति भी ब्रह्म के विरह में व्याकुल दिखाई गई है। आधुनिक रहस्य कवियों में भी उपरोक्त सभी स्थितियाँ विद्यमान हैं, पर महादेवी में अन्य कवियों की अपेक्षा मिलन की स्थिति के चित्र कम वेदना के चित्र अधिक हैं। पन्तजी के इधर के काव्य में रहस्यवाद को वस्तुतः जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार किया गया है, वहाँ पर सत्ता के प्रति जिज्ञासाएँ, सत्ता के स्वरूप का निर्धारण, उसकी अनुभूति का उल्लेख, उस अनुभूति की अनिर्वचनीयता का कथन और कवि के व्यक्तित्व की व्यापकता आदि से सम्बन्धित सभी स्थितियाँ न्यूनाधिक रूप में विद्यमान हैं। पन्तजी की रहस्य-भावना सम्बन्धी किंचित् बातें अरविन्द की रहस्य-भावना के माध्यम से भी आई हैं जिसका पीछे उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ अब पन्तजी के रहस्य-भावना पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। साथ ही यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि पन्तजी की इधर की रहस्य-भावना प्रणय-मूलक न होकर चिन्तन-प्रधान हैं। वह हृदय के धरातल से व्यक्त न होकर बौद्धिक धरातल से प्रसरित हुई है। पन्तजी के आलोचकों ने उनके नूतन रहस्यवाद को इसलिए 'चिन्तनात्मक रहस्यवाद (Contemplative mysticism) अथवा कल्पनात्मक रहस्यवाद (Intutive-mysticism) कहा है।[1]

जिज्ञासा—पन्तजी के नूतन काव्य में भी ब्रह्म और सृष्टि-सम्बन्धी बड़ी मनोरम जिज्ञासाएँ आई हैं। कवि प्रश्न करता है कि 'वह कौन-सी शक्ति है जिसकी लय में घूम-घूमकर तुम भास्वर-रूप ग्रहण कर सके, और—

**'कौन सत्य वह ? महाशून्य तुम**
**जिससे गर्भित होकर**
**महा विश्व में बदल गए**
**धारण कर निखिल चराचर।'**

---

१. दे० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : पंतजी का नूतन काव्य और दर्शन, पृ० ६६२।

किसके बल से पंचभूत ये
सतत कर्म में तत्पर ?
शब्दित नभ, चल अनिल
द्रवित जल, दीप्त अग्नि, भू उर्वर ।' (युगपथ, पृ० १३५)
'कौन मृत्यु के अन्ध तमस् को
अमृत स्पर्श से छू कर
स्वर्ण चेतना से भर, जग का
करता नव रूपान्तर ।' (वही, पृ० १३६)

कौन-सी शक्ति के बल पर ये पंच भूत अपने-अपने कार्यों में तत्पर होकर संलग्न हैं। किसकी प्रेरणा से यह नभ शब्दायमान हो रहा है, अनिल चंचल होकर बहा जा रहा है, जल द्रुत गति से धावमान होकर प्रवाहित हो रहा है, तथा अग्नि दीप्त और भू उर्वर होकर अन्न उगलती है।' ब्रह्म-सम्बन्धी ये जिज्ञासाएँ अथर्ववेद के दशम् मण्डल के सातवें सूक्त में आई जिज्ञासाओं के नितान्त समकक्ष हैं जिनका पीछे उल्लेख हो चुका है।[1] कवि की जिज्ञासा-वृत्ति यहीं समाप्त नहीं हो जाती प्रत्युत वह अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न करता है कि 'वह कौन तत्त्व है जो मृत्यु के अन्ध तमस् को अमृत-स्पर्श से छू कर उसमें स्वर्ण-चेतना भर देता है और इस प्रकार जग को नवीन रूप में परिवर्तित कर देता है।' स्वर्णकिरण की 'जिज्ञासा' शीर्षक कविता में तो पन्तजी ने इस प्रकार की अनेक जिज्ञासाएँ प्रकट की हैं जिनका सम्बन्ध ब्रह्म और सृष्टि की विचित्रता और बहुरूपता से जुड़ा हुआ है।

कवि अन्यत्र परम व्योम में स्थित उस पार ब्रह्म के प्रकाश और आनन्द के स्वरूप की जिज्ञासा करता है जो सच्चिदानन्दमय कहा गया है। कवि पछता है—

'कैसा वहां प्रकाश, शांति आनन्द चिरन्तन ?
जहाँ सच्चिदानन्द स्वयं करते सहज सृजन !
× × ×
जहाँ स्वयं प्रभु रहते कैसा वह परम गगन,
जहाँ अनिर्वचनीय अमित आनन्द का स्रवण।' (स्वर्णकिरण, पृ० ९८)

पन्तजी ने सच्चिदानन्द के प्रकाशमय जिस परम गगन के सम्बन्ध में जिज्ञासा की है उस लोक का वर्णन कहते हुए वैदिक ऋषि कहते हैं कि वह लोक अजस्र ज्योति वाला है, अमृतमय है, यहाँ काम और निकामों की पूर्णता है...यहाँ आनन्द, मोद, मुद और प्रमुद है और यहाँ काम की कामनाएँ भी अवशिष्ट नहीं रहतीं। स्पष्ट है कि पन्तजी की जिज्ञासाएँ भी वैदिक आधार को लेकर चलती हैं, उस ब्रह्म से सम्बन्धित हैं जो अज्ञेय कहा गया है, उस लोक से सम्बन्धित हैं जो प्रकाश और आनन्द

१. देखिये, इस शोध-प्रवन्ध का पृ० १७०।

की लहरों से युक्त है, जो वैदिक परम व्योम है।[1] कवि जब यह कहता है—'यह रे हिरण्य का अवगुण्ठन चेतना ढके जिससे आनन' (स्वर्ण किरण, पृ० ४६) तब यजुर्वेद के 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' (४०,१५) इस मन्त्र का स्मरण हो आता है।

अवाङ्मनसगोचरता—उपनिषदें, जिस रहस्यमय अज्ञात सत्ता से इस विश्व-प्रपंच के आविर्भाव और तिरोभाव का उल्लेख करती हैं और जिसकी व्याप्ति से यह सम्पूर्ण विश्व सुन्दर एवं आकर्षक लगता है, उसके विषय में यह भी कहती हैं कि उस तक मन और वाणी नहीं पहुँच सकती। वह तत्त्व अवाङ्मनसगोचर है—'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह।'[2] पन्तजी भी उसकी अवाङ्मनस गोचरता का स्पष्ट वर्णन करते हुए कहते हैं—

'लौट-लौट आते तट छू कर वाद विवाद शास्त्र षड्दर्शन,
सतत डूबते उतराते सुख दुख इच्छाएँ जन्म औ' मरण!

× × ×

चिर अनादि अज्ञेय, पार जा पाते नहीं चक्षु वाणी मन।' (वही-४८)

स्पर्शानुभूति—पन्तजी के काव्य में दिव्य स्पर्शानुभूति और रहस्यानुभूति के सुन्दर चित्र भी देखने को मिलते हैं जो श्री अरविन्द के वेद-मन्त्रों की व्याख्या में से प्रभावित होकर आए हैं। पीछे उल्लेख आ चुका है कि जब हृदय पवित्र होने पर अवचेतन मन की गहराई से निकल कर भौतिक चेतना की लहर ऊपर उठती है और उपरले अति चेतन के समुद्र से (ऊर्ध्व चेतना से) जब प्रकाश की आनन्द की दिव्य लहर नीचे भौतिक सत्ता में अवतरित होती है तब भौतिक चेतना का दिव्यीकरण हो जाता है।[3] उस समय साधक अपने अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। उसी अवस्था के अनेक चित्र कवि ने काव्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित किए हैं। कवि दिव्य अनुभूतिजन्य प्रभाव का वर्णन करते हुए कहता है—

'खिल उठा हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा अमृत अभय!
खुल गए साधना के बन्धन
संगीत बना उर का रोदन,
अब प्रीति द्रवित प्राणों का पण,
सीमाएँ अमिट हुईं सब लय।' (युगपथ, पृ० १४५)

कवि का हृदय उस अमृत अभय ब्रह्म के स्पर्श को प्राप्त करके पुष्पवत् खिल उठा, साधक के सभी बन्धन खुल गए, हृदय का रोदन अब मधुर संगीत में परिवर्तित हो

---

१. देखिये, इसी शोध-प्रबन्ध का पृ० ६२।
२. तैत्तिरीय उपनिषद् : ब्रह्मानन्द वल्ली, चतुर्थ अनुवाक।
३. देखिये, इसी अध्याय की पृष्ठ-संख्या, ४०२-४०३।

गया, सभी अमिट प्रतीत होने वाली सीमाएँ नष्ट हो गई इसके अतिरिक्त कवि को अश्रुत वंशी-स्वर श्रुतिगोचर होने लगे, बुद्धि उस दिव्य-दृश्य को देखकर विस्मयान्वित हो उठी, भौतिक-सत्ता पर शोभा पर शोभा झड़ी पड़ती है, सहज हर्ष से अन्तर भी कंपित हो उठा, युग की सीमाओं के बन्धनों को तोड़-फोड़कर अन्तर्जीवन का अजस्र स्रोत बहने लगा। (वही, पृ० १४७-१४८)

नव-चेतना का स्पर्श पाते ही मन ऐसी आनन्द-दशा मे हो जाता है कि उसका वर्णन शब्दों की शक्ति से परे है, उस उदित हुए नव आलोक से व्यक्ति स्वप्नाविष्ट-सा हो जाता है, हृदय अनिर्वचनीय सुख और आनन्द की भावना से पुलकित और स्पन्दित रहने लगता है। सारा अन्तःकरण ज्योति, मधुरता, पवित्रता और सौन्दर्यमयी चेतना से परिपूरित हो जाता है, तब साधक को ऐसा लगता है कि जैसे कही अश्रुत स्वर श्रुति-गोचर हो रहे है,...शोभा के झरने झर रहे हैं, और संगीत की मधुर स्वर-लहरियाँ उठ रही हैं। कबीर ने भी उस दिव्य लोक म उठती चेतना का ऐसा ही मोहक वर्णन किया है...।[1] इन सब अनुभूतियों का भी वैदिक आधार है। श्वे० उ० २,११ में ब्रह्मानुभूति का विभिन्न प्रकार और आकृति के रूप म वर्णन आया है। बृह० उ० २,३,६ में कहा है कि उस पुरुष का रूप-चमत्कार ऐसा है जैसा कुसुमो से रँगा वस्त्र हो, जैसे अग्नि की ज्वाला हो, जैसा श्वेत कमल हो और जैसे विद्युत् की चमक हो। छान्दोग्य उपनिषद् ३,१३,८ में उसकी अनुभूति रथ के घोष अथवा बैल के डकारने जैसी ध्वनि के रूप में वर्णित की है।

**अद्वैतानुभूति**—नवचेतना और नव आलोक के अवतरण के परिणामस्वरूप कवि ने जिस अद्वैतावस्था का अनुभव किया उसका भी बड़ा मोहक उल्लेख स्वर्ण-किरण की 'ऊषा' शीर्षक कविता में हुआ है। कवि का कथन है कि 'मुक्ति सत्य और श्रेय अन्त में हुए अवतरित।'[2] साधना का चरम गन्तव्य ही मुक्ति और सत्य की उपलब्धि है, यही साधना का अन्त है जिसकी कवि के मानस ने अपरोक्षानुभूति प्राप्त की है। उसे मुक्ति-पथ पर विद्यमान उस सत्यालोक के दर्शन हुए जिसका आनन हिरण्मय अवगुंठन से ढका हुआ था, निज-पर का भेदभाव, द्वैत की स्थिति विनष्ट होकर धरा के जड़ और चेतन सभी सत्य बन गए। ऊर्ध्व और अधः, बहिरन्तर, स्थूल,

---

१. (अ) जहाँ खेलत वसन्त ऋतुराज
जहाँ अनहद बाजा बजै बाज
चहुँ दिसि ज्योति की बहै धार
विरला जन कोई उतरे पार।
चोवा चन्दन और अबीर,
पुहुप बास रस रह्यो गम्भीर।
(ब) चुवत अमीरस, भरत ताल जहं शब्द उठै असमानी हो।

२. वही, पृ० ६२।

सूक्ष्म, पवन, जल, पावक, अंबर, सब कुछ सत्यमय दृष्टिगोचर होने लगे। शाश्वत ज्योति से लिपटा हुआ सत्य का स्वरूप अकथनीय प्रतीत हुआ।

'मुक्ति सत्य औ' श्रेय अन्त में हुए अवतरित
सृष्टि पद्म सी मुक्ति हुई दश दिशि में विकसित।

× × ×

मुक्ति पद्म पर धरे सत्य आलोक के चरण
हंसता था, आनन से उठा हिरण्मय गुंठन,
निज-पर को ज्यों भूल धरा के जड़ औ' चेतन
सत्य बन गए स्वयं सत्य था रज का प्रतिकरण।

× × ×

अकथनीय था सत्य, ज्योति में लिपटा शाश्वत,
अणु से भी लघु देह ज्वलित गिरिश्रृंग सी महत्।' (स्वर्णकिरण, पृ० ६२)

उस स्थिति में प्रभु और प्रभु-भक्त में कोई भेद नहीं रह गया। दोनों मिल कर एक और चिरन्तन सच्चिदानन्द रूप बन गए।

'रहे निर्निमेष भौतिक लोचन।
प्रभु प्रभु-भक्त गए अभिन्न बन
परम सच्चिदानन्द चिरन्तन।' (वही, पृ० १४६)

इस अद्वैतानुभूति का बृह० उ० में ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के लिए विस्तार से वर्णन किया है।[1]

**कर्म और जन्मान्तरवाद**—पन्तजी ने वैदिक-दर्शन की कर्म, जन्मान्तरवाद और भाग्यवाद से सम्बन्धित मान्यताओं का स्वर्ण-काव्य में भी उल्लेख किया है। आत्मा की शाश्वतता की सिद्धि के लिए मृत्यु के उपरान्त जीव का कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करना और उन्हीं के अनुसार उसकी गतिविधियों का अनुशासित होना वैदिक तत्त्व-चिन्तन का प्रमुख सिद्धान्त है। शुभ कर्म शुभ योनियों की ओर ले जाते हैं और अशुभ कर्म अशुभ योनियों की ओर। स्पष्ट है जो जैसा करता है उसी के अनुरूप उसे फल भोगना पड़ता है।[2] उपनिषदों में कहा है—(अ) पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' (बृह० उ० ३,२,१३,) (ब) यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवति···स···यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' (बृह०उ० ४,४,६)। यह अपरिहार्य नियम है। पन्तजी स्वयं इस मान्यता का समर्थन करते हुए कहते हैं—

'बोओगे पाओगे, निश्चित कारण कार्य विधान।
कहते, शुभ का शुभ फल, अशुभ अशुभ का फल धीमान॥'
(स्वर्णधूलि, पृ० २२)

---

१. बृह० उ० ४,५,१५।
२. कठोपनिषद् ५,७।

'दुर्निवार यह नियम, जीव के नाम रूप परिधान
बन्धन हैं, सच है, पर दोनों नामरूप के पार
नित्य मुक्त आत्मा करती है बन्धनहीन विहार।' (वही)

यद्यपि जीवात्मा के नाम-रूप बन्धन है, शुद्ध-बुद्ध आत्मा इन दोनों से परे, नित्य मुक्त है। किन्तु सांसारिक दशा में वह कर्म के बन्धन से बद्ध है। वह संसार में आती ही है कर्मों की गठरी के साथ, यहाँ आकर वह पिछले कर्म-फलों को भोगती है। कवि स्पष्ट कहता है—'प्राक्तन जीवन बना भाग्य, चेतना मुक्त हो नूतन' (स्व० कि० ७८) और इस जन्म में भी वह जैसा करता है वैसा ही आगे भी भोगता है। इस कर्म-चक्र की परम्परा के साथ जीवात्मा एक योनि से दूसरी योनि में आता-जाता रहता है। अमर्त्य फिर फिर तन धारण करता है—

'कोटि योनि शत कोटि जन्म तर
विविध भ्रूण स्थितियों में बढ़कर,
दिव्य अतिथि वह मनुज देहधर
आया फिर से मर्त्य बन अमर।' (वही, पृ० ९९)

जन्मान्तरवाद के सम्बन्ध में गीता में कहा है—'शरीर जिस प्रकार प्राचीन वस्त्रों को त्याग कर नव वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार अविनाशी जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर (कर्मानुसार) नव शरीर धारण करता है।'[1] पन्तजी भी यही कहते हैं—

'आत्मा जीर्ण वसन तज रज का
नव वसनों से होती भूषित।' (स्व० कि० पृ०, १३३)

कर्मों का फल दुर्निवार है इस तथ्य को जानकर कवि उपनिषदों के 'सत्यंवद', 'धर्मंचर' के सदाचरण के उपदेश की भाँति स्वयं भी कहता है कि 'अपने कृत और क्रियमाण कर्मों को संयोजित कर इस प्रकार कर्म करो जिनसे पुण्य का संचय हो, तुम पाप-कर्म छोड़कर सत् कर्मों में रत रहो, क्योंकि कर्म-निरत जन ही देवों से पोषण प्राप्त करते हैं।' (स्वर्णधूलि, पृ० ७) कवि कर्म द्वारा वैभव और धन-सम्पत्ति के संचित करने के विपक्ष में नहीं है, पर वह वैदिक ऋषियों की भाँति यह भी चाहता है कि मानव उसे त्यागपूर्वक भोगे, क्योंकि उसे यह ज्ञात है कि स्वयंभोगी पाप को ही खाता है—'केवलाघो भवति केवलादि'[2] इसी दृष्टि से पन्तजी भी कहते हैं—

'मानव तुम शत हस्त करो वैभव एकत्रित
औ' सहस्र कर होकर उसे करो नित वितरित।' (स्व०धू०, पृ० ७)

---

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (२,२२)

२. देखिये, ऋग्वेद १०,११७,६।

स्पष्ट है कि वैदिक संस्कारों में पले कवि पर वैदिक मान्यताओं का पूरा-पूरा प्रभाव विद्यमान है।

**मुक्ति**—मुक्ति के सम्बन्ध में भी कवि के विचार वैदिक मान्यताओं को स्वीकार करके चलते हैं। उपनिषदें कहती हैं कर्म चाहे शुभ हों चाहे अशुभ, उनका फल अनिवार्य है। जब तक कर्मों का फल भोगना शेष है तब तक जीवात्मा का जन्म-मरण के वात्याचक्र से मुक्त होना असंभव है। अतः कर्मों की शक्ति को अवश्य ही क्षीण करना पड़ेगा, माया के पाशों को अवश्य ही खोलना पड़ेगा, उससे पहले मुक्ति नहीं। इसी दृष्टि से कवि 'सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अतीत रहने की शिक्षा देता है, यत्र-तत्र निर्भय होकर विचरने की बात कहता है, माया के बन्धनों को काट डालने के लिए प्रेरणा देता है।' (वही, पृ० २४) वह उपनिषदों की भाँति संयमी अपरिग्रही होने का भी उपदेश देता है तथा जन-मन को कर्मों के फल से अलिप्त रहने का निर्देश करता है (स्वर्णकिरण, पृ० १३८) और जब—

**'इस प्रकार दिन प्रतिदिन जब तक कर्म शक्ति हो क्षीण,**
**बन्धन मुक्त करो आत्मा को, जन्म मरण हों लीन।'** (स्व० धू०-२४)

कर्म-शक्ति के क्षीण हो जाने पर जब आत्मा मुक्त हो जाता है तथा जन्म-मरण लीन हो जाते हैं तब मुक्तावस्था, अद्वैत की स्थिति आविर्भूत हो जाती है। उपनिषदों में कहा है—

**'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः।**
**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति॥'** (बृह० ४,४,७)

इसी तथ्य से प्ररित हो कर पन्तजी भी कहते हैं कि जब सकाम कर्मों का नाश हो जायेगा तब—

**'फिर न रह गए मैं, तुम ईश्वर, जीव या कि भव बन्ध,**
**मैं सबमें, सब मुझमें—केवल मात्र परम आनन्द।'** (वही, पृ० २४)

उस समय केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है। द्वैत के सारे भेद विलुप्त हो जाते हैं। मुक्ति-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन जो वैदिक-दर्शन के अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य कहा गया है वैदिक चिन्तन के नितान्त अनुकूल है। कर्मों की क्षीणता ही मुक्ति के उन्मुक्त राज्य में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'[1] में भी यही बात कही गई है।

**कर्म और ज्ञान का समन्वय**—मोक्ष-रूप साध्य की उपलब्धि के लिए उपनिषदों में कर्म और ज्ञान दोनों के समन्वित रूप को ही साधन-रूप में स्वीकार किया गया है। यजु० ४०,६ वें और ११वें मंत्र में कहा है—

**'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते,**
**ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायां रताः।**

---

१. मु० उ० २,२,८।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।'

पन्तजी ने भी यही कहा है—

'अंध तमस में गिरते वे जो मात्र अविद्या में रत,
भूरि तमस में पड़ते वे जो विद्या में रत सन्तत !
विद्याऽविद्या उभय एक में, भेद जिन्हें यह अवगत,
विद्यामृत पी, मृत्यु अविद्या से वे तरते अविरल !
ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय ।'
(स्वर्णकिरण, पृ० २२-२३)

ज्ञान-विहीन कोरा कर्म भी जीवात्मा को अन्धकार में डुबा देता है और इसी प्रकार कर्म से रहित कोरा ज्ञान तो जीवात्मा को और भी गहरे अंधकार में ले जाता है। अमरत्व की प्राप्ति के लिए कर्म और ज्ञान दोनों का समन्वय ही अपेक्षित है। कर्म और ज्ञान के साथ-साथ कवि ने उपासना और भक्ति की भी आवश्यकता का अनुभव किया है। कवि प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है—

'असत् तमस के मृत्यु सलिल से हमें पारकर
सत्य, ज्योति अमृतत्व धाम दो, जीवन ईश्वर !
अप्रकेत तम-सलिल, आज लहराया दुस्तर,
ज्योति केतु फहराओ फिर से, मर्त्य हो अमर।
× × ×
जीवन के तम की कवरी हो स्वर्ग विभा से भास्वर ।
× × ×
अन्धकार हो पुनः दिशाओं का प्रकाश में कुसुमित ।' (वही, पृ० १६)

पन्तजी की उपरोक्त प्रार्थना पर बृह० उ० के ऋषि की प्रार्थना 'असतो मा सद्गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्माऽमृतंगमय'[1] का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित है।

**लोक-मंगल और मानवतावादी भावना**—पन्तजी का समस्त परवर्ती काव्य लोक-कल्याण और मानवतावाद की भावना से समन्वित है। यों तो कवि आरम्भ से लोक-मंगलाकाँक्षी रहा है, पर इधर के काव्य में अरविन्द की समन्वयवादी दृष्टि से उनकी यह भावना और अधिक प्रौढ और पक्व हो गई है। श्री अरविन्द ने उपनिषदों के समन्वयवादी दृष्टिकोण को और अधिक आगे बढ़ाते हुए एक व्यापक धरातल पर भूत और अध्यात्म दोनों में एकत्व की स्थापना की थी। पंतजी ने इसी आधार पर जीवन के सभी क्षेत्रों में इस समत्व-भाव को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यक्ति और विश्व के बीच जिस समता की स्थापना की बात कही है वह

1. बृह० उ० १,४,२८ ।

स्पष्ट है कि वैदिक संस्कारों में पले कवि पर वैदिक मान्यताओं का पूरा-पूरा प्रभाव विद्यमान है।

**मुक्ति**—मुक्ति के सम्बन्ध में भी कवि के विचार वैदिक मान्यताओं को स्वीकार करके चलते हैं। उपनिषदें कहती हैं कर्म चाहे शुभ हों चाहे अशुभ, उनका फल अनिवार्य है। जब तक कर्मों का फल भोगना शेष है तब तक जीवात्मा का जन्म-मरण के वात्याचक्र से मुक्त होना असंभव है। अतः कर्मों की शक्ति को अवश्य ही क्षीण करना पड़ेगा, माया के पाशों को अवश्य ही खोलना पड़ेगा, उससे पहले मुक्ति नहीं। इसी दृष्टि से कवि 'सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से अतीत रहने की शिक्षा देता है, यत्र-तत्र निर्भय होकर विचरने की बात कहता है, माया के बन्धनों को काट डालने के लिए प्रेरणा देता है।' (वही, पृ० २४) वह उपनिषदों की भाँति संयमी अपरिग्रही होने का भी उपदेश देता है तथा जन-मन को कर्मों के फल से अलिप्त रहने का निर्देश करता है (स्वर्णकिरण, पृ० १३८) और जब—

> **'इस प्रकार दिन प्रतिदिन जब तक कर्म शक्ति हो क्षीण,**
> **बन्धन मुक्त करो आत्मा को, जन्म मरण हों लीन।'** (स्व० धू०-२४)

कर्म-शक्ति के क्षीण हो जाने पर जब आत्मा मुक्त हो जाता है तथा जन्म-मरण लीन हो जाते हैं तब मुक्तावस्था, अद्वैत की स्थिति आविर्भूत हो जाती है। उपनिषदों में कहा है—

> **'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदि श्रिताः।**
> **अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति॥'** (बृह० ४,४,७)

इसी तथ्य से प्रेरित हो कर पन्तजी भी कहते हैं कि जब सकाम कर्मों का नाश हो जायेगा तब—

> **'फिर न रह गए मैं, तुम ईश्वर, जीव या कि भव बन्ध,**
> **मैं सबमें, सब मुझमें—केवल मात्र परम आनन्द।'** (वही, पृ० २४)

उस समय केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है। द्वैत के सारे भेद विलुप्त हो जाते हैं। मुक्ति-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन जो वैदिक-दर्शन के अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य कहा गया है वैदिक चिन्तन के नितान्त अनुकूल है। कर्मों की क्षीणता ही मुक्ति के उन्मुक्त राज्य में प्रवेश करने का मुख्य द्वार है। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'[1] में भी यही बात कही गई है।

**कर्म और ज्ञान का समन्वय**—मोक्ष-रूप साध्य की उपलब्धि के लिए उपनिषदों में कर्म और ज्ञान दोनों के समन्वित रूप को ही साधन-रूप में स्वीकार किया गया है। यजु० ४०,६ वें और ११वें मंत्र में कहा है—

> **'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते,**
> **ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायां रताः।**

---

१. मु० उ० २,२,८।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।'

पन्तजी ने भी यही कहा है—

'अंध तमस में गिरते वे जो मात्र अविद्या में रत,
भूरि तमस में पड़ते वे जो विद्या में रत सन्तत!
विद्याऽविद्या उभय एक में, भेद जिन्हें यह अवगत,
विद्यामृत पी, मृत्यु अविद्या से वे तरते अविरत !
ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय ।'
(स्वर्णकिरण, पृ० २२-२३)

ज्ञान-विहीन कोरा कर्म भी जीवात्मा को अन्धकार में डुबा देता है और इसी प्रकार कर्म से रहित कोरा ज्ञान तो जीवात्मा को और भी गहरे अंधकार में ले जाता है। अमरत्व की प्राप्ति के लिए कर्म और ज्ञान दोनों का समन्वय ही अपेक्षित है। कर्म और ज्ञान के साथ-साथ कवि ने उपासना और भक्ति की भी आवश्यकता का अनुभव किया है। कवि प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहता है—

'असत् तमस के मृत्यु सलिल से हमें पारकर
सत्य, ज्योति अमृतत्व धाम दो, जीवन ईश्वर !
अप्रकेत तम-सलिल, आज लहराया दुस्तर,
ज्योति केतु फहराओ फिर से, मर्त्य हो अमर।
× × ×
जीवन के तम की कबरी हो स्वर्ग विभा से भास्वर ।
× × ×
अन्धकार हो पुनः दिशाओं का प्रकाश में कुसुमित ।' (वही, पृ० १६)

पन्तजी की उपरोक्त प्रार्थना पर बृह० उ० के ऋषि की प्रार्थना 'असतो मा सद्गमय' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्माऽमृतंगमय'[1] का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित है।

**लोक-मंगल और मानवतावादी भावना**—पन्तजी का समस्त परवर्त्ती काव्य लोक-कल्याण और मानवतावाद की भावना से समन्वित है। यों तो कवि आरम्भ से लोक-मंगलाकांक्षी रहा है, पर इधर के काव्य में अरविन्द की समन्वयवादी दृष्टि से उनकी यह भावना और अधिक प्रौढ और पक्व हो गई है। श्री अरविन्द ने उपनिषदों के समन्वयवादी दृष्टिकोण को और अधिक आगे बढ़ाते हुए एक व्यापक धरातल पर भूत और अध्यात्म दोनों में एकत्व की स्थापना की थी। पंतजी ने इसी आधार पर जीवन के सभी क्षेत्रों में इस समत्व-भाव को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्यक्ति और विश्व के बीच जिस समता की स्थापना की बात कही है वह

---

1. बृह० उ० १,४,२८ ।

बाह्य मान-दण्डों पर आधारित न होकर आन्तरिक मूल्यों पर स्थापित है। वे स्वयं कहते हैं—

**'व्यक्ति विश्व में व्यापक समता**
**हो जन के भीतर से स्थापित**
**मानव के देवत्व से ग्रथित**
**जन समाज जीवन हो निर्मित।'** (स्वर्णकिरण, पृ० ६)

पंतजी वर्तमान युग को राजनीतिक दृष्टि से जनतंत्र का युग मानते हैं और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व-समानता और लोक-मानवता का युग।'[1] उन्होंने अन्यत्र कहा कि 'मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रहकर वर्गहीन हो सके। क्योंकि ऊर्ध्व संचरण ही वर्गहीन संचरण हो सकता है और वर्गहीनता का अर्थ केवल अन्तरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है। अतः मानवता को वर्गहीन बनाने के लिए समतल प्रसारगामी के साथ ऊर्ध्व विकासगामी बनना ही पड़ेगा जो हमारे युग की एकान्त आवश्यकता है।''[2] स्पष्ट है कि पंतजी सामाजिक एकता के लिए आन्तरिक-आध्यात्मिक एकता की अनिवार्यता का अनुभव करते हैं जो वैदिक-दर्शन के अनुसार सत्य ही है। उन्होंने अपने समस्त परवर्ती काव्य में इसी स्वप्न को अभिव्यक्ति दी है।

**'मानवीय रे ऐक्य जातिगत मन में करना स्थापित।**
**मनः स्वर्ग की किरणों से मानव मुख श्री करमंडित॥'** (स्व० कि०, १९)

कवि को इस अवस्था पर अत्यधिक खेद है कि—

**'बहिश्चेतना जागृत जग में, अंतर्मानव निद्रित,**
**भौतिक वैभव औ' आत्मिक ऐश्वर्य नहीं संयोजित,**
**दर्शन औ' विज्ञान विश्व जीवन में नहीं समन्वित।'** (वही-१९)

वह भौतिक वैभव को आत्मिक ऐश्वर्य से समन्वित देखना चाहता है, तभी मानव पुनः महिमान्वित हो सकेगा अन्यथा नहीं। उसका पूर्ण विश्वास है कि वही सत्य मानव-जीवन का ठीक-ठीक परिचालन कर सकता है, भूतवाद जिसका शरीर हो और अध्यात्म-वाद जिसका हृदय—

**'वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,**
**भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,**
**औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गंभीर चिरन्तर।'**

(स्वर्णधूलि, पृ० १०२)

इसलिए आज समाज-कल्याण के लिए मानव-मन को अंतर्मुखी करने की अत्यधिक आवश्यकता है—

---

१. देखिये, उत्तरा की भूमिका, पृ० ३।
२. वही, पृ० २२।

"आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख।" (वही)

तभी यहाँ सच्ची मानवता स्थापित हो सकेगी, तभी हम सच्चे मानव कहला सकेंगे। कवि स्पष्ट कहता है—

'एक हम मानव हैं
भिन्न हम दानव हैं।' (स्वर्णधूलि, पृ० ९७)

इस प्रकार पंतजी मानव-जगत मे जिस एकत्व और समत्व की स्थापना की बात कहते हैं वह अरविन्द के माध्यम से अवतरित वैदिक-अद्वैतवाद का ही व्यावहारिक पक्ष है जो व्यक्ति और विश्व, अध्यात्म और भूत, जड़ और चेतन, ऊर्ध्व और सम यथार्थ और आदर्श, अन्तर और वहिर् जीवन के सभी पक्षों में समन्वय का कामी है। कवि वैदिकता से इतना अधिक प्रभावित है कि उसने वेद-मंत्रों का भावानुवाद तक प्रस्तुत किया है—वेद के निम्न मंत्र—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योअभिचाकशीति॥' (ऋ० १,१६४,२०)

का कवि द्वारा प्रस्तुत भावानुवाद देखिये—

'दो पक्षी हैं : सहज सखा संयुक्त निरन्तर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर।
एक ले रहा पिप्पल फल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन, दूसरा देखता अन्तर्लोचन।
दो सुहृदों-से मर्त्य अमर्त्य सयोनिज होकर
भोगेच्छा से ग्रसित भटकते नीचे ऊपर,
सदा साथ रह, लोक लोक में करते विचरण,
ज्ञात मर्त्य सब को, अज्ञात अमर्त्य चिरन्तन।'

(स्वर्णकिरण, पृ० ६५)

इसी प्रकार वेद के इस मंत्र का—

'चत्वारि शृंगाः त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश।' (ऋग्वेद ४,५८,३)

भावानुवाद देखिये—

'महादेव वह : सत्य : पुरुष औ' प्रकृति शीर्ष द्वय,
चतुःशृंग सच्चिदानन्द विज्ञान ज्योतिमय
सप्त चेतना-लोक हस्त उसके निःशंसय,
महादेव वह : सत्य : ज्योति का वृष वह निश्चय।
सत रज तम से त्रिधा बद्ध, पद अन्न प्राण मद,
मर्त्य लोक में कर प्रवेश वह करता रेभण।'

(स्वर्णधूलि, पृ० २)

उन्होंने वेद के निम्न मंत्र--

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निर्यमंमातरिश्वानमाहुः ।'
(ऋग्वेद १,१६४,४६)

का भी भावानुवाद प्रस्तुत किया है--

'इन्द्र देव तुम, स्वयंभू सत्य सर्वज्ञ दिव्य मन ।
× × ×
तुम्हीं अग्नि हो, सप्तजिह्व, अति दिव्य तपस द्युति
× × ×
'दिव्य वरुण तुम, अकलुष, विस्तृत आभा सागर,
× × ×
तुम्हीं मित्र हो, ज्योति प्रीति की शक्ति समन्वित,
× × ×
तुम्हीं सूर्य, आलोक वर्ण, ऋत चित के ईश्वर,
× × ×
तुम हो एक, स्वरूप तुम्हारे ही सब निश्चित,
तुम विप्रों से बहुधा बहु नामों से कीर्तित ।' (स्वर्णधूलि, पृ० १२-१३)

इसी प्रकार पंतजी ने अन्य वैदिक देवताओं अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम आदि पर वेद में आई हुई उन-उन विशेषताओं की सापेक्षता में बड़ी ही भावमय कविताएँ लिखी हैं जो उनकी वैदिक-वाङ्मय और वैदिक-दर्शन के प्रति विशिष्ट रुचि को प्रदर्शित करती हैं। वैदिक-साहित्य के प्रति उनकी यह रुचि आकस्मिक नहीं रह गयी है। प्रत्युत उनके मानस-जगत् का एक विशिष्ट अंग बन गई है। पंतजी के नूतन-काव्य में उनके भावों का गम्भीर धरातल ही नहीं साधारण धरातल भी वैदिक भावों की अनुकूलता ग्रहण किए हुए है।

**पंतजी की अंतिम रचनाएँ**--पंतजी की अंतिम रचनाओं में भी दर्शन और रहस्य की प्रवृत्ति निरन्तर प्रगाढ होती गई है। श्री अरविन्द की व्याख्याओं का प्रभाव अब और भी गहरा हो गया है। दिव्य चेतना के अवरोहण और भौतिक चेतना के ऊर्ध्व संचरण का रहस्यपरक वर्णन पिछली रचनाओं की अपेक्षा उत्तरा, अतिमा और वाणी में काव्य का प्रमुख विषय है। पर साथ ही ब्रह्म और जीवात्मा-सम्बन्धी चिन्तन भी मिलता है। अभिव्यक्ति की शैली में थोड़ा परिवर्तन भी हुआ है। कवि अब प्रतीकों की भाषा में अपनी बात कहने लगा है--

ब्रह्म-तत्व--ब्रह्म की चर्चा करते हुए कवि कहता है--

'तुम आये गए, जगत् का छल
तुम हो तुम होगे, सत्य अटल
रीता हो भरे धरा अचल
तुम परे अचिर चिर से-सुन्दर ।' (उत्तरा-१४०)

परम-तत्व के आने-जाने में ब्रह्म का चेतन विकास स्पष्ट है कि जगत् की प्रवंचना अथवा भ्रम भी ईश्वर ही है। वह सनातन सत्य है जिसकी अभिव्यक्ति से धरती में संस्कृति का ह्रास और विकास होता रहता है। वह तत्व चिर और अचिर दोनों से परे है। यह ब्रह्म की निर्विशेषता और अनिर्वचनीयता है जो उसका उच्चतम स्वरूप है। वह सुन्दर है। इस प्रकार यहाँ सच्चिदानन्द की स्थापना के साथ-साथ उसकी अनिर्वचनीयता भी स्वीकार की गई है। उपनिषदों में भी और श्री अरविन्द ने भी ब्रह्म को इन दोनों रूपों में स्वीकार किया है। उसका उच्चतम भावात्मक रूप जहाँ तक मानव-बुद्धि पहुँच सकती है, वह सच्चिदानन्द है, मानव के क्षेत्र से परे भी उसका रूप है, अतः वह अनिर्वचनीय है। अन्यत्र कवि धरती और स्वर्ग दोनों को ईश्वर के ही अंश बताता है—

> 'दोनों तुम में पूर्ण हुए अब
> बन मन काया,
> बाहर भीतर ऊपर नीचे
> पात्र तुम्हीं अभिनय में।' (उत्तरा, पृ० १२८)

यहाँ कवि धरती और स्वर्ग, वर्तमान और भविष्य दोनों को ही ईश्वर की अभिव्यक्ति मानता है और वह उसे सर्वत्र व्यापक देखता है। यह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अथवा 'एकमेवाद्वितीयम्' अथवा 'पुरुष एवेदं सर्वं' की ही प्रतिध्वनि है। अन्यत्र कवि ब्रह्म और जगत् का वर्णन करते हुए कहता है—

> 'पूर्ण तत्व वह पूर्ण तत्व यह
> पूर्ण उसी से व्याप्त चराचर।' (वाणी, पृ० ९४)

इस अवतरण में और उपनिषदों के निम्न मन्त्र में—

> 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
> पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'[1]

भाव और शैली दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त साम्य है। वह ब्रह्म भी पूर्ण है उससे व्याप्त यह जगत् भी पूर्ण है, पूर्ण का पूर्ण लेकर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रह गया। यही भाव अतिमा की एक अन्य रचना में भी व्यक्त हुआ है। (पृ० ६५) 'कला और बूढ़ा चाँद' में भी ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसे कलुष स्पर्श नहीं करता, वह शब्द और द्वन्द्व के बन्धन से भी परे है। सृष्टि के सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी उपमान अपूर्ण हैं, वह नाम-रूप से परे, अन्तःस्थित और मूल्यों का भी मूल्य है। (पृ० १५०-५१) वह स्वयं साधक के हृदय में विद्यमान है। (अतिमा-४६)

**जीवात्मा**—जीवात्मा के उपनिषद्-सम्मत स्वरूप की चर्चा यहाँ भी वर्तमान है, पर किंचित् विशिष्टता लिए हुए। कवि यहाँ देही के साथ देह के अस्तित्व को

---

१. बृह० उ० ५, १, १।

उन्होंने वेद के निम्न मंत्र—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निर्यमंमातरिश्वानमाहुः ।'
(ऋग्वेद १,१६४,४६)

का भी भावानुवाद प्रस्तुत किया है—

'इन्द्र देव तुम, स्वयंभू सत्य सर्वज्ञ दिव्य मन ।
× × ×
तुम्हीं अग्नि हो, सप्तजिह्व, अति दिव्य तपस द्युति
× × ×
'दिव्य वरुण तुम, अकलुष, विस्तृत आभा सागर,
× × ×
तुम्हीं मित्र हो, ज्योति प्रीति की शक्ति समन्वित,
× × ×
तुम्हीं सूर्य, आलोक वर्ण, ऋत चित के ईश्वर,
× × ×
तुम हो एक, स्वरूप तुम्हारे ही सब निश्चित,
तुम विप्रों से बहुधा बहु नामों से कीर्तित ।' (स्वर्णधूलि, पृ० १२-१३)

इसी प्रकार पंतजी ने अन्य वैदिक देवताओं अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम आदि पर वेद में आई हुई उन-उन विशेषताओं की सापेक्षता में बड़ी ही भावमय कविताएँ लिखी हैं जो उनकी वैदिक-वाङ्मय और वैदिक-दर्शन के प्रति विशिष्ट रुचि को प्रदर्शित करती हैं। वैदिक-साहित्य के प्रति उनकी यह रुचि आकस्मिक नहीं रह गयी है। प्रत्युत उनके मानस-जगत् का एक विशिष्ट अंग बन गई है। पंतजी के नूतन-काव्य में उनके भावों का गम्भीर धरातल ही नही साधारण धरातल भी वैदिक भावों की अनुकूलता ग्रहण किए हुए है।

**पंतजी की अंतिम रचनाएँ**—पंतजी की अंतिम रचनाओं में भी दर्शन और रहस्य की प्रवृत्ति निरन्तर प्रगाढ होती गई है। श्री अरविन्द की व्याख्याओं का प्रभाव अब और भी गहरा हो गया है। दिव्य चेतना के अवरोहण और भौतिक चेतना के ऊर्ध्व संचरण का रहस्यपरक वर्णन पिछली रचनाओं की अपेक्षा उत्तरा, अतिमा और वाणी में काव्य का प्रमुख विषय है। पर साथ ही ब्रह्म और जीवात्मा-सम्बन्धी चिन्तन भी मिलता है। अभिव्यक्ति की शैली में थोड़ा परिवर्तन भी हुआ है। कवि अब प्रतीकों की भाषा में अपनी बात कहने लगा है—

**ब्रह्म-तत्व**—ब्रह्म की चर्चा करते हुए कवि कहता है—

'तुम आये गए, जगत् का छल
तुम हो तुम होगे, सत्य अटल
रीता हो भरे धरा अचल
तुम परे अचिर चिर से-सुन्दर ।' (उत्तरा-१४०)

परम-तत्व के आने-जाने में ब्रह्म का चेतन विकास स्पष्ट है कि जगत् की प्रवंचना अथवा भ्रम भी ईश्वर ही है। वह सनातन सत्य है जिसकी अभिव्यक्ति से धरती मे संस्कृति का ह्रास और विकास होता रहता है। वह तत्व चिर और अचिर दोनों से परे है। यह ब्रह्म की निर्विशेषता और अनिर्वचनीयता है जो उसका उच्चतम स्वरूप है। वह सुन्दर है। इस प्रकार यहाँ सच्चिदानन्द की स्थापना के साथ-साथ उसकी अनिर्वचनीयता भी स्वीकार की गई है। उपनिषदों में भी और श्री अरविन्द ने भी ब्रह्म को इन दोनों रूपों में स्वीकार किया है। उसका उच्चतम भावात्मक रूप जहाँ तक मानव-बुद्धि पहुँच सकती है, वह सच्चिदानन्द है, मानव के क्षेत्र से परे भी उसका रूप है, अतः वह अनिर्वचनीय है। अन्यत्र कवि धरती और स्वर्ग दोनों को ईश्वर के ही अंश बताता है—

**'दोनों तुम में पूर्ण हुए अब**
**बन मन काया,**
**बाहर भीतर ऊपर नीचे**
**पात्र तुम्हीं अभिनय में।'** (उत्तरा, पृ० १२८)

यहाँ कवि धरती और स्वर्ग, वर्तमान और भविष्य दोनों को ही ईश्वर की अभिव्यक्ति मानता है और वह उसे सर्वत्र व्यापक देखता है। यह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अथवा 'एकमेवाद्वितीयम्' अथवा 'पुरुष एवेदं सर्वं' की ही प्रतिध्वनि है। अन्यत्र कवि ब्रह्म और जगत् का वर्णन करते हुए कहता है—

**'पूर्ण तत्व वह पूर्ण तत्व यह**
**पूर्ण उसी से व्याप्त चराचर।'** (वाणी, पृ० ९४)

इस अवतरण में और उपनिषदों के निम्न मन्त्र में—

**'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'**[1]

भाव और शैली दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त साम्य है। वह ब्रह्म भी पूर्ण है उससे व्याप्त यह जगत् भी पूर्ण है, पूर्ण का पूर्ण लेकर भी पूर्ण ही अवशिष्ट रह गया। यही भाव अतिमा की एक अन्य रचना में भी व्यक्त हुआ है। (पृ० ६५) 'कला और बूढ़ा चाँद' में भी ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुए कवि कहता है कि उसे कलुष स्पर्श नहीं करता, वह शब्द और द्वन्द्व के बन्धन से भी परे है। सृष्टि के सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी उपमान अपूर्ण हैं, वह नाम-रूप से परे, अन्तःस्थित और मूल्यों का भी मूल्य है। (पृ० १५०-५१) वह स्वयं साधक के हृदय में विद्यमान है। (अतिमा-४६)

**जीवात्मा**—जीवात्मा के उपनिषद्-सम्मत स्वरूप की चर्चा यहाँ भी वर्तमान है, पर किंचित् विशिष्टता लिए हुए। कवि यहाँ देही के साथ देह के अस्तित्व को

---

१. बृह० उ० ५, १, १।

स्वीकार कर दोनों के समन्वय से जीवन को शोभन बनाने का उल्लेख करता है। कवि का कथन है—

> "निश्चय रे आत्मा अक्षय धन,
> वह अनन्त के पावक का कण
> जड़ चेतन की धूप छाँह से
> जीवन शोभा का मुख गुंठित।
> आत्मा मुक्त, भोग प्रिय तन मन,
> पूर्ण बनो हे, प्रीति युक्त बन,
> आत्मा कर इन्द्रिय मन को
> इन्द्रिय मन कर आत्मा को अर्पित।" (वाणी, पृ० १२)

'सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंग' (मु० २,१,१) के अनुसार आत्मा को अनन्त के पावक का कण और मुक्त स्वरूप वाला कहना तो स्पष्ट ही औपनिषदिक है, पर आत्मा और देह के समन्वय का दृष्टिकोण श्री अरविन्द की उपनिषदों की व्याख्याओं से प्रभावित होकर आया है।[1] अन्यत्र भी कवि मानव-चैतन्य-शिखा को ब्रह्म का भास्वर नवनीत कहकर उसकी चिन्मयता का प्रतिपादन करता है। (वाणी, पृष्ठ ६४)

**अद्वैत भावना**—कवि की अद्वैत की अनुभूति यहाँ भी निरन्तर बनी हुई है। कवि बड़ी सशक्त शैली में आत्मा-परमात्मा के अद्वैत का वर्णन करते हुए कहता है कि—वह ' 'परमात्म-तत्व' इतिहास, दर्शन और विज्ञान इन सबसे परे है और यह 'आत्म-तत्व' भी शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से परे है, ये परमात्म और आत्म-तत्व काल-शून्य हैं और यह आत्म-तत्व ही परमात्म-तत्व है।'[2] कवि ने इस स्थल पर उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' महावाक्य को ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्रदान की है। यही तथ्य एक अन्य रचना में इस प्रकार व्यक्त किया है कि—'मैं अनेकों में एक और एक में अनेक हूँ, मैंने जब अपने को ध्यान से देखा, उलटा-पलटा और परखा तो तुम्हीं निकले।'[3]

वेदान्त के प्रतिविम्बवाद के अनुरूप अभिव्यक्ति करते हुए[4] कवि ने एक स्थल पर कहा है कि—'सूर्य, चन्द्रमा और मन प्रकाश के रूप-टुकड़े हैं, इन प्रकाश-रूप दर्पण के टुकड़ों में एक ही छवि है, अपनी छवि।'[5]

**रहस्य-भावना**—पन्तजी की अन्तिम रचनाओं में जिज्ञासा और उत्कण्ठा की वृत्ति न्यूनातिन्यून होती चली गई है और उसके स्थान पर, रहस् स्पर्श की अनुभूति, भौतिक

---

१. देखिये, इसी अध्याय का पृष्ठ ४०४-५।
२. कला और बूढ़ा चाँद, पृष्ठ १०६।
३. वही, पृष्ठ १६५-६६।
४. इसी प्रवन्ध का पृ० ८०-८२।
५. कला और बूढ़ा चाँद, पृष्ठ १३७।

चेतना के निचले स्तरों पर ऊर्ध्व चेतन-स्तरों से झरने वाले प्रकाश और आनन्द की धाराओं से उत्पन्न मस्ती और चेतना के दिव्यीकरण के वर्णन अधिक हैं। वस्तुतः यह साधक के अपने साध्य के निकट तक पहुँच जाने की स्थिति है जहाँ केवल आनन्द और प्रकाश ही रह जाता है।

कवि एक स्थल पर जिज्ञासा की भावना से प्रेरित हुआ प्रश्न करता है कि—

"कौन भेजता मौन निमन्त्रण
मुझे निभृत देने हृदयासन,
स्वप्नों के पट में लपेट उर,
तन मन करता शीतल।" (उत्तरा, पृ० १००)

कवि उस शक्ति को जानने का इच्छुक है जो मौन-निमंत्रण भेज कर उस के तन-मन को शीतल कर देती है।

**अवरोहण**—चेतना के ऊर्ध्व शृंगों (विज्ञानमयकोश) से अवतरित प्रकाश द्वारा कवि का मन एक अद्भुत आनन्दमय कम्पन, उद्वेलन एवं स्पन्दन का अनुभव करता है जिसकी अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों मे द्रष्टव्य है—

"मैं देख रहा हूं,—
वह ज्योति-मेघ अब
उतरा हृदय शिखर पर
प्राणों में स्वर्णिक
इन्द्र धनुष प्रभ
स्वप्नों का पावक भर।" (उत्तरा, पृ० ३६)

पन्तजी का यह वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् की पंचकोशों की श्री अरविन्द की व्याख्या से प्रभावित होकर आया है। पीछे अरविन्द-दर्शन के प्रसंग में यह दिखा आए हैं कि श्री अरविन्द का 'ऊर्ध्व चेतन' उपनिषदों का 'विज्ञानमय' कोश है। जब जीवात्मा साधना द्वारा इस स्तर तक अपनी चेतना को उन्नत बना लेता है तो उसे अश्रुतपूर्व-अनुभूतियाँ होने लगती हैं। वह अपनी भौतिक-सत्ता में उपरले स्तरों से दिव्य प्रकाश को उतरते हुए अनुभव करता है। श्री अरविन्द के शब्दों में इस स्थिति को अवरोहण (इन्वोल्यूशन) कहते हैं। कवि अनुभव करता है कि एक ज्योति-मेघ उसके हृदय-शिखर पर उतर प्राणों को स्वर्णिम आभा से ओत-प्रोत किए दे रहा है। यह वर्णन निश्चय ही अरविन्द के अवरोहण (इन्वोल्यूशन) से प्रभावित है। इसी प्रकार कवि ने वाणी में—'जीवन के स्तर पर जड़ भू पर उतर रहा चैतन्य अनावृत !' कह कर वही बात कही है। इसी प्रकार पन्तजी ने चेतना के आरोहण-सम्बन्धी कई स्पष्ट चित्र भी इन रचनाओं में दिए हैं। एक चित्र में कवि कहता है—

"यह प्रतिमा—
तन से जा बाहर
जग जीवन की रज लिपटा कर

उपचेतन की कर्दम में धंस
घायल खोहों में घुस हँस-हँस
अन्धकार को छेड़ जगाती।
यह अतिमा
मन से उठ ऊपर
पंख खोल शोभा क्षितिजों पर
स्वर्ण नील आरोहों को तर
गंध शुभ्र रज साँसों में भर,
गीतों के निःस्वर झरनों में,
स्वप्न द्रवित सुरधनु वर्णों में
अन्तर शिखरों को नहलाती।" (अ

अतिमा वह प्रकाश-किरण है जो अन्धकार को छेड़ती है,
को विकसित करती है, अतः कवि अतिमा को चेतना की ज्योति के रूप में ग्रहण करता है। चेतना की किरण जड़, अन्धकार और अवचेतन के निचले समुद्र से चलकर मन के अचेतन स्तरों से ऊपर उठकर, शोभा के क्षितिजों और स्वर्ण नील आरोहों को भी पार कर ऊर्ध्व स्तरों की ओर विकसित होने जा रही है।

चेतना के अवरोहण-आरोहण का उपरोक्त वर्णन ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के ऋषि वामदेव के उस वर्णन से प्रभावित है जहाँ वह नीचे उठकर ऊपर जाती हुई और ऊपर की ओर से नीचे आती हुई आनन्द की लहर का वर्णन करता है जो मन को, भौतिक-सत्ता को अपने पावित्र्य से पवित्र कर देती है।[1]

कवि ने चेतना के ऊर्ध्व-सोपानों पर आरोहण से उत्पन्न आनन्दमयी स्थिति का भी वर्णन किया है। इस वर्णन के अन्तर्गत कवि रहस्यमय अनुभवों के क्षणों को गीतों में बाँधता है। अन्तःप्रकाश के उदित होने पर चेतना के रूपान्तरण का वर्णन द्रष्टव्य है—

"सिमट गई जीवन तम छाया
जाग गया मन, सोई, काया
उतर प्रकाश तुम्हार आया
मोह भार से मुक्त हृदय में
लगा हर्ष नव कंपने।" (उत्तरा, पृ० १२६)

---

१. समुद्रादूर्मिर्मधुमां उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्। ऋग्वेद ४,५८,१।
सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः। ऋ० ४,५८,६।
धामन्ते विश्वं भुवनमधिश्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम्। ऋ० ४,५८,११।
देखिये, श्री अरविन्द : वेद रहस्य-भाग-१, अध्याय ११ 'समुद्रों और नदियों के रूपक' के अन्तर्गत इन मन्त्रों की व्याख्या तथा इस अध्याय का पृष्ठ ४०२-३।

और तब सभी विभेद विस्मृत हो गए, 'स्व' पर का अन्तर जाता रहा, अन्तरमन में स्वर्णिम नूपुर-ध्वनि बज उठी। (अतिमा, पृ० ७५) मन के भीतर नवीन स्वर्णिम क्षितिजों के वातायन खुल गए, प्रकाश की निर्मल धाराएँ झरने लगीं, जग के तम के साथ 'मैं' का भ्रम भी लय हो गया, मन निर्भय होकर उन अवाक् आरोहों पर उड़ने लगा जहाँ शुभ्रसच्चिदानन्द के अतन्द्रित शिखर थे, सम्पूर्ण चेतना उस अपनी असीम शाश्वत शोभा में निमग्न हो गई जो मानव-मन की अन्तिम गति है, आत्मा की परिणति है।[1] इस प्रकार यहाँ कवि उस दिव्य स्पर्श का वर्णन प्रस्तुत करता है जिसके प्रभाव से पंकिल मति भी निर्मल हो उठती है, और शेष रह जाता है केवल 'मैं' 'आत्मतत्व।'

इस स्थल पर कवि जिस स्थिति का वर्णन कर रहा है वह उपनिषदों की अद्वैतावस्था की स्थिति है, मानव की चेतना का उच्चतम शिखर आनन्दमय कोश है, जहाँ शाश्वत शोभा विलसित होती है, जो मानव-मन का चरम गन्तव्य है, यह वह स्पर्शमणि है जिसके छूने मात्र से ही चेतना का अयस् स्वर्ण में परिणत हो जाता है, जहाँ सांसारिक अविद्या के अस्तित्व-लोप के साथ-साथ 'आत्म'—'पर' का भ्रम भी विलीन हो जाता है, जहाँ केवल मात्र रह जाता है 'आत्मभात्र', 'आनन्द ही आनन्द' जीव की मुक्तावस्था।

**सिंहावलोकन**—पंतजी की काव्य-साधना का आयाम १९१८ से १९५८ तक लगभग ४० वर्ष तक विस्तृत है। वे बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध को पूर्णरूपेण आवृत किए हुए है। प्रारम्भ में वे अपनी प्रथम कृति 'वीणा' लेकर काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए थे और सन् १९५९ में उनकी आधुनिकतम कृति 'कला और बूढ़ा चाँद' प्रकाश में आई। 'वीणा' (१९१८) से लेकर 'कला और बूढ़ा चाँद' तक उनके काव्य के विषय और अभिव्यक्ति की शैली में क्रमिक विकास के दर्शन होते हैं। पंतजी के आलोचकों ने इस आधार पर उनके काव्य को तीन भागों में विभाजित करके देखने का प्रयत्न किया। वीणा से युगांत तक 'छाया काव्य', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगति काव्य और 'युगान्तर' तथा 'स्वर्णकिरण' (१९४७) से लेकर इधर तक के सम्पूर्ण काव्य को स्वर्ण-काव्य के अन्तर्गत रखकर अध्ययन किया। 'कला और बूढ़ा चाँद' नामक उनकी इधर की रचना को कतिपय आलोचकों ने प्रयोगवादी काव्य के अन्तर्गत रखने का प्रयत्न किया है। उपरली दृष्टि से पंतजी की कृतियों का उपरोक्त विभाजन भले ही ठीक प्रतीत हो, पर आन्तरिक दृष्टि से उनका सम्पूर्ण काव्य आध्यात्मिक काव्य है, दार्शनिक और रहस्यपरक है। पर उनकी यह आध्यात्मिकता किसी मतवाद के कठोर कठघरे में बन्द साम्प्रदायिक आध्यात्मिकता से मेल नहीं खाती—वह औपनिषदिक और वैदिक ऋषियों द्वारा अनुभूत व्यापक सत्यों पर आधारित है। जिसका व्याख्यान आधुनिक युग में स्वामी रामकृष्ण, उनके शिष्य विवेकानन्द और योगी

१. अतिमा, पृ० २०।

अरविन्द ने व्यावहारिक धरातल पर किया था। 'वीणा' में ही पंतजी की रहस्य-भावना काव्य-पटल पर उभर कर आई। 'पल्लव' में तो वह लगभग दार्शनिक हो चला है 'गुँजन' और 'ज्योत्स्ना' तक आते-आते उनके दर्शन का सामाजिक भावना से भी परिणय हो गया। इस प्रकार उनकी आध्यात्मिकता समाज-निरपेक्ष न होकर समाज-सापेक्ष होती चली गई। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में उनका दर्शन समाज के व्यावहारिक धरातल पर आकर विचरण करने लगा। मार्क्स और गाँधी दोनों के समन्वित दृष्टिकोण को समाज के लिए उपयोगी जानकर काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी। अध्यात्म का अंचल कवि के हाथ से यहाँ भी नहीं छूटा है। पर युगान्तर और उसके बाद के काव्य में कवि फिर अपने ऊर्ध्व मानों की ओर लौट पड़ा। श्री अरविन्द की वैदिक व्याख्याओं के माध्यम से उसने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को और भी अधिक स्वस्थ, संतुलित, व्यापक और पूर्ण बनाया। उन्हें कोरी आध्यात्मिकता कभी अभीष्ट नहीं रही और न कोरी भौतिकता ही। वे धरती पर से उठकर किसी स्वर्ग-खण्ड में जाने की अपेक्षा धरती पर ही स्वर्ग की स्थापना करने के पक्षपाती थे। आध्यात्मिकता के निमित्त धरती के जीवन की उपेक्षा और तिरस्कार उन्हें अर्ध-सत्य प्रतीत होता था। उन्होंने स्वयं कहा है—

> **"जड़ से चेतन, जीवन से मन,**
> **जग से ईश्वर को विमुक्त कर**
> **जिस चिंतक ने भी युग दर्शन**
> **दिया भ्रांति वश जन मन दुस्तर,—**
> **किया अमंगल उसने भू का**
> **अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन,**
> **जड़ चेतन, जीवन मन आत्मा**
> **एक, अखण्ड अभेद्य संचरण।"** **(वाणी, पृ० १२५)**

जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करने वाले शंकर का 'मायावाद' उन्हें कभी नहीं रुचा

> **"शंकर भी (प्रच्छन्न बौद्ध से)**
> **कर अवाच्य माया का घोषणा**
> **ब्रह्म सत्य के अर्ध सत्य में**
> **उलझा गए विमुख कर जन-मन।"** **(वही, पृ० १२२)**

स्पष्ट है, पंतजी ब्रह्म-सत्य और भूत-सत्य दोनों का स्वीकार करते हैं। वे लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस दोनों का समर्थन करते हैं। अपने समस्त काव्य में उन्होंने इन दोनों पक्षों के समन्वय का सत्य उपस्थित किया है। उनका काव्य जीवन के सम्पूर्ण सत्य को अभिव्यक्ति देता है। उनकी समन्वय की भावना तुलसी के समन्वित दृष्टिकोण से भी अधिक विराट् है। इस प्रकार पंतजी एक साथ प्रकृति के उपासक, दार्शनिक, रहस्यवादी, सौन्दर्य-द्रष्टा और स्रष्टा, तथा मानवतावादी, सभी रूपों को लिए हुए हैं। उन्होंने अपने काव्य की विराट् पृष्ठ-भूमि पर दर्शन के अतिरिक्त लोक-मंगल की जिस उदात्त भावना का गुम्फन किया है वह वस्तुतः स्तुत्य और प्रशंसनीय है।

अष्टम अध्याय

# महादेवी के काव्य पर वैदिक दर्शन का प्रभाव

## महादेवी और उनका वैदिक साहित्य से सम्पर्क

'सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी ! प्रिय के अनन्त अनुराग भरी।'[1] कहकर किसी अज्ञात, अव्यक्त प्रियतम के प्रति अनन्त अनुराग प्रकट करने वाली अमर सुहागिनी महादेवी, आधुनिक कविता-कानन की ऐसी कोकिला हैं जिनके मृदुल-कोमल कण्ठ से शत-शत मधुर गीत फूटकर निकले हैं, जिनकी अश्रुत-पूर्व मधुरिमा से हिन्दी-काव्य का समस्त उपवन झंकृत हो उठा। महादेवी के गीतों में एक ऐसी कसक और टीस है, एक ऐसी वेदना और पीड़ा है, जो सीधे सहृदय के हृदय को छूकर वेदनामय बना देती है, उसके मर्म को मोम-सा पिघला कर रससिक्त कर देती है। उनके गीतों में वेदना की इतनी अधिक तीव्रता है कि आलोचक-वृन्द उन्हें आधुनिक काव्य की मीरा तक कहने में संकोच नहीं करते। और सचमुच उनके गीतों में वह चुभन विद्यमान है जो उन्हें मीरा के समकक्ष अवश्य बिठा देती है। मीरा का जीवन जिस प्रकार षोडशकला सम्पन्न भगवान् कृष्ण के प्रति चिर-समर्पित था और जिसके प्रेम में वे इतनी दीवानी हो गई थीं कि उनके दर्द की संभवत: ही कोई कल्पना कर सकता हो, उसी प्रकार महादेवी का समस्त जीवन भी एकमात्र असीम, अव्यक्त ब्रह्म-रूप प्रियतम के प्रति चिर-निवेदित है। उनका ब्रह्म कोई सगुण-साकार लौकिक प्राणी नहीं है, वह एक तथा अव्यक्त और अखण्ड है, चिर अक्षय है इसीलिए उनका स्वयं को अमर सुहागभरी कहना भी सार्थक प्रतीत होता है। अत: ब्रह्म के प्रति निवेदित उनके प्रणय-गीतों में रहस्य-भावना सहज ही समाविष्ट हो गई। इस दृष्टि से उनकी अनुभूति भी लौकिक न होकर अलौकिक ही है, पर लौकिक प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त हुई है। इस कारण से उनके कतिपय आलोचकों को उनके गीतों में वासना की गंध आई है और उनकी वेदना में मानसिक दमन और अतृप्ति के दर्शन किए हैं। महादेवी के सम्बन्ध में दी गई इस प्रकार की सम्मतियाँ उनके मानसिक जगत् का तथा उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं करतीं।

---

१. सांध्य-गीत, पृ० ८५।

वह महादेवी जो बाल्यावस्था की दहलीज पार करते ही भिक्षुणी बनने की आकांक्षा प्रकट करे,[1] जिसका वैवाहिक-जीवन के प्रति तीव्र वैराग्यभाव जागृत हो जाए और जो अपनी आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति से उस विराट् के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर दे जो सदैव ही अखण्ड और एक है, उसका 'हृदय किसी लौकिक प्रणयी के लिए मचले'[2] यह कहना कुछ उचित प्रतीत नही होता। महादेवी ने इस सम्बन्ध में अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए स्वयं कहा है—'वैवाहिक-जीवन के प्रति विरक्ति की भावना के साथ-साथ उस विराट् के प्रति आत्म-समर्पण हो चुका था···आत्मसमर्पण पूर्ण ही था उसमें किसी व्यक्ति के लिए जगह रह ही नहीं गई थी···शारीरिक वासना जैसी चीज का तो मैने अनुभव ही नहीं किया और गृहस्थ बनने की इच्छा ही नहीं थी···मानसिक स्तर पर मेरे आत्म-निवेदन में साथ देने वाला वह विराट् व्यक्तित्व है ही। उसके जैसा संसार में छोड़ तीन हाथ का व्यक्ति और कौन मिल सकता था? संसार में किसी को भी वात्सल्य के अतिरिक्त और कुछ नही दे सकी।'[3] उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में अपने सम्बन्ध में व्यक्त की गई अनेक भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए आगे कहा है—"पाठक अपने मन में इस मान्यता को लेकर चलता है कि इस युग में कोई भी ऐसी स्त्री नहीं हो सकती जिसमें वासना और विलास की भावना न हो। बस वह यही निर्णय कर लेता है कि किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे यह निराश हुई है। पर बात ऐसी नहीं, किसी व्यक्ति के प्रति यह मन झुका ही नहीं, नहीं तो कोई बात थोड़े ही थी।···यदि किसी से ऐसे सम्बन्ध की भावना जगी होती तो मैं उसे अपना साथी बना ही लेती। समय से या किसी से डरने की बात नहीं थी। मेरे सम्बन्ध जिससे जैसे हो गए फिर उनमें परिवर्तन नहीं होता। डाक्टर से तो मेरे सब प्रकार के सम्बन्धों की अनुमति वेद मन्त्रों ने, माता-पिता ने, समाज ने, कानून ने दे दी थी, पर वे भी इस शरीर की छाया तक स्पर्श न कर पाते। दूसरे की बात ही क्या।"[4] महादेवी जी के उपरोक्त कथन से सुस्पष्ट है कि उनके मन में न तो पति के प्रति वासनाजन्य आसक्ति थी, न किसी अन्य लौकिक व्यक्ति के प्रति मोहजन्य आकर्षण। अत: जहाँ भोग की इच्छा नहीं वहाँ दमन का प्रश्न कैसा? जहाँ तृप्ति की लालसा ही नहीं वहाँ अतृप्ति के उद्वेग का काम क्या? जब मानस में लौकिक वासनाओं के प्रति उपरामता का, वैराग्य का दृढ भाव विद्यमान हो तथा मन जब किसी अव्यक्त असीम ब्रह्म के लिए चिर-समर्पित हो वहां मानसिक कुण्ठा के लिए स्थान कहां? हमारी दृष्टि में तो उनकी विरह-वेदना और उनका आत्म-निवेदन मानसिक कुण्ठा-जन्य न होकर उनके जन्मजात विरक्ति के संस्कारों से एवं दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन

---

१. देखिये, शिवचन्द्र नागर: महादेवी वर्मा: विचार और व्यक्तित्व, पृ० ६१-६२।
२. शचीरानी गुर्टू: साहित्य दर्शन, पृ० २११।
३. शिवचन्द्र नागर: महादेवी वर्मा: विचार और व्यक्तित्व, पृ० ६४।
४. देखिये, वही, पृ० ६५।

से उद्भूत है। यदि उन्होंने कण-कण में आँसुओं के मिस किसी का प्यार ढाला है और यदि उन्होंने अपनी पलकों में किसी का सुकुमार सपना पाला है तो वह असीम ब्रह्म-सम्बन्धी ही है। उन्होंने अपने हृदय का समस्त संचित प्यार उस अज्ञात पुरुष को समर्पित कर दिया जो 'अणोरणीयान्महतोमहीयान्' है। उन्होंने उन्हीं के चरणों में भाव-भरी सुमनांजलियाँ अर्पित की है जो अक्षर और अविनाशी हैं। हाँ वे अनुभूतियाँ लौकिक प्रतीकों के माध्यम से होकर काव्य की पीठिका पर प्रतिष्ठित हुई हैं, अतएव उनमें लौकिक प्रेम-जैसी तीव्रता देखने को मिलती है। कबीर और जायसी आदि कवियों में भी अलौकिक विरहजन्य अनुभूतियों को लौकिक प्रतीकों के माध्यम द्वारा ही अभिव्यक्ति प्रदान की है। पर उनकी अनुभूतियों के सम्बन्ध में किसी भी आलोचक के मन में काल्पनिकता अथवा मिथ्यात्व की बात उत्पन्न नहीं होती। फिर महादेवी जी के सम्बन्ध में ही, जिन्होंने अपना अब तक का समस्त जीवन तपस्विनियों की भाँति कर्मठता और अनासक्ति की छाया में व्यतीत किया है, ऐसी धारणा क्यों बना ली गई है कि उनकी अनुभूतियाँ काल्पनिक हैं, बौद्धिक है, उनमें साधना का अभाव है, आदि आदि।

जहाँ तक महादेवी जी के वैदिक-दर्शन और साहित्य से सम्पर्क का प्रश्न है, उस विषय में यह स्पष्ट है कि उन्होंने बी० ए० दर्शन-शास्त्र से किया था और एम० ए० संस्कृत से। जैसा कि अभी पीछे कहा जा चुका है कि उनको सांसारिक विषय-भोग, वैभव और ऐश्वर्य से जन्मतः विरक्ति था ही, अतः ऐसे विरक्त मन का दर्शन के प्रति झुक जाना सहज और स्वाभाविक ही था। बचपन में माँ के कण्ठ से निकले मीरा के गीतों और लोरियों ने भी उनके मानस में उस रहस्यमय के प्रति अव्यक्त सूत्र निर्मित करने प्रारम्भ कर दिये थे। किंचित् तरुणी होने पर उन्होंने उपनिषदों और वेद-मन्त्रों का भी अध्ययन किया और उनके चिन्तन-पक्ष से अत्यधिक प्रभावित भी हुई। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' से हुए इन्टरव्यू के अवसर पर उन्होंने कहा—"विदेशी लेखक मुझे कोई पसन्द नहीं। शेली, बॉयरन, आदि 'फिन-फिन' करते नजर आते हैं। उनमें मुझे कुछ भी मालूम नहीं पड़ता। मेरा सर्वप्रिय ग्रंथ तो ऋग्वेद है। इसकी प्रार्थनाएँ मुझे बहुत प्रिय हैं। मरुत के गीत बहुत सुन्दर लगते हैं. फिर ऊषा के गीत तो अच्छे हैं ही। मैंने उन गीतों में से कुछ के अनुवाद भी किए है। उनके बाद मुझे उपनिषद् प्रिय हैं।···मैं तो तुलसी की अपेक्षा कबीर को अधिक पसन्द करती हूँ। इस प्रकार विदेशी प्रभाव मेरे ऊपर बिल्कुल नहीं है। वह हो भी कैसे सकता है ? बचपन से तो संस्कृत पढ़ती रही और अंग्रेजी कवियों के पढ़ने से पहले ही 'नीहार' मैं लिख चुकी थी। वह मेरे ७, ८, ९ दर्जे की रचना है।"[1] 'दीपशिखा', की भूमिका तथा 'सप्तपर्णा' की भूमिका एवं आर्षवाणी के अन्तर्गत संकलित ऊषा, अग्नि, आदि वैदिक देवताओं तथा अन्य मन्त्रों के भावानुवाद उनके वैदिक-

1. पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' : मैं इनसे मिला, पृ० १२४-२५।

साहित्य के प्रति रुचि और उससे गृहीत प्रभाव को स्पष्टतः द्योतित करते हैं। दीपशिखा की भूमिका में उन्होंने वैदिक रहस्य-भावना पर चर्चा की है। सप्तपर्णा की भूमिका में भी उन्होंने अपने वैदिक साहित्य और दर्शन का अच्छा परिचय दिया है। वेद के सम्बन्ध में उनका कथन है—"कल्पनाशील सृजन-शक्ति का जैसा परिचय वेद में मिलता है वैसा कदाचित् ही अन्यत्र मिल सकेगा।"[१] वेदकाल का मानव भौतिक जीवन का भावुक कलाकार ही नहीं आत्मा का अमर शिल्पी है।[२] महादेवी जी वैदिक मरुत और ऊषा की रहस्यपरक सौन्दर्य छवियों से जितनी प्रभावित हैं उतनी ही नासदीय-सूक्त के दार्शनिक चिन्तन से भी। उन्होंने वेद की सौन्दर्यमयी कल्पना और रहस्यमय चिन्तन दोनों से ही प्रभाव ग्रहण किए हैं।

छायावाद में प्रकृति पर चेतना का आरोप कर उसे जीवित-जागृत देखने की जो प्रवृत्ति है वह भी वैदिक साहित्य में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। इस सम्बन्ध में महादेवी जी का कथन है—"इन देवताओं और प्रकृति पर आरोपित चेतना-खण्डों की कल्पना को, वैदिक कवि ने सौन्दर्य की जिन रेखाओं में बाँधा है वे तत्वतः भारतीय हैं। उनका अपने परिवेश से अविच्छिन्न सम्बन्ध ही उनकी सर्वमान्यता का कारण है। खण्ड सौन्दर्य को विराट् की पीठिका पर रखकर देखने का संस्कार गहरा है, अतः देवत्व से अभिषिक्त न होने पर भी वे खण्ड अपनी स्वतः दीप्ति से दीपित हो उठते हैं। पृथ्वी, नदी, अरण्य अपनी सत्ता विशेष के कारण ही जीवन के सहचर और किसी व्यापक अखण्ड के अंशभूत रहकर सार्थकता पाते हैं, वैदिक चिन्तक की तत्व-स्पर्शी दृष्टि, सृष्टि की असीम विविधता को पारकर एक तत्वगत-सूत्र खोज लेती है—

"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि।"[3]

और महादेवी जी के गीत-प्रसूनों से निर्मित मालिका में भी यही तत्वगत सूत्र पिरोया हुआ है जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

उपनिषदों के तत्व-चिन्तन ने भी महादेवी जी की रहस्य-भावना को प्रगाढता प्रदान की है। उनका समस्त काव्य उपनिषदों के अद्वैतवाद की दृढ पीठिका पर प्रतिष्ठित है।

स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ की वेदान्त-सम्बन्धी व्याख्याओं ने भी उन्हें लोक-मंगल की भावना की ओर प्रेरित किया है। संक्षेप में उनके सम्पूर्ण काव्य का मेरुदण्ड वैदिक सौन्दर्य-भावना और अद्वैत-परक तत्व-चिन्तन है जो उनके उपनिषदों के अध्ययन पर आधारित है।

---

१. सप्तपर्णा: भूमिका, पृ० १८।
२. वही, पृ० २०।
३. वही, पृ० २१।

## नीहार :

'नीहार' महादेवी जी की प्रारम्भिक रचनाओं का प्रथम संग्रह है जिसमें चिन्तन की वोझिलता से रहित और सहज भावों की अभिव्यक्ति से युक्त अनुभूति की प्रधानता है। उस समय उनके मन में जब जैसी अनुभूति जगी उसे उन्होंने ज्यों का त्यों विना प्रयास के कवितावद्ध कर दिया है। उन्होंने स्वयं स्वीकार करते हुए कहा है—"नीहार के रचनाकाल में मेरी अनुभूतियों में वैसी कुतूहल-मिश्रित वेदना उमड़ आती थी जैसे वालक के मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली ऊषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से हो जाती है।"[1] अतः नीहार में ब्रह्म और जीव-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन कम है उत्सुकता-मिश्रित वेदना अधिक है। तदपि अज्ञात के प्रति आकर्पण आरम्भ से ही विद्यमान है। वे कहती हैं—खोज जिसकी वह है अज्ञात। (पृ० ५८)

ब्रह्म—उपनिषद् इस परम तत्व को अज्ञात और अज्ञेय कहते हैं और महादेवी जी भी जिसकी खोज में लीन हैं वह भी अज्ञात है, इन्द्रिय, मन और वुद्धि की भी पहुँच से परे हैं। पर वह किसी अन्य लोक में नहीं स्वयं मानव की हृदय-गुहा में ही विद्यमान है—

"यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार
तुम मन में हो छिपे मुझे
भटकाता है सारा संसार।" (वही, पृ० ८५)

उसे सर्वशक्तिमान कहा गया है। सृष्टि का ह्रास और विकास उसी से है, सभी क्रियाओं के मूल में वही विद्यमान है। महादेवीजी ने इसी विचार को निम्न पंक्तियों में प्रकट किया है—

"तुम्हीं में रहता मूक वसन्त
अरे सूखे फूलों का हास।" (पृ० ६६)

उस असीम ब्रह्म को भावों के वन्धन में बाँधते हुए कभी उसे 'करुणेश' (पृ० १०) कभी 'देव', कभी 'अतिथि' (पृ० १३), कभी 'करुणामय' (पृ० २८), कभी 'नाविक' (पृ० ४५), कभी 'उदार' और 'छविमान' (पृ० ८२) और कभी उसे उपालम्भ देते हुए 'निर्मम' व 'निष्ठुर करतार' तक कह डाला है। पर 'नीहार' में उन्हें 'देव' सम्वोधन अधिक प्रिय रहा है। इस काल की रचनाओं में अपने प्रेमास्पद पर श्रद्धा और उसके गौरव का वोध अधिक है।

जगत्—'नीहार' के गीतों में जगत् के सम्वन्ध में महादेवीजी का दृष्टिकोण प्रायः निराशावादी है जो उपनिषदों के निषेधात्मक दर्शन पर आधारित है। वहाँ

---

१. सांध्य गीत : अपनी बात, पृ० ३।

साहित्य के प्रति रुचि और उससे गृहीत प्रभाव को स्पष्टतः द्योतित करते हैं। दीपशिखा की भूमिका में उन्होंने वैदिक रहस्य-भावना पर चर्चा की है। सप्तपर्णा की भूमिका में भी उन्होंने अपने वैदिक साहित्य और दर्शन का अच्छा परिचय दिया है। वेद के सम्बन्ध में उनका कथन है—"कल्पनाशील सृजन-शक्ति का जैसा परिचय वेद में मिलता है वैसा कदाचित् ही अन्यत्र मिल सकेगा।"[१] वेदकाल का मानव भौतिक जीवन का भावुक कलाकार ही नहीं आत्मा का अमर शिल्पी है।[२] महादेवी जी वैदिक मरुत और ऊषा की रहस्यपरक सौन्दर्य छवियों से जितनी प्रभावित हैं उतनी ही नासदीय-सूक्त के दार्शनिक चिन्तन से भी। उन्होंने वेद की सौन्दर्यमयी कल्पना और रहस्यमय चिन्तन दोनों से ही प्रभाव ग्रहण किए हैं।

छायावाद में प्रकृति पर चेतना का आरोप कर उसे जीवित-जागृत देखने की जो प्रवृत्ति है वह भी वैदिक साहित्य में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। इस सम्बन्ध में महादेवी जी का कथन है—"इन देवताओं और प्रकृति पर आरोपित चेतना-खण्डों की कल्पना को, वैदिक कवि ने सौन्दर्य की जिन रेखाओं में बाँधा है वे तत्वतः भारतीय हैं। उनका अपने परिवेश से अविच्छिन्न सम्बन्ध ही उनकी सर्वमान्यता का कारण है। खण्ड सौन्दर्य को विराट् की पीठिका पर रखकर देखने का संस्कार गहरा है, अतः देवत्व से अभिषिक्त न होने पर भी वे खण्ड अपनी स्वतः दीप्ति से दीपित हो उठते हैं। पृथ्वी, नदी, अरण्य अपनी सत्ता विशेष के कारण ही जीवन के सहचर और किसी व्यापक अखण्ड के अंशभूत रहकर सार्थकता पाते हैं, वैदिक चिन्तक की तत्व-स्पर्शी दृष्टि, सृष्टि की असीम विविधता को पारकर एक तत्वगत-सूत्र खोज लेती है—

"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि।"[3]

और महादेवी जी के गीत-प्रसूनों से निर्मित मालिका में भी यही तत्वगत सूत्र पिरोया हुआ है जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

उपनिषदों के तत्व-चिन्तन ने भी महादेवी जी की रहस्य-भावना को प्रगाढ़ता प्रदान की है। उनका समस्त काव्य उपनिषदों के अद्वैतवाद की दृढ़ पीठिका पर प्रतिष्ठित है।

स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ की वेदान्त-सम्बन्धी व्याख्याओं ने भी उन्हें लोक-मंगल की भावना की ओर प्रेरित किया है। संक्षेप में उनके सम्पूर्ण काव्य का मेरुदण्ड वैदिक सौन्दर्य-भावना और अद्वैत-परक तत्व-चिन्तन है जो उनके उपनिषदों के अध्ययन पर आधारित है।

---

१. सप्तपर्णा : भूमिका, पृ० १८।
२. वही, पृ० २०।
३. वही, पृ० २१।

## नीहार :

'नीहार' महादेवी जी की प्रारम्भिक रचनाओं का प्रथम संग्रह है जिसमें चिन्तन की बोझिलता से रहित और सहज भावों की अभिव्यक्ति से युक्त अनुभूति की प्रधानता है। उस समय उनके मन में जब जैसी अनुभूति जगी उसे उन्होंने ज्यों का त्यों बिना प्रयास के कवितावद्ध कर दिया है। उन्होंने स्वयं स्वीकार करते हुए कहा है—"नीहार के रचनाकाल में मेरी अनुभूतियों में वैसी कुतूहल-मिश्रित वेदना उमड़ आती थी जैसे बालक के मन में दूर दिखाई देने वाली अप्राप्य सुनहली ऊषा और स्पर्श से दूर सजल मेघ के प्रथम दर्शन से हो जाती है।"[1] अतः नीहार में ब्रह्म और जीव-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन कम है उत्सुकता-मिश्रित वेदना अधिक है। तदपि अज्ञात के प्रति आकर्षण आरम्भ से ही विद्यमान है। वे कहती हैं—खोज जिसकी वह है अज्ञात। (पृ० ५८)

ब्रह्म—उपनिषद् इस परम तत्व को अज्ञात और अज्ञेय कहते हैं और महादेवी जी भी जिसकी खोज में लीन हैं वह भी अज्ञात है, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की भी पहुँच से परे हैं। पर वह किसी अन्य लोक में नहीं स्वयं मानव की हृदय-गुहा में ही विद्यमान है—

"यह कैसी छलना निर्मम
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार
तुम मन में हो छिपे मुझे
भटकाता है सारा संसार।" (वही, पृ० ८५)

उसे सर्वशक्तिमान कहा गया है। सृष्टि का ह्रास और विकास उसी से है, सभी क्रियाओं के मूल में वही विद्यमान है। महादेवीजी ने इसी विचार को निम्न पंक्तियों में प्रकट किया है—

"तुम्हीं में रहता मूक वसन्त
अरे सूखे फूलों का हास।" (पृ० ६६)

उस असीम ब्रह्म को भावों के बन्धन में बाँधते हुए कभी उसे 'करुणेश' (पृ० १०) कभी 'देव', कभी 'अतिथि' (पृ० १३), कभी 'करुणामय' (पृ० २८), कभी 'नाविक' (पृ० ४५), कभी 'उदार' और 'छविमान' (पृ० ८२) और कभी उसे उपालम्भ देते हुए 'निर्मम' व 'निष्ठुर करतार' तक कह डाला है। पर 'नीहार' में उन्हें 'देव' सम्बोधन अधिक प्रिय रहा है। इस काल की रचनाओं में अपने प्रेमास्पद पर श्रद्धा और उसके गौरव का बोध अधिक है।

जगत्—'नीहार' के गीतों में जगत् के सम्बन्ध में महादेवीजी का दृष्टिकोण प्रायः निराशावादी है जो उपनिषदों के निषेधात्मक दर्शन पर आधारित है। वहाँ

---

१. सांध्य गीत : अपनी बात, पृ० ३।

साहित्य के प्रति रुचि और उससे गृहीत प्रभाव को स्पष्टतः द्योतित करते हैं। दीपशिखा की भूमिका में उन्होंने वैदिक रहस्य-भावना पर चर्चा की है। सप्तपर्णा की भूमिका में भी उन्होंने अपने वैदिक साहित्य और दर्शन का अच्छा परिचय दिया है। वेद के सम्बन्ध में उनका कथन है—"कल्पनाशील सृजन-शक्ति का जैसा परिचय वेद में मिलता है वैसा कदाचित् ही अन्यत्र मिल सकेगा।"[1] वेदकाल का मानव भौतिक जीवन का भावुक कलाकार ही नहीं आत्मा का अमर शिल्पी है।[2] महादेवी जी वैदिक मरुत और ऊषा की रहस्यपरक सौन्दर्य छवियों से जितनी प्रभावित हैं उतनी ही नासदीय-सूक्त के दार्शनिक चिन्तन से भी। उन्होंने वेद की सौन्दर्यमयी कल्पना और रहस्यमय चिन्तन दोनों से ही प्रभाव ग्रहण किए हैं।

छायावाद में प्रकृति पर चेतना का आरोप कर उसे जीवित-जागृत देखने की जो प्रवृत्ति है वह भी वैदिक साहित्य में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। इस सम्बन्ध में महादेवी जी का कथन है—"इन देवताओं और प्रकृति पर आरोपित चेतना-खण्डों की कल्पना को, वैदिक कवि ने सौन्दर्य की जिन रेखाओं में बाँधा है वे तत्वतः भारतीय हैं। उनका अपने परिवेश से अविच्छिन्न सम्बन्ध ही उनकी सर्वमान्यता का कारण है। खण्ड सौन्दर्य को विराट् की पीठिका पर रखकर देखने का संस्कार गहरा है, अतः देवत्व से अभिषिक्त न होने पर भी वे खण्ड अपनी स्वतः दीप्ति से दीपित हो उठते हैं। पृथ्वी, नदी, अरण्य अपनी सत्ता विशेष के कारण ही जीवन के सहचर और किसी व्यापक अखण्ड के अंशभूत रहकर सार्थकता पाते हैं, वैदिक चिन्तक की तत्व-स्पर्शी दृष्टि, सृष्टि की असीम विविधता को पारकर एक तत्वगत-सूत्र खोज लेती है—

"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि।"[3]

और महादेवी जी के गीत-प्रसूनों से निर्मित मालिका में भी यही तत्वगत सूत्र पिरोया हुआ है जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

उपनिषदों के तत्व-चिन्तन ने भी महादेवी जी की रहस्य-भावना को प्रगाढता प्रदान की है। उनका समस्त काव्य उपनिषदों के अद्वैतवाद की दृढ पीठिका पर प्रतिष्ठित है।

स्वामी विवेकानन्द और रामतीर्थ की वेदान्त-सम्बन्धी व्याख्याओं ने भी उन्हें लोक-मंगल की भावना की ओर प्रेरित किया है। संक्षेप में उनके सम्पूर्ण काव्य का मेरुदण्ड वैदिक सौन्दर्य-भावना और अद्वैत-परक तत्व-चिन्तन है जो उनके उपनिषदों के अध्ययन पर आधारित है।

---

१. सप्तपर्णा : भूमिका, पृ० १८।
२. वही, पृ० २०।
३. वही, पृ० २१।

दिखाकर माया का साम्राज्य
बना डाला इसको अज्ञान ?
मोह मदिरा का आस्वादन
किया क्यों हे भोले जीवन ।' (पृ० ५६)

इस संसार में आकर जीवात्मा निराशा से सन्तप्त होता है और आशा से प्रसन्न। यहाँ की प्रसन्नता स्वप्नवत सत्य और शाश्वत प्रतीत होती है, विष संजीवन-सा लगता है, इस प्रकार मायावी संसार जीवात्मा को नाना प्रकार के नाच नचाता रहता है। (पृ० ५६)

**सर्ववाद**—उपनिषदों मे जहाँ 'आत्मा' के अतिरिक्त अन्य सभी सांसारिक पदार्थों की नश्वरता का प्रतिपादन कर ससार के निषेधात्मक-स्वरूप का उद्घाटन किया है, वहाँ 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर उसकी ब्रह्ममयता एवं सत्यता की स्वीकारात्मक बात भी कही है, क्योंकि सब उसी से उत्पन्न हुए हैं। उपनिषदों ने जगत् के दोनों पक्षों—सदसत् पर विचार कर उसे उसकी समग्रता में ग्रहण किया है। महादेवीजी की नीहार-काल की रचनाओं में ये दोनों पक्ष काव्य का परिधान ग्रहण कर अवतरित हुए हैं।

जगत की नश्वरता का पीछे उल्लेख हो चुका है। इस प्रसंग में महादेवीजी के जगत् के प्रति ब्रह्ममयता के दृष्टिकोण का उल्लेख करेंगे।

कवयित्री ने 'खोज' शीर्षक कविता में कहा है—'सुषमामयी कलियों की चितवन में विद्यमान सस्मित मौन उसी ब्रह्म का है, ऊषा के आरक्त कपोल घूंघट-पट से झाँक कर यही तथ्य उद्घाटित करते हैं कि जिसकी तुम्हें आकांक्षा है उसने ही मुझ पर लाली घोलकर छिड़की है, नक्षत्रों की अनेकरूपता पर भी उस मायावी की माया का प्रतिबिम्ब विद्यमान है और मेघों में उसी की करुणा की परछाई दृष्टिगोचर होती है।' अर्थात् कलियों के मौन में भी वही विद्यमान है और ऊषा की लालिमा में भी, नक्षत्रों की बहुरूपता में भी वही विद्यमान है और मेघों के जल में भी। (पृ० ८४) मन्थर-सी चंचल लहर भी उसी अज्ञात का परिचय देती है—

'वे मन्थर सी लोल लहर
फैला अपने अंचल छोर,
कह जातीं उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर।' (वही, पृ० ८५)

**अद्वैत चिन्तन**—महादेवीजी की नीहारकाल की रचनाओं में भी अद्वैत-भावना से संकलित पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने आरम्भ में ही उपनिषदों के सार-तत्व को हृदयंगम कर लिया था, तभी वे कहती हैं—

'वे कहते उनको मैं
अपनी पुतली में देखूं,
यह कौन बता जायेगा
किसमें पुतली को देखूं ?' (पृ० ६०)

आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ को 'आर्त' अर्थात् नाशवान्-कहा है।[1] इसी आधार पर उन्होंने इसे नश्वर, स्वार्थमय, दुःखमय और अविद्यामय आदि विभिन्न रूपों में चित्रित किया है। उसकी नश्वरता का वर्णन करते हुए कवयित्री ने कहा है—'प्रभात अस्तंगत तारों के नीरव नयनों का ओस-विन्दुओं के रूप में हाहाकार संसार की अस्थिरता के इतिहास को अश्रुओं की करुण लेखनी से प्रतिदिन लिख जाया करता है। (पृ० १५) 'मेरा जीवन' शीर्षक कविता में भी महादेवी ने यही भाव प्रकट किया है। वे कहती हैं कि यहाँ पुष्प मुर्झाने के लिये ही विकसित हुआ करते हैं, चन्द्रमा अस्त होने के लिए ही उदित हुआ करता है, मेघ शून्य होने को भरते हैं और इसी प्रकार दीप मन्द होने को जला करता है, यहाँ किसी का भी यौवन अक्षय नहीं रहा—

**'यहाँ किसका अनन्त यौवन ?**
**अरे अस्थिर छोटे जीवन।'** (पृ० ५६)

यहाँ सब कुछ नश्वर है। महादेवीजी का यह चिन्तन पंतजी की 'परिवर्तन' रचना में आए चिन्तन के ही समकक्ष है, दोनों में पर्याप्त समानता देखी जा सकती है। इस स्थल पर कठो० के 'अपि सर्वजीवितमल्पमेव' अर्थात् 'यहाँ सबसे बड़ी आयु भी अल्प ही है' की स्पष्ट ध्वनि है।[2]

उन्होंने 'संसार' शीर्षक रचना मे ही फूल को सम्बोधित करते हुए उसके स्वार्थमय रूप पर प्रकाश डालते हुए कहा कि—"हे पुष्प ! संसार की निष्ठुरता को देखकर तू व्यथित मत हो। इस संसार में किसने किसको सुख दिया ? यहाँ तो कर्तार ने सबको स्वार्थमय ही बनाया है, जब तेरी ही दयनीय दशा पर संसार को दुःख न हुआ तो हम निःसार मनुज की दशा पर कौन रोएगा। किसी को हम दीनों की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं।' (पृ० ४४)।

**अविद्या—मायामय स्वरूप**—यह संसार अविद्या-मायाजन्य है, माया द्वैत उत्पन्न करके जीवात्माओं को भ्रम में डाले रखती है और इस प्रकार 'आत्म'-'पर' पर आधारित इस दृश्यमान जगत् का व्यावहारिक रूप सक्रिय रहता है। जब तक जीवात्मा में द्वैत का भाव विद्यमान है तब तक यह जगत् के मूल तत्व 'आत्मा' की अपरोक्षानुभूति प्राप्त नहीं कर सकता। वह मोह और ममता, आसक्ति और विरक्ति, सुख और दुःख, ज्ञान और अज्ञान के झूले में झूलता रहता है और इस प्रकार संसार के विषय-तुल्य क्षणिक विषयों के सुखों को सत्य और स्थायी मान कर असत्य काल्पनिक सुख में लीन रहता है। उपनिषदों के इसी निषेध दर्शन पर आधारित संसार के मायामय स्वरूप में उलझे जीवात्मा का वर्णन महादेवीजी ने निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत किया है—

**'अलक्षित आ किसने चुपचाप**
**सुना अपनी सम्मोहन तान,**

---

१. बृह० उ० ३,४,२।
२. कठोपनिषद् १,१,२६।

दिखाकर माया का साम्राज्य
बना डाला इसको अज्ञान ?
मोह मदिरा का आस्वादन
किया क्यों हे भोले जीवन ।' (पृ० ५६)

इस संसार में आकर जीवात्मा निराशा से सन्तप्त होता है और आशा से प्रसन्न । यहाँ की प्रसन्नता स्वप्नवत सत्य और शाश्वत प्रतीत होती है, विष संजीवन-सा लगता है, इस प्रकार मायावी संसार जीवात्मा को नाना प्रकार के नाच नचाता रहता है । (पृ० ५६)

**सर्ववाद**—उपनिषदों में जहाँ 'आत्मा' के अतिरिक्त अन्य सभी सांसारिक पदार्थों की नश्वरता का प्रतिपादन कर संसार के निषेधात्मक-स्वरूप का उद्घाटन किया है, वहाँ 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहकर उसकी ब्रह्ममयता एवं सत्यता की स्वीकारात्मक बात भी कही है, क्योंकि सब उसी से उत्पन्न हुए हैं । उपनिषदों ने जगत् के दोनों पक्षों—सदसत् पर विचार कर उसे उसकी समग्रता में ग्रहण किया है । महादेवीजी की नीहार-काल की रचनाओं मे ये दोनों पक्ष काव्य का परिधान ग्रहण कर अवतरित हुए हैं ।

जगत की नश्वरता का पीछे उल्लेख हो चुका है । इस प्रसंग में महादेवीजा के जगत् के प्रति ब्रह्ममयता के दृष्टिकोण का उल्लेख करेंगे ।

कवयित्री ने 'खोज' शीर्षक कविता में कहा है—'सुषमामयी कलियों की चितवन में विद्यमान सस्मित मौन उसी ब्रह्म का है, ऊषा के आरक्त कपोल घूंघट-पट से झाँक कर यही तथ्य उद्घाटित करते हैं कि जिसकी तुम्हें आकांक्षा है उसने ही मुझ पर लाली घोलकर छिड़की है, नक्षत्रों की अनेकरूपता पर भी उस मायावी की माया का प्रतिबिम्ब विद्यमान है और मेघों में उसी की करुणा की परछाई दृष्टिगोचर होती है ।' अर्थात् कलियों के मौन में भी वही विद्यमान है और ऊषा की लालिमा में भी, नक्षत्रों की बहुरूपता में भी वही विद्यमान है और मेघों के जल में भी । (पृ० ८४) मन्थर-सी चंचल लहर भी उसी अज्ञात का परिचय देती है—

'वे मन्थर सी लोल लहर
फैला अपने अंचल छोर,
कह जातीं उस पार बुलाता
है हमको तेरा चितचोर ।' (वही, पृ० ८५)

**अद्वैत चिन्तन**—महादेवीजी की नीहारकाल की रचनाओं में भी अद्वैत-भावना से संकलित पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं । स्पष्ट है कि उन्होंने आरम्भ में ही उपनिषदों के सार-तत्व को हृदयंगम कर लिया था, तभी वे कहती हैं—

**'वे कहते उनको मैं**
**अपनी पुतली में देखूं,**
**यह कौन बता जायेगा**
**किसमें पुतली को देखूं ?' (पृ० ६०)**

महादेवी के आराध्य उनसे भिन्न नहीं हैं, वे उनकी पुतलियों में विद्यमान हैं। इतने निकट होते हुए भी वे दृष्टिगोचर नहीं होते। कारण स्पष्ट है कि वह अपनी पुतलियों को स्वयं देख नहीं सकतीं, वही प्रश्न उठता है, 'विज्ञातारं केन विजानीयात्' इतने निकट होते हुए भी वह अज्ञान के कारण दूर ही रहता है। अन्यत्र भी उन्होंने उपासक ही होगा आराध्य एक होंगे पतझार वसन्त' (पृ० ४१) में उपासक और उपास्य की एकता के कथन से स्पष्ट ही अद्वैत का प्रतिपादन किया है।

**रहस्य-भावना**—रहस्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। वहाँ यह कहा चुका है कि यह वृत्ति उपनिषदों के आधार पर आत्मा-परमात्मा की मौलिक एकता के सिद्धान्त को स्वीकार करके चलती है। वेद और उपनिषदों में तो इस क्षेत्र में अनुभूति और चिन्तन की प्रधानता है। वहाँ उस परा सत्ता के प्रति जिज्ञासाएँ भी हैं तथा साधक के हृदय का प्रभु से मिलने के लिए आतुर निवेदन और प्रार्थनाएँ भी। साधक की ब्रह्म के प्रति इन सभी मानसिक स्थितियों का पीछे उल्लेख कर आए हैं यहाँ उन सबकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि महादेवीजी की रहस्यानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में अपने समकालीन छायावादी कवियों की अपेक्षा किंचित् अन्तर है। इसलिए यहाँ उनकी रहस्य-भावना से सम्बन्धित कतिपय विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख कर देना उचित ही होगा। उनकी रहस्य-वृत्ति में—

(१) परा-विद्या की अपार्थिवता।
(२) वेदान्त के अद्वैत की छाया।
(३) लौकिक प्रेम की तीव्रता।
(४) कबीर का सांकेतिक दाम्पत्य-भाव।

ये चार बातें मुख्य हैं जिनका उल्लेख उन्होंने सांध्य-गीत की 'अपनी बात' में किया हैं।[1]

परा-विद्या का ज्ञान उपनिषदों के ब्रह्म से सम्बन्धित है, जो अज्ञेय और अग्राह्य नित्य और अविनाशी, सर्वव्यापक और सर्वातिशायी कहा गया है। महादेवी की रहस्य वृत्ति में परा-विद्या की अपार्थिवता कोरी ज्ञान की शुष्क और नीरस कथनीमात्र नहीं है, वह अनुभूत वाणी है जो माधुर्य भाव से समन्वित होकर बड़ी सरस हो गई है। उन्होंने अद्वैतवाद के मूल-भाव को ग्रहण किया है और उसे हृदय की कोमल भावनाओं से सजीव और सप्राण बनाकर एक मधुर और सरस रूप दे डाला है जिसमें ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिकता का स्थान अधिक है। आत्मा-परमात्मा की रहस्यमयी प्रेमाभिव्यक्ति में लौकिक-प्रेम की तीव्रता के मिश्रण ने उसे बड़ी मार्मिकता, कोमलता और हृदय-ग्राह्यता प्रदान की हैं और दाम्पत्य-भाव के प्रतीक द्वारा तो यह रहस्य-भावना बिल्कुल सजीव हो उठी है। महादेवीजी ने इस सम्बन्ध में स्वयं कहा है कि

---

१. देखिये, सान्ध्य गीत : अपनी बात, पृ० ७।

—"अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति में लौकिक ही रहेगी।···अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा।···रहस्योपासक का आत्म-समर्पण हृदय की एक ऐसी आवश्यकता है जिसमें हृदय की सीमा एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है, और हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्य भाव-मूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुंच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और आत्म-निवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके।"[1] कबीर ने भी रहस्य की रूप-रंग-हीन चित्रपटी पर भावनाओं के विभिन्न रंग भर उसे सजीवता प्रदान की है और महादेवी ने भी उसे माधुर्य भाव से सम्पृक्त करके हृदयग्राह्य बना दिया है।

उनकी रहस्य-भावना का प्राण असीम परमात्मा के प्रति आत्मा का विरहजन्य प्रणय-निवेदन है। अज्ञात प्रिय की प्राप्ति साधना से, कष्ट से, तप से, हृदय के पवित्रीकरण से होती है जिसके लिए स्वयं सब कुछ त्यागकर बहुत कुछ दुःख सहना पड़ता है, अतः उनके प्रिय को भी पीड़ा के माध्यम से आना पड़ता है। इस प्रकार पीड़ा या वेदनानुभूति को उन्होंने अपनी रहस्य-साधना का प्रधान अंग माना है। जब तक पूर्ण मिलन न हो, साधना की सिद्धि न हो तभी तक वेदना-पीड़ा-व्याकुलता और तड़पन है। भीतर की पीड़ा और व्याकुलता की अनुभूति अपने प्रियतम के आगमन के विश्वास को पुष्ट करती है।

महादेवीजी की रचनाओं में उनकी रहस्यानुभूति से सम्बन्धित छः आधार दृष्टिगोचर होते हैं जिनका उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) मनुष्य का प्रकृति से तादात्म्य,
(२) प्रकृति के व्यक्तिगत सौन्दर्य पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप,
(३) प्रकृति की समष्टि में रहस्यानुभूति,
(४) असीम की अनन्त सत्ता में मधुर व्यक्तित्व का आरोप करके उसके प्रति आत्म-समर्पण,
(५) ज्ञान-क्षेत्र में 'तत्त्वमसि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'सोऽहम्' आदि का तत्त्व-चिंतन। तथा
(६) सार्वभौम करुणा।

महादेवीजी की प्रकृति 'सांख्य-दर्शन' की सी जड़ और निर्जीव नहीं है, उनकी प्रकृति उपनिषदों की प्रकृति है, ऐसी प्रकृति जिसके कण-कण में उसी एक के सौन्दर्य का प्रस्फुटन हो रहा है। प्रकृति के सौन्दर्य में उसी एक 'चिर सुन्दर' का सौन्दर्य-कण विद्यमान है। प्रकृति के विराट् माध्यम से मानो वह एक ही अपनी विराटता प्रदर्शित कर रहा है। छायावादी कवियों को प्रकृति इसीलिए नितान्त सुन्दर, मधुर और आकर्षक प्रतीत हुई कि उसी के माध्यम से वे उस 'निरुपम' के सौन्दर्य की झाँकी

१. दीपशिखा : चिन्तन के कुछ क्षण, पृ० ३३।

प्राप्त करते हैं। महादेवी जी की प्रकृति विराट् की सहोदरा है और इसलिए उनकी भी सहचरी हो गई है। प्रकृति के माध्यम से उन्होंने अपनी वेदनानुभूति अभिव्यक्त की है, इस कारण उसमें सप्राणता आ गई है। स्पष्ट है कि महादेवी की रहस्य-भावना में वेदनानुभूति का विशिष्ट महत्त्व है। उन्हें पीड़ा और वेदना सर्वाधिक प्रिय रही है—

**'तुमको पीड़ा में ढूंढा**
**तुम में ढूंढूंगी पीड़ा।'**

कहकर अपने ब्रह्म रूप प्रियतम में पीड़ा ढूंढने वाली महादेवी को यदि इससे अत्यधिक लगाव रहा हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। आत्मा-परमात्मा के एकत्व के दार्शनिक आधार की भाँति उनकी इस पीड़ा और वेदना का आधार भी औपनिषदिक है। उपनिषदों में स्पष्टतः आत्मा-परमात्मा के दार्शनिक स्वरूप का तात्विक विवेचन हुआ है, साथ ही उनके एकत्व की प्राप्ति की दिशा भी लक्षित की गई है। उस एकत्व की अनुभूति के लिए साधना का मार्ग भी निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुतः उस परम 'चिन्मय तत्व' की उपलब्धि योंही नहीं हो जाती उसके लिए साधक को अनेक प्रकार के कष्ट और पीड़ा सहन करनी पड़ती है। इन्द्रियों का शोधन और परिमार्जन, मन का ऊर्ध्वीकरण और बुद्धि की निष्कलुषता का सम्पादन करना पड़ता है। यम-नियम के अग्निमय मार्ग से स्वयं को शुद्धकर उसकी प्राप्ति-योग्य अपने को स्वर्ण बनाना पड़ता है, बिना त्याग और तपस्या के कुछ भी संभव नहीं। उस मार्ग पर चलने के लिए निष्ठा, आत्म-विश्वास और आत्म-शक्ति, साहस और धैर्य इन सबकी आवश्यकता पड़ती है।

रहस्यवादी भी उस उच्चतर मानसिक भूमि तक उठने के लिए साधना करता है, पर उसकी साधना तत्त्व-ज्ञान के साधकों की भाँति शुष्क और नीरस नहीं होती। वह उस शाश्वत से विरह का अनुभव कर वेदना की अनुभूति द्वारा अपने को शुद्ध और परिमार्जित करता है, उसमें योगी जैसा त्याग होता है तो भोगी जैसी तरलता भी होती है, भक्त जैसी व्याकुलता और कातरता भी होती है तो प्रेमी हृदय जैसी विह्वलता भी होती है, स्वाभिमानी जैसा अहं भी होता है तो शलभ-जैसी मर मिटने की अभिलाषा भी रहती है। ज्ञानी जैसा तत्व-चिन्तन तो साथ-साथ चलता ही है। अपने को गला-घुला देने की साध, दीपक की लौ के समान अपने को जला-जलाकर प्रिय का पथ आलोकित करने की आकांक्षा तो रहस्यवादी जीवन का जैसे पाथेय बन जाती है।

इस वेदनानुभूति के चिन्तन का आधार यह है कि असीम 'आत्म-तत्व' बंधन में पड़कर ससीम हो गया है तथा यह मूल रूप में अपने परमात्म-तत्व से ही सम्बन्वित है, स्वयं वही है, इसकी प्रतीति होते ही आत्मा सीमा के बन्धनों को, चारों ओर पड़ी भौतिक शृंखलाओं को तोड़कर स्वतन्त्र होने के लिए जोर मारने लगता है। उसे जब यह ज्ञात हो गया कि उसकी शांति तो केवल अब विश्वात्मा में ही मिलकर होगी तब उसके स्वर में एक विचित्र-सी वेदना मुखरित होने लगती है। माया-

जन्य मोह और अविद्यान्धकार में पड़ा आत्मा के उस महाचेतन से एकाकार होने की असमर्थता के कारण हृदय में वेदनापूर्ण भावनाएँ उठने लगती हैं। आन्तरिक टीस के कारण कभी-कभी अन्तरात्मा रो पड़ती है। हताश होकर प्रकृति के विभिन्न उपकरणों में उस विश्वात्मा की एक झलक पाने को व्यग्र और उद्विग्न हो उठती है। यही वेदनानुभूति उसके रहस्यवाद का अंग बनती है।

महादेवी के काव्य में इसी विरह-जन्य वेदनानुभूति को मार्मिक अभिव्यक्ति मिली है। ब्रह्म से विरह-मिलन की विविध अनुभूतियों के सतरंगी सूत्रों से उनके समस्त काव्य का ताना-बाना बुना गया है। इसी वृत्ति को ही रहस्यवादियों का दुःखवाद और करुणावाद कहा गया है।

यह दुःखवाद भारतीय साहित्य मे कोई नवीन वस्तु नहीं है। प्राचीन ऋषियों की तपस्या भी दुःखवाद पर आधारित रहस्यवाद का ही एक रूप है। इस मार्ग को बड़ा ही कठिन कहा गया है—कठोपनिषद् इसे तलवार की तेज धार पर चलने के समान कठिन मार्ग बताता है—

**'क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'** (१,३,१४)

उपनिषदों का यह कठिन तपवाद युगानुकूल करुणावाद में परिणत होकर लोक-सेवा की भूमिका पर प्रतिष्ठित हुआ। कलेवर भिन्न होते हुए भी उसमें निहित आत्मा वही है। उस शुष्क मार्ग को हृदय की संजीवनी से युक्त करके सरस, मधुर, तरल और ग्राह्य बनाया गया है, जो इस युग की अपनी विशिष्टता है। कबीर और जायसी की वेदनानुभूति में जहाँ ज्ञान-मूलक भक्ति के साथ 'प्रेम की पीर' को महत्त्व दिया गया है, वहाँ हठयोग और कुण्डलिनी योग की शुष्क नीरस साधनात्मक क्रियाओं का भी वर्णन हुआ है जिसका छायावादी काव्य में लगभग अभाव-सा है। 'प्रेम की पीर' का यह वर्तमान रूप किंचित् सूफी काव्य से और किंचित् उपनिषदों के तपवाद से प्रभावित होकर आया है। महादेवी पर दोनों का सम्मिलित प्रभाव है।

महादेवी की रहस्यवृत्ति के अन्तर्गत सभी मानसिक दशाओं और स्थितियों का उल्लेख मिलता है। जिज्ञासा, विरह-मिलन की विभिन्न स्थितियाँ, प्रतीक्षा, आत्म-निवेदन और समर्पण ये सभी दशाएँ प्रकारान्तर से वर्णित हुई हैं। नीहार में जिज्ञासा और कुतूहल-वृत्ति के अनेक चित्र मिलते हैं।

**जिज्ञासा**—'फूल' नामक रचना में कवयित्री उस परमशक्ति को जानने के लिए अति उत्सुक दिखाई देती है जिसके मोहित कर देने वाले राग से प्रभावित होकर वह पुष्प यहाँ खिला है। वह पूछती है कि वह निष्ठुर कर्तार कौन है जिसके संकेत पर यह पुष्प इस परिवर्तनशील संसार में भेजा गया है—

**'कौन वह सम्मोहन राग**
**खींच लाया तुमको सुकुमार ?**
**तुम्हें भेजा जिसने इस देश**
**कौन वह है निष्ठुर कर्तार ?'** (पृ० २३)

कौन ? नामक रचना में भी महादेवी ने उस अज्ञेय को जानने की आकांक्षा प्रकट की है जो निराशा और अवसाद के क्षणों में रात्रि की समाप्ति पर स्वर्णिम प्रभात की भाँति आशा का संचार कर देता है। 'उस पार' नामक रचना में कवयित्री की जिज्ञासा-वृत्ति और भी अधिक तीव्र दिखाई देती है। वे उस शक्ति के विषय में पूछती हैं जो ब्रह्म-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होने पर साधक के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों के क्षणों में आश्रय दे सके, क्योंकि इतना दुर्गम मार्ग बिना किसी महान् शक्ति की सहायता और कृपा-दृष्टि के पार करना असंभव ही है। इस पथ की दुर्गमता का ज्ञान उन प्राचीन भारतीय ऋषियों को भी था जिन्होंने इस मार्ग पर चलने की साधना को तेजधार वाली तलवार पर चलने की भाँति कठिन अनुभव किया था। इन ऋषियों ने उस पार पहुँचने के लिए जिस साधना की ओर संकेत किया था वह है कामनाओं का त्याग, इच्छाओं का विसर्जन। लौकिक इच्छाओं को विसर्जित करते ही साधक उस स्वर्णिम-लोक में पहुँच जाता है जहाँ के विहग भी जरा और मृत्यु की छाया का नाम सुनकर हँसते हैं।

सभी रहस्यवादियों ने एक ऐसे लोक की चर्चा की है जो स्वर्णिम लोक है, जहाँ से निरन्तर ज्योति और प्रकाश की धाराएँ निःसृत होती रहती हैं, जहाँ दिव्य नाद श्रुतिगोचर होता है। वेद में 'परमव्योमन' के रूप में ऐसे ही लोक की चर्चा बार-बार आई है जिसके आधार पर सभी रहस्यवादी और भक्त कवियों ने अपनी कल्पना और अनुभूति के बल पर प्रकारान्तर से वैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक आदि के रूप में बड़ा ही मोहक और मादक वर्णन किया है।

महादेवीजी भी ऐसे ही लोक के प्रति जिज्ञासा करती हैं, जहाँ निर्झर निरन्तर मौन-भाव से संगीत की साधना किया करते हैं जिनके स्वर से परिचित होने वाला व्यक्ति अनायास ही हृदय में मुक्ति का-सा अनुभव करने लगता है, जहाँ नभ भी अनन्त झंकार सुनाया करता है, जहाँ अनन्त प्रेम-भाव की स्थिति रहती है, जहाँ के पुष्प कभी म्लान नहीं होते और पवन भी दिव्यगुणों से युक्त रहता है, जहाँ के सभी तत्वों में स्वर्गिक स्थिति विद्यमान है, एवं कोमल कमनीय प्रकाश निहित है। पर वह लोक बहुत दूर है केवल दिव्य शक्ति की सहज कृपा ही वहाँ तक पहुँचा सकती है (पृ० ३१)। महादेवी द्वारा दिया गया रहस्य-लोक-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन वैदिक 'परम-व्योम' के आह्लादिक वर्णन से प्रभावित है।[1]

**मिलन और प्रतीक्षा**—कवयित्री की आत्मा ने जिस असीम ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा और उत्कण्ठा प्रकट की थी उस ब्रह्म के साथ उनका मिलन भी हुआ है। स्वप्न में आकर उन्होंने साधिका आत्मा को दर्शन भी दिए हैं, इसकी अनुभूति कवि को निरन्तर बनी हुई है। उस असीम से ससीम के मूक मिलन की बात को स्वप्न कहकर टाला नहीं जा सकता। वे कहती हैं—

---

१. देखिये, इस प्रबन्ध का, पृ० ६१-६२।

'कैसे कहती हो सपना है
अलि ! उस मूक मिलन की बात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास ।' (पृ० १२)

व्यक्ति की आत्मा जिसके प्रति समर्पित होती है उसके दर्शनों की, उससे मिलने की आकांक्षा उसके जीवन की सबसे बड़ी साध बन जाती है। यदि किसी भी प्रकार से उसे अपने प्रेमास्पद के दर्शन हो जाते हैं तो वह अपने को कृतार्थ अनुभव करने लगती है। इसीलिए महादेवी के रहस्य-काव्य में उससे मिलने के लिए उनकी आत्मा का करुण-क्रन्दन मिलता है। उनकी आत्मा की यह विह्वल पुकार निष्फल गई हो ऐसी बात नहीं है। उस उदार ब्रह्म ने प्रत्युत्तर में चुपचाप आकर मूक प्रणय की भाँति अथवा स्वप्नलोक से अवतरित नीरव आह्वान की भाँति कवयित्री को मधुमय मुरली की तान सुनाकर कृतार्थ भी किया है। (पृ० ११) 'आँसू की माला' रचना के अवतरणों में भी महादेवी ने सूने पथ से होकर, मंद-मंद पदचाप से, उस परम प्रियतम के अपने नीरव मानस में अवतरित होने की बात कही है। (पृ० ८०) ऋग्वेद में भी ऋषि वसिष्ठ द्वारा वरुण से मिलने के लिए की गई अनेक भावमय प्रार्थनाएँ मिलती हैं जो भावाभिव्यक्ति में बड़ी मार्मिक और हृदय-द्रावक हैं।[1]

महादेवी को एक बार स्वप्न में दर्शन देकर प्रभु ने फिर पुनः उन्हें दर्शन देने का नाम ही नहीं लिया। ऐसा उपेक्षा-भाव धारण कर लिया कि प्रतीक्षा करते-करते कवयित्री के नेत्र अश्रु-कण बरसा-बरसाकर रीते भी हो गए, पर तब भी उस निर्मम ने सुधि नहीं ली, इसी स्थिति का वर्णन उन्होंने निम्न पंक्तियों में किया है—

'उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते।
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते।' (पृ० २१)

न पंक्तियों में भी वैदिक ऋषि की भाँति कवि की अन्तरात्मा की विह्वलता देखी जा सकती है।

**वेदनानुभूति**—कवयित्री का प्रियतम ऐसा निष्ठुर निकला कि एक बार दर्शन देकर ऐसा विमुख हुआ कि फिर लौटा ही नहीं और फलतः उन्हें दे गया पीड़ा का साम्राज्य, सूनेपन का जीवन जिसकी वे स्वयं को एकमात्र मतवाली रानी कहती हैं, और इस सूने राज्य के अन्धकार को दूर करने के लिए प्राणों का दीप जलाकर दीपावली मनाती रहती हैं। पर प्रतीक्षा की भी एक सीमा होती है, उस सीमा का अतिक्रमण होने पर तो जीवन का अस्तित्व बनाए रखना भी कठिन हो जाता है।

---

१. उत स्वया तन्वा सं वदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्॥ ऋ०वे० ७,८६,२।

वेदनाधिक्य से सम्बन्धित यही भाव निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

> 'चिन्ता क्या है, हे निर्मम !
> बुझ जाए दीपक मेरा,
> हो जायेगा तेरा ही
> पीड़ा का राज्य अंधेरा।' (पृ० २१)

प्रियतम की प्रतीक्षा करते-करते यदि कवयित्री का जीवन-दीप बुझ जाये तो उससे उन्हें अधिक चिन्ता नहीं होगी, प्रत्युत उसके विरह में दुखित रह कर रुदन करने वाले के अभाव में उस असीम के पीड़ा के साम्राज्य में ही अन्धकार फैल जायेगा।

वस्तुत: विरह का यह भाव दार्शनिक दृष्टि से द्वैत-वाद पर आधारित है, पर यह द्वैत-भाव, जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, सांख्य दर्शन की भाँति प्रकृति-पुरुष का द्वैत नहीं है और न ही मध्वाचार्य के आत्मा-परमात्मा के शाश्वत द्वैत पर आधारित है। यह द्वैत तो अद्वैतवाद की पूर्व-पीठिका है। व्यावहारिक दशा में आत्मा परमात्मा से पृथक् हो चुकी है, पर तात्विक दृष्टि से वे दोनों एक ही हैं! जब तक वे दोनों मिलकर एक नहीं हो जाते, तब तक तो यह द्वैत-भाव बना हुआ ही है। व्यवहार दशा में आत्मा की परमात्मा से पार्थक्य की अनुभूति ही विरह-वेदना की जननी है। महादेवी तथा छायावादी कवियों की वेदनानुभूति की यही दार्शनिक पृष्ठ-भूमि है। उनकी वेदना का स्वरूप आरम्भ से अन्त तक समान और एक रस है। आगे चलकर उनकी इस प्रियतम प्रदत्त वेदना और पीड़ा में ही सुख की अनुभूति का भाव प्रगाढ होता चला गया है और इस प्रकार विरह ही उनका आराध्य बन गया है।

उपनिषदों में अज्ञान में पड़े जीव की असहायावस्था का उल्लेख आया है। वह सांसारिक विषयों के उपभोग में ऐसा चिपका हुआ है जैसे जल से मछली, इच्छाओं की अतृप्ति पर उसका मन असफलता से हाहाकार कर उठता है, और उनकी क्षणिक तृप्ति पर वह हर्ष से नाच भी उठता है। इस प्रकार लौकिक-सुख-दु:खों के पुलिनों से होकर बहने वाली उसकी जीवनधारा उत्थान-पतन का दृश्य देखती हुई आगे बढ़ती जाती है, पर वह अपनी प्रकृति पर शासन नहीं कर पाता। इसीलिए उप-निषदें जीवात्मा को 'अनीश' कहती हैं—'अनीशया शोचति मुह्यमान:'[1] लौकिक विषयों से जीर्ण हुई देह वाला जीवात्मा विषयों से पराङ्मुख होकर तब तक उस अनन्त की ओर नहीं मुड़ सकता जब तक उस पर प्रभु की ही कृपा न हो जाए। इसीलिए वेदों में भी और परवर्त्ती वैष्णव-साहित्य में भी साधकों और भक्तों ने दीन होकर अपनी असहायावस्था का उल्लेख करते हुए उस अनन्त करुणावान प्रभु का आह्वान किया है। अन्तर्मुखी होने के लिए वह आवश्यक भी है। महादेवीजी ने भी अपनी दीनता का प्रकाशन करते हुए लिखा है—

---

१. श्वे० उ० ४,७।

'नहीं है तरिणी कर्णाधार
अपरिचित है वह तेरा देश
साथ है मेरे निर्मम देव !
एक बस तेरा ही सन्देश ।
× ×
हाथ में लेकर जर्जर बीन
उन्हीं बिखरे तारों को जोड़
लिए कैसे पीड़ा का भार
देव आऊँ अनन्त की ओर ॥' (पृ० ५४)

वे कर्णाधार को सम्बोधित करके कहती हैं कि इस जर्जर शरीर को लेकर, जिसके भाव-रूपी समस्त तार अस्त-व्यस्त पड़े हैं और जब कोई अवलम्ब भी नहीं है, उस अपरिचित अनन्त देश की ओर बिना आपकी कृपा के कैसे पहुँचा जाए, और अन्त में आत्म-समर्पण करती हुई कहती हैं कि मेरी इस जीवन-रूपी वीणा के सभी तार ढीले पड़ गए हैं, अंगुलियां भी थक गई हैं, अब और अधिक नहीं गाया जाता । बस यही निवेदन है कि अपनी विश्व-वीणा में आज मेरी अस्फुट झंकार को भी मिला दो ! (पृ० १०)

**रश्मि**—रश्मि में उपनिषद् आदि दार्शनिक ग्रन्थों के अध्ययन और मनन के कारण चिरन्तन और विचार-मन्थन का पुट अधिक है। काव्य के विषय 'नीहार' जैसे होते हुए भी अभिव्यक्ति में अन्तर है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि—'रश्मि को उस समय आकार मिला जब मुझे अनुभूति से अधिक उसका चिन्तन प्रिय था ।'[1] रश्मि में वे ब्रह्म, जीव, जगत्, जीवन, मृत्यु और परिवर्तन आदि गहन दार्शनिक तत्वों के चिन्तन में लीन दिखाई देती हैं। अधिकांश रचनाओं में उन्होंने आत्मा-परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप का निरूपण अत्यन्त भावमयी भाषा में किया है।

ब्रह्म—उपनिषदों में ब्रह्म-सम्बन्धी चिन्तन विस्तारपूर्वक हुआ है। वहाँ उसके निर्गुण स्वरूप की चर्चा करते समय उसे अज्ञेय, अग्राह्य आदि निषेधात्मक लक्षणों से अभिहित किया है। केन० उ० में कहा है 'कि जिसको (कोई भी) चक्षु के द्वारा नहीं देख सकता (अपितु) जिससे चक्षु (अपने विषयों को) देखते हैं, वही ब्रह्म है—

**'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति**
**तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।** (१,६)

महादेवी जी भी यही कहती हैं—

**'मैं सब कुछ तुम से देखूं**
**तुमको न देख पाऊँ पर !'** (पृ० २१)

इसी प्रकार—तद्दूरे तदन्ति के '(यजु० ४०,५) की ध्वनि निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

---

[1] सान्ध्य गीत : अपनी बात, पृ० ३ ।

'इस अचल क्षितिज-रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके ।' (वही)

वह निकट होते हुए भी पकड़ में नहीं आ पाता यही उसकी अपूर्वता है। रश्मि में जीव और जगत् की सापेक्षता में ब्रह्म के सविशेष एवं सोपाधिक रूप-सम्बन्धी चिन्तन को भी स्थान मिला है ! तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख आया है कि ब्रह्म इस समस्त सृष्टि के पदार्थों को रचकर अन्त में स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गया। 'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तपत्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्।' (तै० उ० २,६) महादेवीजी भी यही प्रश्न करती हैं कि जिस परमसत्ता ने नाना रंगमयी इस सृष्टि को रचा है क्या वही अपार इन सब में प्रविष्ट होकर सब का एकमात्र आधार बन गया है—

'विविध रंगों के मुकुर संवार,
जड़ा जिसने यह कारागार
बना क्या बन्दी वही अपार,
अखिल प्रतिबिम्बों का आधार ?' (पृ० ६२)

× × ×

'वक्ष पर उसके जल उडुगण,
बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक औ' नीलम-यानों पर
दौड़ते जिस पर निशि-वासर !

× × ×

उसी नभ सा क्या वह अविकार—
और परिवर्तन का आधार ?
पुलक से उठ जिसमें सुकुमार
लीन होते असंख्य संसार।' (पृ० ६२)

उसी ब्रह्म में असंख्यों तारागणों की भाँति असंख्य जीवन उदित और अस्त होते रहते है, उसी में दिन और रात का आवागमन होता रहता है, विशाल बादलों की हल-चल से वह चंचल नहीं होता, तड़ित् की ज्वाला और घन का गर्जन उसमें एक भी कंपन उत्पन्न नहीं कर पाता; इस प्रकार वह अचंचल और निष्कम्प है, वह नभ की भाँति निर्विकार और सृष्टि में घटित होने वाले समस्त परिवर्तनों का एकमात्र कारण है, यहाँ तक की जल में बुद्बुदों की भाँति असंख्य संसार भी उसी में आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। उपनिषदों में स्पष्ट कहा है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।' (तै० ३,१) महादेवीजी इस वर्णन से प्रभावित होकर कहती हैं—'सिन्धु से उत्पन्न वीचि-विलास की भाँति सृष्टि और विनाश की समस्त क्रियायें उसी ब्रह्म में हो रही हैं।'

(पृ० ४३) और—

'उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कंपन का,
एक सूत्र सब के बन्धन का,
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता। (पृ० १८)
× × ×
यह हमारे अन्त उपक्रम यह पराजय-जीत
क्या नहीं रचता तुम्हारी सांस का संगीत।' (पृ० ४०)

समस्त प्राणियों के जीवन का एकमात्र संचालक वही शक्तिमान् ब्रह्म है, सृष्टि में व्याप्त विविध असीम कम्पन मूलतः उसी से सम्बद्ध रहते हैं, समस्त प्राणियों के बन्धन का सूत्रधार भी वही है। उसी की साँस में हमारे अन्त और उपक्रम, जय और पराजय निहित हैं।' वे चन्द्रमा की किरणों में न केवल आभा-रूप में विद्यमान हैं प्रत्युत वे सृष्टि के कण-कण में निहित हैं। (पृ० ६४) वे हृदय में उच्छ्‌वास-रूप में आकर छिप जाते हैं। (पृ० ६५) इस प्रकार ब्रह्म-सम्बन्धी उपरोक्त चिन्तन स्पष्टतः ही उपनिषदों से प्रभावित है।

**जीव**—रश्मि का जीवात्मा-सम्बन्धी चिन्तन भी उपनिषदों से प्रभावित है। ऐ० उ० में पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और अग्नि इन पंच महाभूतों से बीज-रूप जीव का संयोग होने पर मानव, पशु, पक्षी आदि जितने भी प्राणी समुदाय उत्पन्न होते हैं, वे सब प्रज्ञान-स्वरूप परमात्मा से ही शक्ति पाकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न होते और उसी में स्थित रहते कहे गये हैं। "एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पंचमहाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषी त्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि...यत्किंचेदम प्राणि जंगम च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं। प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठाप्रज्ञानं ब्रह्म।" (ऐ० ३,३) यही चिन्तन महादेवीजी की निम्न पंक्तियों में जिज्ञासा के रूप में व्यक्त हुआ है—

'नील नभ का असीम विस्तार,
अनल के धूमिल कण दो चार,
सलिल से निर्भर वीचि-विलास
मंद मलयानिल से उच्छ्‌वास,
धरा से ले परमाणु उधार,
किये किसने मानव साकार?' (वही, पृ० २८)

चेतन-तत्व और पंच महाभूतों के योग से निर्मित मानव-मूर्ति में यह चेतनांश ब्रह्म का ही है, यह प्राण-तत्व उसी से प्रकट होता है और उसी में विलीन भी हो जाता है। यह चेतनांश समष्टि-चेतन से उसी प्रकार एक है जिस प्रकार समुद्र के जल से उसकी लहरें—

'इस अचल क्षितिज-रेखा से
तुम रहो निकट जीवन के
पर तुम्हें पकड़ पाने के
सारे प्रयत्न हों फीके ।' (वही)

वह निकट होते हुए भी पकड़ में नहीं आ पाता यही उसकी अपूर्वता है। रश्मि में जीव और जगत् की सापेक्षता में ब्रह्म के सविशेष एवं सोपाधिक रूप-सम्बन्धी चिन्तन को भी स्थान मिला है ! तैत्तिरीयोपनिषद् में उल्लेख आया है कि ब्रह्म इस समस्त सृष्टि के पदार्थों को रचकर अन्त में स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गया। 'सोऽकामयत । बहुस्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तपत्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् ।' (तै० उ० २,६) महादेवीजी भी यही प्रश्न करती हैं कि जिस परमसत्ता ने नाना रंगमयी इस सृष्टि को रचा है क्या वही अपार इन सब में प्रविष्ट होकर सब का एकमात्र आधार बन गया है—

'विविध रंगों के मुकुर संवार,
जड़ा जिसने यह कारागार
बना क्या बन्दी वही अपार,
अखिल प्रतिबिम्बों का आधार ?' (पृ० ६२)

× × ×

'वक्ष पर उसके जल उडुगण,
बुझा देते असंख्य जीवन,
कनक औ' नीलम-यानों पर
दौड़ते जिस पर निशि-वासर !

× × ×

उसी नभ सा क्या वह अविकार—
और परिवर्तन का आधार ?
पुलक से उठ जिसमें सुकुमार
लीन होते असंख्य संसार ।' (पृ० ६२)

उसी ब्रह्म में असंख्यों तारागणों की भाँति असंख्य जीवन उदित अ
है, उसी में दिन और रात का आवागमन होता रहता है, विशा[illegible]
चल से वह चंचल नहीं होता, तडित् की ज्वाला और घन का गर्जन उसमें एक भी कंपन उत्पन्न नहीं कर पाता; इस प्रकार वह अचंचल और निष्कम्प है, वह नभ की भाँति निर्विकार और सृष्टि में घटित होने वाले समस्त परिवर्तनों का एकमात्र कारण है, यहां तक की जल में बुद्बुदों की भाँति असंख्य संसार भी उसी में आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं। उपनिषदों में स्पष्ट कहा है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ।' (तै० ३,१) महादेवीजी इस वर्णन से प्रभावित होकर कहती हैं—'सिन्धु से उत्पन्न वीचि-विलास की भाँति सृष्टि और विनाश की समस्त क्रियायें उसी ब्रह्म में हो रही हैं।'

जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के बाण।" (पृ० ५२)

इसी प्रकार यदि ब्रह्म अनन्त जल-राशि है तो आत्मा उसकी चंचल-सी अवदात उर्म्मि जो तट को छूकर उसी में विलीन हो जाती है, यदि ब्रह्म ऋतुराज वसन्त है तो आत्मा उसकी मूक मधुश्री जो उसी के साथ आती-जाती है। (पृ० ५३) ब्रह्म यदि निद्रा है तो आत्मा स्वप्न, जो उसी में बनता-बिगड़ता है। (पृ० ५६) ब्रह्म यदि आलोक है तो आत्मा तारे के समान है जो रात्रि के व्यतीत होते ही दिन के प्रकाश में मिल जाता है। (पृ० ५६) इन सभी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध रूपकों द्वारा आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता प्रतिष्ठित करने के उपरान्त वे अन्त में स्पष्टतः अद्वैत की घोषणा करते हुए कहती हैं—

"मैं तुम से हूं एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश;
मैं तुम से हूं भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित् विलास।" (पृ० ५८)

तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म-जीवैक्य का प्रतिपादन उपनिषदों का चरम साध्य है। महादेवी ने इसी दार्शनिक स्वरूप को काव्य की पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है। महादेवी का यह वर्णन निराला की 'तुम और मैं' कविता में आए वर्णन के ही समान है जहाँ वे ब्रह्म को 'तुंग हिमालयशृंग' और जीव को 'चंचल गति सुर-सरिता' कहकर जन्य-जनक सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रसंग में हम इन विभिन्नों सम्बन्धों की दार्शनिक भूमिका पर भी विस्तार से विचार कर आए हैं, अतः उस सब की पुनरावृत्ति की यहाँ आवश्यकता नहीं।[1]

व्यावहारिक धरातल पर साधना की दृष्टि से महादेवी की रचनाओं में साध्य-साधक का पार्थक्य वर्णित है। सामान्य अनुभव के अनुसार प्रारम्भ में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। प्रारम्भ में सात्त्विक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक होती है, शुद्ध अन्तःकरण में ही प्रभु के प्रति आस्था-विश्वास चिर-स्थायी होकर अन्ततोगत्वा भक्ति-भावना में पर्यवसित हो जाता है। तदन्तर एक दिन वह ज्ञान की इस भूमिका पर पहुँच जाता है कि जिसकी मैं उपासना कर रहा हूँ वह मुझ-से भिन्न नहीं है—"उपासक ही होगा आराध्य" की अनुभूति जागृत हो जाती है। उपनिषदों में आत्म-विकास का यही क्रम वर्णित है जिसका प्रभाव महादेवी के काव्य पर स्पष्टरूपेण देखा जा सकता है।

जगत् (प्रकृति)—'रश्मि' में ब्रह्म और जीव-सम्बन्धी चिन्तन के समान ही जगत् के सम्बन्ध में भी पर्याप्त चिन्तन हुआ है। यह चिन्तन जीव की ही भाँति कई धरातलों पर व्यक्त हुआ है। कहीं उसके दार्शनिक स्वरूप की चर्चा हुई है और कहीं

"सिन्धु को क्या परिचय दें देव !
बिगड़ते बनते वीचि-विलास,
क्षुद्र हैं मेरे बुद्बुद प्राण
तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश।" (पृ० ४३)

उपनिषदों में जीवात्मा के दो स्वरूपों का उल्लेख आया है। एक उसका व्यावहारिक रूप दूसरा उसका दार्शनिक अर्थात् तात्त्विक स्वरूप। व्यावहारिक दृष्टि से वह बद्ध और भोक्ता कहा गया है जो मोह और अविद्यान्धकार में पड़ा सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ भटकता रहता है जिससे उसकी जीवन-वीणा के सभी तार उलझ जाते हैं, फलतः उससे निकलने वाली झंकार भी बेसुरी-सी होती है (पृ० ५६) तात्त्विक दृष्टि से आत्मा और परमात्मा एक और अभिन्न हैं।

**जीव और ब्रह्म का अभेद सम्बन्ध**—महादेवी जी भी इन दोनों की एकता और अभिन्नता में विश्वास रखती हैं। उन्होंने इन दोनों के बीच अभेद सम्बन्ध को प्रकृति से गृहीत अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। वे कहती हैं कि ये दोनों उसी प्रकार अभिन्न हैं जिस प्रकार दीप और उसका आलोक, सिन्धु और उसकी लहरें। हृदय और उस पर आधारित उसकी धड़कनें, कलिका और मकरन्द, धन और वारि-बिन्दु, नेत्र और उसमें निहित अश्रु-बिन्दु। (पृ० ३४)

"पूछता क्या दीप है आलोक का आवास ?
सिन्धु को कब खोजने लहरें उड़ी आकाश।
× × ×
धड़कनों से पूछता है क्या हृदय पहिचान ?
क्या कभी कलिका रही मकरन्द से अनजान ?
क्या पता देते घनों को वारि-बिन्दु असार ?
क्या नहीं दृग जानते निज आँसुओं का भार ?
चाह की मृदु उंगलियों ने छू हृदय के तार,
जो तुम्हीं में छेड़ दी मैं हूं वही झंकार।" (पृ० ३९)

धूलि के कण में वही तो आत्मरूप में आकर बन्दी हो गया है फिर उसका पता पूछने का कैसा उपक्रम ? (पृ० ३८) 'जो तुम्हीं में छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार' (पृ० ३६) के अनुसार आत्मा उसी की तो झंकार है, एक चेतन ही उसी की इच्छा के कारण नाम-रूप की पृथक्-पृथक् उपाधियों में विभक्त हो गया है अन्यथा चेतन जीवात्मा उस 'महाचिति' से पृथक् थोड़े ही है। (पृ० ३६) जीवब्रह्मैक्य-सम्बन्धी यह चिन्तन 'मैं और तू' कविता में विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया गया है जो उपनिषदों के 'सोऽहम्', 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', महावाक्यों का ही काव्यात्मक संस्करण है। कवयित्री कहती है कि 'यदि ब्रह्म विधु का बिम्ब है तो आत्मा उसकी मुग्धा और अजान रश्मि जो पृथ्वी को छूकर उसी में लौट जाती है—

"तुम हो विधु के बिम्ब और
मुग्धा रश्मि अजान,

जिसे खींच लाते अस्थिर कर
कौतूहल के बाण ।" (पृ० ५२)

इसी प्रकार यदि ब्रह्म अनन्त जल-राशि है तो आत्मा उसकी चंचल-सी अवदात उर्मि जो तट को छूकर उसी में विलीन हो जाती है, यदि ब्रह्म ऋतुराज वसन्त है तो आत्मा उसकी मूक मधुश्री जो उसी के साथ आती-जाती है। (पृ० ५३) ब्रह्म यदि निद्रा है तो आत्मा स्वप्न, जो उसी मे बनता-बिगड़ता है। (पृ० ५६) ब्रह्म यदि आलोक है तो आत्मा तारे के समान है जो रात्रि के व्यतीत होते ही दिन के प्रकाश मे मिल जाता है। (पृ० ५६) इन सभी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध रूपकों द्वारा आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता प्रतिष्ठित करने के उपरान्त वे अन्त में स्पष्टतः अद्वैत की घोषणा करते हुए कहती हैं—

"मैं तुम से हूं एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश;
मैं तुम से हूं भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित् विलास ।" (पृ० ५८)

तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म-जीवैक्य का प्रतिपादन उपनिषदों का चरम साध्य है। महादेवी ने इसी दार्शनिक स्वरूप को काव्य की पीठिका पर प्रतिष्ठित किया है। महादेवी का यह वर्णन निराला की 'तुम और मैं' कविता में आए वर्णन के ही समान है जहां वे ब्रह्म को 'तुंग हिमालयशृंग' और जीव को 'चंचल गति सुर-सरिता' कहकर जन्य-जनक सम्बन्ध का प्रतिपादन करते है। इसी प्रसंग में हम इन विभिन्नों सम्बन्धों की दार्शनिक भूमिका पर भी विस्तार से विचार कर आए हैं, अतः उस सब की पुनरावृत्ति की यहां आवश्यकता नही।[1]

व्यावहारिक धरातल पर साधना की दृष्टि से महादेवी की रचनाओं में साध्य-साधक का पार्थक्य वर्णित है। सामान्य अनुभव के अनुसार प्रारम्भ में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। प्रारम्भ में सात्त्विक कर्मो के अनुष्ठान द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक होती है, शुद्ध अन्तःकरण मे ही प्रभु के प्रति आस्था-विश्वास चिर-स्थायी होकर अन्ततोगत्वा भक्ति-भावना में पर्यवसित हो जाता है। तदन्तर एक दिन वह ज्ञान की इस भूमिका पर पहुँच जाता है कि जिसकी मैं उपासना कर रहा हूँ वह मुझ-से भिन्न नही है—"उपासक ही होगा आराध्य" की अनुभूति जागृत हो जाती है। उपनिषदों में आत्म-विकास का यही क्रम वर्णित है जिसका प्रभाव महादेवी के काव्य पर स्पष्टरूपेण देखा जा सकता है।

जगत् (प्रकृति)—'रश्मि' में ब्रह्म और जीव-सम्बन्धी चिन्तन के समान ही जगत् के सम्बन्ध मे भी पर्याप्त चिन्तन हुआ है। यह चिन्तन जीव की ही भांति कई धरातलों पर व्यक्त हुआ है। कहीं उसके दार्शनिक स्वरूप की चर्चा [illegible]

१. देखिये इस शोध-प्रबन्ध का पृ० २६३-६४।

उसे व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा गया है।

दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार उपनिषदों की तरह महादेवी भी यही मानती हैं कि ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है और उसी में वह लय हो जाती है। यही तथ्य निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

"और यह विस्मय का संसार,
अखिल वैभव का राजकुमार,
धूलि में क्यों खिल कर नादान
उसी में होता अन्तर्धान ?" (पृ० २९)

उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्म ने अपनी शून्यता से ऊब कर अनेकविध होने की कामना की—'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेयिति' और कामना करते ही शांत त्रिगुणात्मिका प्रकृति में हलचल होने लगी और इस प्रकार सृष्टि का सूत्र विकसित होकर फैलने लगा, परिणामस्वरूप यह विश्व-प्रतिमा निर्मित हो गई। यही भाव महादेवी जी की निम्न पंक्तियों में व्यक्त हुआ है—

"हुआ त्यों सूनेपन का भान,
प्रथम किसके उर में अम्लान ?
और किस शिल्पी ने अनजान,
विश्व प्रतिमा कर दी निर्माण ?" (पृ० १५)

उपनिषदें भी कहती हैं कि ब्रह्म ही जगत का निमित्त और उपादान कारण है और इसकी पुष्टि के लिए एक मकड़ी का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। मकड़ी जाले की सृष्टि के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं करती वह अपने अन्तर से ही उसे निकालती है और अपने अन्तर में ही उसे लीन कर देती है—

**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।**
**यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥** (मु० १,१,७)

महादेवी जी ने इस भाव को निम्न प्रकार से प्रकट किया है—

"स्वर्ण-लूता सी कब सुकुमार
हुई उसमें इच्छा साकार ?
उगल जिसने तिनरंगे तार,
बुन लिया अपना ही संसार।" (पृ० ६०)

ये तिनरंगे तार श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित त्रिगुणात्मिका (सत रज तम) प्रकृति है।[1] यह उस ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है जिसके आश्रय से वह स्वयं सृष्टि-रूप में रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार उपनिषद्-दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त और उपादान कारण है।

रश्मि में सृष्टि के नित्य-अनित्य रूप पर भी चिन्तन हुआ है। महादेवी जी

---

१. देखिए, श्वे० १,३ तथा ४-५।

उपनिषदों की ही भाँति जगत् की शाश्वतता पर भी विश्वास करती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है वह नष्ट भी अवश्य होती है। पर यह नाश वस्तु का अन्तिम रूप नहीं है, प्रत्युत विकास का ही पूर्व रूप है। संसार वस्तुतः एक ऐसा सूत्र है जिसमें जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख, जय-पराजय सभी गुँथे हुए हैं—विश्व में नश्वरता नवीनता को जन्म देने वाली होती है। प्रत्येक वस्तु के अन्त में उसके नवीन रूप का विधान सन्निहित है। (पृ० १६) संसार के मायात्मक स्वरूप पर चिन्तन करते हुए महादेवीजी इस संसार को उलझनों का जाल कहती है जहां अविद्यान्धकार में पड़े हुए प्राणी अपने वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयत्न करते हुए भी इस के आकर्षण से मोहित होकर स्वयं को भूले रहते हैं—

> "निठुर क्यों फैला दिया यह उलझनों का जाल,
> आप अपने को जहां सब ढूंढ़ते बेहाल।" (वही, पृ० ३८)

'दुःख' नामक रचना में भी कवयित्री ने संसार के मायामय स्वरूप का उल्लेख किया है, कहा है कि यहाँ की सभी बातें उन्हें विस्मयपूर्ण दृष्टिगोचर होती हैं। यहां सूर्य चन्द्र और अन्य अनेक प्राकृतिक-तत्व शांत भाव से आते हैं और किसी अलक्षित शक्ति के आदेश से चले जाते हैं। यहां व्यक्ति सुख की आशा में इस प्रकार भटकता रहता है जिस प्रकार मरुस्थल में मृग पिपासाकुल होने पर पानी की खोज में भटका करता है—

> "मृग मरीचिका के चिर पथ पर,
> सुख आता प्यासों के पग धर,
> रुद्ध हृदय के पट लेता कर
> गर्वित कहता, 'मैं मधु हूं मुझसे क्या पतझर का नाता'।"
>
> (पृ० १८-१९)

तृष्णा-जनित सुख वस्तुतः चिरस्थायी हो ही नहीं सकता, उपनिषदें उसे अल्प कहकर ऐसे सुख का निषेध करती हैं। कठो० ऐसे सुख को नाशवान कहकर उसका तिरस्कार करती हैं। इस प्रकार महादेवीजी का तृष्णा-जनित लौकिक सुख-सम्बन्धी चिन्तन भी उपनिषदों की विचारधारा से प्रभावित हैं।

**सर्ववाद**—महादेवीजी की प्रकृति सामान्य व्यक्तियों की भाँति जड़ नहीं है, उनके निकट वह जीवित-जागृत सत्ता है, वह चेतन है। प्रकृति के राशि-राशि सौंदर्य में उन्हें उस अलक्ष्य सत्ता के अपूर्व सौंदर्य की झाँकी प्राप्त होती है। 'रात्रि में नीरवता में, नील गगन के चमकते असंख्य नक्षत्रों में उसी की आभा विद्यमान है, दिन में प्रकाशित सूर्य की तीक्ष्ण-प्रखर किरणों में भी उसी का तेज निहित है और चन्द्रमा की शीतल चांदनी में भी वही शीतांशुरूप में विराजमान है।' (पृ० ७०) प्रकृति के सभी उपकरणों में प्रभु की व्याप्ति और उसकी झाँकी से सम्बन्धित यह सर्वात्मवादी दृष्टिकोण सभी छायावादी कवियों की एक विशिष्टता रही है। महादेवीजी में

भी यह प्रवृत्ति विद्यमान है। वे कहती हैं—

**"तेरी आभा का कण नभ को**
**देता अगणित दीपक दान,**
**दिन को कनक राशि पहनाता।'**
**विधु को चाँदी-सा परिधान।"** (रश्मि, पृ० ७०)

स्वयं वेद भगवान् 'पुरुष एवेदं सर्वम्' कहकर उस विराट् की सर्वत्र विद्यमानता का परिचय देकर सर्वात्मवाद का ही प्रतिपादन करते हैं। इसी आधार पर महादेवीजी भी अपार वारीश में उसकी महिमा की छाया-छवि के दर्शन करती हैं और नीलगगन में उसके अनन्त विस्तार को देखकर मुग्ध होती हैं, उसकी शोभा-सुषमा का एक क्षण राशि-राशि फूलों के वनों को पुष्पित कर देता है साथ ही प्रलय जैसे झंझावात में भी उसी की भ्रकुटि के विलास का दर्शन करती हैं—

**"तेरी महिमा की छाया-छवि,**
**छू होता वारीश अपार,**
**नील गगन पा लेता घन सा,**
**तम सा अन्तहीन विस्तार।**
**सुषमा का कण एक खिलाता**
**राशि-राशि फूलों के वन,**
**शत शत झंझावात प्रलय—**
**बनता पल में भ्रू-संचालन।"** (वही, पृ० ७०-७१)

यह प्रकृति उनके लिए प्रिय का संकेत देने वाली है। इसीलिए वह विराट् तक पहुँचने की साधना के मार्ग पर सदैव उनके साथ रही है। प्रकृति की अलौकिकता को उन्होंने निम्न शब्दों में स्वीकार किया है—"प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, कोमल-कलियाँ और कठोर शिलाएँ अस्थिर जल और स्थिर पर्वत, निविड़-अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत-रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चंचलता-निश्चलता और मोह ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट् से उत्पन्न सहोदर हैं।"[१]

**रहस्य-भावना**—महादेवी जी की रहस्य-भावना के सम्बन्ध में पीछे 'नीहार' पर चर्चा करते समय प्रकाश डाल आए हैं। 'रश्मि' में दार्शनिक-चिन्तन के साथ रहस्य-भावना का भी पुट है। यहाँ विराट् के प्रति प्रणय-निवेदन के अतिरिक्त ब्रह्म जीव और जगत-सम्बन्धी दार्शनिक विषयों पर अनेक जिज्ञासाएँ की गई हैं, जिन पर वेद और उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन का सुस्पष्ट प्रभाव है।

**जिज्ञासा**—ऋग्वेद के नासदीय सूक्त अन्य सूक्तों तथा उपनिषदों के रहस्यमय 'आत्मवाद' में हमें जिज्ञासात्मक रहस्य-चिन्तन की अभिव्यक्ति मिलती है। ऋग्वेद के नासदीय-सूक्त में सृष्टि से पूर्व की स्थिति पर चिन्तन प्रकट करते हुए कहा है कि उस

१. यामा की भूमिका, पृष्ठ ७ (चतुर्थ सं० २०१८)।

समय न असत् था न सत्, न रज था न व्योम और उससे परे भी कोई वस्तु नहीं थी, फिर आवरण भी कहाँ से आया। उस समय मृत्यु भी नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिन का भेद भी नहीं था। वायु शून्य और आत्मावलम्बन से श्वास-प्रश्वास-युक्त केवल एक ब्रह्म था। उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

"नासदासीद् नो सदासीत्तदानीम्
नासीद् रजो नो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुहकस्य शर्म—
अम्भः किमासीद्गहनंगभीरम्। (१० १२९, १)
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि
न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः
आनीदवातं स्वधया 'तदेकं'
तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास।" (१०, १२९, २)

इसी आधार पर सृष्टि से पूर्व कौन सत्ता विद्यमान थी जो मौन-रूप से अकेली सो रही थी, उसी के सम्बन्ध में जिज्ञासा करती हुई महादेवी जी पूछती हैं—

"न थे जब परिवर्तन दिन रात,
नहीं आलोक तिमिर थे ज्ञात,
व्याप्त क्या सूने में सब ओर,
एक कम्पन थी एक हिलोर?
न जिसमें स्पन्दन था न विकार
न जिसका आदि न उपसंहार।
सृष्टि के आदि-आदि में मौन,
अकेला सोता था वह कौन?" (रश्मि, पृ० ६०)

सृष्टि-निर्माण के उपरान्त कनक से दिन और मोती जैसी रात्रि, सुनहली प्रभात और गुलाबी संध्या की आभा जिसे हम प्रतिदिन विश्व की चित्रपटी पर बनते और मिटते देखते हैं उसका सूत्राधार और नियामक कौन है? (पृ० १४) रश्मि की यह जिज्ञासा भी ब्रह्म को लक्ष्य करके ही प्रकट की गई है। सर्ववादात्मक दृष्टिकोण के अनुसार वह ब्रह्म प्रकृति के कण-कण में विद्यमान है। इसी धारणा से सम्बन्धित ब्रह्म-सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाएँ 'कौन है?' शीर्षक रचना में व्यक्त की गई हैं। कवयित्री को सृष्टि के एक-एक स्पन्दन में और उसके क्षण-क्षण में परिवर्तित सौन्दर्य में एक अज्ञात शक्ति की उपस्थिति का भान होता है। उन्हें प्रतीत होती है कि प्रभात के मदिर वातावरण में दूर से आने वाली ध्वनि के रूप में कोई निमंत्रित कर रहा है। पर वह है कौन? यह जानने की प्रबल इच्छा है। इसी प्रकार आकाश में घटाटोप रूप से छाई बादलों की सघनता के मध्य सहसा विद्युत की चमक कौंध जाती है। वे पूछती हैं कि 'उस विद्युत् की चमक में अपनी मुस्कान अंकित कर देने वाला वह कौन है?

"शून्य नभ पर उमड़ जब दुखभार सी
नैश तम में, सघन छा जाती जटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति सी
जब सुनहले आँसुओं के हार सी,
तब चमक जो लोचनों को मूंदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?" (पृ ..)

इसी प्रकार सुगन्ध का रूप धारण कर थपकियाँ देकर सुलाने वाले 'निद्रा के श्वासों के रूप में भी उन्हें किसी अज्ञात सत्ता की अनुभूति होती है। पर कठिनाई यह है कि उन्हें उस शक्ति के स्वरूप का तनिक भी परिचय नहीं है। प्रभात-काल में भी नेत्रों में स्वप्नरूपी नाट्य-शाला पर पर्दा डालकर उन्हें जगाने वाली किसी शक्ति विशेष का भान होता है ? वे उसके स्वरूप का परिचय पाने के लिए विशेष उत्सुक हैं। (पृ० २६) इसी प्रकार 'जीवनदीप' शीर्षक रचना में जड़ उपकरणों से चेतन का संयोग कर जीवनदीप प्रज्ज्वलित कर देने वाली रहस्यमय शक्ति के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासाएँ की गई हैं। वह कौन शक्ति है जो शून्य-काल के कुलों पर चुपके-से आकर संसार की लहरों में इस जीवनदीप को प्रवाहित कर देती है।

"किन उपकरणों का दीपक,
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्ति, कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?
शून्य काल के पुलिनों पर—
आकर चुपके से मौन,
इसे वहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?" (वही, पृ० २३)

'विश्व के बीच पड़ा यह मानव का भोला जीवन अपने अंचल में पिछली विस्मृति रूपधन बाँधकर किसका अन्वेषण कर रहा है।' (पृष्ठ २६) यहाँ भी ब्रह्म से ही सम्बन्धित जिज्ञासा की गई है। इस प्रकार रश्मि की ये ब्रह्म-सम्बन्धी विविध जिज्ञासाएँ बड़ी ही विचारोत्तेजक हैं जो दार्शनिक पृष्ठभूमि पर खड़ी की गई हैं।[1]

स्पर्शानुभूति—'रश्मि' में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है उसकी स्पर्शानुभूति के चित्र भी दिए गए हैं। रश्मि की प्रथम कविता में ही सूर्य की किरणों के रूपक से उस आलोक पुरुष का स्पर्श होते ही हृदय के कण-कण से मधु के निर्झर सजल गान फूट पड़ने की अनुमति प्राप्त करती हैं—

"चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान।" (रश्मि, पृ० ११)

---

१. देखिए, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ५३, ८७ तथा २२६।

और कभी-कभी उस विराट् प्रिय की स्मृति सजग हो जाने पर जीवन-सरिता में जड़ता-सी छाने लगती है, लगता है जैसे पीछे कुछ भूल आई हैं। (पृ० ६३) और कभी उन्हें दुःख के अवगुण्ठन से छिपा कर मानस में बस जाने के लिए पुकारती हैं। (पृ० २१), और कभी उनसे अपनी अभिन्नता का परिचय देती हुई पूर्व एकता का स्मरण कराती हैं। वे कहती है कि जन्म से पूर्व वे दोनों (आत्मा-परमात्मा) एक थे दोनों में कोई भिन्नता नहीं थी, पर पृथ्वी पर जन्म लेते ही उनसे वियोग हो गया और अब वियोग का असह्य दुःख सहना पड़ रहा है। वे उनसे पूछती हैं कि तुम मुझे इस अविद्या-रूप संसार से अभिसार करने के लिए वारम्वार क्यों अपने से अलग कर यहाँ भेज देते हो—

**"जन्म ही जिसको हुआ वियोग**
**तुम्हारा ही तो हूं उच्छ्वास,**
**चुरा लाया जो विश्व-समीर**
**वही पीड़ा की पहली सांस।**
**छोड़ क्यों देते वारम्वार**
**मुझे तम से करने अभिसार!"** (पृ० ४४)

यहाँ स्पष्ट ही उन्होंने दर्शन के आधार पर अद्वैत का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म से जीवात्मा के पार्थक्य की अनुभूति ही तो उसकी वेदना का कारण बनती हैं। महादेवी जी के काव्य में इस वेदनानुभूति को विस्तार से स्थान मिला है। उनकी आत्मा ब्रह्म के वियोग में कबीर और मीरा ही की भाँति तीव्र विरह-वेदना का अनुभव करती है। यह अपने स्वरूप में इतनी मार्मिक और हृदय को स्पर्श करने वाली है कि उसकी सत्यता में किसी प्रकार के सन्देह को स्थान ही नहीं। वे उसकी प्रतीक्षा करते-करते 'पथिकिनी की भी भाँति धीरे-धीरे पग रखती हुई स्वयं को मिटा देना चाहती है भले ही पंथ की सीमा न मिले।' (पृ० २१)

**जीवन और मृत्यु**—रश्मि में जीवन और मृत्यु जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी चिन्तन हुआ है। ये दोनों विषय मानव-बुद्धि के समक्ष एक ऐसी चिरन्तन समस्या को उपस्थित करते हैं जिनका अद्यपर्यन्त भी सम्यक् और सर्वसम्मत समाधान नहीं निकाला जा सका। प्राणी के जन्म के साथ मृत्यु की दुर्घटना भी एक ऐसी शृंखला के रूप में जुड़ी हुई है जिसको कभी तोड़ा नहीं जा सका है। आदि में अन्त के छिपे होने का भान ही मनुष्य को इस दिशा में चिन्तन के लिए प्रेरित करता है। विश्व के लगभग सभी दर्शन-शास्त्रों में इस समस्या पर अपने-अपने ढंग से विचार-मन्थन हुआ है, पर अतीत भारत में इस विषय पर जैसा सूक्ष्म और गंभीर, साँगोपाँग एवं वैज्ञानिक चिन्तन हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्राचीन ऋषि-मुनि इस विषय में जो कुछ कह आए हैं उससे आगे और कुछ भी अधिक नहीं कहा जा सका है। उपनिषदें आत्मा की अमरता में विश्वास करती हैं। जड़ शरीर के नष्ट हो जाने पर भी चेतन आत्मा कभी विनष्ट नहीं होता और वह तब तक जड़ शरीरों में प्रविष्ट

"शून्य नभ पर उमड़ जब दुखभार सी
नैश तम में, सघन छा जाती जटा,
बिखर जाती जुगनुओं की पाँति सी
जब सुनहले आँसुओं के हार सी,
तब चमक जो लोचनों को मूंदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?" (पृ० २५)

इसी प्रकार सुगन्ध का रूप धारण कर थपकियाँ देकर सुलाने वाले 'निद्रा के श्वासों के रूप में भी उन्हें किसी अज्ञात सत्ता की अनुभूति होती है। पर कठिनाई यह है कि उन्हें उस शक्ति के स्वरूप का तनिक भी परिचय नहीं है। प्रभात-काल में भी नेत्रों में स्वप्नरूपी नाट्य-शाला पर पर्दा डालकर उन्हें जगाने वाली किसी शक्ति विशेष का भान होता है ? वे उसके स्वरूप का परिचय पाने के लिए विशेष उत्सुक हैं। (पृ० २६) इसी प्रकार 'जीवनदीप' शीर्षक रचना में जड़ उपकरणों से चेतन का संयोग कर जीवनदीप प्रज्ज्वलित कर देने वाली रहस्यमय शक्ति के सम्बन्ध में पुनः जिज्ञासाएँ की गई हैं। वह कौन शक्ति है जो शून्य-काल के कुलों पर चुपके-से आकर संसार की लहरों में इस जीवनदीप को प्रवाहित कर देती है।

"किन उपकरणों का दीपक,
किसका जलता है तेल ?
किसकी वर्ति, कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?
शून्य काल के पुलिनों पर—
आकर चुपके से मौन,
इसे बहा जाता लहरों में
वह रहस्यमय कौन ?" (वही, पृ० २३)

'विश्व के बीच पड़ा यह मानव का भोला जीवन अपने अंचल में पिछली विस्मृति रूपधन बाँधकर किसका अन्वेषण कर रहा है।' (पृष्ठ २६) यहाँ भी ब्रह्म से ही सम्बन्धित जिज्ञासा की गई है। इस प्रकार रश्मि की ये ब्रह्म-सम्बन्धी विविध जिज्ञासाएँ बड़ी ही विचारोत्तेजक हैं जो दार्शनिक पृष्ठभूमि पर खड़ी की गई हैं।[1]

स्पर्शानुभूति—'रश्मि' में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की गई है उसकी स्पर्शानुभूति के चित्र भी दिए गए हैं। रश्मि की प्रथम कविता में ही सूर्य की किरणों के रूपक से उस आलोक पुरुष का स्पर्श होते ही हृदय के कण-कण से मधु के निर्झर सजल गान फूट पड़ने की अनुमति प्राप्त करती हैं—

"चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान।" (रश्मि, पृ० ११)

---

१. देखिए, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ५३, ८७ तथा २२६।

मनुष्य को विकास की ओर बढ़ाने वाला परिवर्तन सिद्ध होती है।

इसी विचारधारा से प्रभावित होकर कवयित्री मृत्यु का 'प्राणों के अंतिम पाहुन !' के रूप में आह्वान करती है, और उसे उस वारिद के रूप में आने के लिए निमंत्रित करती हैं जो चन्द्रमा की कांति में धुला हुआ होने पर भी काजल के समान कृष्ण-रूप रखता है और आकाश-पथ में बिजली की चमक के रूप में अपनी स्थिति का प्रसार करता है। (पृ० ७६) इस प्रकार वे मृत्यु को शांतिदायिनी एव विश्राम-प्रदायिनी रात्रि के रूप में आमंत्रित करती है। मृत्यु का दश उन्हें पीडित नहीं करता। वे स्पष्ट कहती हैं—

"अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।" (रश्मि, पृ० २९)

वे मृत्यु के समक्ष अमरता की भी कामना नहीं करती, क्योंकि मृत्यु जीवन के चरम विकास की ओर अग्रसर होने का अगला पग है।

**नीरजा :**

'नीरजा' में 'नीहार' और 'रश्मि' के बाद की रचनाएँ संग्रहीत हैं। नीरजा के गीतों मे हमें उनके भाव और चिन्तन में परस्पर सामंजस्य की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने मस्तिष्क का सहज ही हृदय से समन्वय कर लिया है। साथ ही उनके सुख-दुःख की प्रवृत्तियाँ भी सन्तुलित होकर अभिव्यक्ति पा सकी हैं। इन रचनाओं में कल्पना की प्रधानता के स्थान पर चिन्तन और अनुभूति का प्रबल गाम्भीर्य विद्यमान है। नीरजा के कुछ विषय—यथा—वेदना, विरह, निर्माण में ध्वंस तो नीहार और रश्मि जैसे हैं किन्तु सुख-दुःख, आँसू और मुस्कान का समन्वय तथा परदुःख-कातरता आदि कुछ विषय नये भी हैं। संक्षेप में हम नीरजा में विरह-वेदना के साथ-साथ आत्मानंद से युक्त उनके सहज, प्रसन्न मुख का दर्शन भी करते हैं।

ब्रह्म—'नीरजा' के ब्रह्म का स्वरूप यद्यपि वही है जैसा कि 'रश्मि' में था, पर यहाँ वह माधुर्य-भाव से अधिक सम्पृक्त होकर आया है। इसीलिए चिन्तन का खरखरापन यहाँ कम ही मिलेगा। नीरजा के एक गीत में उस परम शक्ति का, अप्सरा का नृत्य-रूपक बाँधकर चराचर जगत् के सृजन और संहार का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है जो औपनिषदिक दर्शन के अनुरूप है। कवयित्री कहती हैं—

"आलोक-तिमिर सित-असित चीर!
सागर गर्जन रुनझुन मंजीर;
उड़ता झंझा में अलक-जाल,
मेघों में मुखरित किंकिणि-स्वर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर!
रवि-शशि तेरे अवतंस लोल,

सीमन्त जटित तारक अमोल,
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र धनुष,
हिमकरण बन झरते स्वेद-निकर।" (नीरजा, पृ० १०२)

अपने संकेत पर समस्त संसार को नचाने वाली उस विराट्-शक्ति के ये अंधकार-प्रकाश, रात-दिन, श्याम और श्वेत वस्त्र हैं। सूर्य-चन्द्र ही उसके कुण्डल हैं, तारे माँग में ग्रथित मोती, बिजली उसका कटाक्ष, इन्द्र-धनुष उसकी हँसी और ओस-बिन्दु नृत्य-जन्य पसीने की बूंदें।

असंख्य प्रलय और सृष्टि उसके स्पन्दन में समाविष्ट हैं, जड़-चेतनमय विश्व और उसकी परिवर्तन-प्रक्रिया उसी पर आधारित है। उसके स्पर्श से उसी में लीन होकर जड़ पदार्थ भी अमरता का वरदान पा लेते हैं। सृष्टि के सब उपकरणों का सुन्दर गन्तव्य वही है। (वही, पृ० १०३) अन्यत्र उसके विषय में कहा गया है कि वह अणुमय ही विराट् होकर जगमय रूप धारण कर लेता है, वह सतत स्पन्दनशील है और जीवात्मा का वही संगमनीय स्थल है—

"अणुमय हो बनता जो जगमय
उड़ते रहना जिसका स्पन्दन
जीवन जिससे मेरा संगम, (पृ० ५५)

यहाँ स्पष्ट ही 'अणोरणीयान् महत्तोमहीयान्' की ध्वनि ध्वनित हो रही है। ब्रह्म के अपनी गति को समेटकर स्थिर हो जाने में ही इस सृष्टि का प्रलय निहित है और उसका गतिशील रहने में सृष्टि का विकास। जीवात्मा के पलकों के उठने-गिरने में भी उसके ही उत्थान-पतन का क्रम समाविष्ट है। (वही, पृ० ५५)

सृष्टि के कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता सगुण निराकार ब्रह्म को महादेवी जी अपने दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँधकर कहीं 'चिर सुन्दर', कहीं 'निरुपम', कहीं 'चिरन्तन-प्रिय' कहीं 'अलबेला', 'चिर-नूतन', 'चिरचंचल', 'छलनामय', 'छायातन', 'प्रिय', 'प्रियतम' और रहस्यमय आदि नामों से पुकारा है।

**जीवात्मा**—नीरजा में जीवात्मा के सम्बन्ध में उसके दार्शनिक और साधिका दोनों रूपों में चिन्तन हुआ है। यहाँ भी उन्हीं मान्यताओं की पुनरावृत्ति हुई है जिनकी पीछे रश्मि के चिन्तन में चर्चा कर आए हैं—और जो उपनिपदों की भावना के अनुकूल है।

महादेवी जी कहती हैं कि आत्मा असीम और अनादि है, पर जब वह लघुता के बन्धन में बंधती है तभी सीमित हो जाती है। वह प्रकाशयुक्त है उसकी ज्योति से अज्ञानांधकार का श्यामल वक्ष विदीर्ण हो जाता है। वह असीम तम से निरन्तर खेल खेला करती हैं—

"सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन,

× ×

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर,।" (वही, पृ० ३३)

इसलिए महादेवी जी दीपकवत् प्रज्ज्वलित आत्मा के तम के, जड़ता के अणु-अणु को विद्युत की भाँति प्रकाशित एवं ज्योतित करने की बात कहती हैं।

महादेवी जी ने अन्यत्र जीवात्मा के संसार में मोह-निद्रा में लीन रहने की स्थिति का चित्रण भी किया है। वे कहती हैं—'मुझे मोह-निद्रा में सोते हुए अनेक युग व्यतीत हो चुके हैं और तुम भी मुझे सांसारिक सुखों में मग्न रखने के लिए अपनी लीला का प्रसार करते रहे हो इस प्रकार तुम्हारी माया-सृष्टि ने मेरे लिए निद्रा-रत रहने में लोरी का रूप धारण किया हुआ है। अब तुम्हारे स्वरूप से परिचित हो जाने के कारण मैं इस मोह-निद्रा का त्याग करना चाहती हूँ।'

**"तुम सो जाओ मैं गाऊँ !**
**मुझको सोते युग बीते, तुमको यों लोरी गाते,**
**अब आओ मैं पलकों में, स्वप्नों से सेज बिछाऊं।"** (पृ० १०७)

जीवात्मा-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन उपनिषदों के अविद्या-तत्व से प्रभावित होकर आया है। *अविद्या ही जीवात्मा* को सांसारिक प्रलोभनों में आसक्त कर उसे *'आत्म तत्व'* के वास्तविक परिचय होने देने से दूर रखती हैं। आत्मस्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होते ही अविद्या-जन्य मोह-निद्रा टूट जाती है।[1]

**आत्मा-परमात्मा का अभिन्नत्व (अद्वैत)**—ब्रह्म से जीव के अभिन्नत्व की अनुभूति की अभिव्यक्ति 'रश्मि' की ही भाँति यहाँ भी वर्तमान है। 'नीरजा' में आकर अभिन्नता की यह भावना और भी अधिक प्रगाढ हो गई है। वे कहती हैं कि 'मैं तुम्हारी वीणा (आधार) भी हूँ और रागिनी (आधेय) भी हूँ। मैं तुम्हारी (ब्रह्म की) अभिव्यक्ति का माध्यम भी हूँ और अभिव्यक्त वस्तु भी। इस प्रकार मेरा व्यक्तित्व ससीम (वीणा) तथा असीम (रागिनी) का संगम है। यहाँ स्पष्ट ही आत्मा-परमात्मा के अभिन्नत्व का प्रतिपादन किया है—

**'बीन भी हूं मैं तुम्हारी रागिनों भी हूं।'** (पृ० २५)

यही भाव निम्न पंक्तियों में भी व्यंजित है—

**'प्रिय ! मैं हूं एक पहेली भी**
× × ×
**प्रिय मैं सीमा की गोदपली**
**पर हूँ असीम मे खेली भी।'** (पृ० ७३)

वे कहती हैं कि ब्रह्म से जीवात्मा का संबंध काया-छाया का सा है। जिस प्रकार छाया का अस्तित्व काया से है फिर भी वह दूर है, पृथक् है, उसी प्रकार शरीर की विद्यमानता के कारण ही जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् प्रतीत होती है, पर तात्विक दृष्टि से ब्रह्म से

---

[1] देखिये, इस शोध-प्रबन्ध का पृष्ठ ३१९ तथा ९९।

अभिन्न भी है—

> 'एक होकर दूर तन से छांह वह चल हूँ,
> दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ ।' (पृ० २५)

जीवात्मा वह शून्य—अनन्तकाल—है जो पल-रूपी पलकों के पावड़ों पर पैर रखकर आगे बढ़ता है। वह पलों में बद्ध होने पर भी असीम है। यह वह प्रतिविम्ब है जो विम्ब रूप परमात्मा से पृथक् नहीं हो सकता। जीवात्मा अपने आधार ब्रह्म के हृदय की इच्छा का परिणाम है, उसकी इच्छा-शक्ति के विम्ब का प्रतिविम्ब है, अतएव उससे अभिन्न है—

> 'हूँ वही प्रतिविम्ब जो आधार के उर में,
> नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ ।' (पृ० २५)

यहाँ महादेवी जी 'एकोऽहं बहुस्याम' और उपनिषदों के ब्रह्म-जीव के बीच विम्ब-प्रतिविम्ब भाव' के आधार पर दोनों की एकता का प्रतिपादन करती हैं। निम्न पंक्तियों में उन्होंने पूर्ण अद्वैत का प्रतिपादन किया है—

> 'नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
> त्याग का दिन भी चरम आसक्ति का तम भी,
> तार भी आघात भी झंकार की गति भी,
> पात्र भी मधु भी मधुप भी मधुर विस्मृति भी,
> अधर भी हूँ और स्मित की चांदनी भी हूँ ।' (पृ० २६)

पार्थिव जीवन की दृष्टि से जीवात्मा नाश-रूप भी है अनन्त आत्मा की दृष्टि से चिर-विकास का क्रम भी वही है, त्याग और आसक्ति, तार, आघात, और उससे निःसृत झंकार की गति भी वही है और वही पात्र, मधु, मधुप (भोक्ता) और मधुर विस्मृति भी है। यहाँ 'एकमेवाद्वितीयम्' इस औपनिषदिक-सूत्र को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है।

ब्रह्म से जीव के अभिन्नत्व का वर्णन प्रकारान्तर से—'तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या ।' इस पंक्ति से आरम्भ होने वाले गीत में भी हुआ है। उपनिषदें उस ज्योतिपुरुष को हृदय में विराजमान बताती हैं—

> 'अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो ।' (मुण्डकोपनिषद् ३,१,५)

और जीवात्मा से उसकी अभिन्नता का प्रतिपादन भी करती हैं (अयं आत्मा ब्रह्म बृ० उ० ४,४,५) इसी आधार पर इस गीत की रचना हुई है। जब ब्रह्म जीवात्मा के हृदय में ही विद्यमान है तो फिर उसके परिचय का प्रश्न कैसा ? परिचय उस वस्तु का दिया-लिया जाता है जो अपने से भिन्न हो और वह अपने से भिन्न ही नहीं इसलिए उसका परिचय भी नहीं दिया जा सकता। ब्रह्म यदि सीमारहित असीम है तो जीवात्मा भी सीमा का भ्रम-मात्र है, वह वस्तुतः सीमित नहीं है। काया और छाया की भाँति वे दोनों एक और अभिन्न हैं। फिर प्रेयसी और प्रियतम के द्वैत का अभिनय कैसा। इसी दार्शनिक तथ्य को काव्यमय अभिव्यक्ति प्रदान करती हुई महादेवी

जी कहती हैं—'जिस प्रकार चित्र एवं चित्रगत रेखा-क्रम में, मधुर राग एवं स्वर में अभिन्नता है उसी प्रकार ब्रह्म और जीव के मध्य अभिन्नता का सम्बन्ध है—

'चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर-संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?' (पृ० ३०)

इसी प्रकार 'मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला-सा रचना में भी अभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन हुआ है। और 'आंसू का मोल न लूंगी मैं' रचना में सर्ववादी दृष्टिकोण के आधार पर जीवात्मा और विश्व के बीच अद्वैत की प्रतिष्ठा हुई है। कवयित्री अपनी करुणा का प्रतिदान इसलिए नहीं चाहती, क्योंकि विश्व और उनका भेद केवल नाम-रूपात्मक है। वस्तुतः उनमें और जगत् में अद्वैत है, समय उनके निरन्तर चलने वाले प्राणों के स्पन्दन से भिन्न नहीं है। उनकी एक-एक सांस ही तो काल का माप-मान बनी हुई है। यह जगत् भी तो उनका ही दर्पण है, उनकी सभी क्रियाओं का प्रतिबिम्ब ही तो यहाँ विश्व में पड़ा हुआ है। संसार का सारा कार्य-व्यापार उनसे भिन्न नहीं है। वे अपने ब्रह्मरूप प्रियतम को सम्बोधित करके कहती हैं कि 'तुम मेरे सर्वस्व हो और इस विश्व में भी जो कुछ है उन सबके साथ मेरा सह-अस्तित्व है, और उन सबमें तुम भी समाए हुए हो, अतएव मेरा किसी से व्यापार नहीं हो सकता।'

'यह क्षण क्या ? द्रुत मेरा स्पन्दन,
यह रज क्या ? नव मेरा मृदु तन,
यह जग क्या ? लघु मेरा दर्पण,
प्रिय तुम क्या ? चिर मेरे जीवन,
मेरे सब सब में प्रिय तुम,
किससे व्यापार करूँगी मैं ?' (पृ० ६९)

यहाँ उपनिषदों के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के सिद्धान्त के आधार पर जीवात्मा और विश्व, विश्व और ब्रह्म तथा ब्रह्म और जीव के एकत्व का प्रतिपादन किया गया है।

अद्वैतवाद—उपनिषदें कहती हैं कि—

'यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावद्ध्यनुशासनम्।' (कठो० ६,१५)

(जब साधक के हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियाँ भली-भाँति खुल जाती हैं, तब वह मरण-धर्मा मनुष्य इसी शरीर में अमर हो जाता है। बस इतना ही सनातन उपदेश है।) उपनिषदें इस गाँठ को अविद्या-माया की गाँठ कहती है।[1] जो परमेश्वर की कृपा

से किसी विरले साक की ही खुलती हैं।[1] पर जब यह गाँठ खुल जाती हैं तब जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तब विश्व-माया की निवृत्ति हो जाती है। 'स्व' 'पर' का द्वैत लुप्त हो जाता है मैं और तुम का अवगुण्ठन टूट जाता है। यह अद्वैतपरक दार्शनिक चिन्तन महादेवीजी की 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' पंक्ति से प्रारम्भ होने वाली कविता में प्रतिफलित हुआ है।

वे कहती हैं—'हे निर्मम ! वह माया का दर्पण जो मेरे-तेरे ज्ञान का अहंकार भाव का जनक था, वह आज खण्ड-खण्ड हो गया। इसके टूटने से पहले इस दर्पण में तेरा प्रतिबिम्ब हँसता था जो मेरे लिए दुःख का कारण बन गया था, मेरे-तेरे की बन्धनमयी स्थिति भी इसी के कारण थी। इस प्रकार इसके प्रभाव से यह सारा विश्व हर्ष और विषाद से अंकित था और जिसके कारण मानवात्मा आवागमन के बंधन में बंधी तुम से बार-बार आँख-मिचौनी का खेल खेला करती थी—वह आज नष्ट हो गया।

**'टूट गया वह दर्पण निर्मम !**
**उसमें हँस दी मेरी छाया !**
**मुझ में रो दी ममता माया;**
**अश्रु-हास ने विश्व सजाया,**
**रहे खेलते आंख मिचौनी**
**प्रिय ! जिसके परदे में मैं 'तुम' !**
**टूट गया वह दर्पण निर्मम !' (पृ० ६४)**

त ब्रह्म ने अपने एकाकीपन का भार दूर करने के लिए अविद्या-माया पर स संसार की रचना की थी वह पार्थिव अस्तित्व (माया का दर्पण) आज टूट गया—द्वैत की स्थिति लुप्त हो गई। (पृ० ६४) भेद-बुद्धि नष्ट होते ही नाना नाम-रूपात्मक जगत् सब लुप्त हो गया। आज तो केवल ब्रह्म की ही, अद्वैतावस्था की ही, चेतना रह गई है। आज न तो दिन-रात का ही अन्तर शेष रह गया है और न सुख-दुःख की प्रतीति ही। जब सब कुछ अद्वैत ही अद्वैत है तो तब फिर शृंगार कैसा ? रूठने और मनाने का अभिनय किससे ? और किसी की छवि से अन्तरतम को शोभित करने का प्रश्न भी कैसा ?

'किसमें देख संवारूँ कुन्तल
अंगराग पुलकों का मल मल,
स्वप्नों से आंजूं पलकें चल,
किस पर रीझूं किससे रूठूं
भर लूं किस छवि से अन्तरतम।
टूट गया वह दर्पण निर्मम !' (पृ० ६५)

---

१. श्वे० ३,२०।

आज तो अहंकार का आवरण भी शेप नहीं रहा जिसके अवगुण्ठन मे छिपकर ब्रह्म जीव को वन्धन में डालकर उसे साधन के रूप में प्रयोग मे लाता है। आज तो तुम्हारा सुख मुझ में और मेरा दुःख तुम में लुप्त हो गया है—

'आज कहाँ मेरा अपना पन,
तेरे छिपने का अवगुण्ठन,
मेरा बन्धन तेरा साधन,
तुम मुझ में अपना सुख देखो
मैं तुम में अपना दुख प्रियतम
टूट गया वह दर्पण निर्मम।' (पृ० ६५)

स्पष्ट है कि इस कविता में महादेवी जी ने उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म और जीव के अद्वैत रूप को दिखाया है। माया के कारण जो द्वैत-रूप दिखाई पड़ता है वह भ्रमात्मक है। ज्ञान के बाद जीव का वह भ्रम टूट जाता है। फलतः अद्वैत ही अद्वैत रह जाता है। उस स्थिति में किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखें, सुनें अथवा अभिवादन करें। यह अविद्यारूप माया ही है जिसके कारण द्वैत की स्थिति में पड़ा-पड़ा जीव नाना सुख-दुःखों का अनुभव करता रहता है। उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव कितने स्पष्ट रूप में इस कविता में प्रतिफलत हुआ है, यह द्रष्टव्य है।

इसी प्रकार 'विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात' में भी कवयित्री ने प्रकारान्तर से अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। (पृ० २४) इस जीव का अस्तित्व ही ब्रह्म से जीवात्मा के अविद्या-मायामय संसार में आकर फंस जाने के कारण है। इसलिए कवयित्री मानस-जीवन को विरह का जलजात कहकर पुकारती हैं। ब्रह्म एवं जीव का मौलिक अभेद ही इस कल्पना का दार्शनिक आधार है।

**सर्ववाद**—सर्ववादी दृष्टिकोण के अनुसार कवि प्रकृति के कण-कण में ब्रह्म की व्यापकता और उसके सौन्दर्य के दर्शन करता है, सारी प्रकृति को ब्रह्ममय देखकर प्रसन्न हो उठता है। 'नीहार' और 'रश्मि' में भी कवयित्री ने इस दृष्टिकोण से प्रकृति-सम्बन्धी चिन्तन प्रस्तुत किया है और वह प्रवृत्ति 'नीरजा' में भी विद्यमान है।

महादेवीजी कहती हैं कि उस अज्ञेय-ब्रह्म की स्थिति कलियों को आलिंगित कर जाती है इसीलिए वे बड़ी सुन्दर और मोहक प्रतीत होती हैं, इसी प्रकार मेघों में भी उसी की छवि के दर्शन करती हैं। (पृ० ६०) जो ब्रह्म दीपक के उजियाले में दीपित हो रहा है उसी की चिनगारी जीवात्मा में भी है—

**'उजियाला जिसका दीपक में**
**मुझ में भी है वह चिनगारी।'** (पृ० ६८)

तारों ने जो दृष्टि और कली ने जो हँसी प्राप्त की है वह उन्हीं से चुराई हुई है। (पृ० ५६) कवयित्री अरुणोदय में उसके उज्ज्वल प्रसन्न मुख के दर्शन करती है और

अन्धकारमयी रात्रि में उसकी छाया का भान। (पृ० २९)

'नव इन्द्र धनुष सा चीर
महावर अंजन ले,
अलि-गुंजित मीलित पंकज
नूपुर रुन झुन ले,
फिर आई मनाने साँझ
मैं वेसुध मानी नहीं
मैं प्रिय पहचानी नहीं।' (पृ० ३८)

उपरोक्त पंक्तियों में भी सन्ध्या-सौन्दर्य के विभिन्न प्रसाधनों से सज्जित होकर कवयित्री को मनाने आई, पर अपनी उन्मनी अवस्था में पड़े रहने के कारण वे संध्या-रूप में उपस्थित प्रिय को पहचान ही नहीं पाईं। यहाँ भी प्रकारान्तर से सर्ववादी दर्शन को ही काव्यमय रूप प्रदान किया गया है।

**रहस्य-भावना**—'नीरजा' में 'रश्मि' की अपेक्षा रहस्य-भावना अधिक प्रगाढ़ और सहज रूप में अभिव्यक्त हुई है। उपनिषदों की इस श्रुति के अनुसार—'अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।'[1] वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं विराट् परमात्मा जीवात्मा की हृदय-गुहा में निहित है। उस घटवासी परमात्मा की जिज्ञासा करते हुए कवयित्री कहती हैं—

'कौन तुम मेरे हृदय में ?
कौन मेरी कसक में नित
मधुरता भरता अलक्षित
कौन प्यासे लोचनों में
घुमड़ घिर झरता अपरिचित ?
स्वर्ण स्वप्नों का चितेरा।' (पृ० १९)

हृदय में निहित वह कौन-सी अदृष्ट रहस्यमय सत्ता है जो उनकी पीड़ा में नित्य-प्रति अलक्षित माधुर्य संचारित कर देती है। सचमुच वह सत्ता बड़ी विचित्र और अपूर्व होगी जो प्यासे लोचन में घिर-घुमड़कर झरा करती है। सम्पूर्ण रचना में ब्रह्म से सम्बन्धित यही जिज्ञासा व्यक्त की गई है। उस रहस्यमय सत्ता के अद्वितीय होने में भी उन्हें विश्वास है, क्योंकि वे कहती हैं—

'सुन रही हूं एक ही,
झंकार जीवन में, प्रलय में।
कौन तुम मेरे हृदय में ?' (पृ० २०)

यही जिज्ञासात्मक रहस्य-भावना 'आज क्यों तेरी वीणा मौन ?' इस पंक्ति से आरंभ होने वाली रचना में भी निहित है। (दे० पृ० १६) जब देवीजी इस तथ्य से आश्वस्त

---

१. श्वे० उ० ३,२०।

वह असीम प्रियतम हृदय में ही विद्यमान है तब उसकी पृथक् से पूजा या अर्चना का है कोई महत्त्व ही नहीं। जब उनकी श्वास नित्य प्रिय का अभिनन्दन करती रहती है, जब पद-रज धोने के लिए लोचनों का पर्याप्त जल-कण उनके पास है, जब पुलकित रोम ही अक्षत और पीड़ा ही चन्दन है, जब स्नेह-भरा मन झिलमिलाते दीप की भांति जलता रहता है तथा दृग-तारक कमल के पुष्प का काम देते हैं, अधर प्रिय-प्रिय जपते रहते हैं तथा पलकों का नर्तन ताल देता है, तब बाह्याडम्बर की क्या आवश्यकता !

'क्या पूजा क्या अर्चन रे ?
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे।
मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनन्दन रे !

× × ×

स्नेह भरा जलता है झिलमिल मेरा यह दीपक-मन रे !

× × ×

धूप बने उड़ते जाते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे।
प्रिय-प्रिय जपते अधर, ताल देता पलकों का नर्तन रे !' (पृ० ९९)

जिस घट-वासी ब्रह्म की देवीजी ने जिज्ञासा की है, उस ब्रह्म की प्रतीक्षा भी की है और उनके न आने पर विरह में आँसू भी बहाये हैं। मुस्काता संकेत भरा नभ प्रिय के आगमन की सूचना दे रहा है, इसीलिए वे प्रतीक्षा में बैठी हैं। (पृ० ७६) एक दिन प्रतीक्षा-रत साधिका के पास वह आया भी, पर उससे परिचय न होने के कारण और अपने बेसुधपन के कारण ने उसे पहचान नहीं पाई अतः वह लौट गया और इस प्रकार सारी रात पथ जोहते-जोहते यों ही व्यतीत हो गई। (पृ० ३६) फिर उस निष्ठुर के वियोग में उन्होंने जो अश्रु बहाये वे रोके से भी नहीं रुक पाये—

'प्रिय इन नयनों का अश्रु नीर !
बहता है युग-युग से अधीर।' (पृ० ९)

वह परम सुन्दर सरलता से पास नहीं आता। उसके सामीप्य-लाभ के लिए अथक साधना करनी पड़ती है। अतः देवीजी ने उसकी उपलब्धि के लिए सारा जीवन ही साधनामय बना लिया। वे प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल अपने आत्म-रूपी दीपक को प्रज्ज्वलित कर उसके प्रकाश से निरन्तर प्रियतम का पथ आलोकित करती रहती हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास है कि यह आत्मा-रूपी दीपक जल-जलकर जितना क्षीण होता जायेगा, उसकी साधना में ज्यों-ज्यों मिटता जायेगा त्यों-त्यों उस छलनामय के निकट आने की सम्भावना बढ़ती जायेगी—

'तू जल-जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलना मय
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल।' (पृ० ३४)

इस प्रकार महादेवीजी की साधना और उपासना मध्ययुगीन रहस्यवादी कवियों की भाँति अथवा नाथों और सिद्धों की भाँति योग की भूमिका पर न चलकर ज्ञान की भूमि पर प्रतिष्ठित है, जिसमें निष्काम कर्म-योग और भक्तों का आत्मनिवेदन और शरणागति का भाव भी सम्मिलित है, तथा लौकिक प्रेम के अन्तर्गत दाम्पत्य भाव का आत्म-समर्पण भी।

**'निल घिरूँ झर-झर मिटूं प्रिय।**
**घन बनूं वर दो मुझे प्रिय।'** (पृ० ४४)

इन पंक्तियों में कवयित्री ने घन की भाँति बरसने की कामना प्रकट कर के अद्वैत की पीठिका पर लोक-मंगल की भावना को व्यक्त किया है जो स्वामी विवेकानन्द से प्रभावित होकर आई है। वे अपने व्यक्तित्व के अस्तित्व को बनाए रखने और लोक-मंगल की साधना के समक्ष व्यक्तिगत मुक्ति का भी तिरस्कार करती हैं।

सांध्य-गीत :

'सांध्य गीत' के विषय लगभग वे ही हैं जो 'रश्मि' और 'नीरजा' के थे। पर इधर की रचनाओं में कल्पना और चिन्तन के स्थान पर अनुभूति और उपासना का भाव और भी सशक्त और तीव्र हो गया है। प्रिया के प्रियतम के प्रति प्रणय-निवेदन सांध्य-गीत की रचनाओं की प्रमुख विशेषता है। नीरजा की ही भाँति यहाँ भी मिलन-विरह, ध्वंस-निर्माण, आशा-निराशा, बन्धन-मुक्ति, इन विरोधी तत्वों के बीच समन्वय किया गया है। प्यास जीवन का पर्याय, दीप उनके मानस का प्रतीक और विरह आराध्य बन गया है—

**"विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा।"** (पृ० ३०)

तथा उस विरह को इतना महत्त्व दिया गया है कि मिलन की भी उपेक्षा की गई—'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ।' (पृ० ३७) पर यह रहस्य-भावना का विषय है—चिन्तन का अनुभूति में पर्यवसान है। और यही रहस्य-भावना इन गीतों में प्रमुख भी है। तदपि चिन्तन का सूत्र यहाँ भी विद्यमान है, पर क्षीण-रूप में और वह भी अनुभूति से, भावना से सम्पृक्त होकर।

**ब्रह्म**—सांध्य-गीत की एक रचना में हिमालय के स्वरूप-वर्णन के माध्यम से ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे चिर महान्, राग हीन (निःसंग-उन्नत मस्तक वाला, अटूट समाधि में निमग्न, आदि-आदि विभिन्न लक्षणों से शब्दायित किया है—

**"हे चिर महान्**
**यह स्वर्ण-रश्मि छू श्वेत भाल,**
**बरसा जाती रंगीन हास,**
**पर राग हीन तू हिम-निधान !**
**नभ में गर्वित झुकता न शीश-**

**टूटी है कब तेरी समाधि**
**झंझा लौटे शत हार-हार।"** (सांध्यगीत, पृ० ८३-८४)

उस निर्गुण-ब्रह्म की अटूट-समाधि को सैकड़ों झंझावात टकरा कर भी नहीं तोड़ सके फलतः उन्हें पराजित होकर लौटना पड़ा। ब्रह्म-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन उपनिषदों में परमसत्ता के लिए प्रयुक्त निषेधात्मक लक्षणों के अनुरूप ही है।[1] इस रचना के अन्त में भी और अन्यत्र भी ब्रह्म-सम्बन्धी वर्णन चिन्तन का विषय न बनकर भावना का विषय बनकर आया है जो रहस्य-वृत्ति का क्षेत्र है, अतः उसके रहस्यात्मक स्वरूप की चर्चा वहीं करेंगे।

**जीवात्मा**—यहाँ भी जीवात्मा का उन्हीं मान्यताओं के आधार पर वर्णन किया गया है जो उपनिषद्दर्शन से प्रभावित होकर उनकी पूर्व रचनाओं में पहले ही वर्णित हो चुकी है और जिन पर प्रसंगानुकूल प्रकाश भी डाला जा चुका है। हाँ, इन गीतों में एक विशेषता अवश्य-द्रष्टव्य है कि ब्रह्म के स्वरूप की ही भांति जीवात्मा के दार्शनिक स्वरूप पर भी भावना का आवरण अधिक चढ़ा हुआ है। एक स्थल पर वे कहती हैं कि इस कठिन सीमा-बन्धनों से बँधे नाम-रूपात्मक जगत में आई जीवात्मा परदेशिनी के समान है—

**"रूप-रेखा-उलझनों में**
**कठिन सीमा-बन्धनों में,**
**जग बँधा निष्ठुर क्षणों में!**
**अश्रुमय कोमल कहाँ तू**
**आ गई परदेशिनी री!"** (पृ० ७२)

इसकी पृष्ठभूमि में जो दार्शनिक चिन्तन है वह यह है कि जीवात्मा न केवल चिन्मय ब्रह्म का अंश है प्रत्युत स्वयं चिन्मय एवं शाश्वत है। अविद्या-माया के प्रभाव से वह इस नाम-रूपात्मक जगत् के कठोर बन्धनों में सीमित हो गया है। अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान होते ही वह इसके जड़ बन्धनों से मुक्त होकर पुनः शाश्वत में लीन हो जायेगा। स्पष्ट है कि जीवात्मा यहाँ थोड़े समय के लिए आए हुए परदेशी के समान ही है। यह संसार उसका चिरस्थायी गृह नहीं है, तभी तो उन्होंने "चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना। जाग, तुझको दूर जाना—" गीत (पृ० ५७) में मायामय संसार में पड़े जीवात्मा को उद्बोधितक रते हुए सतत साधना-पथ पर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा दी तथा प्रेरित करते हुए उसे पूछा—"क्या संसार के मोम के समान घुलकर समाप्त हो जाने वाले माया और मोह-रूपी बन्धन तुझे अपनी सज्जा में आबद्ध कर रखेंगे? क्या तितलियों के परों के समान आकर्षक संसार का मायात्मक सौन्दर्य तुम्हें अपने बन्धन में बाँधे रखेगा?" उत्तर होगा नहीं। अतः तू (जीवात्मा) अपनी छाया पर मुग्ध होकर इस संसार को अपने लिए कारावत ग्रहण न कर।"

---

१. देखिय, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ५८।

(पृ० ५७) क्योंकि तू अमरता का पुत्र है, मायामय संसार में उलझे रहने का अर्थ होगा मृत्यु को उर में बसाना, निरन्तर आवागमन के चक्र में फँसे रहना—'अमरता सुत चाहता क्यों मृत्यु को उर में बसाना।' (पृ० ५८) 'आत्मा अमर है, अज और शाश्वत है यह बात हम पीछे श्रुतियों का प्रमाण देकर स्पष्ट कर आए हैं।'[1]

अन्यत्र भी महादेवी जी ने यही भाव व्यक्त किया है कि जीवात्मा और संसार का सम्बन्ध तो दर्पण और उसमें पड़े प्रतिबिम्ब की भाँति अस्थिर है, थोड़े समय का है, जिस प्रकार दर्पण के टूटने पर उस में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी लुप्त हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान द्वारा माया का दर्पण टूटने पर जीवात्मा की भ्रमावस्था विछिन्न हो जाती है, केवल मात्र रह जाती है अद्वैतावस्था। इस प्रकार 'आरसी प्रतिबिम्ब का 'कब चिर हुआ जग स्नेह नाता' (पृ० ४४) रचना में 'नीरजा' के 'टूट गया वह दर्पण निर्मम' पंक्ति से आरम्भ गीत के भाव का ही प्रकारान्तर से उल्लेख है जो जीवात्मा की अद्वितीयता एवं शाश्वतता तथा संसार की मायात्मकता का प्रतिपादन करता है।[2]

निम्न पंक्तियों में महादेवी जी ने ब्रह्म, जीव और जीव और जगत् की अभिन्नता का प्रतिपादन भी किया है जो नीरजा में व्यक्त भाव-सूत्र का ही विकास है। वे कहती हैं—

**"उमड़ता मेरे दृगों में बरसता घनश्याम में जो;**
**अधर में मेरे खिला नव इन्द्र धनु अभिराम में जो;**
**बोलता मुझ में वही जग मौन में जिसको बुलाता।"** (पृ० ४३)

वही सत्ता आँखों में अश्रु बनकर उमड़ती हुई कही गई है जो बादलों से जल-रूप में बरस पड़ती है, वही उनके अधर की स्थिति में खिलता है जो इन्द्र-धनुष के सतरंगी सौन्दर्य में विद्यमान है, जिसको जग मौन-रूप से आन्वित करता है वही उनमें बोलता है। इस प्रकार 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के उपनिषदों के सर्ववादी-दर्शन के आधार पर यहाँ ब्रह्म, जीव और प्रकृति के अभेद का प्रतिपादन हुआ।

'सो रहा है विश्व पर प्रिय तारकों में जगाता है' (पृ० ४६) पंक्ति से आरम्भ होने वाले गीत में भी कवयित्री ने सर्ववादी दार्शनिक को ही अभिव्यक्ति दी है।

**रहस्य-भावना**—'सांध्य गीत' की रहस्य-भावना में पूर्व कृतियों की अपेक्षा अधिक प्रगाढता और तीव्रता है। दार्शनिक चिन्तन का स्थान अब साधनात्मक अनुभूति ने ग्रहण कर लिया है। उनके साध्य का स्वरूप भी अब निश्चित-सा हो गया है इसलिए इन गीतों में जिज्ञासाओं की लगभग न्यूनता है। सम्पूर्ण कृति में एकाध स्थल ही ऐसा मिलेगा जो जिज्ञासात्मक है। एक स्थल पर उनके विकल प्राण क्षितिज की समस्त सीमाओं को तोड़कर उस मार्ग का ओर-छोर जानने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं जिससे होकर ये युग और कल्प भागे जा रहे हैं—

---

१. दे० इस प्रबन्ध का पृ० ६५।
२. देखिये, इसी अध्याय का पृ० ४७६-८०।

"फिर विकल हैं प्राण मेरे !
तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूं उस ओर क्या है ?
जा रहे जिस पंथ से युग कल्प उसका छोर क्या है ?" (पृ० ५५)

पर वह पन्थ इतना विस्तृत है कि उसके विस्तार को आज तक कोई नहीं माप सका। यही इस पन्थ की विचित्रता है।

**प्रणय-निवेदन**—जिस ब्रह्म ने जीवन-दीप प्रज्वलित कर अधरों से अमर ज्वाला का संयोग किया, कवयित्री का समस्त जीवन उसी सत्ता के प्रति निवेदित है। उसी से उन्होंने दाम्पत्य-भाव पर आधारित प्रणय-सम्बन्ध स्थापित किया है, उसी से मिलने की आकांक्षा प्रकट की है, उसी के विरह में तुप्त आंसू भी बहाए हैं, उसका स्पर्श प्राप्त करने पर प्रसन्नता से विभोर भी हो उठी हैं, और उसी में मर मिटने की आकांक्षा भी प्रकट की है।

उनका प्रियतम चिरन्तन है, अतः उस चिरन्तन प्रिय की प्रेमिका होने के कारण उनका सुहाग भी शाश्वत और अमर है। (पृ० ५६) वह प्रिय स्वयं उनके हृदय में ही विद्यमान है अतः उसको अन्यत्र खोजना व्यर्थ है—

"प्रिय बसा उर में सुभग।
सुधि खोज की बसती कहां ?" (पृ० ३३)

एक दिन उस प्रिय ने स्वप्न में आकर कोमल कर का सुखद स्पर्श भी दिया था, पर वह तुरन्त चला भी गया। अब कवयित्री को उसकी सुखद स्मृति के सहारे ही युग से जीवन के व्यतीत करना है।

'क्यों वह प्रिय आता पार नहीं ?' रचना में महादेवी जी ने अज्ञेय ब्रह्म के निमित्त अभिसार का वर्णन भी किया है, पर उन्हें इस बात पर आश्चर्य है कि उनका अभिनव श्रृंगार अपने प्रियतम को प्रसन्न क्यों नहीं कर पाया ? (पृ० २६)

उन्होंने प्रिय के दर्शनों से भी प्राप्त रहस्यानुभूति के क्षणों को भी अभिव्यक्ति दी है। वे उस अनुभूति में इतनी तन्मय हो गई हैं कि अपने लघुजीवन को निःसीम प्रियतम में 'समाविष्ट' हुआ अनुभव करती है। (पृ० ६४) अपने लघु जीवन के निःसीम प्रियतम में निमग्न हो जाने पर जो दिव्य रूपान्तर हो गया उस स्थिति का वर्णन करते हुए कहती हैं—

"बन गया तम सिन्धु का, आलोक सतरंगी पुलिन सा,
रज भरे जग-बाल से हैं, अंक विद्यु्त का मलिन सा,
स्मृति पटल पर कर रहा अब
वह स्वयं निज रूप अंकन।" (पृ० ८१)

विराट् प्रियतम के स्पर्श से तम का अगाध समुद्र सतरंगी आलोक के पुलिन-रूप में परिवर्तित हो गया और साधिका कवयित्री का ऐसा भान होने लगा कि उनके स्मृति-फलक पर उनका प्रियतम अपने रूप को स्वयं अंकित कर रहा है। उन्हें ऐसा लगा कि उनकी हृदय-रूपी वीणा में ब्रह्म की अनुभूति की जो झंकार अस्पष्ट तार के रूप में

स्थित थी वह अब प्रिय के कोमल कर का स्पर्श पाकर ध्वनित हो उठी और उसकी मधुर ध्वनि आकाशगामी हो गई, तथा उन्होंने प्रियतम के बन्धन-विहीन रूप को भी अपने में बाँध लिया है। (पृ० ८२) इसी प्रकार की रहस्यानुभूति 'झिलमिलाती रात मेरी' रचना में भी व्यक्त हुई है। इस प्रकार की रहस्यानुभूति का वैदिक आधार भी है।

विराट् सत्ता से स्पर्श प्राप्त कर वैदिक ऋषियों ने वेद में अनेक स्थलों पर तज्जन्य प्रभाव का आनन्दमय उल्लेख किया है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अन्तिम अनुवाक में भी इसी प्रकार की आनन्दानुभूति का वर्णन मिलता है। प्रभु का साक्षात्कार करके एक साधक आनन्दातिरेक में विभोर होकर तथा आश्चर्य से परिपूरित होकर कह उठा—हा ३ वु हा ३ वु हा ३वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ३ऽहमन्नादो ३ऽहमन्नादः। अहंश्लोककृदहंश्लोककृदहं श्लोक कृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋताऽस्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ मायि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा ३ म् सुवर्णज्योतिः। अर्थात्—'मैं ही अन्न हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं इनका संयोग कराने वाला हूँ, मैं सब में प्रधान होकर उत्पन्न होने वाला, देवताओं से भी पूर्व विद्यमान, अमृत का नाभि केन्द्र हूँ···मैं समस्त ब्रह्माण्ड का तिरस्कार करता हूँ, मेरे प्रकाश की एक झलक सूर्य के समान है!' परम पवित्र और ज्योतिर्मय सत्ता के सतत सान्निध्य में रहने से निर्मल हुई आत्मा में इस प्रकार की चेतना की आनन्दमयी लहरें उठना कुछ अस्वाभाविक भी नहीं है। अतः सभी रहस्यवादी कवियों ने किसी-न-किसी रूप में अपनी आनन्दानुभूति को अभिव्यक्ति प्रदान की है। महादेवी जी के काव्य में भी इस प्रकार के मोहक चित्र मिलते हैं। जिनमें से दो-एक का ऊपर उल्लेख हो चुका है।

महादेवी जी अपने उस अव्यक्त प्रियतम की स्वाभिमानिनी प्रेमिका हैं जो महान् है। वे उनसे मिलन के अवसर पर अपने मुख पर से विरहरूपी अवगुण्ठन हटा कर अपने पृथक् अस्तित्व को उसी प्रकार समाप्त नहीं कर देना चाहतीं जिस प्रकार कृष्ण-वियोगिनी रत्नाकर की गोपियाँ निर्गुण-ब्रह्म की उपासना में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को विलीन नहीं कर देना चाहती थीं। उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं कि ब्रह्म-दर्शन के उपरान्त जीवात्मा-परमात्मा में मिलकर उसी प्रकार अपना पृथक् अस्तित्व खो देती है जिस प्रकार समुद्र में जाकर नदी का पृथक् अस्थित्व नहीं रहता।[1] अतः महादेवी जी 'दीप-सी युग-युग जलना चाहती हैं' ताकि वे अपने चिन्मय आराध्य की सतत अनुरागिनी बनी रहें। (पृ० ६०) यहाँ हम महादेवी जी को वैष्णवों की भक्ति-भावना के अधिक निकट पाते हैं जो प्रभु के भक्ति मकरन्द को पान करना ही अपना इष्ट मानते हैं, व्यक्तित्व-लोप उन्हें अभीष्ट नहीं। पर उनका यह द्वैत-दर्शन चिर-स्थायी दर्शन नहीं है। ब्रह्म और जीव के अभेद का प्रतिपादन करने वाली महादेवी द्वैत-दर्शन की सतत अनुगामिनी बन ही नहीं सकतीं। विरह का जलजात उनका जीवन

---

१. मु० उ० २,३,८।

ब्रह्म में जाकर ही शाश्वत शान्ति पा सकता है। यद्यपि उन्होंने विरह को ही अपना आराध्य बना लिया है और तम की मुक्ति की इसलिए अवहेलना की है कि वह चिर-पंगुता का दान है (पृ० ६६) फिर भी उनकी ब्रह्म से मिलन की उनकी कामना कभी निश्शेष नहीं हुई है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

**"वर इसे दो एक कह दो**
**मिलन के क्षण का उजाला।" (पृ० २०)**

और "कीर का प्रिय आज पिंजर खोल दो", गीत में भी कवयित्री ने प्रभु से शरीर-रूपी पिंजर से आत्मा-रूपी शुक की मुक्ति की कामना ही प्रकट की है।

**साधना**—'सांध्य-गीत' की रचनाओं में साधना का स्वर पिछली तीनों रचनाओं की अपेक्षा अधिक मुखर है। यह साधना प्रायः ज्ञान की भूमिका पर चल रही है। उन्होंने प्रिय की प्राप्ति के लिए जिस आत्म-रूपी दीपक को बाला है वह झंझा से भी नहीं बुझेगा प्रत्युत जल-जल कर मिटेगा और मिट-मिट कर जलता रहेगा—

**"यह न झंझा से बुझेगा**
**बन मिटेगा मिट बनेगा।" (पृ० २१)**

यहाँ महादेवी जी ने प्रकारान्तर से जन्मान्तरवाद में भी अपना विश्वास प्रकट कर दिया है। उनका अभिप्राय है कि साध्य-सम्बन्धी उनकी यह साधना अनेक जन्मों तक अजस्र रूप में चलती रहेगी जब तक कि प्रिय प्राप्त नहीं हो जाता। साधना का यह स्वर लगभग सभी गीतों में व्याप्त है। इसी साधना के बल पर उन्होंने सुख-दुःख और विरह-मिलन में समन्वय भी स्थापित कर लिया। यह साम्य-भावना भी साधक को साध्य की ओर निरन्तर अग्रसर करती रहती है तथा संसार के सभी प्राणियों के साथ साधक के हृदय का रागात्मक सामंजस्य स्थापित कर देती है। साधना की इसी भूमिका पर पहुँच कर सब अपने ही समान मधुर प्रतीत होने लगते हैं। यही भाव उन्होंने निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है—

**"विरह का युग आज दीखा**
**मिलन के युग पल सरीखा**
**दुःख सुख में कौन तीखा**
**मैं न जानी औ' न सीखा**
**मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।" (पृ० ४२)**

महादेवी का साधना-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन उपनिषद्-दर्शन की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित है।

### दीपशिखा :

'दीपशिखा' कृतित्व की दृष्टि से महादेवी जी की अन्तिम रचना है। सन् १९४[illegible] में 'दीपशिखा' के प्रकाशन के उपरान्त 'सप्त पर्णा' (१९६०) को छोड़कर उनकी

अन्य कोई काव्य-रचना प्रकाश में नहीं आई। 'सप्त पर्णा' भी स्वतन्त्र एवं मौलिक रचना न होकर कतिपय वैदिक ऋचाओं तथा वाल्मीकि से जयदेव तक प्रमुख संस्कृत कवियों के कुछ श्लोकों का भावानुवाद मात्र है। इस दृष्टि से 'दीप-शिखा' ही उनका अन्तिम और मौलिक काव्य रचना ठहरती है।

जहाँ तक 'दीप-शिखा' के ब्रह्म, जीव और प्रकृति-सम्बन्धी दार्शनिक-चिन्तन का प्रश्न है वह 'सान्ध्य गीत' की ही भाँति उनकी अपनी अनुभूति का विषय बनकर आया है। यहाँ आकर दर्शन उनकी अनुभूति में ऐसा घुल-मिल गया है कि उसे पृथक् करके देख सकना कठिन-सा ही है। उनकी यह अनुभूति वास्तविक है या काल्पनिक इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। डा० नगेन्द्र तो आधुनिक काव्य की आध्यात्मिकता में एकदम विश्वास नहीं करते।[१] यहाँ तक कि महादेवी जी के 'दीप-शिखा' के गीतों तक की अनुभूति को भी उन्होंने पार्थिव ही माना है।[२] तथा अज्ञात के प्रति महादेवी के आत्म-निवेदन में उन्हें काम के स्पन्दन के दर्शन होते हैं।[३] फ्रायड के यौनवाद से प्रभावित डा० नगेन्द्र को यदि महादेवी की आध्यात्मिक अनुभूति भी पार्थिव और अज्ञात की साधना भी काम के स्पन्दन से स्पन्दित दृष्टिगोचर हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। इस सम्बन्ध में अपना तो केवल इतना ही निवेदन है कि यदि महादेवी जी के द्वारा अपने विषय में निकट के अपने सहयोगियों से समय-समय पर कहे गए कथनों एवं अपने ढंग से काव्य में दिए गए उनके उत्तरों पर ध्यान दें तो उनकी अनुभूति के सम्बन्ध में की गई अटकलों और मिथ्या धारणाओं का सहज ही निराकरण हो सकता है। यदि कवि के स्वयं के विषय में कहे गए वाक्य कुछ महत्त्व रखते हैं तो उनकी अनुभूति के विषय में किसी को संदेह नहीं रह जाना चाहिये।[४]

**ब्रह्म और जीव**—ब्रह्म और जीव के दार्शनिक स्वरूप के विषय में उनकी जो मान्यताएँ हैं उनका उल्लेख पूर्व आलोचित रचनाओं में ही हो चुका है। उनके स्वरूप के सम्बन्ध में यहाँ कोई नई दार्शनिक उद्भावना नहीं मिलती। 'नीरजा' और 'सान्ध्य-गीत' में ही तत् सम्बन्धी धारणाएँ स्थिर हो चुकी थीं। और शनैः-शनैः वह अव्यक्त ब्रह्म उनकी अनुभूति में घुल-मिलकर एकरस भी होने लगा। यहाँ उनके हृदय ने ब्रह्म रूप प्रियतम से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लिया है जिसकी चर्चा आगे करेंगे।

ब्रह्म और जीव के परस्पर के सम्बन्ध पर भी पिछली रचनाओं में बहुत कुछ कहा है। यह प्रवृत्ति यहाँ भी विद्यमान है।

"झिप चलीं पलकें तुम्हारी पर कथा है शेष" इस गीत में कवयित्री साध

१. दे०, विचार और अनुभूति, पृ० १२३ (सं० १९९१)।
२. वही, पृ० १२३।
३. वही, पृ० १२३-२४।
४. देखिये, इस शोध-प्रबन्ध का पृ० ४३९।

ब्रह्म की कीर्त्ति-गाथा की अनन्तता के उल्लेख के साथ-साथ साधक जीवात्मा की ससीम शक्ति का भी कथन करती है तथा ईश्वर के उस संकेत का उल्लेख करती है जिसके प्रभाव से मोह-निद्रा और अविद्या-माया के संसार में रमण करने वाली सुप्त जीवात्मा का मोह-भंग हो गया हो और वह ईश्वरोन्मुख हो उठी हो—

"अतल सागर के शयन से
स्वप्न के मुक्ता-चयन से,
विकल कर तन
चपल कर मन,
किरण-अंगुलि का मुझे लाया बुला निर्देश।" (पृ० १०६)

उपनिषदों में स्पष्ट निर्देश है कि जब जीवात्मा पर उस परमेश्वर की कृपा हो जाती है जो उसके हृदय-कमल में विद्यमान है तब उसकी मोह-निद्रा भंग हो जाती है और तब वह वीत-शोक हो जाता है।[1]

"ओ चिर नीरव!
मैं सरित विकल,
तेरी समाधि की सिद्धि अकल।"(पृ० ७७)

उपरोक्त गीत में महादेवी जी ने परमात्मा-जीवात्मा के सम्बन्ध को पर्वत और नदी के रूपक द्वारा व्यक्त किया है। परमात्मा यदि चिर-शान्त है तो जीवात्मा उससे उत्पन्न होने वाली चंचल सरिता है जिसमें अपने जनक के प्राणों की हलचल व्याप्त है, जो उसी के स्वर-वैभव को लेकर फूट पड़ी है। जीवात्मा की चंचल और लघु लहर ब्रह्म और जगत् के मध्य के द्वैत को मिटाकर अद्वैत-भाव की स्थापना करती है और बताती है कि जगत् ब्रह्म का ही अंश है, जो भेद दृष्टिगोचर होता है वह माया-जन्य है। यदि आत्म-ज्ञान के द्वारा मायापटल हट जाये तो दोनों का अभेद स्पष्ट हो जाने में विलम्ब नहीं लगता। इसी प्रकार जगत् जीवों का समूह होने तथा स्वयं जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण उससे अभिन्न है—

"मैं ऊर्म्मि विरल,
तू तुंग अचल, वह सिन्धु अतल
बाँधे दोनों को मैं चल चल,
धो रही द्वैत के सौ कैतव।"

यहाँ उपनिषदों के विशिष्टाद्वैती दृष्टिकोण का भाव लक्षित है जिसके अन्तर्गत जीव और जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उसके अंग कहे गए हैं। एक अन्य गीत में महादेवी जी ने ब्रह्म-जीव के सम्बन्ध को बीन और बीन के निर्माता व वादक के रूपक के माध्यम से की है और यहाँ भी यही स्पष्ट किया है कि जब तक वह निर्माता ही बीन के बेसुरे तारों को न सुलझा दे तब तक उसमें सस्वरता नहीं आ सकती।

---

१. तमक्रतुं पश्यति वीत शोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्। श्वे० उ० ३,२०।

"तुम्हारी बीन ही में बज रहे हैं बेसुरे सब तार।

× × ×

तुम अपनी मिला लो बीन,

भर लो उंगलियों में प्यार,

घुल कर करुण लय में तरल विद्युत की बहे झंकार।" (दीपशिखा पृ० १४४)

यहाँ 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इस औपनिषदिक मान्यता की पुनरावृत्ति है। इसी प्रकार—

"अमर सम्पुट में ढला तू,

छू नखों की कांति चिर संकेत पर जिनके जला तू।" (पृ० १४३)

में भी जीव और ब्रह्म के बीच जन्य-जनक भाव की स्थापना है, और यही भाव 'क्यों अश्रु न हो शृंगार मुझे' पंक्ति से प्रारम्भ होने वाली रचना में व्यक्त हुआ है। वे कहती हैं कि 'ब्रह्म अपने विविध उपकरणों की सहायता से जीव को नाना नाम-रूप, आकार और शोभा आदि प्रदान करता है। उसी की असीम शक्ति जीव को विविध परिस्थितियों में रखती है—

'तुम देते रहते हो प्रतिपल

जाने कितने आकार मुझे।

हर छवि में कर साकार मुझे।' (पृ० १३१)

साधना के उच्च स्तर पर पहुँचकर महादेवीजी ने ब्रह्म, जीव और प्रकृति के मध्य अभेद-दर्शन की अनुभूति भी प्राप्त की है। उन्होंने सृष्टि के कण-कण में अपने प्राणों के स्पन्दन और प्राणों की गति के दर्शन करके जीवात्मा एवं प्रकृति के मध्य अभिन्नत्व की स्थापना की है और इसी प्रकार उन्होंने अपने बनने-मिटने में (जीवन-मृत्यु की लीला में) उसी ब्रह्म की इच्छा की अनुभूति प्राप्त करके ब्रह्म और जीव की एकता का प्रतिपादन भी किया है। यहाँ स्पष्टतः उन्होंने एक ही चैतन्य को विविध रूपों में जलते-खिलते देखा है—

'संसृति के प्रति पग में मेरी

सांसों का नव अंकन चुन लो,

मेरे बनने मिटने में नित

अपनी साधों के क्षण गिन लो।

जलते, खिलते, बढ़ते जग में घुलमिल एकाकी प्राण चला।

सपने-सपने में सत्य ढला।' (पृ० ११८)

प्रकारान्तर से यहाँ औपनिषदिक अद्वैत-वाद की ही प्रतिष्ठा की गई है। 'मैं पलकों में पाल रही हूँ यह सपना सुकुमार किसी का' गीत के एक पद में कवयित्री ने उपनिषदों के महावाक्य 'तत्त्वमसि' की प्रतिष्ठा करते हुए ससीम-असीम के मिलन का बड़ा ही चित्रात्मक और हृदयग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है। वे कहती हैं—

'पुतली ने आकाश चुराया
उर ने विद्युत-लोक छिपाया
अंगराग सी है अंगों में
सीमाहीन उसी की छाया।' (पृ० १२९)

सूक्ष्म पुतली द्वारा सम्पूर्ण आकाश को अपने में समा लेने की भांति ससीम जीवात्मा ने ब्रह्म को अपने में अधिष्ठित कर लिया है। हृदय विद्युत् का स्वर्ण-हार धारण किए हुए है और उसके अंग-अंग मे उसी असीम प्रिय की शोभा समाई हुई है। जो बाहर प्रकृति में विद्यमान है वही जीवात्मा मे भी व्याप्त है। इस प्रकार काव्यात्मक शैली में अद्वैत की स्थापना की गई है।

**सर्वात्मवाद**—कवयित्री का प्रकृति के प्रति सर्ववादी-दृष्टिकोण दीपशिखा में भी मुखरित है। ब्रह्म की वियोगिनी साधिका को सृष्टि के कण-कण मे अपने प्रिय के गुणों की झाँकी मिलती है। उन्हें बादलों के मन्द्र-स्वर में अपने प्रियतम की गंभीर वाणी और पवन की सिहरन म उसके हृदय का स्पन्दन श्रुतिगोचर होता है, आर्द्र नभ की विद्युत्-रेखा में उन्हें प्रियतम के निकट आने का संकेत मिलता है तथा अन्धकार में वे अपने प्रियतम की शीतल छाया के दर्शन करती हैं। इस प्रकार सर्वत्र प्रिय का आभास पाने से उनका मन पुष्पवत् खिला रहता है—

**'नीरदों में मन्द्र गति-स्वन,
वात में उर का प्रकम्पन,
विद्यु में पाया तुम्हारा
अश्रु से उजला निमन्त्रण
छांह तेरी जान तम को श्वास पीते।
फूल से खिल कल्प बीते।' (पृ० ११६)**

र्ववादी दृष्टिकोण की सर्वाधिक सुस्पष्ट प्रतिष्ठा—'सब आँखों के आँसू उजले ब के सपनों में सत्य पला' गीत में हुई है। प्रारम्भ में ब्रह्म के प्रति प्रेम में बाधा डालने वाली प्रकृति अब उसी विराट् के सौन्दर्य की झाँकी प्रस्तुत करती है। कवयित्री कहती है—'जो सत्ता दीपक में ज्वाला-रूप में प्रज्ज्वलित है, वही पुष्पों में मकरन्द-रूप में विद्यमान है। पर्वत की महानता में भी वही है और सागर की गंभीरता में भी वही विराजमान है। आकाश और पृथ्वी के सम्पुट में मोती के रूप में विकसने वाले इस नाना रूप-रंगमय जगत् के पदार्थों में उसी की आभा का स्पन्दन है, उसी की सुषमा से मण्डित है, जो नभःस्थित मेघ की वर्षा की बूंद में विद्यमान है रजकण में छिपे बीजांकुर के रूप में भी वही प्रस्फुटित हो गया है—

**'नीलम मरकत के सम्पुट दो
जिनमें बनता जीवन-मोती**

इसमें ढलते सब रंग-रूप
जो नभ में विद्युत-मेघ बना वह रज में अंकुर हो निकला।'
(पृ० ११८)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का कितना सुन्दर एवं हृदयग्राही काव्यमय चित्र इन पंक्तियों में प्रस्तुत किया गया है। 'तेरी छाया में अमिट रंग, तेरी ज्वाला में अमर-गान' रचना के अन्तिम पद में भी यही दर्शन गृहीत है। (पृ० १३७) उन्होंने सर्ववादी दर्शन के विषय में प्रकाश डालते हुए स्वयं कहा है कि 'जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तनशील विभिन्नता में, कवि ने ऐसे तारतम्य को खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था तब प्रकृति का एक-एक अंश एक अलौकिक व्यक्तित्व को लेकर जाग उठा।'[1] प्रकृति-विषयक इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रमुख आधार है वेद और उपनिषदों का सर्वात्मवादी दर्शन जिसके अनुसार सब कुछ ब्रह्ममय माना गया है, फिर प्रकृति उसकी व्याप्ति से कैसे पृथक् रह सकती है।

**रहस्य-भावना**—दीपशिखा की रहस्य-भावना इस स्तर तक ऊपर उठ चुकी है कि अब साध्य और साधक में कोई अन्तर नहीं रह गया है। साध्य अब उनकी अनुभूति का विशिष्ट अंग बनकर उन्हीं में समा गया है, इसलिए उसे अब पत्र लिखकर सन्देश भेजने का प्रश्न भी नहीं उठता। वे कहती हैं—

'अलि कहाँ सन्देश भेजूं ?
मैं किसे सन्देश भेजूं ?

× × ×

नयन पथ से स्वप्न में मिल,
प्यास में घुल साध में खिल,
प्रिय मुझी में खो गया अब दूत को किस देश भेजूं ?' (पृ० ११०)

वस्तुतः सभी रहस्यवादियों ने अपने साध्य को को अपने अन्तर में ही ढूंढने की साधना की है। कबीर ने भी यही कहा था—

'ज्यों तिल माहिं तेल है ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में जाग सके तो जागि॥'

इन पंक्तियों में उपनिषदों के प्रभाव की स्पष्ट छाप है। वहाँ कहा गया है—'इहैवान्तः शरीरे सौम्य स पुरुषः'[2] रहस्य-भावना के अन्तर्गत साधक के अन्तर में समय-समय पर साध्य-सम्बन्धी अनेक मानसिक वृत्तियाँ जगती-सोती रहती हैं। उन वृत्तियों में विरह-मिलन की वृत्तियाँ अधिक स्थिर और मार्मिक हैं। ये सभी स्थितियाँ महादेवी जी के काव्य में अन्य आधुनिक रहस्यवादी कवियों की अपेक्षा अधिक मात्रा में विद्य-

---

१. सान्ध्य गीत : अपनी बात, पृ० ६।
२. प्रश्न० ६,२।

मान हैं। एक स्थल पर वे कहती है कि 'जब मेरे स्वप्न, ज्ञान के आलोक से पुष्पवत् खिलकर वातावरण को सुरभित कर देंगे, तभी मैं असीम अनन्त प्रियतम को भावों की सीमा में बाँध सकूँगी और मेरे गीत पाठकों को अनन्त प्रिय का आभास दे सकेंगे। मेरी इन कल्पनाओं में विरह और मिलन की भावनाओं का समावेश होगा। (पृ० ६०) रहस्य का साधक अपने साध्य की साधना में इतना लीन हो जाता है कि उसे अपनी प्रत्येक भावना और अनुभूति में प्रिय के दर्शन होने लगते हैं, उसी अनुभूति के कारण उसके शरीर का रोम-रोम पुलकित हो उठता है, जीवन के छूंछे क्षण उसकी प्रणयानुभूति के कारण भरे हुए एवं मधुमय प्रतीत होते है। यही भाव 'प्राणों ने कहा कब दूर' रचना के 'मेरे हर लहर में अंक हर कण में पुलक के याम' (पृ० १२५) पद में व्यक्त हुआ है।

रहस्यवाद के क्षेत्र में साध्य से चिर-मिलन और उसमें साधक की लीनता ही सीमा का अन्त है। उपनिषदें साध्य-साधक की इसी परिणति का अनेकश: प्रतिपादन करती हैं। महादेवी जी के गीतों में भी इस स्थिति के अनेक संकेत मिलते है। निम्न पंक्तियों में उसी स्थिति की ओर संकेत किया गया है—

> **'झर चुके तारक कुसुम जब,**
> **रश्मियों के रजत-पल्लव,**
> **सन्धि में आलोक-तम की क्या नहीं नभ जानता तब,**
> **पार से, अज्ञात वासन्ती,**
> **दिवस-रथ चल चुका है।'** ( पृ० ११२)

यहाँ उन्होंने प्रभात में सूर्योदय से तनिक पूर्व रात्रिगत अन्धकार में तारों के थोड़ी देर अन्धकार और प्रकाश की सन्धि में रहने के उपरान्त प्रकाश के बढ़ने तथा तारों के झरने के रूपक द्वारा साधक के साध्य के निकट पहुँचने पर जिस स्थिति का उदय होता है उसी का चित्रात्मक-वर्णन प्रस्तुत किया है। साधक ज्यों-ज्यों साधना के क्षेत्र में अग्रसर होता है और अज्ञानान्धकार ज्ञान के प्रकाश से पराजित होने लगता है, उस समय उसकी सम्पूर्ण लौकिक वासनाएँ नष्ट होने लगती हैं, भौतिक प्रलोभनों की चमक फीकी पड़ जाती है और साधक साध्य के निकट पहुँचता जाता है। इसी प्रकार सिद्ध्यवस्था का उल्लेख 'पुजारी दीप कहाँ सोता है' गीत के अन्तिम पद में किया गया है। (देखिये, पृ० १४८)

रहस्य-भावना के अन्तर्गत कवयित्री ने एक ऐसे रहस्यमय लोक का वर्णन किया है जो अद्भुत और अपूर्व है जिसे साधारण प्राणी समझ नहीं पाते, जहाँ उनकी कल्पना भी पहुँचने में असमर्थ है। वे कहती हैं—

> **'पहुंच न पातीं जग की आंखें,**
> **राह न पातीं मन की पाँखें,**
> **जीवन को उस ओर**
> **स्वप्न-शिशु पल में पहुंचाता है।'** (पृ० १५३)

यहाँ स्पष्टतः उस लोक की ओर संकेत किया गया है जिसे उपनिषदें—'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' कहकर उसकी अवाङ्मनसगोचरता का प्रतिपादन करती हैं। 'दीप-शिखा' के एक अन्य गीत में सिद्धि-प्राप्ति की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख हुआ है जिसमें उस वेदना का भी अभाव है जिसे वे अपना सर्वस्व समझती रही हैं। उन्होंने कहा है—

'सजल है कितना सवेरा।

× × ×

राख के अंगार तारे झर चले हैं
धूम बन्दी रंग के निर्झर खुले हैं,
खोलता है पंख रूपों में अंधेरा।' (पृ० १५६)

यहाँ कवयित्री ने 'सवेरा' प्रतीक के माध्यम से अपने हृदयाकाश में आच्छादित अज्ञानान्धकार के नाश और ज्ञान-प्रकाश के उदय की दशा का स्पष्ट उल्लेख किया है। रात्रि के अवसान पर जिस प्रकार अन्धकार धीरे-धीरे हटने लगता है इसी प्रकार साधना-युग की समाप्ति पर साधक की भौतिक वासनाएँ नष्ट होने लगती हैं। अज्ञानतिमिर का आवरण हट जाने से उसके वे आध्यात्मिक-भाव जो भौतिक कामनाओं के पिंजर में बन्द पड़े थे, फूट पड़ते हैं और साधक तज्जन्य प्रभाव से साध्य के निकट पहुँचने लगता है। महादेवी जी ने इस प्रकार 'दीपशिखा' में जिन अनुभूतियों के चित्र दिए हैं, उनकी पृष्ठभूमि में उपनिषत्सम्मत दार्शनिक चिन्तन का सूत्र विद्यमान है।

महादेवी की आध्यात्मिक अनुभूति के सम्बन्ध में जिन लोगों ने शंका प्रकट की है, उसका निराकरण काव्य के ही माध्यम से करते हुए उन्होंने कहा है—

'जो न प्रिय पहिचान पाती!
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत्-सी तरल बन,
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथा मय सगज-जीवन!'
किस लिए हर सांस तम में
सजल दीपक राग गाती?

× × ×

क्यों किसी के आगमन के
है शकुन स्पन्दन मनाती!' (पृ० १००)

स्पष्ट है कि यहाँ उन आक्षेपों का खण्डन किया गया है जिनके आधार पर उनके आराध्य को आनुमानिक और तत्सम्बन्धी अनुभूति को काल्पनिक कहा गया है। यदि उनका आराध्य और आराध्य-सम्बन्धी उनकी प्रणय-भावना कल्पना की क्रीड़ा-मात्र होती तो उनकी प्रत्येक शिरा में व्याप्त प्रिय-प्राप्ति की लालसा विद्युत् के स्पर्श की भाँति उनके व्यक्तित्व को किस प्रकार झनझना सकती थी? यदि उनकी अनुभूति में

सच्चाई और गहराई न होती तो वे विरह की इतनी तीव्र वेदना का अनुभव नहीं कर सकती थीं और न ही वे किसी के आगमन के निमित्त शकुन आदि का विचार ही करतीं। इस आधार पर उनकी अनुभूति की सच्चाई में किसी भी प्रकार की सन्दिग्धता के लिए स्थान नहीं रह जाता।

**साधना**—उपनिषदें सर्वप्रथम आत्मा अथवा ब्रह्म की सत्ता में विश्वास स्थापित करने का उपदेश देती हैं। इस परमसत्ता के प्रति मन में जितनी आस्तिकता होगी, साधक जीवात्मा में अपने इष्ट की ओर ले जाने वाली साधना में उतनी ही प्रगाढ़ता आयेगी। कठोपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि—

**'अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।**
**अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥'** (कठोपनिषद् ६,१३)

अर्थात् उस परमात्मा को सर्वप्रथम तो 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक ग्रहण करना चाहिये अर्थात् उसके अस्तित्व में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये, तदनन्तर तत्वभाव से भी उसे प्राप्त करना चाहिये, इन दोनों प्रकारों में 'वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने वाले साधक के लिए परमात्मा का तात्विक स्वरूप प्रकट हो जाता है।

महादेवी का सम्पूर्ण काव्य आस्था और आस्तिकता का काव्य है। वे उस परम तत्व पर हृदय की सम्पूर्ण निष्ठा के साथ न केवल आस्था ही रखती हैं प्रत्युत उनका सम्पूर्ण जीवन ही उस विराट् के प्रति चिर-निवेदित रहा है। महान् तत्व की तात्विक अनुभूति की उपलब्धि के लिए उन्होंने अथक और अविराम साधना भी की है, व्यवहार और ज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में। व्यवहार के क्षेत्र में उन्होंने जीवों के साथ साम्य-भाव की अनुभूति की सिद्धि के लिए सेवावाद को ग्रहण किया और ज्ञान के स्तर पर द्वैत से चलकर अद्वैत की सिद्धि के निमित्त स्वयं को दीपशिखा की भाँति तिल-तिल जलाया है। वे अपने आत्म-दीप को सम्बोधित करके कहती हैं—

**'दीप मेरे जल अकम्पित,**
**घुल अचंचल।'** (पृ० ७३)

'हे मेरे प्राण-दीप! तू ब्रह्म की साधना के पथ पर निष्कंप रूप से जलता रहे, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यह 'दीप-शिखा' जितनी अचंचल रूप से घुल कर मिटती रहेगी उतनी ही शीघ्र साध्य के निकट पहुँचेगी। अखण्ड साधना-सम्बन्धी यही भाव—'यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो' गीत में व्यक्त हुआ है। उनके आस्था-सम्पन्न मन में अपरिचित पथ पर अकेले प्राण लेकर बढ़ जाने का दृढ़ विश्वास है। वे उन भीरु अथवा निर्बल प्राणियों में से नहीं हैं जिनके चरण मार्ग की कठिनाइयों से डगमगाने लगें। उनकी आत्मा में अपने निर्दिष्ट पर चलते रहने के लिए अपराजेय शक्ति निहित है।

**'पन्थ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।**
**घेर ले छाया अमा बन,**

आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन,
और होंगे नयन सूखे,
तिल बुझे औ' पलक रूखे,
आर्द्र चितवन में यहाँ
शत विद्युतों में दीप खेला !
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटने दे, शूल को संकल्प सारे।' (पृ० ७५)

इसी दृढ़ता के कारण मार्ग के शूल भी उन्हें अक्षत जैसे प्रतीत हुए और धूलि चन्दन-वत् शीतल और सुखदा। (पृ० ८३) 'मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है।' (पृ० १११) गीत में कवयित्री ने जन्म-भर की साधना के फलस्वरूप शारीरिक वासनाओं के दग्ध होने की स्थिति का वर्णन किया है। यह गीत साधना-वस्था की तन्मयता और अनुभूति की सच्चाई का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है।

'मोम-सा तन घुल चुका अब दीप-सा मन जल चुका है।
चल पलक हैं निर्निमेषी,
कल्प पल सब तिमिर वेषी
आज स्पन्दन भी हुई उर के लिए अज्ञात देशी।
चेतना का स्वर्ण, जलती
वेदना में गल चुका है !' (पृ० १११)

उनकी साधना की सर्वाधिक विशेषता यही है कि उसमें निष्कामता है तभी तो वे कहती हैं—

'मैं क्यों पूछूं यह विरह-निशा,
कितनी बीती क्या शेष रही ?' (पृ० १२०)

साधना के फलस्वरूप मिलन कब होगा इस बात से उन्हें मतलब ही नहीं, उनका काम है सतत साधना-रत रहना, साधना में अपने को जलाते जाना, और यही कार्य वे बड़ी निष्ठा से कर रही हैं। उन्होंने विरह के पन्थ में इति-अथ को इसीलिए स्वीकार नहीं किया कि वैसा करने से सकामता आ जाती और वैदिक दर्शन में सकामता को वर्जित माना है, उनकी दृष्टि में खोज ही प्राप्ति का वर है और साधना ही सुन्दर सिद्धि है। (पृ० १०२) और यही भाव 'पथ मेरा निर्वाण बन गया। प्रति पग शत वरदान गया।' गीत में व्यक्त हुआ है। इस प्रकार उनके गीतों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि वे आरम्भ से ही ब्रह्म के पथ की एक-मात्र पाथिकिनी रही हैं तथा उनकी अखण्ड साधना में तपस्या और त्याग विद्यमान है।

**मृत्यु और पुनर्जन्म**—दीपशिखा के एक गीत में महादेवी जी ने व्यक्ति को चंचल बालक और मृत्यु को स्नेहमयी माँ मानकर रूपक बाँधते हुए कहा है कि जिस प्रकार क्रीड़ा के उपरान्त आए हुए धूल-भरे बालक को माँ अपनी स्नेहमयी

गोद में आश्रय देती है और शिशु को उस गोद में शांति मिलती है, उसी प्रकार मानव जीवन-भर संसार-क्षेत्र में आपदाओं को झेलने के उपरान्त जब कलुष से लिपटा विषण्ण और क्लान्त हो उठता है, तो मृत्यु ही उसे माँ की भाँति आश्रय प्रदान करती है—

'तू धूल भरा ही आया।
ओ चंचल जीवन-बाल ! मृत्यु-जननी ने अंक लगाया।' (पृ० ९८)

रात-भर माँ की गोद में विश्राम करने के उपरान्त प्रभात होते ही माँ जिस प्रकार शिशु को स्नान कर, पुनः उत्साहित कर उसे खेलने के लिए भेज देती है, उसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त मानव का नव-जन्म होता है। नव-जन्म पाकर वह एक बार पुनः अपने में नई उमंग, नया जोश, और शरीर में नई शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव करता है—

'नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे,
तन सजल घटा-सा तडित् छटा-सा उर दे,
हँस तुझे खेलने फिर जग में पहुंचाया।' (पृ० ९९)

मृत्यु और जीवन-सम्बन्धी उपरोक्त वर्णन भी उपनिषदों से प्रभावित होकर आया है उपनिषदें, जैसा कि पिछले प्रकरणों में स्पष्ट किया जा चुका है, जीवन की शाश्वतता में विश्वास रखती हैं, यही मान्यता महादेवी के काव्य में भी गृहीत हुई है। 'जग अपना भाता है।' रचना भी इसी दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रभावित है।

**लोक-मंगल एवं पर-दुःख-कातरता**—'दीपशिखा' में दर्शन की भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर लोक-मंगल के भाव को भी अभिव्यक्ति मिली है। वे दीपक को सम्बोधित करके कहती है कि तेरी लौ सतत स्निग्ध होकर सुकोमल प्रकाश फैलाती रहे ताकि उसकी सहायता से सभी पक्षी अपने नीड़ों में और यात्री अपनी मंजिल पर सुरक्षित पहुँच जाएँ, किसी को दिग्भ्रम न हो, कोई और मार्ग से भटक न जाए—

'पथ न भूले, एक पग भी
घर न खोये, लघु विहग भी,
स्निग्ध लौ की तूलिका से
आँक सब की छाँह उज्ज्वल।' (पृ० ७४)

इसी प्रकार पर-दुःख-कातरता का भाव 'कोई यह आँसू आज माँग ले जाता' तथा 'प्रिय मैं जो चित्र बना देती' रचनाओं में व्यक्त हुआ है। वे चाहती हैं कि संकुचित स्वार्थो की सीमाओं से ऊपर उठकर जन-साधारण की वेदना में करुणा प्लावित हो कर आँसू बहाएँ तथा उनके वे आँसू किसी सन्तप्त प्राणी के दुःख को कम करें, उसके ताप का शमन करें। उन्होंने स्वयं कहा—"विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष

है।"[1] उनके इस सामाजिक दृष्टिकोण पर विवेकानन्द जी के व्यावहारिक वेदान्त और महात्मा बुद्ध की करुणा दोनों का प्रभाव विद्यमान है।

## उपसंहार :

महादेवीजी की समस्त काव्य-रचनाओं के अध्ययन से विदित होता है कि उनके काव्य का सम्पूर्ण भवन आस्तिकता एवं आध्यात्मिकता के आधार-स्तम्भों पर टिका हुआ है, जिसमें वेद और उपनिषदों की विचारधारा से सम्बन्धित ब्रह्म, जीव, जगत्, जीवन, मृत्यु आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर दार्शनिक चिन्तन भी हुआ है और अद्वैत के आधार पर ब्रह्म के प्रति जीवात्मा का प्रणय-निवेदन भी है जो रहस्यवाद का क्षेत्र है। ब्रह्म शाश्वत और चिरन्तन है, जीवात्मा भी शाश्वत और चिरन्तन है, पर कर्म-फल के कारण आगमन के चक्र में फँस जीव विभिन्न योनियों में जन्मता-मरता रहता है। अन्तर्मुखी होने पर वह प्रारम्भ में द्वैत का अनुभव करता है, तदन्तर अंशांशी अथवा अंगांगी भाव की अनुभूति करता है। साधना की चरम अवस्था में पूर्ण अद्वैत की अनुभूति भी उसे होती है। उपनिषदों में द्वैत, विशिष्टाद्वैत और पूर्ण अद्वैत से सम्बन्धित सभी स्थितियों का चित्रण हुआ है। उन में परस्पर-विरोध नहीं है, केवल अनुभूति के तारतम्य का ही अन्तर है।[2] महादेवी जी के काव्य में भी द्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं अद्वैत से सम्बन्धित सभी स्थितियों का चित्रण हुआ है, परन्तु उनका मूल दर्शन अद्वैतवाद पर ही प्रतिष्ठित है। जगत् पर नित्यता-अनित्यता दोनों ही दृष्टियों से विचार हुआ है और दोनों ही दृष्टिकोणों पर उपनिषदों के प्रभाव की स्पष्ट छाप है। प्रकृति के क्षण-क्षण में परिवर्तित होने के कारण उसकी अनित्यता की, एवं उसके राशि-राशि सौन्दर्य में उसकी आभा की झलक पाकर सर्ववादी दर्शन की प्रतिष्ठा हुई है। जहाँ तक मृत्यु का प्रश्न है महादेवी जी उपनिषदों की ही भाँति जीवन की शाश्वतता और चिरन्तनता में विश्वास करती हैं। साधना की दृष्टि से वे व्यष्टिवादी हैं, पर लोक-मंगल अथवा सामाजिक पक्ष का सर्वथा अभाव नहीं है। पर-दुःख-कातरता से सम्बन्धित स्वर आरम्भ से अन्त तक की सभी रचनाओं में विद्यमान है।

रहस्यवाद से सम्बन्धित जितनी अधिक मानसिक स्थितियों का चित्रण उनके काव्य में हुआ है, उतनी स्थितियाँ आधुनिक हिन्दी के किसी भी छायावादी कवि के काव्य में देखने को नहीं मिलतीं। उनका सम्पूर्ण काव्य विरह के अश्रुओं से गीला और तरल-कोमल है। साधना की दृष्टि से भी उनकी स्थिति आधुनिक हिन्दी के कवियों में अद्वितीय है। उनकी साधना के स्वर में 'रश्मि' से 'दीप-शिखा' तक एक

---

१. रश्मि की भूमिका, पृ० ६।

२. रानाडे : कन्सट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषद्ज फिलासफी, पृ० २७६, देखिए इस प्रबन्ध का पृ० ६६।

प्रकार की क्रमशः दृढता-उज्ज्वलता और उदात्ता आती गई है। उनकी आत्मा में अपने साध्य के प्रति इतनी अधिक अविचल निष्ठा और अकम्प विश्वास है कि साधना के पथ के शूल भी फूल बन गए हैं। वे ब्रह्म की ऐसी निष्काम साधिका है जो मौन-रूप से 'दीप-शिखावत्' स्वयं को निरन्तर जलाती रही हैं। यहां तक कि साधन ही साध्य और विरह ही आराध्य बन गया है और उसी में तल्लीन होकर सुख का मंगल भी मनाती रही हैं। इस प्रकार महादेवी जी की दार्शनिक मान्यताएँ वैदिक-दर्शन पर आधारित हैं जो बुद्धि और हृदय दोनों ही धरातल से काव्य की भूमिका पर प्रतिष्ठित हुई हैं।

□□□

नवम अध्याय

# निष्कर्ष

पिछले अध्यायों में हमने वैदिक दर्शन की सापेक्षता में आधुनिक युग के छायावादी कवियों—प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के काव्य के विचार-पक्ष की समीक्षा प्रस्तुत की है। इन चारों ही कवियों का विभिन्न स्रोतों के माध्यम से वैदिक साहित्य एवं दर्शन से निकट का सम्पर्क रहा है जिसका उल्लेख हम यथास्थान कर आए हैं। यहाँ संक्षेप में सभी कवियों से सम्बन्धित उन उपलब्धियों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे जिनका हमने पीछे विस्तार से प्रतिपादन किया है।

आध्यात्मिकता की दृष्टि से वैदिक वाङ्मय में वेद और उपनिषदें प्रमुख ग्रंथ हैं। विचारों की मौलिकता की दृष्टि से चारों वेदों में भी 'ऋग्वेद' एवं 'अथर्ववेद' प्रमुख हैं। 'सामवेद' के लगभग सम्पूर्ण मन्त्र 'ऋग्वेद' की शाकल शाखा से ही संगृहीत हैं तथा इस वेद का सम्बन्ध उद्गाता ऋत्विज से है जो विभिन्न सामों पर ऋचाओं का सस्वर गायन प्रस्तुत करता है। यजुर्वेद कुछ अंशों को छोड़ कर विशेषतया कर्मकाण्ड का वेद है जिसमें विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न यज्ञों के सम्पादन की विधियाँ वर्णित है। दार्शनिक दृष्टि से इस वेद का महत्त्व भी नगण्य-सा ही है। ऋग्वेद वस्तुतः विभिन्न देवताओं को जो एक ही 'विराट्-पुरुष' के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं, ऋषियों द्वारा समर्पित प्रार्थनाओं, स्तुतियों एवं विनय-समन्वित आह्वानों का वेद है। इसी वेद में अनेक ऐसे सूक्त उपलब्ध होते हैं जो रहस्य-भावना एवं दार्शनिकता की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे सूक्तों में 'अस्यवामीय सूक्त' (१,१६४), 'विश्वकर्मासूक्त' (१०,८१-८२), 'पुरुष-सूक्त' (१०,९०), 'हिरण्यगर्भ सूक्त' (१०,१२१), नासदीय सूक्त (१०,१२९) तथा 'अघमर्षण सूक्त' (१०,१९०) प्रमुख हैं। ये सभी सूक्त ऋषियों की रहस्यात्मक भावना का स्पष्टतः प्रतिनिधित्व करते हैं। इस तथ्य को पाश्चात्य वेदज्ञों का भी समर्थन प्राप्त है। पर श्री अरविन्द की दृष्टि से सम्पूर्ण वेद पर प्रतीकात्मकता का ऐसा आवरण चढ़ा हुआ है जो अदीक्षितों से प्रच्छन्न ही रहता है। यदि उसे अनावृत कर उनके आन्तरिक आशय को समझने के लिए सूत्र टटोलने का प्रयास किया जाए तो स्पष्टतः

विदित हो जायेगा कि कतिपय अंशों को छोड़कर ऋग्वेद के सूक्त रहस्यवादी कवियों की ऊर्ध्व-यात्रा के विजय-गान हैं ।

ऋग्वेद का ऋत और सत्य का विचार भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है जो आधुनिक वैज्ञानिकता की कसौटी पर भी खरा उतरता है । आधुनिक विद्वानों के लिए वस्तुतः यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि वैदिक ऋषि किस प्रकार मूल तत्व के दो पक्ष ऋत (Dynamic Force) एवं सत्य (Static Force)से परिचय प्राप्त कर सके। ऋत भौतिक और नैतिक दोनों ही क्षेत्रों में व्यवस्था और नियमबद्धता का सिद्धांत है। परमव्योमन से सम्बन्धित विचार जिस का वेद में अनेकशः उल्लेख आया है रहस्य-भावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।

परम-सत्ता के स्वरूप की दृष्टि से वेद में उसके दोनों ही पक्षों—सोपाधिक (सः) एवं निरुपाधिक (तद्)—का उल्लेख मिलता है। यह वही विराट् पुरुष है जिसकी महत्ता से पृथ्वी, द्यौ, अन्तरिक्ष आदि टिके हुए हैं । वही सब का शासक एवं नियन्ता है। यह मृत्युलोक उसकी महिमा का एक पाद है और शेष तीन पाद अविनाशी रूप में परम व्योम में स्थित हैं । यह उस परम सत्ता के सर्वव्यापक एवं सर्वातिशायी दोनों रूपों का काव्यात्मक वर्णन है, जिस पर उपनिषदों में जाकर गंभीरता से विचार हुआ है ।

अथर्ववेद विविध विषयक है। पर इस वेद में आध्यात्मिक तथ्य ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक पुष्ट रूप में व्यक्त हुए हैं। वहाँ उस परम सत्ता के लिए स्पष्टतः 'ब्रह्म' कहा गया तथा कई स्थलों पर उसे 'स्कम्भ' तथा 'उच्छिष्ट' भी कहा गया है। इस वेद में शरीर की नश्वरता एवं आत्मा के अमरत्व की चर्चा बड़े स्पष्ट रूप में आई है। अथर्ववेद में यह चिन्तन सुस्थिर हो चला था कि सृष्टि ब्रह्म की चित्-शक्ति से परिचालित है और मानव-शरीर की समस्त क्रियाएँ आत्मा की चित्-शक्ति से। वेदों के ऋषि सृष्टि की विश्लेषण-प्रक्रिया द्वारा अन्तिम तत्व, ब्रह्म तक पहुँचे थे, उपनिषदों के ऋषियों ने मानव के अन्तर्जगत् का सूक्ष्म अन्वेषण करते-करते आत्म-तत्व की उपलब्धि की थी। औपनिषदिक ऋषियों की दार्शनिक जगत् को यह एक महान् देन थी कि सृष्टि का संचालक ब्रह्म-तत्व एवं मानव-शरीर का संचालक आत्म-तत्व दो भिन्न सत्ताएँ नहीं, प्रत्युत तात्विक-दृष्टि से अपने मूल रूप में दोनों में अभेद है। यह आत्म-तत्व, अज, शाश्वत, अमर, अविनाशी, अग्राह्य एवं अवाङ्मनस-गोचर है; तथा निर्गुण ब्रह्म का भी स्वरूप यही है। इस तत्व को किसी भी लौकिक उदाहरण द्वारा ठीक-ठीक स्पष्ट न किए जा सकने की कठिनाई के ही कारण उसका 'नेति-नेति' कथन द्वारा निर्वचन किया गया। यह चेतन-तत्व ही अविद्या की प्रभाव-परिधि में आकर सीमित जीव-तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तथा इन्द्रियों द्वारा भोगों के सम्पर्क में आने के कारण सृष्टि के भोग्य पदार्थों को ही सद्रूप मान कर अपने असीम स्वरूप को विस्मृत कर बैठा। अतः अपने वास्तविक (असीम और विराट्) स्वरूप की पुनः उपलब्धि ही वैदिक-वाङ्मय में मानव के जीवन का चरम

पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है। उपनिषदें इसी अवस्था की प्राप्ति के लिए जीव का मार्गदर्शन करती हैं। तथा कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि साधनों का इसी दृष्टि से प्रतिपादन करती है। जब तक जीवात्मा निष्काम होकर अपने मौलिक स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक वह कर्मानुसार नाना ऊँची-नीची योनियों में जन्मता-मरता रहेगा, यह एक सुनिश्चित नियम है। इस प्रकार उपनिषदें जीवन-धारा की शाश्वतता के साथ-साथ (जन्मान्तरवाद) कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी करती हैं।

जगत् के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में निषेधात्मक एवं स्वीकारात्मक ये दो दृष्टिकोण उल्लिखित हैं। निषेधात्मक दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की नश्वरता एवं सांसारिक भोगों की क्षण-भंगुरता का प्रतिपादन हुआ और इस चिन्तन का चरम विकास आगे चल कर हुआ बौद्ध-दर्शन में। इस चिन्तन के अनुसार जगत् अविद्यामय है, मायामय है। स्वीकारात्मक दृष्टिकोण के अनुसार परमात्मा सृष्टि के कण-कण में व्याप्त कहा गया है। सभी वस्तुएँ उसी से उत्पन्न हुई हैं, अतः वे सब उसी एक की महानता, सौन्दर्य एवं विराटता का द्योतन करती हैं। सब उसी की सत्ता से सत्तावान् हैं। प्रकृति के प्रति इस वैदिक दृष्टिकोण को हम सर्ववादी अथवा सर्वात्मवादी दर्शन से अभिहित कर सकते है।

इसी प्रकार आत्मा की परमात्मा के प्रति ऐक्यानुभूति, चाहे वह हृदय के माध्यम से व्यक्त की जाय अथवा चिन्तन की पीठिका से, रहस्यवाद की श्रेणी में आती है। वेद और उपनिषदों में यह अनुभूति चिन्तन के माध्यम से, निदिध्यासन के द्वारा प्रतिष्ठित हुई है। इस अनुभूति की उपलब्धि द्वारा हमारे प्राचीन ऋषियों ने सामाजिक धरातल पर समत्व-भाव से प्रेरित होकर लोक-मंगल की साधना की थी तथा व्यक्तिगत धरातल पर जीवन्मुक्ति अर्थात निर्भयता, स्वतन्त्रता एवं आनन्द को साधा था। वैदिक-दर्शन की दृष्टि से यह मानव-जीवन की सर्वोच्चावस्था है अतः स्थितप्रज्ञता की इस अवस्था की प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है, अन्तिम पुरुषार्थ है। वैदिक वाङ्मय में इस स्थिति को अर्जित करने के लिए बार-बार प्रेरणा दी गई है, वस्तुतः उसका प्रतिपाद्य ही इस अवस्था की साधना है।

इस प्रकार वैदिक-दर्शन मानव-जीवन से पृथक् कल्पना के क्षेत्र में न तो बौद्धिक-व्यायाम मात्र ही है और न वह आकाश-कुसुम की भाँति निष्फल और निराधार ही। वह जीवन के प्रति एक संतुलित एवं अनुशासित, पूर्ण एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जिसकी चरितार्थता ही जीवन में है, जीवन से परे न उसका कोई महत्त्व है और न अस्तित्व ही। संक्षेप में हम वैदिक-दर्शन की कतिपय मान्यताओं का निम्न प्रकार से उल्लेख कर सकते हैं—

(१) एक परम सत्ता है।

(२) वह सर्वव्यापक भी है और सर्वातिशायी भी, सोपाधिक भी है निरुपाधिक भी।

(३) वह सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी, सभी वस्तुएँ उसी से उत्पन्न, उसी पर आधारित एवं अन्त में उसी में विलीन

विदित हो जायेगा कि कतिपय अंशों को छोड़कर ऋग्वेद के सूक्त रहस्यवादी कवियों की ऊर्ध्व-यात्रा के विजय-गान हैं।

ऋग्वेद का ऋत और सत्य का विचार भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जो आधुनिक वैज्ञानिकता की कसौटी पर भी खरा उतरता है। आधुनिक विद्वानों के लिए वस्तुतः यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि वैदिक ऋषि किस प्रकार मूल तत्व के दो पक्ष ऋत (Dynamic Force) एवं सत्य (Static Force) से परिचय प्राप्त कर सके। ऋत भौतिक और नैतिक दोनों ही क्षेत्रों में व्यवस्था और नियमबद्धता का सिद्धांत है। परमव्योमन से सम्बन्धित विचार जिस का वेद में अनेकशः उल्लेख आया है रहस्य-भावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

परम-सत्ता के स्वरूप की दृष्टि से वेद में उसके दोनों ही पक्षों—सोपाधिक (सः) एवं निरुपाधिक (तद्)—का उल्लेख मिलता है। यह वही विराट् पुरुष है जिसकी महत्ता से पृथ्वी, द्यौ, अन्तरिक्ष आदि टिके हुए हैं। वही सब का शासक एवं नियन्ता है। यह मृत्युलोक उसकी महिमा का एक पाद है और शेष तीन पाद अविनाशी रूप में परम व्योम में स्थित हैं। यह उस परम सत्ता के सर्वव्यापक एवं सर्वातिशायी दोनों रूपों का काव्यात्मक वर्णन है, जिस पर उपनिषदों में जाकर गंभीरता से विचार हुआ है।

अथर्ववेद विविध विषयक है। पर इस वेद में आध्यात्मिक तथ्य ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक पुष्ट रूप में व्यक्त हुए हैं। वहाँ उस परम सत्ता के लिए स्पष्टतः 'ब्रह्म' कहा गया तथा कई स्थलों पर उसे 'स्कम्भ' तथा 'उच्छिष्ट' भी कहा गया है। इस वेद में शरीर की नश्वरता एवं आत्मा के अमरत्व की चर्चा बड़े स्पष्ट रूप में आई है। अथर्ववेद में यह चिन्तन सुस्थिर हो चला था कि सृष्टि ब्रह्म की चित्-शक्ति से परिचालित है और मानव-शरीर की समस्त क्रियाएँ आत्मा की चित्-शक्ति से। वेदों के ऋषि सृष्टि की विश्लेषण-प्रक्रिया द्वारा अन्तिम तत्व, ब्रह्म तक पहुँचे थे, उपनिषदों के ऋषियों ने मानव के अन्तर्राज्यों का सूक्ष्म अन्वेषण करते-करते आत्म-तत्व की उपलब्धि की थी। औपनिषदिक ऋषियों की दार्शनिक जगत् को यह एक महान् देन थी कि सृष्टि का संचालक ब्रह्म-तत्व एवं मानव-शरीर का संचालक आत्म-तत्व दो भिन्न सत्ताएँ नहीं, प्रत्युत तात्विक-दृष्टि से अपने मूल रूप में दोनों में अभेद है। यह आत्म-तत्व, अज, शाश्वत, अमर, अविनाशी, अग्राह्य एवं अवाङ्मनस-गोचर है; तथा निर्गुण ब्रह्म का भी स्वरूप यही है। इस तत्व को किसी भी लौकिक उदाहरण द्वारा ठीक-ठीक स्पष्ट न किए जा सकने की कठिनाई के ही कारण उसका 'नेति-नेति' कथन द्वारा निर्वचन किया गया। यह चेतन-तत्व ही अविद्या की प्रभाव-परिधि में आकर सीमित जीव-तत्व के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तथा इन्द्रियों द्वारा भोगों के सम्पर्क में आने के कारण सृष्टि के भोग्य पदार्थों को ही सद्रूप मान कर अपने असीम स्वरूप को विस्मृत कर बैठा। अतः अपने वास्तविक (असीम और विराट्) स्वरूप की पुनः उपलब्धि ही वैदिक-वाङ्मय में मानव के जीवन का चरम

पुरुषार्थ स्वीकार किया गया है। उपनिषदें इसी अवस्था की प्राप्ति के लिए जीव का मार्गदर्शन करती हैं। तथा कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि साधनों का इसी दृष्टि से प्रतिपादन करती है। जब तक जीवात्मा निष्काम होकर अपने मौलिक स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक वह कर्मानुसार नाना ऊंची-नीची योनियों में जन्मता-मरता रहेगा, यह एक सुनिश्चित नियम है। इस प्रकार उपनिषदें जीवन-धारा की शाश्वतता के साथ-साथ (जन्मान्तरवाद) कर्मवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी करती हैं।

जगत् के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में निषेधात्मक एवं स्वीकारात्मक ये दो दृष्टिकोण उल्लिखित हैं। निषेधात्मक दृष्टिकोण के अनुसार जीवन की नश्वरता एवं सांसारिक भोगों की क्षण-भंगुरता का प्रतिपादन हुआ और इस चिन्तन का चरम विकास आगे चल कर हुआ बौद्ध-दर्शन में। इस चिन्तन के अनुसार जगत् अविद्यामय है, मायामय है। स्वीकारात्मक दृष्टिकोण के अनुसार परमात्मा सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त कहा गया है। सभी वस्तुएँ उसी से उत्पन्न हुई हैं, अतः वे सब उसी एक की महानता, सौन्दर्य एवं विराटता का द्योतन करती हैं। सब उसी की सत्ता से सत्तावान् हैं। प्रकृति के प्रति इस वैदिक दृष्टिकोण को हम सर्ववादी अथवा सर्वात्मवादी दर्शन से अभिहित कर सकते हैं।

इसी प्रकार आत्मा की परमात्मा के प्रति ऐक्यानुभूति, चाहे वह हृदय के माध्यम से व्यक्त की जाय अथवा चिन्तन की पीठिका से, रहस्यवाद की श्रेणी में आती है। वेद और उपनिषदों में यह अनुभूति चिन्तन के माध्यम से, निदिध्यासन के द्वारा प्रतिष्ठित हुई है। इस अनुभूति की उपलब्धि द्वारा हमारे प्राचीन ऋषियों ने सामाजिक धरातल पर समत्व-भाव से प्रेरित होकर लोक-मंगल की साधना की थी तथा व्यक्तिगत धरातल पर जीवन्मुक्ति अर्थात निर्भयता, स्वतन्त्रता एवं आनन्द को साधा था। वैदिक-दर्शन की दृष्टि से यह मानव-जीवन की सर्वोच्चावस्था है अतः स्थितप्रज्ञता की इस अवस्था की प्राप्ति ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है, अन्तिम पुरुषार्थ है। वैदिक वाङमय में इस स्थिति को अर्जित करने के लिए बार-बार प्रेरणा दी गई है, वस्तुतः उसका प्रतिपाद्य ही इस अवस्था की साधना है।

इस प्रकार वैदिक-दर्शन मानव-जीवन से पृथक् कल्पना के क्षेत्र में न तो बौद्धिक-व्यायाम मात्र ही है और न वह आकाश-कुसुम की भाँति निष्फल और निराधार ही। वह जीवन के प्रति एक संतुलित एवं अनुशासित, पूर्ण एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जिसकी चरितार्थता ही जीवन में है, जीवन से परे न उसका कोई महत्त्व है और न अस्तित्व ही। संक्षेप में हम वैदिक-दर्शन की कतिपय मान्यताओं का निम्न प्रकार से उल्लेख कर सकते हैं—

(१) एक परम सत्ता है।

(२) वह सर्वव्यापक भी है और सर्वातिशायी भी, सोपाधिक भी है निरुपाधिक भी।

(३) वह सृष्टि का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी, सभी वस्तुएँ उसी से उत्पन्न, उसी पर आधारित एवं अन्त में उसी में विलीन

हो जाती हैं, वह कण-कण में व्याप्त है।

(४) मनुष्य का जीवात्मा जो शरीर की समस्त क्रियाओं एवं चेष्टाओं का केन्द्र है, अज और अविनाशी है। पंचभूतों से निर्मित शरीर के क्षीण हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता। वह लिंग-रहित एवं मूल रूप में ज्योतिर्मय है जो मानव के हृदय में विद्यमान है जिस पर पंच-कोशों का आवरण चढ़ा हुआ है। अन्तिम आनन्दमय कोश की अवस्था तक पहुँचने पर ही उसके शुद्ध स्वरूप की अनुभूति होती है।

(५) विश्व में व्याप्त परमात्म-तत्व तथा मानव-शरीर में विद्यमान आत्म-तत्व अपने मौलिक रूप में अभिन्न और एक है।

(६) व्यवहार दशा में संसार के प्रलोभनों में आसक्त जीवात्मा के लिए यह अनुभूति सुलभ नहीं होती, अविद्यामय विश्व जीव में द्वैत का, भेद का भाव उत्पन्न कर देता है।

(७) इस अविद्या-ग्रन्थि का नाश एवं कर्मों के फल की क्षीणता ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है।

(८) जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों एवं उच्चावच स्थितियों को प्राप्त कर जन्मता-मरता रहता है।

(९) ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग द्वारा जीवात्मा अपनी वासनात्मक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर सकता है अतः शुद्ध कर्म, सम्यक् ज्ञान तथा पवित्र हृदय की आवश्यकता है। सभी साधनों के समन्वित प्रयास से जीव उस उच्च स्थिति तक पहुँच सकता है जिसे दर्शन शास्त्र 'आत्म-साक्षात्कार', 'त्रिगुणातीतावस्था', अथवा 'मोक्ष' कहते हैं।

(१०) 'आत्म-साक्षात्कार' के लिए प्रभु की कृपा भी अपेक्षित है।

वैदिक-दर्शन की ये कतिपय मान्यताएँ हैं जिनकी नींव पर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का प्राचीनतम भवन दृढतापूर्वक टिका हुआ है। ये धारणाएँ इतनी ठोस और वैज्ञानिक हैं कि विज्ञान के आधुनिक-युग में भी उनका उन्मूलन संभव नहीं हो सका प्रत्युत वैज्ञानिक अनुसंधानों से उन सिद्धांतों की प्रामाणिकता ही सिद्ध होती जा रही है। वैदिक तत्व-चिन्तन से सम्बन्धित ये मान्यताएँ आगे चलकर षड्दर्शनों एवं आगम-ग्रन्थों में जाकर प्रतिष्ठित हुई। इन आगम-ग्रन्थों में सिद्धांत पक्ष के साथ-साथ व्यवहार-पक्ष (क्रिया) को भी समान महत्व दिया गया। अतः इनमें गोपनीय क्रियाओं का समावेश हो गया जिसके कारण ये ग्रन्थ 'तन्त्र' कहे गये। इन ग्रन्थों में काश्मीरीय-शैव-दर्शन (प्रत्यभिज्ञादर्शन-दर्शन) का विशेष महत्व है, जो सिद्धांतो की दृष्टि से वैदिक-दृष्टिकोण को ही पल्लवित करता है।

वैदिक-दर्शन की इन मान्यताओं को हमने मध्य-युग में विस्मृत कर दिया फलतः हममें आत्मशक्ति के स्थान पर आत्महीनता, आत्म-गौरव एवं स्वाभिमान के

स्थान पर दीनता तथा कातरता आती चली गई। सामाजिक-जीवन मे निषेधात्मक दर्शन बल पकड़ता गया, फलतः भारत को स्वस्थ सामाजिकता तथा राजनीतिक स्वाधीनता दोनों से शताब्दियों तक वंचित रहना पड़ा। यह युग एक प्रकार से भारत के घोर पतन का इतिहास लिए हुए है। इस युग में केवल जड़ता, निष्क्रियता, दीनता कायरता, पामरता, विलासिता, वैमनस्य, पारस्परिक फूट का ही अखण्ड साम्राज्य था। जीवन और जगत् को माया कहकर झुठलाने की प्रवृत्ति सर्वत्र मर उठाए अधोगति की सामग्री तैयार कर रही थी। जातीय-गौरव जैसे हमारे जीवन से रूठ कर कहीं एकांत में पड़ा-पड़ा हमारी दयनीय अवस्था पर सिर धुन रहा हो। गौरांग महाप्रभुओं के शासन-काल में आत्महीनता का यह युग अपनी चरम-सीमा को पहुंचा बस यहीं से प्रकृति के शाश्वत नियम के अनुसार अपनी वर्तमान स्थिति के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। और सक्रिय प्रतिक्रिया के विभिन्न प्रयत्न ही आधुनिक भारत के चतुर्दिक् पुनर्जागरण एवं नवोत्थान की कहानी का निर्माण करते है। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, श्री रामकृष्ण देव, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, बाल गंगाधर तिलक, गोविन्द महादेव रानाडे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द तथा डा० राधाकृष्णन् आदि के प्रयत्न इस सांस्कृतिक नवोत्थान के युग का रूप-निर्माण करते हैं। इन्हीं महापुरुषों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप भारत के विस्तृत सांस्कृतिक इतिहास में एक स्वर्णिम अध्याय और जुड़ जाता है। वैदिक-शिक्षाओं को केन्द्र बनाकर इन महापुरुषों ने जो सुधार एवं परिष्कार के कार्य किये उनका भारत के सामाजिक जीवन पर गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव इस युग के काव्य, कला और साहित्य पर भी देखा जा सकता है।

हमारे आलोच्य छायावादी कवियों के विचार-जगत् के निर्माण में उपरोक्त वैदिक मान्यताओं, धारणाओं एवं सिद्धान्तों का विशेष योग रहा है जिसकी चर्चा हम पीछे प्रमुख कवियों से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् अध्यायों में कर आए हैं। यहाँ संक्षेप में उनकी दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

छायावादी कवियों में प्रसादजी की गणना अग्रज होने के नाते सर्वप्रथम होती है। उन्होंने अपनी काव्य-साधना द्विवेदी-युग में प्रारम्भ की थी और द्विवेदी-युग आर्य-समाज के सुधारवादी आन्दोलन से प्रभावित होने के कारण एक ऐसे काव्य-साहित्य की रचना में तल्लीन था जिसे स्थूल तथा इतिवृत्तात्मक कहा जा सकता है। प्रसादजी के प्रारम्भिक काव्य पर द्विवेदी-युगीन प्रवृत्तियों का प्रभाव देखा जा सकता है किन्तु उसमें नवीनता के अंकुर भी विद्यमान थे। उनके काव्य का स्वर निराला की भाँति एकदम विद्रोहात्मक नहीं था प्रत्युत उसमें क्रमिक विकास का सूत्र निहित है। उनकी काव्यधारा काव्य-सरिता के मान्य कगारों को एकदम तोड़-फोड़ कर निर्बाध रूप से प्रभावित नहीं हुई। उसने शनैः-शनै अपना नया मार्ग बनाया, पर वह मार्ग राजमार्ग था जिस पर चलकर उन्होंने 'कामायनी' जैसे महाकाव्य की उपलब्धि की।

उनकी प्रारम्भिक रचनाओं—यथा 'चित्राधार', 'प्रेम पथिक' और 'काननकुसुम'

के विषय-भक्ति और प्रेम-प्राचीन होते हुए भी अभिव्यक्ति की दृष्टि से किंचित नूतनता लिए हुए हैं। प्रसादजी आस्तिक कवि थे, परम-शिव में अखण्ड विश्वास उन्हें अपने परिवार से धरोहर-रूप में उपलब्ध हुआ था, अतः उनके प्रारम्भिक काव्य में ही ब्रह्म-सम्बन्धी चिन्तन उपलब्ध होता है। ब्रह्म के दोनों स्वरूपों—सगुण और निर्गुण—की चर्चा मिलती है। ब्रजभाषा में निबद्ध 'चित्राधार' की अनेक रचनाएँ इस कथन का समर्थन करती हैं। उन्होंने उपनिषदों की ही भाँति उस सर्वलोक-विहारी को हृदय में निवास करते हुए बताया है। 'चित्राधार' की रचनाएँ काव्यात्मक गुणों की दृष्टि से यद्यपि उत्तम काव्य की श्रेणी में नहीं आतीं तदपि जिज्ञासा और रहस्य के सूत्र विद्यमान होने के कारण विचारों के क्रमिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण है। 'कानन-कुसुम' में भी ऐसी-ऐसी अनेक रचनाएँ है जिनका विषय अध्यात्म से सम्बन्धित है। 'भक्ति' और विनय अनेक कविताओं का प्रमुख विषय है। पर यहाँ दार्शनिकता 'चित्राधार' की अपेक्षा अधिक उभर कर आई है। यहाँ हम प्रथम बार उनकी सर्वात्मवादी दृष्टि से परिचय प्राप्त करते हैं। 'मंदिर' तथा 'नमस्कार' शीर्षक रचनाएँ इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं। 'मर्मकथा' शीर्षक रचना में अद्वैत-भावना के अंकुर भी द्रष्टव्य हैं। जिज्ञासा तथा रहस्य-सम्बन्धी भावना यहाँ विस्तार से व्यक्त हुई है। 'प्रेमपथिक' में कवि ने छोटे से कथानक के माध्यम से प्रेम के आदर्श रूप की व्यंजना की है। निष्काम प्रेम-साधना द्वारा यहाँ उस स्थिति के सम्पादन की ओर संकेत किया गया है जिसे उपनिषद् 'मुक्तावस्था' कहते हैं। कवि ने यहाँ उस सीमा तक पहुँचने की आकांक्षा प्रकट की है जिसके आगे कोई राह ही नहीं रह जाती। यहाँ हम आत्मवाद पर आधारित उस अंकुर के दर्शन करते हैं जो कामा-यनी में जाकर 'आनन्दवाद' के रूप में वृक्ष की प्रौढता की भाँति अपनी समग्रता एवं पूर्णता को प्राप्त हुआ है।

'झरना' जो छायावादी काव्य की दृष्टि से प्रसादजी के गीतों का प्रथम संग्रह है आध्यात्मिकता एवं रहस्य-भावना की दृष्टि से पूर्व-रचनाओं की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'तुम' शीर्षक रचना में कवि ने ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूपों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। 'किरण' तथा 'खोलो द्वार' शीर्षक रचनाएँ कवि की रहस्य-भावना पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। रहस्यात्मकता के अन्तर्गत ही कतिपय रचनाओं में परोक्ष-रूप से जीव के अविद्यामय स्वरूप पर भी प्रकाश डाला गया है। 'आँसू' कवि की स्वानुभूतिमयी वेदना को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला खड़ी बोली हिन्दी का प्रथम मार्मिक खण्ड-काव्य है। कवि ने अपने जीवन के इस करुण प्रसंग को रहस्य की भावना में डुबो कर चित्रित किया है, फलतः लौकिकता के साथ-साथ इसमें अलौकिकता का समावेश भी स्वयमेव हो गया है। 'लहर' की रहस्य-भावना पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा अधिक प्रगाढ है। कवि की प्रबल आकांक्षा है कि उसका मानस-जलधि परम प्रभु से सदैव स्पृष्ट रहे। वह एक ऐसे मधु के पान की इच्छा प्रकट करता है जिसके आस्वादन से उसकी भौतिक-सत्ता अमरत्व में

रूपान्तरित हो जाए। कवि ने 'लहर' की रचनाओं में यत्र-तत्र अध्यात्म-संयोग-जनित आनन्दोल्लास की भी चर्चा की है।

'लहर' तक प्रसादजी के समस्त काव्य-संग्रहों मे अध्यात्म की दृष्टि से रहस्य की वृत्ति ही प्रमुख रही है। वे रहस्य, सौंदर्य एवं प्रेम के कवि के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित हुए हैं। दार्शनिकता की दृष्टि से उनका अन्तिम काव्य-प्रसूत कामायनी ही प्रमुख है जिसकी कथावस्तु एक साथ ऐतिहासिक होते हुए भी मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक स्वरूप ग्रहण किए हुए है। ऐतिहासिक दृष्टि से कामायनी वैदिक वाङ्मय पर आधारित मनु, श्रद्धा और इड़ा के प्रणय एवं संघर्ष की संक्षिप्त-सी कथा है। पर रूपक की दृष्टि से यह जीव के अन्नमयकोश से आनन्दमय कोश तक की आध्यात्मिक यात्रा का वर्णन प्रस्तुत करती है। कामायनी में रूपक की यह योजना उपनिषदों के मानव में विद्यमान पंचकोशों की मनोवैज्ञानिक कल्पना पर आधारित है। इन पंच-कोशों में अन्नमय कोश सत्ता का स्थूलतम स्तर है तथा आनन्दमय कोश सूक्ष्मतम स्तर। यह कोश अखण्ड एवं अजस्र आनन्द का धाम है। जीव द्वारा विभिन्न कठि-नाइयों को पार करके इसकी उपलब्धि, उसका परम लक्ष्य है, और यही कामायनी का भी प्रतिपाद्य है। कामायनी-कार ने मनु के चरित्र के माध्यम से मानव-मन के विषयों से सम्पर्क स्थापित होने पर अथवा अतिबौद्धिकता से प्रभावित होने पर पतन एवं उत्थान के जो क्षण आया करते हैं उन्हीं का उपनिषदों के आधार पर सूक्ष्म चित्रण किया है।

कामायनी में दर्शन तथा रहस्य-सर्ग में ब्रह्म के सगुण-निर्गुण दोनों स्वरूप की चर्चा आई है। वहाँ प्रसादजी परमसत्ता के भावात्मक स्वरूप का परिचय देते हुए 'आलोक पुरुष' आदि विशेषणों का प्रयोग करते हैं। प्रसादजी के ब्रह्मशक्ति-समन्वित ब्रह्म हैं। वे शक्ति से रहित नहीं रहते। शिव और शक्ति का यह अविच्छिन्न सम्बन्ध उपनिषदों को भी अभीष्ट है और प्रत्यभिज्ञादर्शन में तो इन दोनों की समरसता का स्पष्ट उल्लेख है ही। इस सम्बन्ध में हम प्रसादजी को उपनिषदों तथा शैव-ग्रंथ दोनों से प्रभावित हुआ पाते हैं। प्रसादजी की काम की कल्पना भी वैदिक-वाङ्मय पर आधारित है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मंत्रों में सर्वप्रथम काम की उत्पत्ति ही निर्दिष्ट की है, उसे मन का बीज कहा गया है। ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रंथों में यही काम प्रजापति की इच्छा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और इसे ही शाक्तागमों में स्पन्दन और कंपन कहा गया। कामायनी में इन्हीं सूत्रों के आधार पर काम की योजना हुई है। आधुनिक Love अथवा इश्क से उसका स्पष्ट अन्तर है। यह वैदिक-काम धर्म से अविरुद्ध संयमित काम है। जब 'काम' का स्वच्छ रूप विकृत हो जाता है तो जीवात्मा मिथ्याचारी होकर पतित हो जाता है। पवित्र 'काम' सृष्टि की सृजक-शक्ति है तथा प्रसाद को यही अभीष्ट है। वे जगत् को, ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण, सद्रूप मंगलमय, श्रेयस्कर और आनन्दमय मानते हैं। प्रसाद की जगत्-सम्बन्धी इस मान्यता पर वेद, उपनिषद् एवं शैव-ग्रंथों का समन्वित प्रभाव विद्यमान है, क्योंकि वे इस नित्य

जगत् को चिति का स्वरूप स्वीकार करते हैं। यहाँ उनका शांकर मायावाद से स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है। प्रसाद की 'भूमा'-सम्बन्धी कल्पना पर तो स्पष्टत: छान्दोग्योपनिषद् का प्रभाव विद्यमान है। प्रसादजी वैदिक-तत्व-ज्ञान की सर्वप्रथम एवं मौलिक मान्यता से, कि परम तत्व एक है शत-प्रतिशत सहमत हैं। समस्त विभिन्नताओं में अभिन्नता का एक सतत् सूत्र निहित है तभी तो वे हिम और जल, जड़ तथा चेतन में एक तत्व की प्रधानता की बात कहते हैं। वही एक चरम और रसमय भाव सब में घुल-मिलकर रहता है, वे इसी विश्वास के विश्वासी हैं।

'कामायनी' में 'माया' शब्द वेद की ही भाँति अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं ये उसका प्रयोग छल, कपट, जादू-टोने आदि के रूप में करते है और कहीं उपनिषदों की भाँति ब्रह्म की शक्ति-रूप में, तथा कहीं मोह, जाल, अज्ञान अथवा आसक्ति का जाल बिछाकर जीव को फँसा लेने वाली अविद्या-शक्ति के रूप में। शंकर के मायावाद के अर्थों में माया शब्द कामायनी में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। इस जगत् को चिति का स्वरूप मानने वाले प्रसाद उसे माया अथवा विवर्त कहकर कैसे उड़ा सकते थे। प्रसाद के नियतिवाद और 'वैदिक-ऋत' में भी पर्याप्त साम्य है। ऋत-तत्व भौतिक तथा नैतिक स्तर पर व्यवस्था बनाए रखने वाला तत्व है और प्रसाद का नियतिवाद भी यद्यपि वैदिक ऋत के समान उतना व्यापक तो नहीं, पर षड्दर्शनों के भाग्यवाद से अधिक व्यापक है। मनुष्य का सारा जीवन नियति नटी से ही शासित होता है। रहस्यवाद की दृष्टि से 'कामायनी' एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। वैदिक-जिज्ञासाओं एवं रहस्य-वृत्ति की भाँति प्रसादजी ने कामायनी में बड़ी मनोरम जिज्ञासाएँ व्यक्त की हैं। यहाँ रहस्यवाद का स्वरूप उनकी पूर्व-रचनाओं में व्यक्त रहस्य-वृत्ति से किंचित अन्तर लिए हुए हैं। उनकी पूर्व-रचनाओं में रहस्य-वृत्ति प्रणय को आधार बनाकर चलती है। पर यहाँ उसका हम अधिक चिन्तनात्मक स्वरूप देखते हैं जो बुद्धि के धरातल पर से व्यक्त हुआ है। वस्तुत: इसकी योजना जीव के निम्न स्तरों पर से ऊर्ध्व स्तरों पर संचरण करने की भूमिका-रूप में हुई है। रहस्यवाद का यही स्वरूप निराला के 'तुलसीदास' में तथा पन्त के 'स्वर्णकाव्य' में देखने को मिलता है।

कामायनी का प्रतिपाद्य है 'आनन्द वाद'। उपनिषदें आत्मा को आनन्दमय बताती हैं तथा उसकी तात्विक स्वरूप की उपलब्धि के लिए निरन्तर आग्रह करती हैं। पर यह अवस्था आत्मा की साम्य स्थिति पर आधारित है, जिसे शैव-दर्शन में समरसता कहा गया है। यजुर्वेद में इस स्थिति की उपलब्धि के लिए अविद्या (कर्म) और विद्या (ज्ञान) के समन्वय पर नितान्त बल दिया गया है। और यही बात प्रसादजी ने इच्छा, कर्म और ज्ञान के तीन गोलकों के श्रद्धा की मुस्कान द्वारा समन्वय स्थापित करने के माध्यम द्वारा व्यक्त की है। यह तथ्य शैव-दर्शन से गृहीत होते हुए भी वैदिकता के नितान्त अनुकूल है। यह साम्य भावना ही है जो जीव को —— की ओर ले जाती है। कामायनी के अन्त में प्रसादजी ने उसी आनन्दमय स्थिति

का चित्रण किया है। मनु कैलाश-शिखर (सत्ता के आनन्दमयकोश) पर पहुँचते ही समरसता की भावना से ऐसे ओत-प्रोत हो जाते हैं कि उनके स्वप्न, स्वाप, जागरण आदि की सभी स्थितियाँ विलीन हो जाती हैं। लोक-मंगल का सन्देश तो श्रद्धा ने कामायनी में स्थान-स्थान पर दिया ही है जो बड़ा ही भावमय एवं श्लाघ्य है।

निराला के तो सम्पूर्ण व्यक्तित्व और काव्य का संगठन ही वेदान्त-दर्शन से हुआ है। वे जीवन के प्रारम्भिक दिनों में ही कलकत्ता-स्थित 'रामकृष्ण आश्रम', उससे प्रकाशित होने वाली 'समन्वय' पत्रिका तथा उसके साधुओं के सम्पर्क में आ चुके थे। ऐसी स्थिति में उनका उपनिषदों के प्रभाव से बचे रहना कैसे संभव हो सकता था। अतः उनके प्रारम्भिक काव्य-सग्रह 'परिमल' और 'अनामिका' पर उपनिषदों के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों की सबल अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने 'पंचवटी प्रसंग', 'जागरण', 'जागो फिर एक बार' रचनाओं में वैदिक-दर्शन की मान्यताओं को स्पष्टतः काव्य के परिधान में गुम्फित कर दिया है। उन्हें ब्रह्म के सापेक्ष तथा निरपेक्ष दोनों स्वरूप मान्य हैं। सापेक्षिक दृष्टि से ब्रह्म जगत् के कर्त्ता, धर्त्ता एवं संहर्ता हैं। ऐसे ब्रह्म को वे अनेक मोहक सम्बोधनों से पुकारते हैं। उसके प्रति भावमय प्रार्थनाएँ तथा स्तुतियाँ समर्पित करते हैं। उसके निर्गुण-रूप की चर्चा उन्होंने श्रुतियों की ही भाँति निषेधात्मक विशेषणों द्वारा की है। 'पंचवटी प्रसंग' रचना में ही उन्होंने आत्मा-परमात्मा की मौलिक एकता का प्रतिपादन भी किया है, जीव को उसके मूल रूप में उसे ब्रह्म कहकर उसकी महानता का उद्घाटन किया है। 'जागरण' कविता में उनका अविद्या-ग्रस्त जीव का वर्णन भी उपनिषदों के अविद्या-तत्व से प्रभावित होकर आया है। जीव जब तक अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृति से मुक्त नहीं होता तब तक उसकी ऊर्ध्व-गति असंभव है। निराला ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है। निराला के जगत् (प्रकृति) के विकास-सम्बन्धी विचारों पर भी वेद, उपनिषद्, सांख्य दर्शन और शाक्तागमों का प्रभाव विद्यमान है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को उन्होंने कष्ट एवं पीड़ामय माना है। सृष्टि की वस्तुएँ अपने आकर्षक-रूप से जीव को फुसलाती तो हैं, पर उनके सम्पर्क से उसे स्थायी सुख प्राप्त नहीं होता इसीलिए जीव को उसमें आसक्ति रखने से कष्ट होता है। जगत्-सम्बन्धी यह वर्णन उपनिषदों के निषेध-दर्शन पर आधारित है। निराला के माया-सम्बन्धी विचारों पर श्री रामकृष्ण 'परमहंस' तथा स्वामी विवेकानन्द की उपनिषदों की अविद्या-माया तत्व की व्याख्याओं का प्रभाव पड़ा है। निराला उन सभी वस्तुओं को माया कहते हैं जो ब्रह्म और जीव के मध्य द्वैत-भाव उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में माया और अविद्या दोनों एक हैं। उन्होंने माया को प्रसादजी की ही भाँति ब्रह्म की शक्ति-रूप में भी ग्रहण किया है। उस स्थिति में वे उसे 'मा काली' के रूप में देखते हैं।

निराला के प्रारम्भिक काव्य में 'भूमा' के भी बड़े ही विराट् चित्र उपलब्ध होते हैं। भूमा का अर्थ है महान् सुख, और महान् सुख प्राप्त होता है आत्म-विस्तार

से, आत्मा के तात्त्विक स्वरूप से परिचय प्राप्त कर लेने से। कवि इसी की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य बताता है। ब्रह्म तथा जीव के तात्त्विक अद्वैत पर आधारित रहस्य की प्रवृत्ति निराला के काव्य में भी विद्यमान है। उनके काव्य में उपनिषदों की भाँति जिज्ञासा की अपेक्षा सिद्धि के चित्र अधिक हैं। वे रहस्य-भावना के अन्तर्गत एक ऐसे लोक की भी चर्चा करते हैं जो दिव्य है, जहाँ से प्रकाश की किरणें प्रसरित होती हैं। उनकी यह वृत्ति 'जुही की कली' तथा 'शेफालिका' रचनाओं में उत्तम काव्य-गुणों से समन्वित होकर व्यक्त हुई है। उन्होंने अद्वैतानुभूति के लिए ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के अतिरिक्त नाथों, सिद्धों अथवा सन्त वा सूफी कवियों की भाँति योग की भी चर्चा की है, पर वह महत्त्व की दृष्टि से नगण्य ही है।

निराला ने व्यावहारिक धरातल पर ब्रह्म और जीव के अभिन्न सम्बन्ध को अनेक प्रसिद्ध उपमानों द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनकी यह प्रवृत्ति उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म तथा जीव-सम्बन्धी मान्यताओं पर आधारित है। इसी आधार पर निराला ने ब्रह्म और जीव के मध्य अंशांशी, वा अंगांगी रूप में सम्बन्धों की कल्पना की है। इस सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने ऐसे भी उपमान जुटाए हैं जो अभिन्नता के द्योतक हैं। निराला के मोक्ष-सम्बन्धी विचार भी उपनिषत्सम्मत हैं। मुक्त हो जाने के उपरान्त जीवात्मा पुन: आवागमन के चक्र में नहीं फंसता, इस दृष्टिकोण में उपनिषदों और निराला में कोई वैषम्य नहीं है। मोक्ष की साधना की दृष्टि से वैदिक-वाङ्मय में ज्ञान, कर्म, भक्ति, योग सभी साधनाओं को समन्वित रूप से स्वीकार किया गया है। रामकृष्ण देव ने इस तथ्य को अपने जीवन में चरितार्थ कर सबकी समान उपयोगिता सिद्ध की थी तथा निराला भी इन सभी साधना-भूमिकाओं की महत्ता को स्वीकार करते हैं। प्रेम और लोक-सेवा भी इसी साधना का अंग है। लोक-सेवा का भाव स्वामी विवेकानन्द के प्रभाव से निराला के काव्य में इतनी प्रमुखता प्राप्त कर गया है कि उसके समक्ष वे मोक्ष की भी उपेक्षा करने को सन्नद्ध हैं। इस दृष्टि से वे लोक-मंगल के साधक तथा मानवता के पोषक हैं। वे वैदिक कर्मवाद में भी विश्वास रखते हैं। कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति का सनातन सिद्धान्त निराला को भी स्वीकार है।

निराला का गीति-काव्य भी आध्यात्मिक-दार्शनिक मान्यताओं से समन्वित है। अध्यात्म का एक अविच्छिन्न सूत्र उनके समस्त गीतों को माला में धागे की भाँति पिरोये हुए है। फलतः संगीत के सुर-तालों में बद्ध ब्रह्म, जगत् एवं जीव-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन यहाँ भी विद्यमान है। ब्रह्म ही समस्त क्रियाओं का प्रेरक है, ऐसी निराला की मान्यता है, वह हृदय-गुहा में निवास करता है, उसी की भीड़ से हृत्तन्त्री के समस्त तार झंकृत हो उठते हैं। जीवात्मा अमर है, अत: वे मृत्यु के विवर, इस नश्वर गृह में रहने की कामना प्रकट नहीं करते। उपनिषद्-दर्शन से प्रभावित निराला जगत् के सम्बन्ध में उसके अविद्यामय एवं ब्रह्ममय दोनों ही दृष्टिकोणों का प्रतिपादन करते हैं। पर शंकर की भाँति जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहीं भी नहीं कहते। रहस्य

की वृत्ति से सम्पृक्त अनेक मोहक गीत निराला की गीतिका में रत्नवत् जड़े हुए हैं। इन गीतों में जिज्ञासा की अपेक्षा आस्था, मिलन, आत्मानुभूति तथा समर्पण की भावनाएँ अत्यधिक प्रबल हैं। इन गीतों में व्यक्त रहस्य-भावना इतनी मार्मिक है कि सीधे सहृदय के हृदय को द्रवित कर देती है। संगीत, भावना, कल्पना एवं अनुभूति का जैसा सन्तुलित चित्रण इन गीतों में दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। गीतिका के कतिपय गीतों में अविद्या से मुक्ति के लिए सुन्दर प्रार्थनाएँ भी हैं, ये प्रार्थनाएँ उपनिषदों के अविद्या-तत्व पर आधारित हैं। द्वैत-उत्पन्न करने वाली इस अविद्या से मुक्ति के लिए कवि ने ज्ञान एवं कर्म का समान रूप से प्रतिपादन किया है। संक्षेप में योग-मार्ग का उल्लेख यहाँ भी मिलता है।

'तुलसीदास' में निराला ने प्रसाद की 'कामायनी' की भाँति उपनिषदों की पंचकोशों की कल्पना की पीठिका पर तुलसी की चेतना के ऊर्ध्व सोपानों पर आरोहण तथा अवरोहण द्वारा जीव के उत्थान-पतन का मनोवैज्ञानिक-दार्शनिक चित्र प्रस्तुत किया है। विस्तार की दृष्टि से लघुकाय होते हुए भी यह खण्ड-काव्य भाव एवं कला-पक्ष की दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का है।

'राम की शक्ति पूजा' रचना भी ऊर्ध्वारोहण का ही चित्र प्रस्तुत करती है, पर वह योग-साधना पर आधारित है। यह योग-मार्ग भी अवैदिक नहीं वैदिक है। इस मार्ग के मूल सूत्र कठ० तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में विद्यमान हैं। वह परमात्म-तत्व हृदय-गुहा में विद्यमान है, योग-मार्ग का यह मौलिक सिद्धान्त भी औपनिषदिक ही है।

निराला के अणिमा आदि परवर्ती गीत-संग्रहों में भक्ति-तत्व की प्रधानता बढ़ गई है। इन गीतों में निराला एक सिद्ध-सन्त के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। दार्शनिक वृत्ति का नितान्त अभाव यहाँ भी नहीं हुआ है, पर वह गौण है यह तथ्य असंदिग्ध है। निराला ने अपनी काव्य-साधना का प्रारम्भ ज्ञान और कर्म से किया और उसका पर्यवसान हुआ भक्ति में। ज्ञान की भाव में यह परिणति स्पृहणीय ही है।

प्रसाद तथा निराला की ही भाँति पन्तजी ने भी अपनी लेखनी से छायावादी काव्य के कोष को परिपूरित करने में अपूर्व योग-दान किया है। कोमल कल्पना के धनी इस कवि की काव्य-साधना ही 'रहस्यवाद' से प्रारम्भ होती है। 'वीणा' की अधिकाँश रचनाएँ जो 'मा' को सम्बोधित करके लिखी गई हैं रहस्यवाद की कोटि में ही आती हैं। यह रहस्यवृत्ति पति-पत्नी के बीच प्रणय-सम्बन्ध पर आधारित न होकर माँ और बालिका के मध्य वात्सल्य-भाव पर आधारित है। भावनाओं की कोमलता का जैसा स्फुरण इन रचनाओं में दृष्टिगोचर होता है पन्तजी की आगे की रचनाओं में उसका सर्वत्र अभाव है। यहाँ पन्त ने स्वयं को सरल हृदय, भावुक बालिका के रूप में प्रस्तुत किया है, अतः एक उदात्त पावित्र्य की भावना इन रचनाओं की अपनी विशिष्टता है।

पन्तजी की प्रारम्भिक रचनाओं के इस संग्रह में ब्रह्म-सम्बन्धी चिन्तन के अन्तर्गत उसके सगुण पर निराकार रूप की चर्चा आई है। वे उसका विधेयात्मक

परिचय देते हुए उसे उज्ज्वल, अमर, पावन आदि कहते हैं तथा निकट में व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर 'प्रिय', 'प्रियतम' आदि संज्ञाओं का प्रयोग भी करते हैं। संसार के अविद्यामय दार्शनिक स्वरूप की चर्चा भी वीणा में हुई है जिससे विदित होता है कि पन्तजी औपनिषदिक विचारों के सम्पर्क में प्रारम्भिक काल में ही आ चुके थे। प्रकृति के प्रति सर्ववादी दृष्टिकोण भी वीणा की कतिपय रचनाओं में व्यक्त हुआ है।

दार्शनिकता की दृष्टि से 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम जगत् के प्रति कवि के निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों दृष्टिकोणों का समवेत परिचय प्राप्त करते हैं। कवि जहाँ जन्म में मरण देखता है वहाँ मरण में जन्म के आशावादी सिद्धांत से भी उसका परिचय होता है। जीवन की शाश्वतता के सिद्धात से उसका परिचय उसे एक स्वस्थ दृष्टिकोण प्रदान करता है। सर्वत्र एक ही सत्ता को विविध विलासों में रूपान्तरित होते देख वह प्रसन्न हो उठता है। जीवात्मा के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए कवि कहता है कि 'बाह्य रूप से जो कुछ दृष्टिगोचर होते हैं हम वह नहीं हैं।' इस नाशवान् नाम-रूप के भीतर विद्यमान आत्मा ही मुख्य है जो अमर और अज है। पन्तजी को आत्मा के अमरत्व में आरम्भ से ही विश्वास है। जिज्ञासा एवं रहस्यानुभूति की वृत्ति यहाँ भी अभिव्यक्त हुई है पर वीणा जैसी कोमलता, सरसता एवं माधुर्य भाव की यहाँ न्यूनता है।

'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में कवि रहस्य तथा प्रकृति के क्षेत्र से निकलकर मानव-क्षेत्र की ओर बढ़ गया है। 'गुंजन' में कवि ने चिन्तन एवं मनन के माध्यम से सुख-दुःख की वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो स्थित-प्रज्ञता की प्राप्ति के लिए परमावश्यक है। इस स्थल पर कवि का मानस गीता के समत्व-योग से प्रभावित प्रतीत होता है। इन रचनाओं में प्रथम बार ब्रह्म, जीव एवं जगत् से सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन काव्य के परिवेश में अभिव्यक्ति प्राप्त कर सका है यहाँ पन्तजी उपनिषदों की ही भाँति ब्रह्म का परिचय चिन्मय सत्ता के रूप में देते हैं जिसके प्रकाश से इस विश्व का उदय और अस्त संभव होता है। वे उसकी अनिर्वचनीयता से भी पूर्ण आश्वस्त हैं। वेद वा उपनिषदों के आधार पर देह की नश्वरता एवं आत्मा की अमरता का दृष्टिकोण भी इन रचनाओं में व्यक्त हुआ है। वे अन्य छायावादी कवियों की भाँति जीवन की शाश्वतता में पूर्ण विश्वास रखते हैं। जीव की ही भाँति उन्होंने जगत् (प्रकृति) की चिरन्तता एवं शाश्वतता में भी विश्वास प्रकट किया है जो वैदिक विचार-धारा के अनुकूल है। जिज्ञासा वा रहस्य की वृत्ति इन रचनाओं में भी विद्यमान है, पर अपेक्षाकृत न्यून। मुक्ति के सम्बन्ध में पन्तजी के विचार औपनिषदिक ही हैं भले ही उन्हें ब्रह्म तथा जीव की समरसता पर आधारित मुक्ति अभीप्ट न हो। मृत्यु तथा जन्मान्तरवाद से सम्बन्धित वैदिक धारणाओं से भी, पन्तजी सहमत हैं, क्योंकि इन सिद्धान्तों पर आधारित वर्णन उनके काव्य में यत्र-तत्र स्पप्ट रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। 'आत्मवाद' के आधार पर मानव-मानव की समानता की घोषणा भी इस काव्य में विशेष रूप से व्यक्त हुई है।

'युगान्त' में व्यक्त जीव तथा जगत् से सम्बन्धित मान्यताएँ वे ही हैं जिनका उल्लेख ऊपर आ चुका है। हाँ 'माया' पर चिन्तन अवश्य एक नवीन विषय है। कवि का कथन है कि सत्य का वास्तविक स्वरूप 'माया' की परतों से आवृत है। यह ब्रह्म और जीव के बीच भेद और द्वैत उत्पन्न करने वाली शक्ति है इसीलिए इसका अविद्या से सहज सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसके तिरोहित होने पर 'मैं' और 'तुम' का भेद भी लुप्त हो जाता है। शंकर की माया पर व्याख्या से इन कवियों का उस सीमा तक तो मेल खा जाता है जहाँ वे इसको भेदोत्पादिका कहकर लक्षित करते हैं, पर जब वे 'विवर्त' को सिद्ध करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं, वहाँ दोनों में अन्तर आ जाता है। पन्तजी अद्वैत का भी प्रतिपादन करते हैं, पर वह शंकर की अपेक्षा औपनिषदिक अधिक है। इस संग्रह में अहं के विस्तार से सम्बन्धित भूमा के चित्र भी मिलते हैं, पर उनमें निराला के चित्रों जैसी विराट्ता का अभाव है।

मध्यकालीन रचनाओं 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' में कवि ऊर्ध्व मानों को समतल धरातल पर प्रतिष्ठित कर ग्रामीण जीवन का बौद्धिक चित्र प्रस्तुत करता है। किन्तु कवि के हाथ से आध्यात्मिकता का आँचल कहीं भी छूटने नहीं पाता। उसे आत्मा की महत्ता में निरन्तर पूर्ण विश्वास बना रहता है। जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन तथा जिज्ञासा एवं अनुभूति की अभिव्यंजना यहाँ भी विद्यमान है। कर्म, जन्मान्तरवाद तथा निष्काम कर्मयोग से सम्बन्धित वैदिक-धारणाओं के सम्बन्ध में कवि ने पुनः आस्था प्रकट की है जो इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि पन्तजी उन अर्थों में कदापि प्रगतिवादी नहीं रहे जिन अर्थों में आज के प्रगतिवादी "प्रगतिवाद" की व्याख्या करते हैं। हाँ लोक-मंगल की भावना इधर की रचनाओं में अधिक स्थान ग्रहण कर गई हैं पर वह भी साम्यवाद पर आधारित न होकर आत्मवाद एवं भौतिकवाद के समन्वित दृष्टिकोण पर आधारित है।

पन्तजी की 'ग्राम्या' के बाद की रचनाएँ 'स्वर्ण-काव्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। इधर की रचनाओं में कवि श्री अरविन्द की वेद तथा उपनिषद्-सम्बन्धी व्याख्याओं से अधिक प्रभावित है। श्री अरविन्द की व्याख्याओं के अनुसार समस्त जगत् का विकास, विस्तार चेतना से ही हुआ है। जड़-जगत् चेतना का ही स्थूलतम रूप है। मूल चेतना एवं जड़ तत्व के मध्य भी अरविन्द ने कई स्तरों की कल्पना की। मूल चेतना इन स्तरों के रूप में स्वयं को क्रमशः व्यक्त करती चलती है। इसी आधार पर उन्होंने अवरोहण (इन्व्यूलूशन) तथा आरोहण (इव्यूलुशन) की कल्पना की। अरविन्द की ये व्याख्याएँ तैत्तिरीयोपनिषद् में आई श्रुतियों तथा ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में आई ऋषि वामदेव की श्रुतियों पर आधारित हैं। पन्त के इस काव्य में यही दर्शन प्रतिफलित हुआ है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस औपनिषदिक मान्यता के आधार पर जगत् को सद्रूप एवं ब्रह्ममय माना है। यह जगत भी सत्य है अतः इससे पराङ्मुख होकर इसे झुठलाया नहीं की जा सकता। पर यही सब कुछ नहीं है अतः आत्म-विकास की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' के

परिचय देते हुए उसे उज्ज्वल, अमर, पावन आदि कहते हैं तथा निकट में व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर 'प्रिय', 'प्रियतम' आदि संज्ञाओं का प्रयोग भी करते हैं। संसार के अविद्यामय दार्शनिक स्वरूप की चर्चा भी वीणा में हुई है जिससे विदित होता है कि पन्तजी औपनिषदिक विचारों के सम्पर्क में प्रारम्भिक काल में ही आ चुके थे। प्रकृति के प्रति सर्ववादी दृष्टिकोण भी वीणा की कतिपय रचनाओं में व्यक्त हुआ है।

दार्शनिकता की दृष्टि से 'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक कविता महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हम जगत् के प्रति कवि के निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों दृष्टिकोणों का समवेत परिचय प्राप्त करते हैं। कवि जहाँ जन्म में मरण देखता है वहाँ मरण में जन्म के आशावादी सिद्धांत से भी उसका परिचय होता है। जीवन की शाश्वतता के सिद्धात से उसका परिचय उसे एक स्वस्थ दृष्टिकोण प्रदान करता है। सर्वत्र एक ही सत्ता को विविध विलासों में रूपान्तरित होते देख वह प्रसन्न हो उठता है। जीवात्मा के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए कवि कहता है कि 'वाह्य रूप से जो कुछ दृष्टिगोचर होते हैं हम वह नहीं हैं।' इस नाशवान् नाम-रूप के भीतर विद्यमान आत्मा ही मुख्य है जो अमर और अज है। पन्तजी को आत्मा के अमरत्व में आरम्भ से ही विश्वास है। जिज्ञासा एवं रहस्यानुभूति की वृत्ति यहाँ भी अभिव्यक्त हुई है पर वीणा जैसी कोमलता, सरसता एवं माधुर्य भाव की यहाँ न्यूनता है।

'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' में कवि रहस्य तथा प्रकृति के क्षेत्र से निकलकर मानव-क्षेत्र की ओर बढ़ गया है। 'गुंजन' में कवि ने चिन्तन एवं मनन के माध्यम से सुख-दुःख की वृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है जो स्थित-प्रज्ञता की प्राप्ति के लिए परमावश्यक है। इस स्थल पर कवि का मानस गीता के समत्व-योग से प्रभावित प्रतीत होता है। इन रचनाओं में प्रथम वार ब्रह्म, जीव एवं जगत् से सम्बन्धित दार्शनिक चिन्तन काव्य के परिवेश में अभिव्यक्ति प्राप्त कर सका है यहाँ पन्तजी उपनिषदों की ही भाँति ब्रह्म का परिचय चिन्मय सत्ता के रूप में देते हैं जिसके प्रकाश से इस विश्व का उदय और अस्त संभव होता है। वे उसकी अनिर्वचनीयता से भी पूर्ण आश्वस्त हैं। वेद वा उपनिषदों के आधार पर देह की नश्वरता एवं आत्मा की अमरता का दृष्टिकोण भी इन रचनाओं में व्यक्त हुआ है। वे अन्य छायावादी कवियों की भाँति जीवन की शाश्वतता में पूर्ण विश्वास रखते हैं। जीव की ही भाँति उन्होंने जगत् (प्रकृति) की चिरन्तता एवं शाश्वतता में भी विश्वास प्रकट किया है जो वैदिक विचार-धारा के अनुकूल है। जिज्ञासा वा रहस्य की वृत्ति इन रचनाओं में भी विद्यमान है, पर अपेक्षाकृत न्यून। मुक्ति के सम्बन्ध में पन्तजी के विचार औपनिषदिक ही हैं भले ही उन्हें ब्रह्म तथा जीव की समरसता पर आधारित मुक्ति अभीप्ट न हो। मृत्यु तथा जन्मान्तरवाद से सम्बन्धित वैदिक धारणाओं से भी, पन्तजी सहमत हैं, क्योंकि इन सिद्धान्तों पर आधारित वर्णन उनके काव्य में यत्र-तत्र स्पष्ट रूप से उपलब्ध हो जाते हैं। 'आत्मवाद' के आधार पर मानव-मानव की समानता की घोषणा भी इस काव्य में विशेष रूप से व्यक्त हुई है।

'युगान्त' में व्यक्त जीव तथा जगत् से सम्बन्धित मान्यताएँ वे ही हैं जिनका उल्लेख ऊपर आ चुका है। हाँ 'माया' पर चिन्तन अवश्य एक नवीन विषय है। कवि का कथन है कि सत्य का वास्तविक स्वरूप 'माया' की परतों से आवृत है। यह ब्रह्म और जीव के बीच भेद और द्वैत उत्पन्न करने वाली शक्ति है इसीलिए इसका अविद्या से सहज सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसके तिरोहित होने पर 'मैं' और 'तुम' का भेद भी लुप्त हो जाता है। शंकर की माया पर व्याख्या से इन कवियों का उस सीमा तक तो मेल खा जाता है जहाँ वे इसको भेदोत्पादिका कहकर लक्षित करते हैं, पर जब वे 'विवर्त' को सिद्ध करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं, वहाँ दोनों में अन्तर आ जाता है। पन्तजी अद्वैत का भी प्रतिपादन करते हैं, पर वह शंकर की अपेक्षा औपनिषदिक अधिक है। इस संग्रह में अहं के विस्तार से सम्बन्धित भूमा के चित्र भी मिलते हैं, पर उनमें निराला के चित्रों जैसी विराट्ता का अभाव है।

मध्यकालीन रचनाओं 'युगवाणी' एवं 'ग्राम्या' में कवि ऊर्ध्व मानों को समतल धरातल पर प्रतिष्ठित कर ग्रामीण जीवन का बौद्धिक चित्र प्रस्तुत करता है। किन्तु कवि के हाथ से आध्यात्मिकता का आँचल कहीं भी छूटने नहीं पाता। उसे आत्मा की महत्ता में निरन्तर पूर्ण विश्वास बना रहता है। जगत्-सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन तथा जिज्ञासा एवं अनुभूति की अभिव्यंजना यहाँ भी विद्यमान है। कर्म, जन्मान्तरवाद तथा निष्काम कर्मयोग से सम्बन्धित वैदिक-धारणाओं के सम्बन्ध में कवि ने पुनः आस्था प्रकट की है जो इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि पन्तजी उन अर्थों में कदापि प्रगतिवादी नहीं रहे जिन अर्थों में आज के प्रगतिवादी "प्रगतिवाद" की व्याख्या करते हैं। हाँ लोक-मंगल की भावना इधर की रचनाओं में अधिक स्थान ग्रहण कर गई है पर वह भी साम्यवाद पर आधारित न होकर आत्मवाद एवं भौतिकवाद के समन्वित दृष्टिकोण पर आधारित है।

पन्तजी की 'ग्राम्या' के बाद की रचनाएँ 'स्वर्ण-काव्य' नाम से प्रसिद्ध हैं। इधर की रचनाओं में कवि श्री अरविन्द की वेद तथा उपनिषद्-सम्बन्धी व्याख्याओं से अधिक प्रभावित है। श्री अरविन्द की व्याख्याओं के अनुसार समस्त जगत् का विकास, विस्तार चेतना से ही हुआ है। जड़-जगत् चेतना का ही स्थूलतम रूप है। मूल चेतना एवं जड़ तत्व के मध्य भी अरविन्द ने कई स्तरों की कल्पना की। मूल चेतना इन स्तरों के रूप में स्वयं को क्रमशः व्यक्त करती चलती है। इसी आधार पर उन्होंने अवरोहण (इन्व्यूलूशन) तथा आरोहण (इव्यूलुशन) की कल्पना की। अरविन्द की ये व्याख्याएँ तैत्तिरीयोपनिषद् में आई श्रुतियों तथा ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में आई ऋषि वामदेव की श्रुतियों पर आधारित हैं। पन्त के इस काव्य में यही दर्शन प्रतिफलित हुआ है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस औपनिषदिक मान्यता के आधार पर जगत् को सद्रूप एवं ब्रह्ममय माना है। यह जगत भी सत्य है अतः इससे पराङ्मुख होकर इसे झुठलाया नहीं की जा सकता। पर यही सब कुछ नहीं है अतः आत्म-विकास की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वस्तुतः 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' के

वैदिक आदर्शवाद को यहाँ अभिव्यंजित किया गया है। यह जीवन तथा जगत् के प्रति एक स्वस्थ एवं सन्तुलित दृष्टिकोण है। सब कुछ को स्वीकार कर पर किसी में भी न फँस कर, अनासक्त होकर कर्म करते हुए आत्मोन्नय एवं चेतना के ऊर्ध्वारोहण का यह सिद्धांत जो पन्तजी के इधर के काव्य की आत्मा है, पूर्णतः वैदिक है एवं नितान्त ही स्पृहणीय है। ब्रह्म तथा जीव-सम्बन्धी मान्यताओं में यहाँ कोई नवीन बात नहीं कही गई है। इस काव्य में रहस्य-वृत्ति की अधिकता है, पर वह प्रणय-मूलक न होकर चिन्तन-प्रधान है। कर्म, जन्मान्तरवाद, मोक्ष, ज्ञान एवं कर्म के समन्वय से सम्बन्धित पन्त के सिद्धांतों पर भी वैदिक विचारधारा की स्पष्टतः छाप विद्यमान है। कवि ने इधर की रचनाओं में लोक-मंगल तथा मानवतावादी दृष्टिकोण को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है जो उनकी लोक-जीवन के प्रति आस्था की दृष्टि को प्रमाणित करता है। अनेक वैदिक मंत्रों पर भावपरक कविताएँ लिखकर कवि ने वैदिक-दर्शन एवं वाङमय के प्रति अपनी प्रगाढ़ निष्ठा का परिचय दिया है।

महादेवी भी छायावादी काव्य की प्रमुख कवयित्री हैं। ऋग्वेद तथा उपनिषद् उनके सर्वप्रिय ग्रंथ थे। संस्कृत से एम० ए० करने के कारण उनका वैदिक वाङमय से सीधा सम्पर्क रहा है इसीलिए वेद और उपनिषदों की रहस्य-भावना से जितनी अधिक वे प्रभावित रही हैं उतना अधिक अन्य कोई छायावादी कवि नहीं रहा। यह वृत्ति उनमें इस सीमा तक प्रबल रही है कि उनका सम्पूर्ण काव्य ही रहस्य-काव्य के अन्तर्गत आता है। रहस्यवृत्ति का आरम्भ द्वैत-भाव से होता है पर उसका मूल दर्शन अद्वैतवादी ही है। अतः रहस्य-भावना से सम्बन्धित जितनी अधिक मानसिक वृत्तियों तथा अवस्थाओं का चित्रण एवं अंकन उनके काव्य में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। जिज्ञासा, विरह-मिलन, प्रतीक्षा, स्पर्शानुभूति तथा प्रणय-निवेदन आदि महादेवी के काव्य के प्रमुख विषय हैं। उनकी विरह-भावना में उपनिषदों के तपवाद तथा सूफियों के प्रेमवाद दोनों का सम्मिलित प्रभाव है। उन्होंने ब्रह्म तथा जीव के अभेद सम्बन्ध की अभिव्यक्ति अनेक रचनाओं में प्रतिपादित की है। इस दृष्टि से उनकी रश्मि की 'मैं और तू' शीर्षक रचना प्रमुख है। जगत् के सम्बन्ध में उनके प्रारम्भिक काव्य में, पन्तजी की भाँति, उसकी क्षणिकता एवं क्षणभंगुरता का विचार अधिक प्रमुख रहा है। वे इसे स्वार्थमय, दुःखमय तथा अविद्यामय रूपों में चित्रित करती हैं। यह दृष्टिकोण उपनिषदों के निषेध-दर्शन पर आधारित है। परन्तु आगे की रचनाओं में जगत् के प्रति यह निराशावादी दृष्टि न्यूनतर है, क्योंकि प्रकृति के कण-कण में अपने अव्यक्त प्रियतम ब्रह्म की व्याप्ति का विचार दृढ़ होता चला गया है। उनका ब्रह्म-सम्बन्धी चिन्तन भी सीधे उपनिषदों से प्रभावित है। वे उसके निर्गुण स्वरूप की अपेक्षा सगुण स्वरूप की अभिव्यंजना विशेष रूप से करती हैं। उपनिषदों की भाँति ही उन्हें जीव की अमरता तथा अविनश्वरता में भी पूर्ण विश्वास है। पर वह अपनी अज्ञानता के कारण दुःख-सुख के द्वन्द्वों में उलझ कर

अपने लिए विषमता का जाल रचता रहता है इसमें उन्हे कोई सन्देह नही है। जीवन एवं मृत्यु से सम्बन्धित उनके विचार अन्य छायावादी कवियों की भांति वैदिक-दर्शन से ही प्रभावित हैं। जीवन की शाश्वतता, तथा कर्म के सिद्धान्त में उन्हें भी पूर्ण विश्वास है। लोक-मंगल एवं पर दुःख-कातरता से सम्बन्धित उनके विचार वैदिक आत्मवाद पर ही आधारित हैं। साधना की शाश्वतता, तथा कर्म के सिद्धान्त में उन्हें भी पूर्ण विश्वास है। लोक-मंगल एवं परदुःख कातरता से सम्बन्धित उनके विचार वैदिक आत्मवाद पर ही आधारित हैं। साधना की दृष्टि से महादेवी अपने काव्य में ज्ञान की भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं और अपने जीवन में वे गीता के कर्म-योग को चरितार्थ कर रही हैं। इस प्रकार उनके साहित्य एवं जीवन में ज्ञान तथा कर्म का अपूर्व सामंजस्य विद्यमान है।

इस समीक्षण से स्पष्ट है कि हमारे आलोच्य कवियों—प्रसाद, निराला, पंत तथा महादेवी—के विचार-जगत् के निर्माण में वैदिक धारणाओं का बहुत बड़ा योग रहा है। उनकी अधिकांश मान्यताएँ वैदिक साहित्य से ही गृहीत है यह तथ्य असंदिग्ध और निर्विवाद है, पर वे अपने युग की सापेक्षता में ही अभिव्यक्त हुई हैं।

हमारे ये चारों कवि वैदिक रहस्यवाद एवं सर्ववाद से प्रभावित हैं, चारों ही कवि मूलतः अद्वैतवादी हैं तदपि जगत् की सद्रूपता में विश्वास रखते हैं। ये चारों ही कवि जीवात्मा की अविनश्वरता और व्यावहारिक दशा में अविद्या-ग्रस्त रहने की स्थिति में अखण्ड विश्वास रखते हैं। चारों कवियों पर माया के सिद्धान्त का प्रभाव है, पर यह माया शंकर की भांति विवर्त उत्पन्न नहीं करती। मोक्ष-सम्बन्धी इनके विचार औपनिषदिक ही हैं। इन सभी कवियों पर वैदिक कर्म एवं जन्मान्तर-वाद की धारणाओं का गम्भीर प्रभाव पड़ा है। जीवन की शाश्वतता में सभी समान रूप से विश्वास रखते हैं। ये चारों ही कवि आत्मवाद पर आधारित लोक-मंगल, सर्वभूत हिते रतः तथा मानवतावाद के आदर्शों के पूर्ण समर्थक हैं। ये सभी कवि साधना के क्षेत्र में कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि की भूमिकाओं को स्वीकार करते है।

□□□

वैदिक आदर्शवाद को यहाँ अभिव्यंजित किया गया है। यह जीवन तथा जगत् के प्रति एक स्वस्थ एवं सन्तुलित दृष्टिकोण है। सब कुछ को स्वीकार कर पर किसी में भी न फँस कर, अनासक्त होकर कर्म करते हुए आत्मोन्नय एवं चेतना के ऊर्ध्वारोहण का यह सिद्धांत जो पन्तजी के इधर के काव्य की आत्मा है, पूर्णतः वैदिक है एवं नितान्त ही स्पृहणीय है। ब्रह्म तथा जीव-सम्बन्धी मान्यताओं में यहाँ कोई नवीन बात नहीं कही गई है। इस काव्य में रहस्य-वृत्ति की अधिकता है, पर वह प्रणय-मूलक न होकर चिन्तन-प्रधान है। कर्म, जन्मान्तरवाद, मोक्ष, ज्ञान एवं कर्म के समन्वय से सम्बन्धित पन्त के सिद्धांतों पर भी वैदिक विचारधारा की स्पष्टतः छाप विद्यमान है। कवि ने इधर की रचनाओं में लोक-मंगल तथा मानवतावादी दृष्टिकोण को बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है जो उनकी लोक-जीवन के प्रति आस्था की दृष्टि को प्रमाणित करता है। अनेक वैदिक मंत्रों पर भावपरक कविताएँ लिखकर कवि ने वैदिक-दर्शन एवं वाङमय के प्रति अपनी प्रगाढ निष्ठा का परिचय दिया है।

महादेवी भी छायावादी काव्य की प्रमुख कवयित्री हैं। ऋग्वेद तथा उपनिषद् उनके सर्वप्रिय ग्रंथ थे। संस्कृत से एम० ए० करने के कारण उनका वैदिक वाङमय से सीधा सम्पर्क रहा है इसीलिए वेद और उपनिषदों की रहस्य-भावना से जितनी अधिक वे प्रभावित रही हैं उतना अधिक अन्य कोई छायावादी कवि नहीं रहा। यह वृत्ति उनमें इस सीमा तक प्रबल रही है कि उनका सम्पूर्ण काव्य ही रहस्य-काव्य के अन्तर्गत आता है। रहस्यवृत्ति का आरम्भ द्वैत-भाव से होता है पर उसका मूल दर्शन अद्वैतवादी ही है। अतः रहस्य-भावना से सम्बन्धित जितनी अधिक मानसिक वृत्तियों तथा अवस्थाओं का चित्रण एवं अंकन उनके काव्य में उपलब्ध होता है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। जिज्ञासा, विरह-मिलन, प्रतीक्षा, स्पर्शानुभूति तथा प्रणय-निवेदन आदि महादेवी के काव्य के प्रमुख विषय हैं। उनकी विरह-भावना में उपनिषदों के तपवाद तथा सूफियों के प्रेमवाद दोनों का सम्मिलित प्रभाव है। उन्होंने ब्रह्म तथा जीव के अभेद सम्बन्ध की अभिव्यक्ति अनेक रचनाओं में प्रतिपादित की है। इस दृष्टि से उनकी रश्मि की 'मैं और तू' शीर्षक रचना प्रमुख है। जगत् के सम्बन्ध में उनके प्रारम्भिक काव्य में, पन्तजी की भाँति, उसकी क्षणिकता एवं क्षणभंगुरता का विचार अधिक प्रमुख रहा है। वे इसे स्वार्थमय, दुःखमय तथा अविद्यामय रूपों में चित्रित करती हैं। यह दृष्टिकोण उपनिषदों के निषेध-दर्शन पर आधारित है। परन्तु आगे की रचनाओं में जगत् के प्रति यह निराशावादी दृष्टि न्यूनतर है, क्योंकि प्रकृति के कण-कण में अपने अव्यक्त प्रियतम ब्रह्म की व्याप्ति का विचार दृढ होता चला गया है। उनका ब्रह्म-सम्बन्धी चिन्तन भी सीधे उपनिषदों से प्रभावित है। वे उसके निर्गुण स्वरूप की अपेक्षा सगुण स्वरूप की अभिव्यंजना विशेष रूप से करती हैं। उपनिषदों की भाँति ही उन्हें जीव की अमरता तथा अविनश्वरता में भी पूर्ण विश्वास है। पर वह अपनी अज्ञानता के कारण

# परिशिष्ट (क)

## उपस्कारक ग्रन्थों की नामानुक्रमणिका


**वैदिक संस्कृत साहित्य—**

| | |
|---|---|
| १. ऋग्वेद संहिता | सायणभाष्य |
| २. शुक्लयजुर्वेद संहिता | वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, द्वितीय संस्करण १६६६ |
| ३. अथर्ववेद संहिता | परोपकारिणी सभा, अजमेर, सं० २००१ |
| ४. ऐतरेय-ब्राह्मण | आनन्द आश्रम, पूना |
| ५. तैत्तिरीय ब्राह्मण | आनन्द आश्रम, पूना |
| ६. जैमिनीय ब्राह्मण | सरस्वती विहार, नागपुर, सन् १६५४ |
| ७. शतपथ ब्राह्मण | अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी |
| ८. तैत्तिरीय आरण्यक | |
| ९. बृहद्देवता | शौनक कृत, ए०ए० मैक्डानल, हारवर्ड यूनीवर्सिटी, सन् १६०४ |
| १०. बृहदारण्यकोपनिषद् | गीताप्रेस, गोरखपुर; सार्वदेशिक प्रकाशन लि० देहली (नारायणस्वामी, सम्वत् २००७) |
| ११. छान्दोग्य उपनिषद् | गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०१६ |
| १२. तैत्तिरीयोपनिषद् | ,, ,, सन् १६४६ |
| १३. ऐतरेयोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १४. कठोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १५. श्वेताश्वतरोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १६. केनोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १७. ईशोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १८. प्रश्नोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १९. मुण्डकोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| २०. माण्डूक्योपनिषद् | ,, ,, |
| २१. भुक्तिकोपनिषद् | ,, ,, |
| २२. उपनिषदांक (कल्याण) | ,, ,, ,, |
| २३. ब्रह्म सूत्र | ,, ,, सम्वत् २०२० |
| २४. ब्रह्म सूत्र | शांकर भाष्य सं० ढुण्ढिराज शास्त्री, सं० १६८६ |

# परिशिष्ट (क)

## उपस्कारक ग्रन्थों की नामानुक्रमणिका

### वैदिक संस्कृत साहित्य—


| ग्रन्थ | विवरण |
|---|---|
| १. ऋग्वेद संहिता | सायणभाष्य |
| २. शुक्लयजुर्वेद संहिता | वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, द्वितीय संस्करण १९९९ |
| ३. अथर्ववेद संहिता | परोपकारिणी सभा, अजमेर, सं० २००१ |
| ४. ऐतरेय-ब्राह्मण | आनन्द आश्रम, पूना |
| ५. तैत्तिरीय ब्राह्मण | आनन्द आश्रम, पूना |
| ६. जैमिनीय ब्राह्मण | सरस्वती विहार, नागपुर, सन् १९५४ |
| ७. शतपथ ब्राह्मण | अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी |
| ८. तैत्तिरीय आरण्यक | |
| ९. बृहद्देवता | शौनक कृत, ए०ए० मैकडानल, हारवर्ड यूनीवर्सिटी, सन् १९०४ |
| १०. बृहदारण्यकोपनिषद् | गीताप्रेस, गोरखपुर; सार्वदेशिक प्रकाशन लि० देहली (नारायणस्वामी, सम्वत् २००७) |
| ११. छान्दोग्य उपनिषद् | गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०१९ |
| १२. तैत्तिरीयोपनिषद् | ,, ,, सन् १९४९ |
| १३. ऐतरेयोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १४. कठोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १५. श्वेताश्वतरोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १६. केनोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १७. ईशोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १८. प्रश्नोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| १९. मुण्डकोपनिषद् | ,, ,, ,, |
| २०. माण्डूक्योपनिषद् | ,, ,, |
| २१. मुक्तिकोपनिषद् | ,, ,, |
| २२. उपनिषदांक (कल्याण) | ,, ,, ,, |
| २३. ब्रह्म सूत्र | ,, ,, सम्वत् २०२० |
| २४. ब्रह्म सूत्र | शांकर भाष्य सं० ढुण्ढिराज शास्त्री, सं० १९८६ |

| | |
|---|---|
| २५. ब्रह्म सूत्र | श्रीभाष्य : रामानुजाचार्य |


## परिशिष्ट (ख)

अन्य संस्कृत साहित्य—


| | |
|---|---|
| २६. श्रीमद्भगवद्गीता | गीताप्रेस, गोरखपुर |
| २७. गीता रहस्य 'कर्मयोग' | लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक |
| २८. गीता | शांकर भाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर |
| २९. योग-सूत्रम् | महर्षि पतंजलि, वाराणसी (सन् १९३१) |
| ३०. सांख्य कारिका | ईश्वर कृष्ण, सं० ढुढिण्ढुराज शास्त्री (सं० २०१०) |
| ३१. निरुक्त | यास्काचार्य, वेंकेटश्वर प्रेस, बम्बई |
| ३२. काव्य प्रकाश | आचार्य मम्मट, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी (सन् १९५५) |
| ३३. महाभारत 'वनपर्व' | सं० रामचन्द्र शास्त्री (सन् १९३०) |
| ३४. महाभारत 'हरिवंश' | ,, ,, |


## परिशिष्ट (ग)

संस्कृत पौराणिक साहित्य—


| | |
|---|---|
| ३५. अग्नि पुराण | आनन्द आश्रम, पूना (सम्वत् १९००) |
| ३६. श्रीमद्भागवत पुराण | वासुदेव लक्ष्मण, निर्णयसागर प्रेस, (१९०५) |
| ३७. श्रीमद्भविष्य महापुराण | वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई (सन् १९१०) |
| ३८. विष्णु पुराण | ओरियन्टल प्रेस, बम्बई (सन् १८८९) |
| ३९. ब्रह्मवैवर्त पुराण | वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, (सन् १९३५) |


## परिशिष्ट (घ)

संस्कृत तन्त्र-साहित्य—


| | |
|---|---|
| ४०. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् | क्षेमराज, रिसर्च डिपार्टमेन्ट, जम्मू-काश्मीर श्रीनगर, सन् १९११ |
| ४१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा भाग-१ | अभिनव गुप्ताचार्य, रिसर्च डिपार्टमेंट, काश्मीर स्टेट, सन् १९१८ |
| ४२. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा भाग-२ | अभिनव गुप्ताचार्य, रिसर्च डिपार्टमेन्ट, जम्मू-काश्मीर स्टेट, सन् १९२२ |

४३. तन्त्रसार — अभिनव गुप्ताचार्य, निर्णयसागर प्रेस, १६१८
४४. त्रिपुरारहस्यम् (ज्ञानखण्ड) — वाराणसी, सन् १६६५
४५. शिव दृष्टि — सोमानन्द
४६. लिंगधारण चन्द्रिका — भूमिका-लेखक तथा सम्पादक एम० आर० सखरे, बम्बई, प्रथम संस्करण सन् १६२८

## परिशिष्ट (ङ)

आंग्ल-भाषा : आलोचनात्मक ग्रन्थ—

47. Religion & Philosophy of the Veda & the Upnishads, (1925) — A. B. Keith
48. The Call of the Vedas, (Bombay 1954) — A. C. Bose
49. The Religion & Philosophy of the Atharva Veda (1952) — N. J. Shendey
50. Mystic Approach to the Vedas and the Upnishads — M. G. Pandit
51. The Vedas (1956) — M. Muller
52. Four Studies in the Language of the Veda (1959) — J. Gonda
53. Ghate's Lectures on Rigveda (1926) — V. S. Sukhthankar
54. Rta in the Rigveda (1961) — V. M. Apte
55. Mysticism in the Rigveda (1961) — T. G. Mainker
56. Vedic Lectures (B.H.U.) (1960) — V. S. Agarwal
57. Vedic Mysticism — Dr. Raghubir
58. Miraculous & Mysterious in Vedic Literature (1952) — B. A. Parab
59. Notes on Brahama (1950) — J. Gonda
60. Indian Philosophy (1948) — S. Radha Krishnan
61. Philosophy of the Upnisadas (1924) — S. Radha Krishnan
62. Philosophy of the Upnisads (Edinburgh 1908) — Paul Deussen
63. Philosophy of the Upnisads — S. C. Chakravarti
64. Mystic Philosophy of the Upnisads — S. C. Sen
65. Hindu Mysticism (According to — M. N. Sircar

the Upnisads)—London-1934

66. Hindu Mysticism (America-1927) — S. N. Das Gupta
67. Vedic Age (London) — Edt. R. C. Majumdar
68. *Constractive Survey of the* Upnisadic Philosophy (Poona 1926) — *R. D. Ranady*
69. Studies in the Upnisads (Cal. 1960) — G. G. Mukhopadhyaya.
70. Lights on the Upnisads — Kapali Shastri
71. Upnisads (S.B.E.—1879) — M. Muller
72. Thirteen Principal Upnisads — R. E. Hume
73. The Concept of Maya — P. D. Devanandan
74. The Concept of Maya (1962) — Reyna Ruth
75. What India Can Teach Us — M. Muller
76. Cultural Heritage of India — S. Radha Krishnan
77. Mysticism (1955) — Km. Evelyn Underhill
78. The Religion of Man — Rabindra Nath Tagore
79. Sadhna — ,,
80. The Life Divine — Sri Aurobindo
81. A History of Indian Literature Vol. I (1927) — M. Winternitz
82. Studies in Aurobindo's *Philosophy* — *S. K. Maitre*
83. Shivadvaite of Sri Kanth (1930) Madras — S. S. Surya Narayan Shastri
84. Pageant of Great Lives — S. R. Sharma
85. Hinduism Through the Ages (Bombay 1962) — D. *S. Sharma*
86. Social Environment and Moral Progress — Russel Wallance
87. The Great Secret — Maeterlinck
88. Uttarpara Speech Aurobindo Ashram Pondichery-1 — Sri Aurobindo
89. Bankim-Tilak-Dayanand ... (Aurobindo Ashram, Pondichery-1955) — Sri Aurobindo
90. The Renaissance in India (1951) — Sri Aurobindo

91. The Soul of India (1950) — A. D. Reincourt
92. The Idea of God — Pringle Pattison


## परिशिष्ट (च)

हिन्दी भाषा : आलोचनात्मक वैदिक-साहित्य—


९३. ऋग्वेद भाष्य — स्वामी दयानन्द सरस्वती, परोपकारिणी सभा, अजमेर
९४. हिन्दी ऋग्वेद — श्री रामगोविन्द त्रिवेदी, इण्डियन प्रेस लि० प्रयाग, सन् १९५४
९५. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका — स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर (सम्वत् १९९४)
९६. वैदिक सम्पत्ति — रघुनन्दन शर्मा
९७. वेदों का यथार्थ स्वरूप — धर्मदेव विद्या वाचस्पति, विद्या मार्तण्ड, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, सं० २०१४
९८. वैदिक साहित्य और संस्कृति — बलदेव उपाध्याय, वाराणसी (१९५८ ई०)
९९. वैदिक वाङ्मय का इतिहास (वेदों की शाखायें) — भगवद्दत्त बी० ए०
१००. वेद सार भाग—१ — विश्वबन्धु शास्त्री, सन् १९५१
१०१. वैदिक दर्शन — डा० फतहसिंह
१०२. वैदिक विज्ञान और संस्कृति — पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पटना, १९६० ई०
१०३. वैदिक निबन्धावली — डा० मुन्शीराम शर्मा
१०४. भक्ति का विकास — डा० मुन्शीराम शर्मा
१०५. भारतीय साधना और संस्कृति — पं० गोपीनाथ कविराज, पटना
१०६. षड्दर्शन रहस्य — पं० रंगनाथ पाठक, सन् १९५८
१०७. सत्यार्थप्रकाश — स्वामी दयानन्द सरस्वती
१०८. तत्वज्ञान — महात्मा आनन्द स्वामी, देहरादून १९६०
१०९. जीवात्मा — पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, सन् १९६४
११०. अद्वैतवाद — पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय
१११. आस्तिकवाद — पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय
११२. उपनिषद् चिन्तन — पं० देवदत्त शास्त्री

the Upnisads)—London-1934

66. Hindu Mysticism (America-1927) — S. N. Das Gupta
67. Vedic Age (London) — Edt. R. C. Majumdar
68. Constractive Survey of the Upnisadic Philosophy (Poona 1926) — R. D. Ranady
69. Studies in the Upnisads (Cal. 1960) — G. G. Mukhopadhyay
70. Lights on the Upnisads — Kapali Shastri
71. Upnisads (S.B.E.—1879) — M. Muller
72. Thirteen Principal Upnisads — R. E. Hume
73. The Concept of Maya — P. D. Devanandan
74. The Concept of Maya (1962) — Reyna Ruth
75. What India Can Teach Us — M. Muller
76. Cultural Heritage of India — S. Radha Krishnan
77. Mysticism (1955) — Km. Evelyn Underhill
78. The Religion of Man — Rabindra Nath Tagore
79. Sadhna — "
80. The Life Divine — Sri Aurobindo
81. A History of Indian Literature Vol. I (1927) — M. Winternitz
82. Studies in Aurobindo's Philosophy — S. K. Maitre
83. Shivadvaite of Sri Kanth (1930) Madras — S. S. Surya Narayan Shastri
84. Pageant of Great Lives — S. R. Sharma
85. Hinduism Through the Ages (Bombay 1962) — D. S. Sharma
86. Social Environment and Moral Progress — Russel Wallance
87. The Great Secret — Maeterlinck
88. Uttarpara Speech Aurobindo Ashram Pondichery-1 — Sri Aurobindo
89. Bankim-Tilak-Dayanand ... (Aurobindo Ashram, Pondichery-1955) — Sri Aurobindo
90. The Renaissance in India (1951) — Sri Aurobindo

निराला काव्य-साहित्य—

१३४. परिमल — गंगा पुस्तक माला, लखनऊ (नवम मा० १९६३)
१३५. गीतिका — भारती भण्डार इलाहाबाद (पं० मा० २०१८)
१३६. अनामिका — ,, ,, ,, (च० आ० १९३८)
१३७. तुलसीदास — ,, ,, ,, (प०आ०
१३८. अणिमा
१३९. नये पत्ते — निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, सन् १९६२
१४०. बेला — ,, ,, सन् १९६२
१४१. अर्चना — ,, ,,
१४२. आराधना — साहित्यकार संसद, प्रयाग, सं० २०१८

पंत काव्य-साहित्य—

१४३. वीणा ग्रन्थि — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०६०
१४४. पल्लव — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६३
१४५. गुंजन — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०१८
१४६. ज्योत्स्ना — ,, ,, ,, सं० २०१७
१४७. युगान्त — ,, ,, ,, सं० २०१५
१४८. युगवाणी — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५९
१४९. ग्राम्या — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०१३
१५०. युगपथ — ,, ,, ,, सन् १९४७
१५१. स्वर्णकिरण — ,, ,, ,, सं० २०२०
१५२. स्वर्णधूलि — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५९
१५३. उत्तरा — सं० २००६
१५४. अतिमा — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०१२
१५५. वाणी — भारतीय ज्ञान-पीठ सन् १९५८
१५६. कला और बूढ़ा चाँद — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सन् १९५९

महादेवी काव्य-साहित्य—

१५७. नीहार — साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद सन् १९५७
१५८. रश्मि — ,, ,, ,, सन् १९५७
१५९. नीरजा — भारती भण्डार इलाहाबाद सं० २०१७
१६०. सान्ध्य गीत — ,, ,, ,, सं० २०१७
१६१. दीपशिखा — ,, ,, ,, सं० २०१६
१६२. सप्तपर्णा — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६०

११३. भारतीय दर्शन — पं० बलदेव उपाध्याय, सन् १९६०
११४. रहस्यवाद — आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, सम्वत् २१००
११५. लोकालोक वेदांकन — माधव पुस्तकालय, दिल्ली (२०२०)

## परिशिष्ट (छ)

अनूदित-साहित्य—

११६. वेद रहस्य भाग—१ — श्री अरविन्द, अनुवादक अभयदेव, सन् १९४८
११७. ,, —२ — ,, ,, ,,
११८. ,, —३ — ,, ,, ,,
११९. संस्कृत साहित्य का इतिहास — ए० ए० मैक्डानल, अनु० चारुचन्द्र शास्त्री
१२०. श्री रामकृष्णवचनामृत भाग—१ — अनु० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' सन् १९५०
१२१. ,, ,, भाग—२ — ,, ,, सन् १९५२
१२२. ,, ,, भाग—३ — ,, ,, सन् १९४७
१२३. भारत में विवेकानन्द — अनु० ,, ,,
१२४. पूर्व और पश्चिम : कुछ विचार — डा० राधाकृष्णन, अनु० रमेश वर्मा, सन् १९६२
१२५. विवेकानन्द साहित्य, भाग—२ — मायावती, अलमोड़ा, हिमालय—१९६३
१२६. विवेकानन्द साहित्य, भाग—३ — ,, ,, ,,

## परिशिष्ट (ज)

प्रसाद काव्य-साहित्य—

१२७. चित्राधार — भारती भण्डार, इलाहाबाद (तृ०आ० २०१४)
१२८. कानन कुसुम — ,, ,, ,, (प०आ० २०२०)
१२९. प्रेमपथिक — ,, ,, ,, (च०आ० २०१६)
१३०. झरना — ,, ,, ,, (च०आ० २०१६)
१३१. आंसू — ,, ,, ,, (च०आ० २०२२)
१३२. लहर — ,, ,, ,,
१३३. कामायनी — (द्वा०आ० २०२१)

निराला काव्य-साहित्य—

१३४. परिमल — गंगा पुस्तक माला, लखनऊ (नवम श्रा० १९६३)
१३५. गीतिका — भारती भण्डार इलाहाबाद (पं० श्रा० २०१८)
१३६. अनामिका — ,, ,, ,, (च० श्रा० १९३८)
१३७. तुलसीदास — ,, ,, ,, (प०श्रा०
१३८. अणिमा
१३९. नये पत्ते — निरुपमा प्रकाशन, प्रयाग, सन् १९६२
१४०. बेला — ,, ,, सन् १९६२
१४१. अर्चना — ,, ,, ,,
१४२. आराधना — साहित्यकार संसद, प्रयाग, सं० २०१८

पंत काव्य-साहित्य—

१४३. वीणा ग्रन्थि — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०६०
१४४. पल्लव — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६३
१४५. गुंजन — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०१८
१४६. ज्योत्स्ना — ,, ,, ,, सं० २०१७
१४७. युगान्त — ,, ,, ,, सं० २०१५
१४८. युगवाणी — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५९
१४९. ग्राम्या — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०१३
१५०. युगपथ — ,, ,, ,, सन् १९४७
१५१. स्वर्णकिरण — ,, ,, ,, सं० २०२०
१५२. स्वर्णधूलि — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९५९
१५३. उत्तरा — सं० २००६
१५४. अतिमा — भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०१२
१५५. वाणी — भारतीय ज्ञान-पीठ सन् १९५८
१५६. कला और बूढ़ा चाँद — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सन् १९५९

महादेवी काव्य-साहित्य—

१५७. नीहार — साहित्य भवन प्रा० लि०, इलाहाबाद सन् १९५७
१५८. रश्मि — ,, ,, ,, सन् १९५७
१५९. नीरजा — भारती भण्डार इलाहाबाद सं० २०१७
१६०. सान्ध्य गीत — ,, ,, ,, सं० २०१७
१६१. दीपशिखा — ,, ,, ,, सं० २०१६
१६२. सप्तपर्णा — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; सन् १९६०

# परिशिष्ट (झ)

आलोचनात्मक-साहित्य—

| | | |
|---|---|---|
| १६३. | जयशंकर 'प्रसाद' | नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० २०१० |
| १६४. | कवि प्रसाद की काव्य-साधना | रामनाथ 'सुमन', सन् १९३८ |
| १६५. | कवि प्रसाद | रामरतन भटनागर, सन् १९४८ |
| १६६. | प्रसाद और उनका साहित्य | विनोद शंकर व्यास, सन् १९४० |
| १६७. | जयशंकर प्रसाद | तारकनाथ बाली, सन् १९५९ |
| १६८. | प्रसाद काव्य-विवेचन | हरदेव बाहरी, सन् १९५८ |
| १६९. | प्रसाद और उनकी कविता | विश्वम्भर 'मानव', सन् १९६२ |
| १७०. | महाकवि प्रसाद | डा० विजयेन्द्र स्नातक तथा रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, सन् १९५८ |
| १७१. | महाकवि प्रसाद | सत्यकाम-वर्मा, सन् १९६४ |
| १७२. | कवि प्रसाद | भोलानाथ तिवारी, सन् १९५८ |
| १७३. | प्रसाद का काव्य | डा० प्रेम शंकर (प्रथम आवृत्ति) |
| १७४. | जयशंकर प्रसाद चिन्तन व कला | सम्पादक : इन्द्रनाथ मदान, सन् १९५६ |
| १७५. | प्रसाद | सम्पादिका : निर्मल तालवार, सं० २०२० |
| १७६. | प्रसाद का जीवन दर्शन : कला और कृतित्व | सम्पादक : महावीर अधिकारी, सन् १९५५ |
| १७७. | कवि प्रसाद : आँसू तथा अन्य कृतियाँ | विनय मोहन शर्मा, सन् १९४९ |
| १७८. | प्रसाद एवं पन्त का तुलनात्मक विवेचन | राम रजपाल द्विवेदी, सं० २०१४ |
| १७९. | जयशंकर प्रसाद और आँसू | देवेन्द्र शर्मा, सन् १९६४ |
| १८०. | कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन | डा० द्वारिका प्रसाद सक्सेना, १९६३ ई० |
| १८१. | कामायनी सौन्दर्य | डा० फतह सिंह (तृतीय संस्करण) |
| १८२. | कामायनी अनुशीलन | प्रो० रामलाल सिंह |
| १८३. | कामायनी : एक परिचय | गंगाप्रसाद पाण्डेय |
| १८४. | कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना | विश्वनाथ लाल 'शैदा', सन् १९६३ |
| १८५. | कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ | डा० नगेन्द्र |
| १८६. | कवि निराला | आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सन् १९६५ |

| | | |
|---|---|---|
| १८७. | निराला और नव जागरण | डा० रामरतन भटनागर, सन् १९६५ |
| १८८. | निराला : व्यक्तित्व और कृतित्व | सं० डा० प्रेमनारायण टण्डन, सन् १९६२ |
| १८९. | महाकवि निराला : काव्य कला यथा अन्य कृतियाँ | विश्वम्भर उपाध्याय, सं० २०१० |
| १९०. | निराला | डा० रामविलास शर्मा, सन् १९६२ |
| १९१. | महाप्राण निराला | गंगाप्रसाद पाण्डेय, सं० २००६ |
| १९२. | निराला : काव्य और व्यक्तित्व | धनंजय वर्मा, सन् १९६० |
| १९३. | निराला और उनका काव्य | गिरीश चन्द्र तिवारी, सं० २०१३ |
| १९४. | निराला का परवर्ती काव्य | रमेश चन्द्र बोहरा, सन् १९६३ |
| १९५. | काव्य का देवता | विश्वम्भर 'मानव', सन् १९६३ |
| १९६. | एक व्यक्तित्व : एक युग | नागार्जुन, सन् १९६३ |
| १९७. | सुमित्रानन्दन पन्त | डा० नगेन्द्र, सन् १९६२ |
| १९८. | सुमित्रानन्दन पन्त | विश्वम्भर 'मानव', सन् १९५१ |
| १९९. | पन्त का नूतन काव्य और दर्शन | विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, सन् १९५६ |
| २००. | सुमित्रानन्दन पन्त : काव्य कला और जीवन-दर्शन | सम्पादिका : शचीरानी गुर्टू, सन् १९५१ |
| २०१. | पन्त की काव्य कला और जीवन-दर्शन | रामचन्द्र गुप्त, सन् १९५६ |
| २०२. | पन्त का काव्य और युग | यशदेव, सन् १९५१ |
| २०३. | पन्त का काव्य दर्शन | प्रतापसिंह चौहान, सन् १९६३ |
| २०४. | युग कवि पन्त की काव्य-साधना | विनयकुमार शर्मा, सन् १९६२ |
| २०५. | सुमित्रानन्दन पन्त | तारकनाथ बाली, सन् १९५५ |
| २०६. | महाकवि पन्त | सत्यकाम वर्मा, सन् १९६४ |
| २०७. | आधुनिक कवि पन्त | कृष्ण कुमार सिन्हा, सन् १९५६ |
| २०८. | पन्त की काव्य-साधना | प्रो० अरविन्द |
| २०९. | ज्योति-विहग | शान्तिप्रिय द्विवेदी |
| २१०. | सुमित्रानन्दन पन्त | गोपालदास नीरज : सुधा सक्सेना, सन् १९६३ |
| २११. | पन्त और उत्तरा | तारकनाथ बाली, सन् १९५५ |
| २१२. | पन्त की काव्य चेतना में गुंजन | प्रो० वासुदेव, सन् १९५६ |

२१३. महादेवी की रहस्य-साधना — विश्वम्भर 'मानव', सन् १९४९
२१४. महादेवी का वेदनाभाव — प्रो० जयकिशन प्रसाद, सन् १९६५
२१५. महादेवी वर्मा : विचार और व्यक्तित्व — शिवचन्द्र नागर, सन् १९५६
२१६. महादेवी — रामरतन भटनागर, सन् १९५०
२१७. महादेवी की काव्य-साधना — शिवमंगल सिंह 'सुमन', सं० २००८
२१८. महादेवी वर्मा — रामचन्द्र गुप्त, सन् १९५५
२१९. महादेवी वर्मा : काव्य कला और व्यक्तित्व — सम्पादिका : शचीरानी गुर्टू, सन् १९५
२२०. महादेवी वर्मा — प्रो० तारकनाथ बाली, सन् १९५७
२२१. महादेवी वर्मा — लक्ष्मी सहाय सिन्हा, सन् १९५२
२२२. महादेवी की काव्य-साधना और नीरजा — सत्यपाल 'चुघ', सन् १९५६
२२३. महादेवी वर्मा और दीप-शिखा — डा० शान्ति स्वरूप, सन् १९६४

## परिशिष्ट (ञ)

छायावादी कवियों का आलोचना साहित्य—

२२४. काव्य कला तथा अन्य निबन्ध — प्रसाद, भारती भण्डार, इलाहाबाद, सं० २०१०
२२५. पथ के साथी — महादेवी वर्मा, सन् १९५६
२२६. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध — महादेवी वर्मा: सं० गंगाप्रसाद पाण्डेय
२२७. दीपशिखा चिन्तन के कुछ क्षण — महादेवी वर्मा, सन् १९६०
२२८. प्रबन्ध-पद्य — निराला, लखनऊ, सन् १९६०
२२९. प्रबन्ध-प्रतिमा — भारती भण्डार, प्रयाग, निराला, सं० १९९७
२३०. चयन — निराला, सं० शिवगोपाल मिश्र, सं० २०१४
२३१. संग्रह — निराला, सं० रामकृष्ण त्रिपाठी, सन् १९६३
२३२. आधुनिक कवि भाग-२ — पंत भूमिका, सं० २०१३
२३३. उत्तरा — पंत भूमिका, सं० २००६
२३४. गद्य पथ — पंत

# परिशिष्ट (ट)

विविध—


| | |
|---|---|
| २३५. हिन्दी साहित्य का इतिहास | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल |
| २३६. हिन्दी साहित्य अनुशीलन | सत्यकाम वर्मा |
| २३७. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी | आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, सन् १९४९ |
| २३८. हिन्दी साहित्य में विविध-वाद | डा० प्रेम नारायण शुक्ल, सं० २०१० |
| २३९. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास | डा० शम्भूनाथ सिंह, सन् १९५२ |
| २४०. आधुनिक साहित्य | आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, सं० २००७ |
| २४१. साहित्य दर्शन | शचीरानी गुर्टू |
| २४२. चिन्तामणि भाग—२ | आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००६ |
| २४३. संचयन | आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (संकलन-कर्ता प्रभात शास्त्री, साहित्यकार संघ, प्रयाग) |
| २४४. विचार और अनुभूति | डा० नगेन्द्र (सं० १९९१) |
| २४५. रहस्यवाद और हिन्दी कविता | बाबू गुलाब राय एम० ए०, सं० २०१३ |
| २४६. मैं इनसे मिला | पद्म सिंह शर्मा 'कमलेश', सन् १९५२ |
| २४७. छायावाद युग | डा० शम्भूनाथ सिंह |
| २४८. छायावाद | नामवर सिंह |
| २४९. छायावाद के गौरव-चिन्ह | प्रो० क्षेम |
| २५०. छायावाद | डा० रामरतन भटनागर |
| २५१. छायावाद स्वरूप और व्याख्या | राजेश्वर दयाल सक्सेना |
| २५२. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि | विश्वम्भर नाथ उपाध्याय, आगरा, २०१२ |
| २५३. कबीर ग्रन्थावली | नागरी प्रचारिणी सभा, काशी |
| २५४. रत्नाकर | जगन्नाथ दास रत्नाकर, सं० २ |
| २५५. गीतांजलि (अंग्रेजी संस्करण) | रवीन्द्रनाथ ठाकुर |
| २५६. जनमेजय का नागयज्ञ | जयशंकर प्रसाद, २००९ |
| २५७. अजात शत्रु | जयशंकर प्रसाद, २००९ |

# परिशिष्ट (ठ)

कोष—

१. मेदिनी कोष — वाराणसी, सन् १६४०
२. अमर कोष — निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१८७६)
३. वाचस्पत्य शब्दकोष
४. शब्द कल्पद्रुम
५. वैदिक पदानुक्रमणिका — विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसंधान संस्थान, होशियारपुर
6. Webester's—New International Dictionary
7. Cassell's—Encyclopeadia of Literature, Vol. I, 1953.